

दृग्-दृश्य विवेक

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

दृग्-दृश्य विवेक

(प्रवचन)

☸

प्रवचनकर्ता :

स्वामि श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

☸

संकलनकर्त्री :

श्रिनारायणी

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण 2200
1996
द्वितीय संस्करण 1100
आराधन महोत्सव
19 नवम्बर 2006
तृतीय संस्करण 500
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
28 अगस्त 2013

चतुर्थ संस्करण 500
अप्रैल 2018

●

मूल्य : रु. 200/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

द्वितीय संस्करण : 2006

स्व-पर ऐक्य

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति पूजामूलं गुरोर्पदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोर्कृपा॥

'दृग्-दृश्य विवेक' की प्रस्तुत व्याख्यानमालामें वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करते हुए प्रातःस्मरणीय परमपूज्य महाराजश्री कहते हैं—'आप कठोर शब्दोंको सुनकर बिलकुल घबड़ायें नहीं। आप धैर्यके साथ उनको समझनेकी कोशिश करें। जितनी मेहनत आपने अंग्रेजी शब्दोंको समझनेके लिए की है, उसकी शतांश मेहनत भी संस्कृतके शब्दोंको समझनेके लिए करेंगे, तो आपको मालूम पड़ेगा कि इसमें उन्हीं बातोंका वर्णन है, जो अक्सर आपके घरमें होती हैं। ये वेदान्तके शब्द कोई अनजानी चीजका वर्णन नहीं करते हैं; जानी हुई चीजका ही वर्णन करते हैं।' इसलिए महाराजश्री सावधान भी करते हैं—'आध्यात्मिक क्षेत्रमें मनोरंजन मत करना, सत्यको समझनेकी कोशिश करना।' इस चिन्तनके लिए आप संकेतपूर्वक रहस्योद्घाटन करते हैं—'द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित है और अन्तःकरण दृश्यमें कल्पित है। कल्पित दृश्यमें अन्तःकरण भास रहा है।'

दृग्-दृश्य विवेकके साथ स्व-परका घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो सारे सम्बन्धोंको वैसे ही काट देता है, जैसे 'भजनम्' 'भंजनम्' भी हो जाता है। 'आत्मा-परमात्माके लिए स्व-परका विवेक-विचार श्रीवैष्णव-सम्प्रदायमें भी है।' ज्ञानदृष्टिसे नाम-रूपके अन्तरमें देखें या आत्मामें देखें, परमात्मा मिल जायेगा। अन्वय-व्यतिरेक एक ही बिन्दुमें समा जाते हैं, क्योंकि वहाँ न स्व-पर का कोई भेद है, न बाहर-भीतरका भेद है। एक अद्वितीय तत्त्व ही अनुभवका सारसर्वस्व है।

'परब्रह्म' शब्दमें 'पर' मूलतत्त्वके संकेतके लिए है। व्यवहारमें वही 'पर' अन्यके संकेतके लिए भी प्रयुक्त होता है, चाहे वह 'परलोक' बतावे या संसार बतावे। आयुर्वेदमें वैद्य अपने रोगीको शारीरिक स्वस्थता प्रदान करनेके लिए नाड़ीके माध्यमसे परकायप्रवेश करता है। धर्म अन्तःकरणमें प्रवेश करके परलोकमें मनुष्यको—जीवको प्रवेश देता है। योगी परकाय-प्रवेशद्वारा व्यक्तिके मनके रहस्योंको जान सकता है, जैसे भगवान् श्रीशंकराचार्य सूक्ष्मरूपसे परकायप्रवेश द्वारा मनकी अज्ञात स्थितियोंको अनुभव करके भगवती भारतीके प्रश्नका उत्तर दे पाये। बिना स्व-पर ऐक्यके यह सब सम्भव नहीं है।

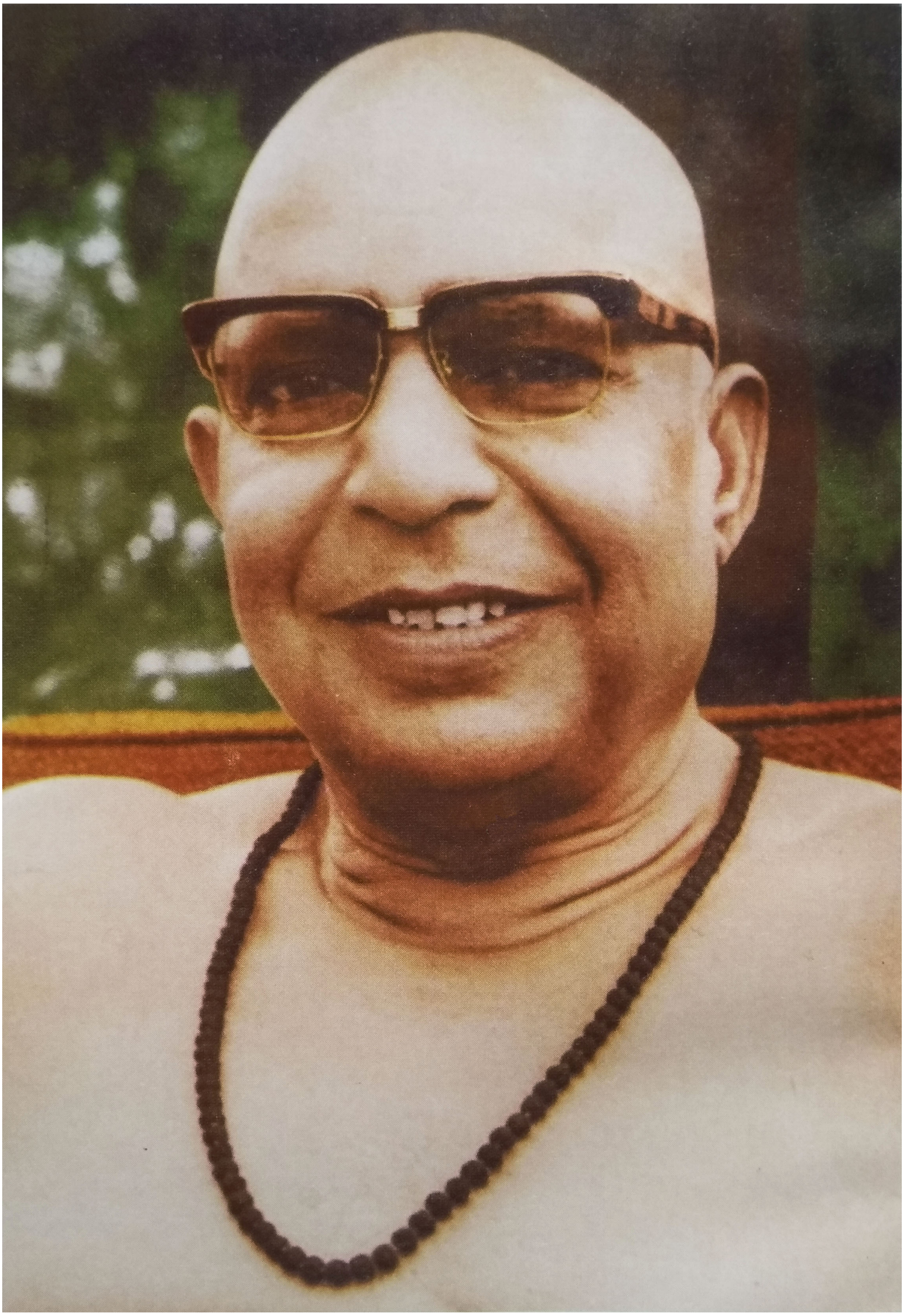
सद्‌गुरु शिष्यके चित्तमें दृष्टिमात्रसे प्रवेश करके उसके त्रिकालको भी देख सकते हैं और उसकी आध्यात्मिक साधनाके लिए आवश्यक अधिकारको भी जान लेते हैं। सद्‌गुरुकी यह दृष्टि ही 'पर' माने अन्यसे मुक्त करके परब्रह्म परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव कराती है। इसके लिए महाराजश्री एक सूत्र देते हैं—'जिससे जो चीज दिखती है, वह उससे अलग नहीं होती।' इस सूत्रको हृदयंगम किया जाय तो प्रत्येक स्तरपर 'स्व-पर-ऐक्यदर्शन' अनुभवरूप होगा और उसके अन्तिम पर्यवसानमें स्तर भी विलीन हो जायगा। एक ही एक अद्वितीय रह जायगा। ऐक्य भी कल्पित भासेगा।

महाराजश्रीके ये प्रवचन ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी अमोघ शक्तिका भण्डार है। यह शक्ति श्रवण-पठनके समय भी हमारे अन्तःकरणके कोने-कोनेमें अपने स्वरचैतन्यके प्रभावसे जड़ताको, अज्ञान-आवरणको भंग करनेमें समर्थ है। अन्तर्दर्शन, आत्मविश्लेषण और आत्मसाक्षात्कारका अधिकार प्राप्त करके सारे भेद-भ्रमोंसे हम मुक्त हो सकते हैं। वास्तवमें निर्द्वन्द्व चैतन्य विवेक-विचारसे भी मुक्त करके सहजको सुलभ कर देता है। तब? न शब्द रहा न दृश्य! द्रष्टा-साक्षी अनुभवरूप! केवल सच्चिदानन्द!!

इस ज्ञानयज्ञकी सेवामें श्रीसद्‌गुरुदेवकी अहैतुकी कृपा-करुणाके साथ-साथ सोनेमें सुहागाकी भाँति '**परमपूज्यश्री महन्तजी महाराज**'के आशीर्वाद और परमपूज्य **स्वामीश्री गोविन्दानन्दजीके** हार्दिक सहयोगको भुलाया नहीं जा सकता। महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें हम सब एकता और आत्मीयताके सूत्रमें पिरोये हुए मनकोंमें सुमेरुके समान परमश्रद्धेय श्रीमहन्तजी महाराज और स्वामीजीको लोकार्पणकी इस मंगलवेलामें सादर सप्रेम प्रणामपूर्वक धन्यवाद।

मकरसंक्रान्ति **श्रीनारायणी**

१४-१-९६



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी

प्रवचन १

दृग्-दृश्य विवेक

विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं निजान्तर्गतम्।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥
यः साक्षात् कुरुते प्रबोध-समये स्वात्मानमेवाद्वयम्।
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॐ

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् दृग् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥१॥

एक बालकके हाथमें पुस्तक थी। मैंने कहा—'यह सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वतीकी रचना है।'

उसने कहा—'इसपर 'सुब्रह्मण्य शर्मा'का नाम लिखा है।'

मैंने बताया—'गृहस्थाश्रममें उनका नाम 'सुब्रह्मण्य शर्मा' था और संन्यासाश्रममें उनका नाम सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती है। नाम दो हैं, परन्तु 'जहल्लक्षणा'से उभय नामोंका जो अभिधेय अर्थ है—व्यक्तित्व—वह एक है। नाम दोनों छोड़ दो, चीज एक है। इसीको बोलते हैं 'जहल्लक्षणा'।

अच्छा, 'भाग-त्याग लक्षणा' कर लो। 'सुब्रह्मण्य शर्मा'का 'शर्मापना' छोड़ दो, 'सुब्रह्मण्यपना' छोड़ दो और 'सच्चिदानन्देन्द्र'का 'सच्चिदानन्देन्द्रपना' छोड़ दो; और यह जो ब्राह्मणत्व है, मनुष्यत्व है, वह एक ही है। यह 'भाग-त्याग लक्षणा' हो गयी।

सबेरे एक दोहा याद आया 'विचारसागरका'—

ज्यों अविकृत कौन्तेयमें राधापुत्र प्रतीति।
चिदानन्दघन ब्रह्ममें जीवभाव तेहि रीति॥

जैसे कुन्तीनन्दन 'कर्ण' है, कोई अन्तर नहीं पड़ा, ज्योंके त्यों; वही माँ, वही बाप, वही आदमी। लेकिन लोग उसे 'राधापुत्र' समझने लगे। उसका नाम ही राधापुत्र हो गया। अब उसको कोई कहे कि 'अच्छा, राधापुत्र नहीं है?'

'ना, राधापुत्र नहीं है।'

'अच्छा, तो सीतापुत्र होगा। अच्छा, तो सावित्रीपुत्र होगा, द्रौपदीपुत्र होगा।'

'नहीं-नहीं, ऐसे तुम हजार-हजार विकल्प उसके बारेमें करो, 'राधापुत्र' समझनेमें जैसी भ्रान्ति है, वैसी ही भ्रान्ति उसे सावित्रीपुत्र समझनेमें भी है, सीतापुत्र समझनेमें भी है। भ्रान्ति तो भ्रान्ति ही है।'

'अच्छा, कुछ न समझो!' 'तो भी भ्रान्ति है।'

'अच्छा अनिर्वचनीय समझो।' 'तो भी भ्रान्ति है, उसको तो जब 'कुन्तीपुत्र' समझोगे, जब उसको जान जाओगे कि यह 'कुन्तीपुत्र' है, तब 'राधापुत्र', 'सीतापुत्र', 'सावित्रीपुत्र', 'द्रौपदीपुत्र'—किसी भी प्रकारकी भ्रान्ति नहीं रहेगी और अनिर्वचनीयता भी नहीं रहेगी। वह 'कुन्तीपुत्र' ही 'कुन्तीपुत्र' रहेगा।

चिदानन्दघन ब्रह्ममें जीवभाव तेहि रीति॥

चिदानन्दघन ब्रह्ममें यह जीवभाव उसी रीतिसे हुआ है, माने एक ही चीजके दो नाम हैं—एक नाम है 'ब्रह्म' और एक नाम है 'जीव'। 'जीव' नामका जो दूसरा अर्थ समझ लिया गया है, वह गलत है। असलमें यह जीव देहवाला, इन्द्रियवाला, अन्तःकरणवाला, बुद्धिवाला, अज्ञानवाला, यह कोईवाला जो आत्मा है; वह न दारूवाला है न ड्रेसवाला है। यह आत्मा नाम-रूपकी कल्पनाओंसे बिलकुल न्यारा है।

यह जो दो बात हुई—एक नामवाली और एक कुन्तीपुत्रवाली। इस पुस्तकका नाम कल जो 'हरिकृष्णदासजी' सुना रहे थे—'दृग्-दृश्य विवेक।' हमको याद ही न आवे कि यह क्या पुस्तक है? जब यह पुस्तक सामने अभी आयी, तो हमको याद आया कि यह पुस्तक तो सैकड़ों बार हमारी घोंटी हुई।

बचपनमें मोकलपुरके बाबाके दर्शन करने जाते थे, तो दो-तीन मील नाव जबतक चलती थी, तबतक उस पर बैठकर रटते थे। पर उसका नाम उस समय 'वाक्य-सुधा' था।

यह पुस्तक साधकोंके लिए बड़े कामकी है। जो लोग साधना करना चाहते हैं, और जो लोग द्रष्टा-दृश्यका विवेक करना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक बड़े कामकी है।

मैं समझता हूँ कि गुजराती टीकासहित यह पुस्तक अनेक रूपोंमें छपी मिलती है। मैंने तो कई बार उसे यहाँ बिकते हुए भी देखा है गुजराती टीकासहित। महाराष्ट्रभाषामें भी इसका अनुवाद हुआ है। संस्कृतमें तो अनेक टीका-टिप्पणी हैं। हिन्दीमें भी अनेक स्थानोंसे यह प्रकाशित हुआ है।

इस पुस्तकमें क्या वर्णन है, यह 'दृग्-दृश्य विवेक'—इस नामसे स्पष्ट होता है। 'वाक्य-सुधा' कहनेसे वस्तु-निर्देश नहीं होता है कि इसमें वस्तु क्या है और 'दृग्-दृश्य विवेक' कहनेसे इस ग्रन्थमें जो वस्तु है, उसका विवेक हो जाता है, इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

'विवेक' शब्दका संस्कृतभाषामें अर्थ होता है, अलग-अलग करना। '**विचिर् पृथग्भावे**'-'विचिर' धातु है। इसीसे '**विवेचनम् विवेकः**'। विवेचन करना—दो चीजें एकमें मिल गयी हों, तो उनको अलग-अलग कर देना, इसका नाम 'विवेक' है। जैसे आपके घरमें चावल-तिल एकमें मिल गये हों, तो काले-काले तिलोंको अलग करते जाना और सफेद-सफेद चावलोंको अलग करते जाना—इसको बोलेंगे, 'तिल-तन्दुल विवेक।' ऐसे ही 'धर्माधर्म विवेक'—धर्म और अधर्मको अलग-अलग समझना, यह विवेक है। '**नित्यानित्य विवेक**'—क्या नित्य है और क्या अनित्य है, इसको अलग-अलग समझना, यह विवेक है। इस ग्रन्थमें जो विवेक किया हुआ है, वह विवेक है दृक् और दृश्यका।

'**पश्यति इति दृक्**'; '**दृश्यते इति दृश्यम्**'। यह व्याकरणका सामर्थ्य देखो—धातु है 'पश्'। लेकिन जब कर्ता अर्थमें प्रत्यय हुआ उससे, तब वह हो गया 'दृक्'। माने जो मूल वस्तु है वह दर्शन-क्रियाके साथ मिल करके द्रष्टा हो गयी है। असलमें तो वह दृङ्मात्र है, ज्ञानमात्र है, ज्ञप्तिमात्र है। उसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं है, द्रष्टा और दृश्यका भेद नहीं है, परन्तु दर्शनके सम्बन्धसे, दृष्टिके सम्बन्धसे उसमें जो द्रष्टापना आ गया है, यह 'पश्' धातुका विवर्त है—'दृक्'।

व्याकरणमें विवर्त होता है। 'युष्मत्' शब्दका विवर्त क्या है? 'त्वं'। देखो, कहाँ 'युष्मत्' और कहाँ 'त्वं'? 'युष्मत्'का कोई अंश 'त्वं'में नहीं है, लेकिन मूलशब्द है 'युष्मत्' और वह व्यवहारमें आता है 'त्वं'के रूपमें। 'त्वं', 'युवां', 'यूयम्'। मूलशब्द गायब हो गया और उसके स्थानपर आदेशात्मक शब्द 'त्वं' आ गया। इसी प्रकार जो मूल धातु है, सच्चिदानन्दघन, एकरस, अद्वय, निर्विशेष, निर्धर्मक, उसीका जब दृष्टिके साथ—दृष्टिके सम्बन्धसे निरूपण करते हैं, तब उसका नाम हो जाता है 'दृक्'। जो 'दृक्'का विषय है, उसको बोलते हैं 'दृश्य'। जिसको हम देखते हैं, उसका नाम है 'दृश्य' और जो देखनेवाला है उसको बोलते हैं 'दृक्'।

देखनेवाला कौन है ? यह विचार करो। एक देखनेवाला वह है जो आँख और मनके साथ मिलकर दुनियाको देखता है और एक देखनेवाला वह है जो आँख और मनके साथ बिना मिले दुनियाको देखता है; तो थोड़ा पीछे हटना पड़ेगा।

सब साधन आगे बढ़कर होते हैं, योग और वेदान्तका साधन पीछे हटकर होता है। आपको धर्म करना हो तो हाथसे माला उठाओ और दूसरेके गलेमें पहना दो, पुण्य हो जायगा। आपने दूसरेका आदर किया। इसमें फूलरूप वस्तुका उपयोग हुआ, हाथकी क्रिया लगी, मनका भाव लगा और किसीके प्रति आपने आदर प्रकट किया। भावसे, वस्तुसे, क्रियासे आपने दूसरेका आदर किया, इससे धर्म हो गया। आपको दिलमें-से निकलके हाथमें आना पड़ा, हाथमें-से निकलकर मालामें आना पड़ा, मालामें-से निकलकर दूसरेके गलेका हार बनना पड़ा। फूल यह हार नहीं बना, असलमें आपने भावसे हार बनाया। इसका नाम धर्म है।

परन्तु जब योगाभ्यास आपको करना होगा, तो पहले मालाको आपको जहाँ-का-तहाँ रख देना पड़ेगा और हाथ आपको नहीं उठाना पड़ेगा, उसकी भी आपको स्थापना करनी पड़ेगी। अपने मनीरामको शान्त करना पड़ेगा, तब योग होगा; माने बाहरसे भीतरकी ओर जब गति होगी, तब योग होगा। और, निरुद्ध जो चित्त है, एकाग्र जो चित्त है, शान्त जो चित्त है, छोड़ा हुआ जो मन है, उससे भी अलग होकर आप उसे देखेंगे। तो, आप कहाँ बैठे हुए हैं, इस पर विचार कीजिये।

यह द्रष्टा जो है, वह चञ्चल और निरुद्ध दोनों प्रकारके मनसे अलग होकर मनको देखता है। अलग रहकर मनको देखता है—पीछे हटो और मनको देखो।

क्रिया जितनी करनी पड़ती है, जैसे कुल्हाड़ा चलाना पड़े तो—

उद्यत्य निपात्य च काष्ठस्य द्वैधीभावः शब्द्यात्यते।

पहले कुल्हाड़ेको हाथसे उठाना और लकड़ीपर मारना पड़ेगा। कुल्हाड़ेको उठाना और उसे लकड़ीपर गिराना—यह लकड़ीको दो टुकड़े करनेकी क्रिया होगी। परन्तु अपने ऊपर कोई कुल्हाड़ा नहीं चलाया जाता। कुल्हाड़ेको अलग रख दिया जाता है। इस हाथको भी ज्यों-का-त्यों रख दिया जाता है।

विवेकका कुठार भी जहाँ छूट जाता है, योगकी दृष्टिसे विचार भी एक विक्षेप है। वेदान्तकी दृष्टिसे समाधि भी एक लय है; वेदान्तकी दृष्टिसे चित्तकी शान्त अवस्था चित्तकी एक अवस्था है और योगकी दृष्टिसे चित्तमें विवेकका रहना भी एक प्रकारका विक्षेप है। दृग्-दृश्यका विवेक करनेके लिए आपको अत्यन्त अन्तर्मुख होना पड़ेगा।

हम वेदान्तकी अभी बड़ी-बड़ी बातें आपको नहीं सुनाते, क्योंकि विवेकका प्रसंग है। अत्यन्त स्थूल कक्षासे यह विवेक प्रारम्भ होता है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् दृग् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

आप रूप देखते हैं—'**रूपं दृश्यं**'। आप ऐसे पहले विभाग करो—इदं-अहं, यह और मैं। दुनियामें दो चीजें है—एक 'यह'के रूपमें मालूम पड़ती है और एक 'मैं'के रूपमें मालूम पड़ती हैं। मालूम पड़नेसे ही वेदान्तकी भाषामें 'प्रतीति' बोलते हैं। जिसको संस्कृतमें 'प्रतीति' बोलते हैं, उसीको लोकभाषामें 'मालूम पड़ना' बोलते हैं। भासना, प्रतीत होना, मालूम पड़ना, दीखना। यह सब एक ही चीजका नाम है।

दो चीजें दुनियामें मालूम पड़ती हैं—एक 'यह' और एक 'मैं'; एक 'इदं' और एक 'अहं'। आप विवेक करके देखोगे तो यह मामूली-सी बात पहले-पहले हृदयमें तरंगकी तरह आती है और बादमें समुद्रकी तरह बन जाती है। एक मामूली-सी बात है, परिच्छिन्नता—देशका नाप एक फूट-दो फूट-तीन फूट; कालका नाप एक मिनट-दो मिनट-घंटे-युग-कल्प; द्रव्यका नाप एक मासा-दो मासा-एक छटाँक--एक सेर।

परिच्छिन्नता माने टुकड़े-टुकड़े होना। आप यह विचार करो कि जो चीज टुकड़े-टुकड़े होगी वह 'इदं' होगी कि 'अहं' होगी? परिच्छिन्नता ही दृश्य है, चाहे वह कालकी परिच्छिन्नता हो, भूत-भविष्य-वर्तमान; चाहे देशकी परिच्छिन्नता हो, बाहर-भीतर-पूरब-पश्चिम; चाहे वस्तुकी परिच्छिन्नता हो, स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारण; परन्तु परिच्छिन्नतामात्र दृश्य होगी कि नहीं होगी?

जब परिच्छिन्नता दृश्य होगी, तो उसका जो द्रष्टा है, वह परिच्छिन्नसे विलक्षण होगा कि नहीं? तुरन्त ही सम्भावना हो गयी—'इदं'का—'परिच्छिन्नता'का जो द्रष्टा है, यह द्रष्टा कहीं अनन्त, अद्वितीय, परब्रह्म तो नहीं है? शुरू-शुरूमें ही यह सम्भावना उदय हो जायेगी मनमें—जो अनेकका द्रष्टा है वह एक है, अनेक नहीं हैं। जो जड़का द्रष्टा है, वह चेतन है; जो दुःखका द्रष्टा है, वह निर्दुःख है; जो चञ्चलताका द्रष्टा है, वह अचञ्चल है-चञ्चल व्यतिरिक्त है। जो जिसका द्रष्टा होता है, वह उससे विलक्षण होता है, घड़ेका द्रष्टा है, वह घड़ेसे न्यारा है। अब आप देखो, द्रष्टा और दृश्यका जो विवेक है, यह आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी सम्भावनाको बिलकुल पक्की करनेवाली बुनियादी विचारधारा है।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्। विभाग करो—रूप देखा जाता है और आँख देखती है। पर मुर्देकी आँख तो नहीं देखती, अन्धेकी आँख तो नहीं देखती। आँखके भीतर कोई ऐसा है झाँकनेवाला, जो आँखके रास्ते रूपको देखता है। आँख तो एक खिड़की है। जैसे हम खिड़कीपर खड़े होकर सड़क पर भागती हुई मोटरोंको देखते हैं, वैसे आँखकी खिड़कीमें पीछेकी ओर बैठ करके हम सामने बहती हुई चीजोंको देखते हैं।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्—यह पहला विभाग। इसको आप यहीं सीमित नहीं करना।

शब्दो दृश्यं श्रवणं दृक्—शब्द दृश्य है और कान द्रष्टा है। पर कान तो नहीं देखता-कान नहीं सुनता। कानमें बैठकर कोई सुनता है। नाक द्रष्टा है और गन्ध दृश्य है। स्पर्श दृश्य है और त्वचा द्रष्टा है।

रस दृश्य है और रसना द्रष्टा है।

अर्थात् जिसे मालूम पड़ता है द्रष्टा और जो मालूम पड़ता है वह दृश्य। तुम वह नहीं हो जो मालूम पड़ता है; तुम वह हो, जिसको मालूम पड़ता है।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम्।

अभी रूपको देखनेवाली आँख बन गयी थी, परन्तु रूपको तो मन देखता है। रूपको मन कैसे देखता है? हमारी आँख तेज है, बड़ी दूर-दूरकी चीज देख लेती है। वैसे आँख सबकी तेज होती है। पाँच-सात बरस पहले एक बार डॉक्टरने हमें कंहा—'आपकी आँख तो जा रही है।' एक दिन दादाने रास्ते चलते हुए पूछा—'आपको कहाँतक दीखता है?'

मैंने कहा—'हमें सूर्य दीखता है, चन्द्रमा दीखता है, तारे दीखते हैं।' लोगोंको ऐसा खयाल होता है।

असलमें आँख भी दिखायी पड़ती है, पर आँखसे आँख नहीं दिखायी पड़ती। इसमें वेदान्तके नियम बनते हैं—पहला नियम बना—'जो चीज देखी जाती है, उसे देखनेवाला उससे न्यारा होता है। देखनेवाला देखा नहीं जाता।'

कैसे नियम बना? हम अपनी आँखसे अपनी आँखको नहीं देख सकते। हम अपनी आँखकी पुतली वैसे शीशेमें देख सकते हैं; शीशेमें तो प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। इसे 'कर्तृ-कर्म विरोध' कहते हैं। जैसे हम कहें कि 'हम अपने कन्धेपर चढ़कर बैठे हैं', तो कन्धेवाला और कन्धेपर चढ़कर बैठनेवाला, दोनों एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार देखनेवाला और दीखनेवाला, दोनों एक नहीं हो सकता। दीखनेवालेसे देखनेवाला न्यारा होता है।

'हमारी आँख मन्दी है'; 'हमारी आँख पटु है, तेज है'; 'हमारी आँख अन्धी है'; 'आँखसे देखनेमें गलती हो गयी'—आँखकी ये सारी बातें कौन जानता है? मन जानता है। इसलिए मन द्रष्टा है और ये आँखें दृश्य हैं।'

बहरा कान, तेज कान। कोई-कोई बड़ी दूरकी देख लेते हैं, बड़ी दूरकी सुन लेते हैं, बड़ी सूक्ष्म गन्ध सूँघ लेते हैं, परन्तु देखनेवाला इनसे बिलकुल न्यारा। आँखसे न्यारा, कानसे न्यारा, त्वचासे न्यारा, जीभसे न्यारा, नाकसे न्यारा, हाथसे न्यारा, पाँवसे न्यारा। इनको कहाँ बैठकर देखता है? मनमें बैठकर देखता है—

दृक् तु मानसम्—मन द्रष्टा है। मन इन सबसे न्यारा है। मनको मन नहीं देखता। दो बात देखो, एक तो विषयोंको देखा इन्द्रियोंने, तो विषय इन्द्रिय नहीं हैं। इन्द्रियोंको देखा मनने, तो मन ये इन्द्रिय-गोलक नहीं हैं, इनसे विलक्षण है।

दूसरे, आँखसे आँख नहीं देखी जाती और मनसे मन नहीं देखा जाता। आँख और मन दोनोंको देखनेवाला—आँखमें, इन्द्रियोंमें बैठकर विषयोंको देखनेवाला और मनमें बैठकर इन्द्रियगोलकोंको देखनेवाला मन इनसे न्यारा है और मनको देखनेवाला तो इनसे बिलकुल न्यारा है '**दृक् तु मानसम्**।'

'**दृश्या धीवृत्तयः**'—अब मनकी जो वृत्तियाँ हैं, वह दृश्य हैं। किसी-किसीका खयाल होता है कि—'जब वृत्तियाँ चञ्चल न हों, मन बिलकुल शान्त हो, तो वह दृश्य नहीं है।' ऐसा मत समझना। विवेकके आगे सबको झुकना पड़ता है।

मनकी वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है। एक वृत्ति होती है मूढ़। वह देहके साथ मिलकर बैठती है। उसमें प्रकाश नहीं है और गति भी नहीं है। मोह ही मोह है—'यह मैं देह हूँ।' असलमें 'मैं देह हूँ'—यह सोचनेकी जरूरत नहीं है; यह वृत्ति किसीकी बनती नहीं है। 'मैं मनुष्य हूँ' यह वृत्ति होती है; 'मैं मनुष्य हूँ'—यह अभिमान होता है। 'मैं देह हूँ'—यह अभिमान नहीं होता।

अच्छा, आगे चलो। 'मैं आँख हूँ'; 'मैं कान हूँ'; 'मैं नाक हूँ'; 'मैं जीभ हूँ'—ऐसा अभिमान भी किसीको नहीं होता। परन्तु 'मैं काना हूँ'; 'मैं बहरा हूँ'—यह अभिमान होता है, देखो, यह अविवेककी पराकाष्ठा है।

'मैं आँख हूँ', यह भ्रम नहीं होता, परन्तु अगर आँख एक हुई तो 'मैं काना हूँ', यह भ्रम हो जायगा। अगर आँख अन्धी हुई, तो 'मैं अन्धा हूँ', यह अभिमान हो जायगा। क्यों? आँख अन्धी है, तुम तो अन्धे नहीं हो। आँख एक है तो आँख काण है, तुम तो काण नहीं हो। कान बहरा है, तुम तो बहरे नहीं हो। परन्तु इन्द्रियधर्मका अपनेमें अध्यास कर लेते हैं, आरोप कर लेते हैं। इन्द्रियका अध्यास

नहीं होता, इन्द्रियधर्मका अध्यास होता है। देहका अध्यास नहीं होता, देहमें कल्पित मनुष्यका अध्यास होता है।

एक 'सिद्धान्त-विन्दु' ग्रन्थ है। बड़ा विलक्षण ग्रन्थ है। शंकराचार्यकी 'दशश्लोकी'पर 'श्रीमधुसूदन सरस्वती'की बड़ी विस्तृत और गम्भीर टीका है। 'सिद्धान्तविन्दु' इसका नाम है। उपनिषद्का ग्रन्थ है संस्कृतमें।

'मैं लँगड़ा हूँ'—यह अभिमान तो होता है, पर 'मैं पाँव हूँ'—यह अभिमान नहीं होता। 'मैं हाथ हूँ' यह अभिमान नहीं होता, पर मैं 'लूला हूँ'-यह अभिमान होता है। क्यों भाई ? जब हाथ नहीं हो, तो लूले कैसे हो ? जब पाँव नहीं हो, तो लँगड़े कैसे हो ? जब आँख नहीं हो, तो अन्धे कैसे हो ? जब कान नहीं हो, तो बहरे कैसे हो ? इन इन्द्रियोंके धर्मको अपने ऊपर आरोपित कैसे करते हैं ? मनसे करते हैं। यह मन इन्द्रिय और देहसे मिल गया है और ये मनोवृत्तियाँ अपनेपर आरोपित हो जाती हैं।

दृश्या धीवृत्तयः।

एक वृत्ति होती है मूढ, एक होती है क्षिप्त, एक होती है विक्षिप्त, एक होती है एकाग्र और एक होती है निरुद्ध। '**दृश्या धीवृत्तयः**'-बुद्धिकी सारी वृत्तियाँ दृश्य हैं।

'इतनी देरतक मेरा मन मूढ था, कुछ सूझता ही नहीं था'-यह कुछ न सूझना मूढ है। 'इतनी देर कहाँ थे ?' 'स्वर्गमें थे।' तो तुम्हारा मन मूढ नहीं था, क्षिप्त था। तुमने अपने मनको दूरकी कल्पनामें फेक दिया था।

'हमारा मन थोड़ी देरके लिए स्वादमें गया, थोड़ी देरके लिए गन्धमें गया, थोड़ी देरके लिए स्त्रीमें गया, थोड़ी देरके लिए पुरुषमें गया, थोड़ी देरके लिए धनमें गया।' यह क्या है ? यह विक्षिप्त मन है।

मनका मूढ होना, यह भी अनेक वृत्तियाँ हैं, क्षिप्त होना, यह भी अनेक वृत्तियाँ हैं, विक्षिप्त होना, यह भी अनेक वृत्तियाँ हैं।

'मेरा मन एकाग्र हो गया था, पाँच मिनटतक मेरे मनमें कोई भी वृत्ति उदय नहीं हुई'—यह है मनका एकाग्र होना। एकाग्रता भी मनकी एक वृत्ति है। वृत्ति माने व्यवहार।

'नहीं, मेरा मन तो बिलकुल निरुद्ध हो गया था'—यह निरुद्ध मन भी पाँच प्रकारका होता है—'**दृश्या धीवृत्तयः**'—बुद्धिकी वृत्तियाँ दृश्य हैं, इसके लिए यह बात सुनाते हैं।

निरुद्ध मनमें भी भेद ? हाँ, निरुद्ध मनमें भी भेद है। मूढ मन होता है तब देहके साथ एक होकर बैठता है, निरुद्ध मन होता है, वह आत्मामें बैठता है।

दोनोंमें भेद है। हड्डी-मांस-चामके साथ जब एक होके मन बैठ गया, तब मन मूढ हो गया। और जब आत्मामें एक होकर बैठ गया तब निरु द्ध मन हो गया।

निरुद्ध मन भी पाँच प्रकारका होता है। वह क्या? एक होता है 'वितर्कालम्बन', एक होता है 'विचारालम्बन', एक होता है 'आनन्दालम्बन', एक होता है 'अस्मितालम्बन' और पाँचवाँ होता है 'निरालम्बन'। ऐसा नहीं है कि आप कोई एक किताब पढेंगे और उसमेंसे ये सब बात मिलेगी। अनेक किताबोंमें हैं, पर यह उन सबका सार है।

स्थूलके आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना यह-'वितर्कालम्बन' है और सूक्ष्मके आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना-यह 'विचारालम्बन' है। आनन्दके आलम्बनसे—'आहा! आनन्द ही आनन्द! गोलोक, वैकुण्ठ, परमानन्दका समुद्र! आनन्दकी बौछार उठ रही है! आनन्दका चन्द्रमा, आनन्दकी वायु, आनन्दका आकाश विशाल, आनन्दकी धरती, आनन्दका जल, आनन्दके बादल, आनन्दकी वर्षा!! आनन्द ही आनन्द!!!' चित्त निरुद्ध है।

इससे भी सूक्ष्म होता है 'अस्मितालम्बन'। केवल 'अहं-अहं-अहं-अहं'। ये सब वृत्ति हैं। ये चारों 'संप्रज्ञात' समाधिके अन्तर्गत आती हैं और निरालम्बन जो चित्त है, यह 'असंप्रज्ञात' समाधिके अन्तर्गत आता है। कोई आलम्बन नहीं, चित्त जैसे हवामें उड़ा दिया गया हो! 'चित्त' नामकी कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेयका कोई भेद ही नहीं फुर रहा है। वह भी एक वृत्ति ही है। 'निरालम्बन' भी एक वृत्ति ही है।

निरालम्ब-वृत्तिके भी दो भेद होते हैं—एक सविकल्प और एक निर्विकल्प। विकल्पका बीज-विकल्प विद्यमान रहे और चित्तवृत्ति निरुद्ध हो। विकल्प मिट जाय और चित्तवृत्ति निरुद्ध हो तो निर्विकल्प।

निर्विकल्पके भी दो भेद-एक सबीज और एक निर्बीज। मनकी बात है—**'दृश्या धीवृत्तयः'।**

आप देखो पहले मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँचों चित्तकी वृत्ति हैं और ये दृश्य हैं। इसके बाद स्थूलालम्बन, सूक्ष्मालम्बन, आनन्दालम्बन, अस्मितालम्बन और निरालम्बन ये भी पाँचों वृत्ति हैं और दृश्य हैं। निरालम्बनमें भी सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज, निर्बीज और कैवल्य। कैवल्य माने परमात्मासे, आत्मदेवसे वृत्तिका पृथक् बिलकुल नहीं भासना।

दृश्या धीवृत्तयः—चित्तकी ये जितनी वृत्तियाँ होती हैं, ये सब-की-सब दृश्य होती हैं। दृश्य होती हैं, माने आने-जानेवाली होती हैं।

आपको ध्यानकी पद्धति बताते हैं—जैसे, आप स्वप्न देखते हैं न, जाग्रत्में बैठ जाइये और स्वप्नवत् वैकुण्ठको देखिये। देखो—'यह गंगा नदी बह रही है, यह उसके पारका पर्वत है। ये वैकुण्ठके पार्षद हैं। सब पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, सब मुकुटवाले! देखो, ये चल-फिर रहे हैं! ये देखो, लक्ष्मी-नारायण विराजमान हैं, वैकुण्ठमें!' जैसे आप स्वप्न देखते हैं, वैसे जाग्रत् अवस्थामें आप वैकुण्ठका, गोलोकका दृश्य देखिये। यह लीलाका ध्यान; यह दूसरी चीज हो गयी!

अब आपको दूसरी बात बताते हैं। आपको सुषुप्तिके बारेमें कुछ जानकारी है कि नहीं है? आप जागते हुए सुषुप्तिका ध्यान कीजिये। स्वप्नका ध्यान तो वैकुण्ठ; सुषुप्तिका ध्यान, तो समाधि।

एक दिन सपनेमें मैं एक महात्माका दर्शन करने गया। हमको ऐसे सपने आते हैं। पहले तो उन्होंने मेरा बड़ा आदर किया। सिंहासन पर बिठा दिया और बादमें मुझे गिरा दिया जबरदस्ती और हमारा सिर दबाया। मैंने पूछा—'यह क्या करते हो?' तो बोले—'तुम्हें समाधि लगवाता हूँ।'

मैंने कहा-'मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ, समाधि हमारेमें बाधित है।' पर वे तो सुनें ही नहीं!

बोले—'फिर भी तमाशा देखनेमें क्या हर्ज है? मैं समाधि लगवाता हूँ। मैं मानता हूँ कि तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो।' सपनेके सिरको उन्होंने पकड़ा और बिलकुल निराकार, निर्विकल्प, एकरस, चिन्मात्र! कुछ नहीं! कुछ भान ही नहीं, कुछ भासे ही नहीं। सपनेमें समाधि लग गयी!

जग गया, तो महात्मा भी मिथ्या हो गये और समाधि भी मिथ्या हो गयी, क्योंकि एक शरीरमें लगी हुई थी और सपनेके शरीरमें लगी हुई थी। मैं तो वही जिसने समाधि देखी थी और जिसने महात्माको देखा था। वही मैं जाग्रत देख रहा था।

अब आपको वृत्तियोंका ब्यौरा बताता हूँ। वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति और निद्रा। प्रमाणवृत्ति माने जिससे हम चीजोंका होना-न होना निश्चय करते हैं। जैसे, यह श्वेत फूल! कैसे इसका निश्चय होता है? आँखसे देखो तो, नेत्रवृत्ति प्रमाण है और यह पुष्प प्रमेय है। पुष्पकी श्वेतिमा नेत्रवृत्तिसे प्रमेय है, सफेदी मालूम पड़ती है।

कानसे आप सुनते हैं, यह मालूम पड़ता है। त्वचासे आप छूते हैं, यह मालूम पड़ता है। आप कोई चीज हमारे मुँहमें डाल दें तो कोई स्वाद मालूम पड़ेगा। प्रमाणवृत्ति इसको बोलते हैं।

प्रमाणवृत्ति भी कई तरहकी होती हैं, लेकिन प्रत्येक प्रमाणवृत्तिका फल वस्तुकी अपरोक्षता होता है। सार-सार बात बताता हूँ। अगर आप अग्निका 'अनुमान' करें कि 'पहाड़में आग है' और वहाँ जानेपर अग्नि न मिले तो अनुमान झूठा है कि सही ? अनुमान झूठा है।

किसीने 'उपमान' दिया कि 'एक ऐसी चिड़िया होती है जिसकी पूँछमें चोंच होती है।' 'कैसी चिड़िया होती है ?' 'जैसी कश्मीरमें बनती है।' दुनियाभरमें सब चिड़िया देख आये; ऐसी मिली नहीं, तो वह उपमान-प्रमाण बिलकुल झूठा हुआ।

यदि वस्तुका अपरोक्ष न हो, तो प्रमाण मिथ्या होता है। प्रमेयकी साक्षात् उपलब्धिमें जो हेतु होता है, उसीको प्रमाण बोलते हैं। प्रत्यक्ष भी झूठा यदि वस्तु नहीं है। अनुमान भी झूठा, उपमान भी झूठा, शब्द भी झूठा। वस्तुका साक्षात् अपरोक्ष जिससे हो, उसका नाम प्रमाण।

एक होती है प्रमाणवृत्ति और एक होती है विपर्ययवृत्ति। विपर्यय माने कुछ-का-कुछ मान बैठना। एक होती है विकल्पवृत्ति, एक होती है स्मृतिवृत्ति। स्मृति माने पिछली बातोंकी याद। एक होती है निद्रावृत्ति। निद्रा भी वृत्ति है। वृत्ति माने व्यवहार। '***संतो, आवे-जाय सो माया।***' निद्रा आयी और गयी। याद आयी और गयी। विकल्प आया और गया। विपर्यय आया और गया। प्रमाणवृत्ति उदय हुई और नष्ट हुई। ये पाँचों मनोवृत्तियाँ हैं!

दृश्या धीवृत्तयः। ये सबकी सब दृश्य हैं। ये पाँचों भी दो तरहकी होती हैं—एक क्लिष्ट और एक अक्लिष्ट। एक साधनमें सहायक और एक साधनमें बाधा डालनेवाली। जैसे, शालिग्राममें ईश्वरबुद्धि साधनमें सहायक है। यह सोलहों आने विपर्यय है, सोलहों आने उलटी चीज है। एक काली पत्थरकी गोलीका नाम 'ईश्वर' नहीं हो सकता है, परन्तु शालिग्रामको सामने रखकर कहेंगे—'हे शालिग्रामदेव!' तुमने सृष्टि बनाई है। तुम्हीं सृष्टिका पालन करते हो, तुम्हीं सृष्टिका संहार करते हो। तुम सारी सृष्टिके आधार हो। तुम साक्षात् ईश्वर हो।' इससे क्या निकलेगा ?

इससे निकलेगा कि 'जो सृष्टिको बनाता है, पालता है, संहार करता है, धारण करता है, वह ईश्वर है। सामने शालिग्राम रखोगे और ईश्वरके बारेमें समझ बढ़ेगी। ईश्वरके बारेमें समझ बढ़ेगी तो शालिग्रामकी शिला ईश्वरकी प्राप्तिमें मददगार है। कोई समझका नाश ही करनेपर तुला है, तो उसकी बात न्यारी है। शालिग्राममें जो ईश्वरबुद्धि है, यह 'अक्लिष्ट विपर्यय' है।

किसीने अपनी पत्नीको कहा—'हे प्राणेश्वरी! तुम ही जगदीश्वरी हो! तुम जगन्माता हो!' दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा! दिल्लीका मालिक क्या है? जगत्‌का स्वामी है! यह 'क्लिष्ट विपर्यय है' क्लिष्ट विपर्यय' माने आखिर क्लेश देनेवाला है।'

पाँचों प्रकारकी साधक और बाधक दोनों वृत्तियाँ हैं; ये दृश्य हैं और द्रष्टा उनसे न्यारा है।

'दृश्या धीवृत्तयः' में वृत्तिका विस्तार देखो! मूढ़-क्षिप्त-विक्षिप्त-एकाग्र-निरुद्ध; स्थूलालम्बन-सूक्ष्मालम्बन-आनन्दालम्बन-अस्मितालम्बन-निरालम्बन। निरालम्बनमें सविकल्प-निर्विकल्प-सबीज-निर्बीज-कैवल्य।

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति-क्लिष्ट-अक्लिष्ट। ये सम्पूर्ण चित्तकी वृत्तियाँ हैं।

साक्षी दृगेव।

जो साक्षी है, वह केवल द्रष्टा ही है। साक्षी माने **साक्षात् पश्यति**। जो साक्षात् देखता है, उसका नाम साक्षी। साक्षात् माने? आँखसे नहीं, कानसे नहीं, नाकसे नहीं, जीभसे नहीं, किसी जरियेसे नहीं, अन्तःकरणसे भी नहीं। बल्कि, अन्तःकरणके भावाभावको भी जो देखता है, उसका नाम है 'साक्षी'।

जैसे आँखसे आँख नहीं दीखती न! वैसे साक्षीसे साक्षी भी नहीं दीखता। साक्षी साक्षीभास्य भी नहीं है।

'न तु दृश्यते'—वह देखा ही नहीं जाता। ऐसा जो सबका द्रष्टा, जो स्वयं, अदृश्य, अदृष्ट और आत्मस्वरूप है, जो अनेकताका भी द्रष्टा है, जो परिच्छिन्नताका भी द्रष्टा है, जो चलताका भी द्रष्टा है, जो नास्तिका भी द्रष्टा है; जो आप्य-उत्पाद्य-विकार्य-संस्कार्य सबका साक्षी है। जो साक्षी है, परन्तु देखा नहीं जाता; दृश्य नहीं होता।' स्वयं है, वह देखा नहीं जाता, द्रष्टा है। उसीको श्रुति बताती है कि—

स एष नेति-नेति इति व्याख्यातं निह्नुतेयतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशत॥ -अद्वैत० २६

वेदान्त-सम्प्रदायके परमवेत्ता आचार्य गौड़पाद यह बात कहते हैं—**'स एष नेति-नेति इति व्याख्यातं निह्नुतेयतः'**। जिस-जिसका व्याख्यान है—'यह है, यह है'; ऐसा है-वैसा है; 'इति-इति-इति'। श्रुति कहती है—'नेति-नेति'। सम्पूर्ण व्याख्यानका अपह्नव कर देते हैं, तिरस्कार कर देते हैं।

सर्वं अग्राह्य-भावेन हेतुना-यह जो आत्मदेव है, वह अग्राह्यभावरूप हेतुसे-**'अजं सर्वं प्रकाशते'**। यह जो अजन्मा परमात्मा है, यही प्रकाशित हो रहा है। दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वेदान्तप्रक्रियाके परमाचार्य ऐसा बोलते हैं।

●

प्रवचन
२

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ १॥
नीलपीतं स्थूलसूक्ष्महृस्वदीर्घादिभेदतः।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥ २॥
आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥ ३॥

द्रष्टा-दृश्यकी प्रक्रिया—यह है वेदान्तकी प्रक्रिया। इसको वेदान्तमें प्रक्रिया बोलते हैं। विचार करनेका एक प्रकार। प्रक्रिया माने प्रकार। प्रकारको ही प्रक्रिया कहते हैं। अद्वैत-वेदान्तमें मुख्य प्रक्रिया है अध्यारोप और अपवाद। उसके बिना और कुछ है ही नहीं।

एक बात आपको सुनाता हूँ कि जिन लोगोंने सम्प्रदायपूर्वक वेदान्तका अध्ययन नहीं किया है, उन लोगोंको यह बात मालूम ही नहीं है, एकदम मालूम नहीं है। वे कहीं द्रष्टा-दृश्य देखते हैं तो कहीं कार्य-कारण देखते हैं; कहीं पंचकोश-विवेक देखते हैं तो कहीं अवस्थात्रय देखते हैं। यदि उनको अध्यारोप-अपवादकी प्रणाली नहीं मालूम है, तो किसी प्रक्रियाको ही सच्ची समझके उसमें आसक्त हो जायेंगे। बोलेंगे—'बस-बस, यही वेदान्त है।'

यह तो वेदान्तको समझानेका एक ढंग है। वेदान्त साधना नहीं है, वेदान्त समझना है।

वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्।

भगवान् शङ्कराचार्यने कहा—'जितने वचन होते हैं, वे समझानेके लिए बोले जाते हैं, करानेके लिए नहीं बोले जाते। हम बोलेंगे, तुम समझोगे। बात समझमें आवेगी तो करोगे, माने वाक्यकेद्वारा ज्ञान दिया जाता है और ज्ञान फिर संसारके बारेमें होगा

तो करने-न-करनेका होगा और ईश्वरके सम्बन्धमें होगा तो जानने-न-जाननेका होगा। ज्ञान कराता नहीं है, ज्ञान बताता है। ज्ञान समझाता है—'**वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्**'।

अब आओ, अध्यारोप-अपवादकी प्रक्रियाका कुछ नमूना आपको बतावें। पहले कहेंगे कि 'ब्रह्म ज्ञेय है'। सीधी बात 'ज्ञेय है' माने ज्ञातव्य है। ब्रह्मको जानना जरूरी है। यदि ब्रह्मको नहीं जानेंगे, अपनेको परिच्छिन्न जानते रहोगे, तो दु:खी सुखी होते रहोगे, पापी पुण्यात्मा होते रहोगे, जीते मरते रहोगे, बेवकूफ और समझदार बनते रहोगे। संसारसे तुम्हारी छुट्टी नहीं होगी। इसलिए जाननेयोग्य तो ब्रह्म ही है।

अच्छा भाई, ब्रह्म जानने योग्य है, तो ज्ञानका विषय है ब्रह्म?

बोले—'**नेति-नेति**'। अरे भाई,ज्ञेयता है, वह कर्त्तव्यताकी दृष्टिसे बतायी कि 'तुम्हें जानना चाहिए।' ज्ञेय तो ज्ञानमें विषयरूपसे भी हो सकता है और अविषयरूपसे भी हो सकता है। ब्रह्मको ज्ञेयकी तरह मत जानो कि वह घड़ेकी तरह है, कपड़ेकी तरह है, मकानकी तरह है। ब्रह्मको ज्ञाताकी तरह जानो। ब्रह्मको जाननेसे क्या होगा? ब्रह्म मिल जायगा। 'ब्रह्म क्या अनमिला है?'

ब्रह्म अनमिला नहीं है। ब्रह्म आप्य नहीं होता। आप्य माने प्राप्य। फिर भी उसके ऊपर प्राप्यत्वका आरोप किया जाता है।

'क्या ब्रह्म मिलता है?'

तुमको दुनिया मिलती है? यदि दुनिया तुम्हारे दिमागमें मिली-अनमिली भरी है, तो थोड़ी देरके लिए ब्रह्मको भी मिलनेवाला मान लो, तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है? इसका अर्थ है कि और कुछ भी आप्य नहीं है, केवल ब्रह्म ही आप्य है। दुनियामें दूसरी कोई वस्तु प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, केवल ब्रह्म ही प्राप्त करनेयोग्य है।

आत्मलाभात् न परं विद्यते।

आत्मलाभसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अपनेको प्राप्त करो, अपनेको प्राप्त करो।

बोले—'अपना आपा अप्राप्त कहाँ है?'

अरे! यह घट-मठकी प्राप्तिमें, सोना-चाँदीकी प्राप्तिमें, बहू-बेटीकी प्राप्तिमें, पति-पत्नीकी प्राप्तिमें तुम्हारा आत्मा खो गया।

मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें।

पति-पत्नीके कचरेमें, माँ-बेटेके कचरेमें, बहू-बेटीके कचरेमें, सोना-चाँदीके कचरेमें, हीरा-मोतीके कचरेमें, छोटी-छोटी चीजोंके कचरेमें यह हीरा खो गया है। इसको ढूँढ़ निकालना है, भाई!

आत्मलाभात् न परं विद्यते—अपने-आपको ढूँढ़ निकालनेसे बढ़ करके दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। अपनेको प्राप्त करो।

न चेदिहावेदी महती विनष्टि। —केनो० २.५

'कभी ज्ञेय बोलते हो, कभी प्राप्य बोलते हो। आखिर किस रूपमें इसको प्राप्त करें?'

हम आपको कविता नहीं सुनाते हैं। कविता हमें आती नहीं है। संस्कृत-साहित्यमें बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हैं कि अध्यासकी सामग्री क्या है? अध्यास क्यों होता है? इस पर विचार है। युक्तियोंके अम्बारमें वेदान्त खो जाता है। यह शास्त्रार्थकी वस्तु नहीं है। संगीत और कवितामें भक्ति खो गयी; गानेका स्वाद आने लगा, बजानेका स्वाद आने लगा। बढ़िया-बढ़िया कविताका स्वाद आने लगा तो ईश्वर भूल गया। बिजलीकी रोशनीमें बड़ी शृङ्गारयुक्त मूर्तिका जब दर्शन होने लगा, तो हीरा कैसा, मुकुट कैसा, शृङ्गार कैसा, कपड़ा-पोशाक कैसा, इसमें तुम खो गये। 'यह ईश्वर है'—यह बात भूल गयी।

जहाँ काली-काली मूर्ति पुराने जमानेसे जैसे, वैद्यनाथका मन्दिर है, भुवनेश्वरका मन्दिर है, मूर्ति भी फट गयी है, बोले—'यह साक्षात् भगवान् है।' हमारे हृदयमें भगवद्बुद्धि आयी, पुरानी शृङ्गाररहित टूटी-फूटी, बिजलीरहित मूर्तिको देख करके तो हृदयमें ईश्वरबुद्धि आयी और बिजलीसहित स्वच्छ शृङ्गारयुक्त मन्दिरमें जाकर हीरा-मोती और पोशाक देखकर लौट आयी; ईश्वरबुद्धिका उदय ही नहीं हुआ। आप बिल्कुल पर्दा फाड़कर ईश्वरसे मिलो।

वेदान्तने कहा—ब्रह्म जो है, वह कोई दूसरा नहीं है। इसलिए उसको कहीं जाकर या कहींसे बुलाकर पाना नहीं है। उसपर कोई मलिनता नहीं लग गयी है कि उसका संस्कार करना है। वह कच्चा नहीं है कि उसको पकाना है। चावल कच्चा होता है तो उसको पकाके भात बनाते हैं। ब्रह्म कच्चा नहीं है। ब्रह्ममें कोई मैल नहीं है कि उसको धोना है। ब्रह्म कोई दूसरा नहीं है कि उसको पाना है। न आप्य, न संस्कार्य, न विकार्य, तो बोले—'आओ', बेटेकी तरह, ब्रह्मको पैदा करें!'

वह उत्पाद्य भी नहीं है, वह तो अपना आपा है। श्रुतिने कहा—'ज्ञाताको ढूँढो।' ज्ञाता कौन है? ज्ञाता और द्रष्टाका भेद बतानेके लिए यह भूमिका बना रहा हूँ। ज्ञाता

माने जाननेवाला; द्रष्टा माने देखनेवाला। यहाँ तो 'द्रष्टा' शब्द भी नहीं है। 'दृग्' है- यह जरा द्रष्टासे ऊपर होता है। जब हम किसी चीजको देखते हैं, तो कितना परामर्श होता है, अपने दिलमें देखो! यह मैं तुम्हारे दिलकी बात बता रहा हूँ।

'अहं अनेन अस्मिन् देशे, एतावत्कालपर्यन्तम् एतद्वस्तुं एतादृशम् पश्यामि।'

यह हमारी दर्शन-क्रियाका विवरण है। विवरण माने खुलासा, बेपरत। क्या खुलासा हुआ? मैं इस औजारके द्वारा इस जगह इतनी देरतक इस चीजको इस रूपमें देख रहा हूँ। यह दर्शनका अनुवाद है।

अब समझो कि 'मैं अन्तःकरणकी वृत्ति अथवा नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा बाहर या भीतर इतनी देर इस गुलाबके फूलको लाल-लाल या सुगन्धित अनुभव कर रहा हूँ।' आपकी दर्शन-क्रियामें कितनी चीजें हैं? पहले 'मैं' है, फिर औजार है—करण है; फिर स्थान है, समय है, वस्तु है और वस्तुका प्रकार है और उसका दर्शन हो रहा है। इसका मैंने वर्णन किया। यह क्या है? ज्ञान-व्यापार, ज्ञानकी प्रक्रिया, ज्ञानकी व्यावृत्ति। ज्ञान-क्रिया कैसे होती है?

अहं पश्यामि—मैं देख रहा हूँ। तो, मैं और देखना, दोनों अलग-अलग हो गये हैं। यद्यपि अलग नहीं हैं, फिर भी अलग-अलग मालूम पड़ता है। फिर ऐसे भी बोलोगे कि 'मैं नहीं देखता हूँ, सपनेमें मैं ऐसा नहीं देखता हूँ, दूसरा देखता हूँ। सुषुप्तिमें मैं जाग्रत और स्वप्नकी चीजोंको नहीं देखता हूँ।'

अब देखो, यहाँ देखना और न देखना दोनोंसे अलग 'मैं' मालूम पड़ता है। इसका अर्थ है, देखना और न देखना दोनों उपाधिमें है और अपना जो ज्ञानस्वरूप है, वह दोनोंसे न्यारा है। जैसे, देखो, यह फूल है।

अहम् चक्षुर्भ्याम्=दोनों आँखसे मैं

बहिर्देशे=बाहर देशमें

अस्मिन् काले=इस समय

श्वेतिमानं उद्वहन्तम्=श्वेतिमाको धारण किये हुए इसको

पश्यामि=देख रहा हूँ।

अब विचार करो—यह फूल होना, यह देश होना, यह काल होना, यह करण होना और यह ऐसा होना-सब दृश्य हो गया। दृश्य क्या-क्या है? काल भी दृश्य है—इतने कालतक। कालमें परिस्थिति मालूम पड़ रही है। काल—'इतना' और 'उतना' मालूम पड़ता है—झूठा है। देशमें—'इतनी' और 'उतनी' मालूम पड़ती है-बिलकुल झूठी है।' 'बाहर' और 'भीतर' मालूम पड़ता है-बिलकुल झूठा है।

इस स्थानमें यह फूल कभी रहता है और कभी नहीं रहता है। इसलिए स्थानका सम्बन्ध बिलकुल झूठा है। इस कालमें फूल कभी रहता है और कभी नहीं रहता है, और वह काल जानेके बाद फिर कभी लौटता ही नहीं है। यह फूल ऐसा नहीं रहता है, सड़ जाता है, सूख जाता है और हमेशा फूल ही नहीं दिखता है। फूलकी गन्ध नाकसे मालूम पड़ रही है, फूलका रूप आँखसे मालूम पड़ रहा है, फूलकी कोमलता त्वचासे मालूम पड़ रही है। इसमें कितनी अनेकताएँ हैं? ये मालूम पड़ रही हैं। सब दृश्य हैं और जिन इन्द्रियोंसे मालूम पड़ रही हैं। वे इन्द्रियाँ भी दृश्य हैं। जिन वृत्तियोंसे मालूम पड़ रही हैं, वे वृत्तियाँ भी दृश्य हैं।

आप विचार करोगे तो ऐसा बिलकुल मालूम पड़ेगा। जिस चीजको हम हमेशा, हर वक्त और हर जगह देखते रहते हैं। देखते रहते हैं और यह देखनेवाला बिलकुल क्या अजूबा है! अजब है, अजब है और गजब ही देख रहा है। यह तो हम फँस-फँसके देखते हैं। इसलिए यह देखना मालूम पड़ता है।

जो तुम्हारा बेटा दीख रहा है, माता जिसको अपना बेटा दीख रहा है, वह माताका बेटा नहीं, बापका बेटा है। बापका बेटा नहीं, गेहूँका बेटा है। गेहूँका बेटा नहीं, प्रकृतिका बेटा है। पञ्चभूतका बेटा है। पञ्चभूतका बेटा नहीं, प्रकृतिका बेटा नहीं, ईश्वरका बेटा है। ईश्वरका बेटा नहीं, मायाका बेटा है। मायाका बेटा नहीं, ब्रह्मका बेटा है। बोले—'भाई, ब्रह्मके तो बेटा होता ही नहीं!' 'तब?' 'तब बेटा बिना हुए ही भास रहा है।'

किसका बेटा, किसका बाप? जब मनुष्य अपने घेरेमें बंध करके किसी वस्तुको देखता है, तो उसकी असलियतको नहीं देख पाता। हम ज्ञाता कब बनते हैं? जब करणके द्वारा देखते हैं। ज्ञाता माने जब प्रमाणके द्वारा हम प्रमेयको देखते हैं, जब वृत्ति द्वारा हम विषयको देखते हैं। तब हमारा नाम 'ज्ञाता' होता है। ज्ञाता!

अहं अनेन इदं पश्यामि।

'मैं इसके द्वारा इसको देखता हूँ।' इस त्रिपुटीमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयका भेद होता है। त्रिपुटीमें ही ज्ञातापना होता है। जहाँ त्रिपुटी नहीं हैं, वहाँ ज्ञातापना नहीं होता। सुषुप्तिमें ज्ञातापना नहीं है। मार दी गोली! क्यों? वहाँ प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार नहीं है।

'मैं इस वृत्तिके द्वारा इसको देख रहा हूँ'—माने नेत्रसे रूप देख रहा हूँ या श्रोत्रके द्वारा शब्द सुन रहा हूँ या मनके द्वारा विचार कर रहा हूँ। यह व्यवहार सुषुप्तिमें न होनेके कारण सुषुप्तिमें ज्ञातापना नहीं है, लेकिन अनुभव है।

एक बार एक महात्मासे किसीने पूछा—'बुद्धिसे बड़ा तो सृष्टिमें और कुछ नहीं है, बुद्धि सबसे बड़ी है।'

उन्होंने कहा 'बुद्धिसे बड़ा अनुभव है। बुद्धि कभी निश्चय करती है, कभी अनिश्चय करती है, परन्तु निश्चय-अनिश्चय करनेवाली बुद्धिको जो अनुभव कर रहा है, वह जो बुद्धिका प्रकाशक है, वह तो बुद्धिसे बहुत बड़ा है।'

अब देखो वेदान्तकी प्रक्रिया सुनाते हैं, कहानी तो नहीं सुना सकते। अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यको जीव कहते हैं और अन्त:करणाभावावच्छिन्न चैतन्यको ईश्वर कहते हैं, और अनवच्छिन्न चैतन्यको ब्रह्म कहते हैं।

विचार नहीं करोगे तो कहीं-न-कहीं फँसोगे। तब फिर हम ऐसा उसके बारेमें सोचते हैं कि इनका भाग्य या तो आजीवन निगुरा रहनेका है या आजीवन चेला रहनेका है। यह अपने जीवनमें गुरु और शिष्यके भेदसे निर्मुक्त जो पद है, वह पद प्राप्त नहीं कर सकते। एक ऐसा पद है, जहाँ न निगुरा है, न सगुरा है, न गुरु है। एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्तित्वका राज्य नहीं है, जहाँ वासनाओंका नियन्त्रण नहीं है, जहाँ किसी वस्तुको देखनेमें करणोंकी पराधीनता नहीं है, इन्द्रियोंकी पराधीनता नहीं है। ऐसी वस्तु है! ऐसी वस्तु है!!

अङ्कुरावच्छिन्न चैतन्यका नाम जीव है और बीजसमष्टि-अपरिच्छिन्न चैतन्यका नाम ईश्वर है। बीजसमष्टि- अनवच्छिन्न चैतन्यका नाम ब्रह्म है।

पहले 'तत्' पदार्थका विवेक करनेमें लोग डरते हैं, लेकिन किये बिना काम बनेगा नहीं। तुम कहो कि 'आत्मा पूर्ण हैं,' तो हम पूछेंगे—''तुमने 'पूर्ण' शब्दका अर्थ जाना कि नहीं जाना?''

बोले—'हाँ, हमने 'पूर्ण' शब्दका अर्थ विचार किया है।'

'क्या अर्थ है?'

'देशकी परिच्छिन्नतासे अलग, कालकी परिच्छिन्नतासे अलग, वस्तुकी परिच्छिन्नतासे अलग।'

'क्या परिच्छेदराहित्यसे उपलक्षित वस्तुको पहले तुमने 'पूर्ण' समझा है?'

'हाँ, पूर्ण उसको समझा है, जो परिच्छेदसामान्यके राहित्यसे उपलक्षित है।'

अच्छा? तुमने समझा है? तो 'तत्' पदार्थका तुम्हें विवेक हुआ। अब तुम बोलो कि आत्मा 'पूर्ण' है, तो ठीक है, अगर तुम 'पूर्ण' शब्दका अर्थ ही नहीं जानते, तो भलेमानुस! तुम चिल्लाते रहो कि 'अविनाशी-अविनाशी,' 'पूर्ण-पूर्ण'—यह तो ऐसा ही है कि 'आत्मा 'बित्थ' है, 'आत्मा 'दबित्थ' है'' यह 'बित्थ-

दबित्थ' क्या है ? ऐसा ही 'पूर्ण' क्या होता है ? तुम पहले यह बताओ कि पूर्ण क्या होता है ?

बोले—'महाराज! पूर्णता वह होती है जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।'

'बस, ठीक है। इसीको हम तत् बोलते हैं। अन्य रूपसे पूर्णताके स्वरूपका निश्चय यह 'तत्' है और आत्माकी पूर्णताको जानना, यह अभेदज्ञान है। वह पूर्णता अपने आत्मामें ही है, अन्यमें नहीं है।'

आओ, वेदान्तकी चर्चा सुनावें। ज्ञाता और द्रष्टा। जो वृत्तियोंके द्वारा विषयका ज्ञान प्राप्त करता है, जिसमें त्रिपुटी होती है, उसको बोलते हैं 'ज्ञाता'। परन्तु अपने जीवनमें एक समय ऐसा आता है, एक अवस्था ऐसी आतीहै,जब नविषयका ज्ञान होता है, न वृत्तिका। जब विषय और वृत्ति दो चीज न रहीं तो त्रिपुटीमेंसे केवल एक वस्तु रहगयी।एक चीज रह गयी, तो प्रमाण और प्रमेयकी अपेक्षासे जिसको 'ज्ञाता' बोलते थे, उसे 'ज्ञाता' न बोलके 'द्रष्टा' बोलेंगे।

सुषुप्तिमें द्रष्टा है। बोले—'ठीक है, द्रष्टा है।' समाधिमें द्रष्टा है। जाग्रतमें द्रष्टा है,स्वप्नमें द्रष्टा है!

ठीक है, जाग्रतमें और स्वप्नमें तुम वृत्ति, विषय और इन्द्रियके साथ अपना सम्बन्ध बना लेते हो, सुषुप्तिमें यह सम्बन्ध छूट जाता है।

बोले—'सम्बन्ध तो छूट जाता, परन्तु अविद्या लगी रहती है'

'क्या अविद्या लगी रहती है ? सुषुप्तिमें और समाधिमें किसीको ज्ञान नहीं हो सकता। वेदान्तकी विलक्षणता हम आपको क्या समझावें ? कबीरका वह पद याद आता है-

केहि केहि समझावौं सब जग अन्धा।

उनको डर नहीं लगता है बोलनेमें। हमारे श्रोता तो कभी-कभी डर जाते हैं तो बोलते हैं—'स्वामीजी! माफ करना, आज मैं पन्द्रह मिनट देरसे आया।' माने, आपके न आनेसे मैं आपपर नाराज हो जाऊँगा, ऐसा सोचते हैं तभी तो आप कहते हैं—'माफ करना।'

यह तो जिसके अन्दर जिज्ञासा हो जिसमें रुचि हो, जिसको अज्ञान काटता हो कि 'हाय-हाय!' दु:खमें तो तुम उद्विग्न होते हो, लेकिन अज्ञानसे उद्विग्न नहीं होते। जिसको अज्ञान नहीं सताता है, उसके लिए वेदान्तज्ञान कठिन है। जो अज्ञानके उद्वेगको अनुभव करता है कि 'हाय-हाय', मैं अन्धेरेमें भटक रहा हूँ।'

हमारा जिज्ञासु कैसा होना चाहिए? जो बोले कि 'महाराज, हमें सत्यका ज्ञान बता दो।'

'सत्यका ज्ञान होनेसे कुछ मिलने-जुलनेवाला नहीं है। छूट जायगा तुम्हारा स्वर्ग! स्वर्ग नहीं मिलेगा।'

'ठीक है, हम नरकमें रहना पसन्द करते हैं, लेकिन सत्यके ज्ञानके बिना रहना पसन्द नहीं करते हैं।'

सत्यके ज्ञानसे जिसकी इतनी प्रीति है कि—'ईश्वर सत्य हो तो हमें ईश्वर चाहिए। ईश्वर सत्य न हो, तो हमें ईश्वर नहीं चाहिए। अगर नरक ही सत्य हो, तो हम अनन्त काल तक नरकमें रहनेको तैयार हैं, परन्तु हमें सत्यका ज्ञान चाहिए।'

जिसको सत्यके ज्ञानकी प्यास नहीं है, वह सत्यके ज्ञानका अधिकारी नहीं है।

मैं बौरी ढूढ़ँन चली, रही किनारे बैठ।

ज्ञेय और ज्ञानकी रस्सी अपने गलेमें बाँधके बैठे हुए हैं ज्ञाता। आपको समझना चाहिए, यह तत्त्वज्ञान हिमालयमें भगानेके लिए नहीं है, गुफामें ले जानेके लिए नहीं है, योगमें सच्ची समाधिमें बैठानेके लिए नहीं है, निवृत्तिपरायण करनेके लिए नहीं है। यह तो सच्चाईका ज्ञान है और यह तो जीते-जागते जाग्रत अवस्थामें होनेकी चीज है।

नशा पीके आप बेहाश हो जायँ, इसमें 'आप ज्ञानी हैं—ऐसा न समझें! अभ्यास-प्रक्रिया करके आप जगत्का भान मिटा दें, उसमें 'आप ज्ञानी हैं'—ऐसा न समझें! सुषुप्ति अवस्थामें 'आप ज्ञानी हैं'—ऐसा न समझें! समाधि-अवस्थामें 'आप ज्ञानी हैं'—ऐसा न समझें।

अज्ञान-निवारण करनेवाली वृत्ति यदि उदय नहीं होती, अपने स्वरूपके अज्ञानके जिस कारणसे अपनी अद्वितीयता—अपनी ब्रह्मताके अज्ञानसे आप जीव बने बैठे हैं जब तक; अपनी ब्रह्मता और अपनी अद्वितीयताको ज्ञात करानेवाली वृत्तिका उदय नहीं होगा।

वेदान्त प्रक्रिया शून्यता नहीं है। वेदान्तकी प्रक्रिया समाधि नहीं है। वेदान्तकी प्रक्रिया सुषुप्ति-अवस्थामें जाना नहीं है। वेदान्तकी प्रक्रिया एक ऐसा जीता-जागता जाग्रत-अवस्थाका ज्ञान है, जो अज्ञानको बिकुल सफाचट कर देता है।

आप योगी बन सकते हैं, आप विवेकी बन सकते हैं, आप उपासक बन सकते हैं, आप निरोध-समाधिमें बैठ सकते हैं, परन्तु *'खुले नयन परमारथ देखूं'* यह परमार्थ? यह प्रपञ्च भी अद्वितिय ब्रह्म ही है। अधिष्ठान-ज्ञानके द्वारा यह जानना और प्रपञ्चमें फिर निर्द्वन्द्व हो करके व्यवहार करना! व्यवहारसे छूटना नहीं,

व्यवहारसे मुक्त होना नहीं, प्रपञ्चमें निर्द्वन्द्व हो करके व्यवहार करना-यह वेदान्तकी शिक्षा है। इसके लिए पहले आप द्रष्टा और ज्ञाताका विवेक करो।

सुषुप्तिमें था केवल द्रष्टा और सम्पूर्ण दृश्य सन्मात्र द्रष्टामें ही लीन हो गया था, यह बात बिलकुल पक्की है। परन्तु उस समय यह अनुभव नहीं हुआ कि 'मैं ही सब हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही अद्वितीय हूँ।' यह वृत्ति ही नहीं हुई। इसलिए जब वहाँसे उठे तो अविद्या लगी आयी तुम्हारे साथ। जब अविद्या लगी आई तुम्हारे साथ तो जाग्रत और स्वप्नमें क्या सोचा? कि 'यह मेरा अन्तःकरण, ये मेरी इन्द्रियाँ, यह मेरी देह, यह मेरा परिवार, ये मेरे कर्म-मैं पापी-पुण्यात्मा, यह मेरा सुख-दुःख-मैं सुखी-दुःखी, मैं नारकी स्वर्गी!'

एक बार विवेक करके देखो अपनेको! देशमें पूरब-पश्चिम नहीं होता है। आज बुधवार है। सात दिनके बाद फिर यही बुधवार आयेगा कि दूसरा बुधवार आयेगा? अब यह नहीं आवेगा, दूसरा बुधवार आनेवाला है। एकादशी बार-बार नहीं आती, नई-नई एकादशी आती है। कालमें संस्कार नहीं होता। सचमुच सत्युग, त्रेता, द्वापर कालमें नहीं होता है। यह बात सच्ची है बिलकुल! देशमें बाहर-भीतर और पूरब-पश्चिम नहीं होता। कलेजा और कलेजेके बाहर, यह दिक्तत्त्वमें नहीं होता। संस्कार मिट्टी-पानी-आगमें नहीं होता। आगमें जलानेपर आम भी जल जायेगा और अंगूर भी जल जायेगा। न अंगूर रहेगा, न आम। सत्तामें भी संस्कार नहीं होता। हमारे मनमें वस्तुओंके सम्बन्धसे जो मोह है; अविद्यासे केवल संस्कारकी उत्पत्ति होती है।

आप जो द्रष्टा है! विषयके द्रष्टा, इन्द्रियोंके द्रष्टा, देहके द्रष्टा, मनोवृत्तियोंके द्रष्टा, जाग्रत-स्वप्न सुषुप्तिके द्रष्टा! यह द्रष्टा भी आरोप-अपवाद-सिद्धान्त के अनुसार ही है—'**स एष नेति नेति**' और '**इति-इति**'।

यह द्रष्टा विवेक करनेके लिए है कि आप अपने आत्माके सम्बन्धमें जानें कि दृश्य भासे तब भी आप द्रष्टा हैं और दृश्य न भासे तब भी आप द्रष्टा हैं। विषयके भानाभानमें, वृत्तिके भानाभानमें, त्रिपुटीके भानाभानमें आप द्रष्टा हैं- यह समझानेके लिए है कि त्रिपुटीके भानाभानमें आप द्रष्टा हैं। इसमें सबसे मजेदार बात आखिरमें आती है कि जिसमें इस त्रिपुटीका भान है, उसीमें त्रिपुटीका अभान है। त्रिपुटीके भावाभावका जो अधिकरण है, उसीमें त्रिपुटीका भाव भास रहा है। इसलिए द्रष्टामें दृश्य नामकी कोई वस्तु नहीं है। न देश है, न काल है, न वस्तु है, न प्रकारभेद है, न करण है, न इदन्ता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि दृश्यके अभावका अधिकरण जो द्रष्टा है, उसीमें दृश्य भास रहा है। जो वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह मिथ्या

होती है, इसलिए द्रष्टाका दृश्य ही नहीं है। तब द्रष्टा और दृष्टिका भेद करनेवाल कौन है?

असलमें द्रष्टा और दृष्टि दो नहीं हैं, भानात्मक ही द्रष्टा है और दृष्ट्यात्मक ही भान है। इसलिए भानस्वरूप जो दृक्तत्त्व है, वह देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित परिपूर्ण, अविनाशी अद्वितीय चैतन्य ब्रह्म है यह अपना आत्मा!

कहो कि 'भाई, यह भी बोलनेकी बात नहीं है' ठीक है, यदि जिज्ञासु गुरुसे यह कहे कि 'यह बोलनेकी बात नहीं है', तो वह ज्ञानप्राप्तिका निषेध करता है। वह कहता है—'हे गुरुजी, आप उपदेश मत करो, बोलो मत यह बोलनेकी बात नहीं है' ऐसे बेवकूफ जिज्ञासुकी जिज्ञासा ही धन्य है!

जहाँ गुरु कहे कि 'हमने तुमको बोलके तो समझाया है, अब न बोलके समझाते हैं—क्योंकि यह शब्दका विषय नहीं है!' उपनिषद्में यह कथा है—

बाष्कलीने बाष्पसे प्रश्न किया है कि 'महाराज, ब्रह्मका वर्णन कीजिये। '**अधिहि भगवो ब्रह्म।**' भगवन्, ब्रह्मका उपदेश कीजिये।

अवचनेनैव प्रोवाच। वह चुप हो गया। एक बार पूछा, दो बार पूछा, तीन बार पूछा। 'महाराज! बोलकर बताइये!'

गुरुने कहा—'अरे, **ब्रह्मैव वदामि।**' मैं न बोलकर ब्रह्मका ही वर्णन कर रहा हूँ!

'क्यों?'

'क्योंकि जिन शब्दोंके द्वारा हमने ब्रह्मत्वका अध्यारोप किया, उन शब्दोंका निषेध करनेके लिए और उन वृत्तियोंका निषेध करनेके लिए न बोलना भी एक प्रक्रिया है। न बोलके भी ब्रह्मका उपदेश कर रहा हूँ।'

न बोलके ब्रह्मका उपदेश करो! तब अच्छा ज्ञान होगा तुमको, जब न बोलके उपदेश करेंगे! यह भी बोलना पड़ता है कि 'न बोलना भी ब्रह्मका उपदेश है।'

'**न वा अरे मोहं ब्रवीमि।**' मैं मोहकी बात नहीं करता, मैं ब्रह्मका उपदेश करता हूँ! तो एक बार शब्दके द्वारा, वृत्तिके द्वारा परमात्माको समझाना पड़ता है। ठीक है! ब्रह्म सफेद-लाल नहीं है तो सत्त्व-रज-तम गुण कैसे बतावें? ब्रह्म ड्राइवर या रसोइया नहीं है तो कौनसा कर्म उसका बतावेंगे?

माने शब्द वर्णन वहाँ करता है जहाँ कोई जाति हो—'यह गौ है, यह भैंस है, यह बकरी है, यह भेड़ है, यह अमुक जाति है! जाति न हो तो जातिका वर्णन कैसे करें? ब्रह्म जाति नहीं है। ब्रह्म ब्राह्मण नहीं है, तो कैसे बतावें कि यह ब्राह्मण है? वह किसी मेम साहब या बेगमसाहबका पति नहीं है, तो सम्बन्धके द्वारा कैसे

उसका वर्णन करें? रुढ़िके द्वारा कि उसका नाम 'अ' है, 'ब' है कि 'क' है—एक कल्पना कर लो! उसके द्वारा भी उसका वर्णन नहीं हो सकता!

उसके स्वरूपको समझना पड़ेगा। परन्तु पहले वर्णन करते-करते-करते-करते वहाँतक पहुँचाना पड़ता है और '**तत्त्वमसि**'—संकेत करके चुप हो जाना पड़ता है।

जिज्ञासु अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म जानकर यह अनुभव करे कि 'न कार्य है, न कारण है, न पंचकोश है, न तीन अवस्था है, न ज्ञातापना है, न दृष्टापना हैं और यह सब'—'**न तदन्यत्वम्**'—उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है इसलिए ऐसे बोलके ब्रह्मको समझाना पड़ता है। इसको समझानेकी प्रक्रिया क्या है?

आपकी जो 'धीवृत्तियाँ' हैं, ये दृश्य हैं—

'दृश्या धीवृत्तयः'

हिन्दीमें 'धी'का अर्थ 'बेटी' होता है। हिन्दीमें एक कहावत है—

मोरी धियाके बड़े दुलार, हाँडी भाँडी छुवै न पावै।

मेरी बेटीके बहुत दुलार हैं। किसी नीच जातिकी लड़की हो, ऊँची जातिमें ब्याही गयी तो लोग आकर उसकी माँको पूछते हैं कि 'तुम्हारी बेटी ससुरालमें सुखसे तो है?'

बोले कि—'बड़े सुखसे है।'

सिनेमाघरमें जब रोशनी आती है, तब मकान, स्त्री, पुरुष, सब देखनेमें आते है। उस रोशनीमें और सूर्यकी रोशनी जो आ रही है उसमें क्या फरक है? सूर्यकी रोशनीमें संस्कार डाले हुए नहीं हैं और सिनेमा घरमें जो रोशनी आती है, वह फिल्मके संस्कारोंको लेकर आती है।

देखो, ज्ञानस्वरूप द्रष्टा जब इस 'धीवृत्ति'की फिल्ममें-से निकलता है, तो वह जो शक्ल है, सूरत है, मकान है, संस्कार है—क्रिया है, जाति है, सम्बन्ध है, वह सब उस रोशनीमें नहीं है। 'धीवृत्ति'रूप जो फिल्म है (संस्कृतभाषामें 'बिल्म' बोलते हैं। किसी शास्त्रीय आचार्यको भी मालूम नहीं होगा कि यह 'बिल्म' शब्द कहाँ है?)—यह 'बिल्म' शब्द वेदमें है और 'निरुक्त'में इसकी व्याख्या की हुई है। 'बिल्म' शब्दका अर्थ—जैसे साँपकी केंचुल, बाहरी चीज है।

सिनेमामें जो रोशनी आती है, उस रोशनीके साथ फिल्ममें भरी हुई शक्ल-सूरत मिल जाती हैं और वैसे-वैसे तमाशे दीखने लग जाते हैं। इसी प्रकार आत्मरूप प्रकाश इस धीवृत्तिरूप फिल्ममेंसे जब देखता है तो धी वृत्तिमें भरे हुए जो संस्कार हैं, वे दुनियामें फैले हुए दिखायी पड़ते हैं।

फिल्म कितनी छोटी होती है ? लेकिन पर्देपर तस्वीर कितनी बड़ी दिखायी पड़ती है। इसी प्रकार हमारी धी वृत्ति अत्यन्त अणुके बराबर-एक कणिकाके बराबर है और उसमें-से जब द्रष्टाका प्रकाश छनकर बाहर आता है, उसमें भरी हुई शक्ल-सूरतें दिखायी पड़ती हैं। असलमें धीवृत्तिके फिल्ममें रंगकर जो दृश्य दीख रहा है उसका नाम संसार हैं।

सिनेमाघरमें फिल्मका जड़ अधिष्ठान अलग है और प्रकाश अलग है, परन्तु आत्मचैन्यमें प्रकाश और अधिष्ठान—ये दोनों अलग नहीं हैं।

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है, द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है।
जहाँ होई चेतन आधारा, तहाँ न द्रष्टा होवै न्यारा॥

जहाँ कपड़ेका पर्दा अधिष्ठान है, *'द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है।'* रोशनी वहाँ उससे अलग है और *'जहाँ होई चेतन आधारा'*—जहाँ चेतन ही पर्दा है,जहाँ चेतन ही अधिष्ठान है, वहाँ चेतन स्वयंप्रकाश भी है। स्वयं प्रकाश चेतन देश-काल-वस्तु सबका अधिष्ठान है। स्वयंप्रकाश चैतन्य—वही द्रष्टा, वही अपना और धीवृत्तिकी फिल्ममें जो संस्कार हैं, उनसे इस सृष्टिको देख रहा है। एक बार विवेकके द्वारा इस फिल्मसे अपनेको अलग कर लो। यह फिल्म दिलमें है। दिलमें यह रोशन हो रही है। यह फिल्म दिलमें कभी रहती है, कभी नहीं रहती। इसलिए यह मिथ्याभूत फिल्म ही मिथ्याभूत प्रपञ्चको दिखा रही है। यह द्रष्टा दृङ्मात्र परमात्मा है। इसलिए बताया—

साक्षी दृगेव।

'एव' है, इस पर ध्यान दो—'**साक्षी दृगेव।**' साक्षी किसको कहते हैं ? 'दृङ्मात्र' 'एव' पर ध्यान दो साक्षी उसको कहते हैं, जो साक्षात् देखे—

साक्षात् पश्यति इति साक्षी।

पाणिनिने यह 'साक्षी' शब्द बना दिया है। '**साक्षात् दृष्टरि संज्ञायाम्**'—जो साक्षात् देखनेवाला है, उसकी संज्ञा है 'साक्षी'।

अब साक्षात्कार क्या हुआ ? हम घड़ी देखते हैं, साक्षात् देखते हैं। साक्षात् कहाँ देखते हो ? बीचमें अवकाश है, बीचमें रोशनी है, बीचमें आँख है, बीचमें मन है, तब तुम घड़ीको देख रहे हो। घड़ीको तुम साक्षात् नहीं देख रहे हो। कितनी चीजें बीचमें हैं, तब घड़ी देख रहे हो। घड़ीमें गड़बड़ है कुछ जरूर!

कितनी अवकाशकी है घड़ी, कितनी रोशनीकी है, कितनी आँखकी है और कितनी मनकी है ? बचपनमें हम घड़ी देखते थे, परन्तु कितने बजे हैं, यह हमको मालूम नहीं पड़ता था। हमें अपने बचपनकी याद है। बैठकमें घड़ी टँगी हुई थी।

हम देखते थे कि उसकी ललरी हिल रही है, देखते थे कि उसकी सूई चल रही है, कितना बजा है, यह देखना हमको आता ही नहीं था। तो देखो, कितना घड़ीमें-से आया, कितना रोशनीमें-से आया, कितना अवकाशमें-से आया, कितना आँखमें-से आया और कितने मनमें-से आया?

देखो, आँख हमारी कैसी? यह मनसे देख लेते हैं। मन हमारा सोता है कि जागता? यह हम खुद देख लेते हैं। स्वप्न और सुषुप्तिको हम खुद देख लेते हैं; मनोराज्यको हम खुद देख लेते हैं।

एक बार हम कह रहे थे—'हमारे मनमें कोई द्वेष तो नहीं था, परन्तु यह काम तो हमसे हो गया।'

वह कह रहा था—'नहीं, तुम्हारे मनमें द्वेष था, इसलिए तुमने ऐसा किया।'

मैंने कहा—'यह जो काम हुआ है, भलेमानुस! नींद हमको आवेगी तो हमको मालूम पड़ेगी कि तुमको मालूम पड़ेगी?' सुषुप्ति परवेद्य नहीं है, स्ववेद्य है; उसका द्रष्टा होगा। द्रष्टाकी दृष्टिमें निद्रा होती है—

साक्षात् दृष्टरि संज्ञायाम्।

जहाँ हम बिना टॉर्चकी रोशनीके, बिना आँखके और बिना मनोवृत्तिके भी देखते हैं; स्वप्नको देखनेके लिए मनकी जरूरत नहीं पड़ती, स्वप्न तो मन ही है। स्वप्न औजारसे नहीं देखा जाता। सुषुप्तिमें सोया हुआ मन और स्वप्नमें जागता हुआ मन। अहंकारका विकास स्वप्नमें आधा रहता है, आधा नहीं रहता; इसलिए नियन्त्रण नहीं कर पाता स्वप्नमें। परन्तु देखनेवाला तो 'मैं' हूँ!

किसी आर्यसमाजीके सामने कोई आकर यह बात कहे कि 'यह बात वेदमें लिखी हुई है', तो तुरन्त उसके दिमागमें हलचल मच जाय कि यह बात वेदमें लिखी है, तब तो बिलकुल सच्ची होगी। इसी प्रकार आजकल कई लोग विज्ञानका नाम सुनकर हिप्नोटाइज हो जाते हैं—'अरे, विज्ञान यह बात करता है, तब तो बिलकुल सच्ची! बड़ी सच्ची! भले यह विज्ञानसे यह बात निकल आयी और विज्ञान जुड़ा। इसलिए हमलोग भी जब कोई बात कहते हैं, तो कहते हैं—'यह बात वैज्ञानिक है।'

कल हमारे पास एक चिट्ठी आयी कि 'उनका मेन्टल- बैलेन्स बिगड़ गया है।' सायन्सका नाम सुनते-सुनते 'मेन्टल बैलेन्स' जिनका बिगड़ गया है—'तुम्हारी आत्माको पकड़ लिया है और अब हम उसकी एक बटी, एक गोली बना रहे हैं, एक रसायन बना रहे हैं। शीशीमें भरकर तुम्हारी आत्माको बेचेंगे!' तो ये लोग सायन्ससे हिप्नोटाइज्ड हैं। वे मान लेंगे कि 'हाँ, यह बात बिलकुल सच्ची है; अब आत्मा बाजारमें बिक रही है।

देखो! हम आत्मा किसे कहते हैं? इसपर ध्यान दो—

दृगेव न तु दृश्यते।

द्रष्टा ही है, दृश्य नहीं। जिस चीजको दृश्यके रूपमें हमारे सामने कोई उपस्थित करेगा, वह द्रष्टा ही कैसे है? दृग् ही कैसे है? अभी हम हरद्वारमें थे, तो एकने कहा—'स्वामीजी! अब तो हम दिल ही बदलने लग गये हैं, हृदय-परिवर्तन कर देते हैं।' तो आपका हृदय कहाँ रहता है?

मैंने कहा—'तुम लोगोंकी स्मृति भी बदल देते हो? माने एक शरीरका हृदय जब दूसरेके शरीरमें लगाया तो शरीरवालेकी याद रहती है कि जिसका दिल होता है उसकी याद रहती है?'

'शरीरवालेकी याद रहती है। बुद्धि और पढ़ाई-लिखाई, अंग्रेजी; जिसका शरीर है उसने अंग्रेजी पढ़ी थी; अब दिल बदल गया तो अंग्रेजी उसकी रहती है या चली जाती है? यह स्मृति है, ज्ञान है, बुद्धि है, वह बदलनेवाले कलेजेमें नहीं रहती; वह जो रक्त है, रक्तमें वीर्य है और वीर्यमें भी पारेकी तरह सूक्ष्म चेतना है, उस चेतनामें ये सब स्मृतियाँ और बुद्धियाँ लिपटी रहती हैं। वह भी कभी रहती हैं, कभी नहीं रहतीं।'

जो केवल दृङ्मात्र, देखनेवाला; देखनेवाला नहीं, देखना-मात्र; जिसमें देखनेवाला और देखे जानेवालेका भेद नहीं है उसको 'दृङ्' कहते हैं। वह कभी दृश्य नहीं होगा। आप कभी हिप्नोटाइज्ड मत होना कि हमारी आत्मा अब गोली बनकर शीशीमें बिक रही है, दृश्य हो गयी, कि रसायन हो गयी, कि ऑपरेशन करके उसको एक शरीरसे दूसरे शरीरमें डाल दी गयी कि निकाल ली गयी। ऐसा कभी नहीं सोचना।

दृश्य है ही नहीं; सृष्टिमें उसकी सृष्टि नहीं होती, प्रलयमें उसका प्रलय नहीं होता, शरीरका जन्म होनेसे उसका जन्म नहीं होता, मृत्युमें उसकी मृत्यु नहीं होती और अन्तःकरणके नरकमें जानेसे वह नरक नहीं होगा, अन्तःकरणके स्वर्ग जानेसे वह स्वर्ग नहीं होगा।

अन्तःकरण नरकाकार-स्वर्गाकार हुआ करता है। आना-जाना मालूम पड़ा करता है, जन्म-मृत्युकी प्रतीति होती रहती है और वह दृङ्मात्र वस्तु ज्यों-का-त्यों! किसी देशमें नहीं, किसी कालमें नहीं, किसी द्रव्यके रूपमें नहीं! स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप ज्यों-का-त्यों रहता है।

●

प्रवचन ३

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ १॥

आपका ही वर्णन है; यह किसी दूसरे ईश्वरका वर्णन नहीं है, या किसी ज्ञानी गुरुका वर्णन नहीं है। अपने-आपको ब्रह्म समझनेमें जो बाधा है, उसको दूर करनेके लिए यह पहली सीढ़ी है।

आप अपने आपको देहसे अलग करिये; आपको मृत्युका भय लगता है कि नहीं? जब हम गाँवमें किसीको मरते हुए देखते हैं—रिश्तेदार-नातेदार सम्बन्धीको, तो अपने मरनेका भी डर लगता है। यदि इस डरसे आप बचना चाहते हैं, तो विवेक करके, विचार करके इस देहसे अलग जो अपनी आत्माका स्वरूप है, उसको समझिये।

दूसरी बात यह है कि आपको दुःख होता है कि नहीं? वैसे भय और दुःख मिटानेका उपाय बहुत आसान है, कोई मुश्किल नहीं है। यदि संसारसे वैराग्य हो, चित्तमें किसीसे रागद्वेष न हो, तो आपको किसीके मरनेका-बिछुड़नेका-धन-अन्न आने-जानेका कोई कष्ट नहीं होगा। वैराग्यवान्‌को दुःख नहीं होता है। जो अभ्यासी है, अपनी जगहपर बैठ जाता है, विषयोंसे भी अन्तरङ्गमें, इन्द्रियोंसे भी अन्तरङ्गमें, मनसे भी अन्तरङ्गमें सबका द्रष्टा, सबका साक्षी, सबसे अलग—उसको भी दुःख नहीं होता।

परन्तु केवल दुःखकी निवृत्ति या भयकी निवृत्ति—इतना ही वेदान्तके अनुशीलनका फल नहीं है। मैं हरद्वार गया था, वहाँ एक योगीजी आये। योगीजी बोले—'जब मैं सबसे अलग होकर, अपने स्वरूपमें बैठ जाता हूँ, तो मेरे सब दुःख मिट जाते हैं।'

ठीक है, दुःख तो मिट जाते हैं, फिर अब वेदान्तकी जरूरत क्या है ? असलमें तुमको मरने-बिछुड़नेका दुःख होता है, अन्न-धन आने-जानेका दुःख होता है। परन्तु जिस अज्ञानान्धकारमें पड़े हुए हो, उस अज्ञानान्धकारसे छुटकारेकी इच्छा नहीं होती। तुमको मालूम है यह तुम्हारे सामने जो दृष्टिसे सृष्टि दिखती है, यह क्या है ? कि मैं इससे अलग हूँ। परन्तु इस अलगसे मिले बिना कोई व्यवहार हो सकता है ? बारम्बार वृत्तिसारूप्य करके ही व्यवहार करना पड़ता है।

जहाँतक आत्माको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें नहीं जानेंगे, तबतक दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखकी निवृत्ति आनन्दबोधसे भी हो सकती है, शान्तिबोधसे भी हो सकती है और असङ्गबोधसे भी हो सकती है। 'परमेश्वर आनन्दस्वरूप है', इस बोधसे भी हो सकती है और सब 'शान्त-शान्त-शान्त' -शान्तिबोधसे भी हो सकती है। परन्तु अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

जबतक कुछ भी अनजाना रहेगा, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यह जगत् क्या है ? जीव क्या है ? ईश्वर क्या है ? ब्रह्म क्या है ? साधन द्वारा स्थिति नहीं, प्रमाणद्वारा जो वस्तुका ज्ञान है, यह ज्ञान अज्ञानको निवृत्त करता है। वह वस्तु है 'अद्वितीय आत्मविज्ञान'। उपनिषद्का मूलतत्त्व इस बातमें है कि 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है'—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

वेदान्तका मूलतत्त्व यह है कि 'आत्मा ब्रह्मसे जुदा कोई भी पदार्थ नहीं है। इसलिए उपनिषदोंका कहना है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

—बृह० ४-४-१२

यह श्लोक उपनिषद्में भी है, पञ्चदशीमें भी है और भागवतमें भी है—

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोः देहं पुष्णाति लम्पटः॥

—भागवत ७-१५-४०

यदि मनुष्य अपने-आपको जान गया तो जानना दूसरी चीज है और साधना दूसरी चीज है। एक होता है ज्ञान और एक होता है साधन किसी दूसरी चीजको जानते हैं तो जान करके हमें उसको पानेके लिए कोशिश करनी पड़ती है। अच्छा हुआ तो पानेकी कोशिश और बुरा हुआ तो छोड़नेकी कोशिश। लेकिन अपने-आपको जो जाना जाता है, उसमें न पानेकी कोशिश करनी पड़ती है और न

छोड़नेकी कोशिश करनी पड़ती है, क्योंकि आत्मा न तो पाया जाता है और न खोया जाता है—

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।
पाया-खोया कुछ नहीं, ज्योंका त्यों भरपूर॥

साधनकी सीमाको समझना चाहिए और ज्ञानकी सीमाको भी समझना चाहिए। वेदान्त ज्ञान है। वेदान्तके सिवा संसारमें दूसरे जितने पक्ष हैं, वे सब साधन हैं। साधनकी सीमा कहाँतक? और वेदान्तकी सीमा कहाँ तक? यह बात सबकी बुद्धिमें जल्दी आरूढ़ नहीं होती है।

आप आँख बन्द करके बैठ जाओ और अपने बारेमें सोचने लग जाओ कि 'मैं ऐसा हूँ-ऐसा हूँ' या कुछ न सोचो; तो जो सोच रहे हो वह अनजानेमें सोच रहे हो और जो नहीं सोच रहे हो वह भी अनजानेमें ही। 'मैं सोच रहा हूँ' और 'मैं नहीं सोच रहा हूँ'—चित्तकी ये दोनों स्थितियाँ अज्ञानमें ही होती हैं। उन स्थितियोंको 'मैं' और 'मेरी' मानना, यह तो अविवेककी पराकाष्ठा है। सोचना भी मेरा और न सोचना भी मेरा—ये दोनों अज्ञानरूप ही हैं। इसलिए वेदान्तमें पहले यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या आत्मा या ब्रह्म या वस्तु साधनसाध्य है?

देखो, यह घड़ी उठा लेना साधनसाध्य है। इसे सड़ँसीसे भी उठा सकते हैं और हाथसे भी उठा सकते हैं। जो चीज साधनसाध्य होती है वह अनित्य होती है; साधनसे पैदा की जाती है और फिर मिट जाती है। साधनसाध्य वह चीज होती है जो उत्पाद्य होती है। जैसे, इस समय कोई चीज नहीं है और उसे आप बनाना चाहते हैं; इससे पहले तो वह थी नहीं, अब उसे बनावेंगे! बनावेंगे तो वह मिट जायेगी। जैसे, रूमाल हाथमें नहीं है; लिया, पकड़के रखा तो फिर छूट जायेगा कि नहीं छूट जायेगा? रूमाल छूट जायेगा।

इसी प्रकार जो चीज निर्मित होती है—सोनेमें जेवर नहीं था, बनाया तो एक दिन वह जेवर टूट जायेगा कि नहीं टूट जायेगा? दूधमें दही नहीं था; एक दिन उसमें जामन डालके उसको दही बनाया, तो एक दिन वह सड़ जायेगा और माटी हो जायेगा कि नहीं हो जायेगा? जो भी चीज बनाई जाती है, वह चीज कृत्रिम होती है, मिट जाती है।

अब प्रश्न यह रहा कि साधनसे जो चीज बनाओगे, वह तो मिट जायेगी! ज्ञानसे क्या होता है? ज्ञानसे यह होता है कि जैसे रूमालको रूमाल जानना; कैसे जानना? आँखसे देखके जानना। वैसे अपने-आपको जानना। मात्र जानना नहीं, अपने-आपको अद्वितीय ब्रह्म जानना। बड़ी विचित्र बात है!

सच्ची जिज्ञासा जिनके हृदयमें पैदा नहीं हुई है, उनकी समझमें यह बात भी नहीं आती है। क्योंकि वे तो समझते हैं कि 'हम शरीर नहीं हैं तो मृत्युसे मुक्त हो गये, और शरीरके सम्बन्धियोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है तो हम दु:खसे मुक्त हो गये। केवल सम्बन्धकी निवृत्तिमात्रसे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अधिष्ठानका ज्ञान होनेसे वस्तुका बाध होना चाहिए, यह बात उनके ध्यानमें नहीं आती है। वैराग्यकी कमी और विवेककी कमी होनेसे ऐसा होता है। ठीक-ठीक वैराग्य और विवेक होना चाहिए। हमलोग जो वेदान्तकी चर्चा करते हैं, वह तीन लोकसे न्यारी है।'

चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, शैव-शाक्त-सौर-गाणपत्य-वैष्णव, मुस्लिम, ईसाई—ये जितने-जितने पृथक्-पृथक् वाद आदि सिद्धान्त हैं, सबसे पहले अलग करके वेदान्तके सिद्धान्तको जानना पड़ता है। जब वेदान्तके सिद्धान्तका ज्ञान हो जाता है, सब अपने अंग हो जाते हैं। किसीसे वैर-विरोध नहीं रहता है। लेकिन जबतक तुम उसे नहीं जानोगे, तबतक तुम भी एक पन्थमें पड़े रहोगे, एक सम्प्रदायमें पड़े रहोगे, एक धोखेमें पड़े रहोगे। धोखा मिटनेवाला नहीं है। यह वेदान्त सब धोखाको मिटा देता है। वेदान्त मान्यता नहीं है, वेदान्त भावना नहीं है, वेदान्तकी कोई मनकी बनाई हुई स्थिति नहीं है। वेदान्त ठीक ऐसा ही है जैसे हमारी आँखके सामने आप दिख रहे हैं। ऐसे ही ब्रह्मका दर्शन होता है। इसीको प्रमाणगम्य बोलते हैं।

आपको एक बात सुनाऊँ—लोग समझते हैं, ईश्वर कोई होगा, आत्मा कोई होगा, ब्रह्म कोई होगा और जब वेदान्तका उपदेश सुनते होंगे, तब उसपर विश्वास कर लेते होंगे-'ईश्वर ऐसा है, आत्मा ऐसा है, ब्रह्म ऐसा है।' इन विश्वासी लोगोंको नमस्कार ही करना योग्य है, क्योंकि यह जो वाक्य होता है, वेदान्तके जो वचन हैं, ये विश्वास करानेके लिए नहीं हैं, वस्तुका साक्षात्कार करानेके लिए हैं।

आपने वह कहानी सुनी होगी—दस आदमी यात्रा कर रहे थे। जब नदी उन्होंने पार की, और फिर सँभाला कि दसों आदमी पार आ गये? तब उन्हें ऐसी भ्रान्ति हुई कि 'दस नहीं आये हैं, नौ ही आये हैं।' 'एक खो गया'—ऐसी भ्रान्ति हो गई। बारी-बारीसे सँभाले और नौ ही निकले। अब एक शिष्ट पुरुष आया और उसने कहा—'अरे भाई ऐ दसवाँ खोया नहीं है, दसवाँ है।' अब क्या हुआ? विश्वास हुआ कि यह आदमी तो बहुत ही विश्वसनीय है, आप्त है, श्रेष्ठ है, प्रामाणिक है। यह झूठ क्यों बोलेगा? जब यह कहता है कि 'दसवाँ है' तो जरूर है।

लोगोंको विश्वास हो गया; यह परोक्षरूपसे विश्वास हो गया कि 'दसवाँ है'-यह 'परोक्ष-प्रमा' हुई। लेकिन इसका नाम वेदान्त नहीं है। उसने उन दसों आदमियोंको

खड़ा कराया-'एक, दो, तीन, चार........' अन्तमें उसने कहा—'दसवाँ तू'। होता यह था कि वह अपने सिवा नौ आदमियोंको गिन लेता था, अपनेको गिनता ही नहीं था। यह बात कही गई कि 'दसवाँ तू है'. तो दशम पुरुषपर विश्वास हुआ कि दशम पुरुषका साक्षात्कार हुआ।

वाक्यसे विश्वास नहीं उत्पन्न कराया जाता, वाक्यसे परोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं कराया जाता, वाक्यसे साक्षादपरोक्ष कराया जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण जो आँखसे देखनेका, कानसे सुननेका है, उससे भी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। अनुमानसे भी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। यह नहीं समझना कि हम आगका अनुमान करेंगे कि पहाड़में आग है तो वह परोक्ष विश्वास होगा कि 'हाँ, पहाड़में आग है?' नहीं-नहीं, वहाँ जायेंगे तो आग मिलेगी; वैसी आग जैसी घरमें होती है। अगर आगका प्रत्यक्ष न हो, तो **अनुमान**—झूठा है। 'उपमेय'का प्रत्यक्ष न हो तो **उपमान** झूठा है। यदि कही हुई वस्तुका साक्षात्कार न हो तो **शब्द** झूठा है। यदि **अर्थापत्तिसे** भोजनका अपरोक्ष न हो तो **अर्थापत्ति** झूठी है। यदि अनुपलब्धिसे अभावका प्रत्यक्ष न हो, तो **अनुपलब्धि** झूठी है। प्रमाण उसको कहते हैं जो वस्तुको तत्काल दिखा दे।

वेदान्तका ज्ञान साधन करके चावल पकाना नहीं है। आँख बन्द करके, प्राणायाम करके, प्रत्याहार करके, ध्यान करके कोई कृत्रिम स्थिति बनाना नहीं है। यह 'ईश्वर राम है' कि 'ईश्वर कृष्ण है' कि 'ईश्वर शिव है'—ऐसी अलग-अलग शक्ल-सूरतका ध्यान करके उसमें ईश्वरका भाव बैठाना, इसका नाम वेदान्त नहीं है।

वेदान्त माने जैसी हमें घड़ी दिखती है, जैसा हमें रूमाल दिखता है, जैसे हमारा होना अपरोक्ष है, जैसे हमारा बोलना अपरोक्ष है, जैसे हमारा जानना अपरोक्ष है, जैसे हमारे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अपरोक्ष हैं, इसी प्रकार अपनी अद्वितीयताको जो अपरोक्ष करावे—'मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है'; उसको वेदान्त कहते हैं।

वेदान्त माने वस्तुका अपरोक्ष साक्षात्कार। वेदान्त माने कविता नहीं, वेदान्त माने चिकनी-चुपड़ी बोली नहीं; वेदान्त माने नाटक-अभिनय नहीं; वेदान्त माने संगीत नहीं; वेदान्त माने युक्तियोंका अम्बार नहीं। वेदान्त माने बिना किसी व्यवधानके बिना किसी पर्देके, बिना किसी दूसरी चीजके, अपने-आपको—केवल अपने-आपको नहीं, अपने-आपको जो ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करावे, उसका नाम वेदान्त होता है।

इसीलिए कार्य-कारण प्रक्रियाका अध्यारोप करना पड़ता है कि सृष्टिकी उत्पत्ति कहाँसे हुई? इसकी क्या जरूरत? आँख बन्द किया, बैठ गये; बोले—'अरे' बस! हम हैं।' हम नहीं' बस 'हैं'।

समाधिवाले बोलते हैं—'हैं' भी तो बोलकरके बताते हैं पट्ठे! 'है' बोलना है कि 'वस्तु है'।

हमारे वेदान्तियोंने क्या बढ़िया निरूपण किया है जी! आप वेदान्तका स्वाध्याय तो करें!

शब्दस्तु व्याकृत एव, अर्थस्तु नित्यः।

शब्द जो कुछ होता है—बोलना तो विशेष आकार है। एक विशेष प्रकारसे गलेमें कण्ठमें, तालुमें आघात होता है। एक विशेष प्रकारकी हरकत मुँहमें पैदा करते हैं और उससे आवाज निकलती है। वह जो विशेष शक्ल-सूरतवाली एक विशेष प्रकारकी आवाज निकलती है, वह अनित्य होती है। 'है' बोलो तब भी अनित्य है, 'ब्रह्म' बोलो तब भी अनित्य है; 'नित्य' बोलो तब भी अनित्य है, 'सत्य' बोलो तब भी अनित्य है। बोली, आवाज कहीं नित्य होती है? परन्तु उस आवाजमें जो अर्थ होता है, उस अर्थकी नित्यताका साक्षात्कार होता है।

शब्दस्तु व्याकृत एव, अर्थस्तु नित्यः।

वैयाकरणोंका यह एक सिद्धान्त है, मत है। 'लघु मञ्जूषा' ग्रन्थ है व्याकरणका। उसमें पक्षान्तर-मतांतररूपमें निरूपण किया हुआ है—'**शब्दस्तु व्याकृत एव।**' जो 'है' बोले तो भी झूठा है, 'ना' बोले तो भी झूठा है।

परन्तु 'है' और 'ना' ये दोनों नहीं हैं—यह भी बोलके ही समझाना पड़ेगा। तब फिर हमारा मुँह क्यों बन्द करते हो? अपना ही मुँह क्यों बन्द नहीं करते? अपना ही मुँह बन्द करो। क्योंकि 'है' ऐसा तुम बोलके बताते हो? 'ना है' ऐसा तुम बोलके बताते हो।

यह बतानेका एक इशारा होता है, एक संकेत होता है। उसमें यह बात बताई जाती है। वेदान्त प्रमाण है। प्रमाण माने विद्यमान वस्तुका बोधक, साक्षात्कार करानेका एक प्रमाण। आँखकी तरह, कानकी तरह, नाककी तरह, त्वचाकी तरह, जीभकी तरह, बुद्धिकी तरह; और दृष्टान्त दें तो बिलकुल साक्षीकी तरह। जैसे साक्षी अपने जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिको देखता है, इसी प्रकार 'वेदान्त-प्रमाण' अपने-आपको ब्रह्म देखनेका औजार है। जैसे दूरबीन लगाकर दूरकी चीज देखी जाती है, खुर्दबीन लगाकर महीन चीज देखी जाती है, इसी प्रकार वेदान्त-वाक्यका चश्मा लगाकर यह साक्षी अपने आपको ब्रह्म देख लेता है। और, फिर चश्मेको फेंक देता है। चश्मेकी कोई जरूरत नहीं रहती। इसका नाम होता है वेदान्त।

वेदान्तमें यदि कोई कहे कि—'आओ, ब्रह्मका ध्यान करें', तो ठीक है; ब्रह्ममें ध्येयत्वका भी आरोप करके सोचोगे या ध्यान करोगे तो सोचोगे कि 'ब्रह्म कैसा है,

ब्रह्म कैसा है'-ब्रह्म कैसा है, सोचने लगोगे तो ब्रह्मज्ञान हो जायगा। वह आरोपित ध्येयता अपने-आप बाधित अथवा अपवादित हो जायगी।

जब ब्रह्मका ध्यान करोगे कि 'कैसा ?' तो 'ब्रह्म सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका अधिष्ठान है, विवर्ती उपादान है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे शून्य है, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न है।' ऐसे ब्रह्ममें ध्येयपनेका आरोप करो कि ब्रह्म ध्येय है।

अरे बाबा, ऐसे ब्रह्मका तो ध्यान हो ही नहीं सकता। तुरन्त ब्रह्मज्ञानके साथ ध्यान जब विरोधी पड़ेगा, तो ध्यानका अपवाद हो जायगा।

अच्छा, आरोप करो कि 'ब्रह्म ज्ञेय है।' 'हाँ, ठीक है, ज्ञेय है।' कैसा है ब्रह्म ?

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। —गीता १३-१२
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। —गीता १३-१५
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। —गीता १३-१७

अच्छा, ज्ञान प्राप्त करनेकी कोशिश करो।

बोले—'ऐसी वस्तु, **ज्ञानं ज्ञेयं, ज्ञेयं ज्ञानं**—यह ज्ञेयत्व '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' ज्ञेय समझ करके ब्रह्मका चिन्तन प्रारम्भ करो। 'ज्ञेय'का आरोप करो और ब्रह्मचिन्तन करने लगोगे तो ब्रह्मज्ञान होते ही ज्ञेयपना अपवादित हो जायगा—'ब्रह्म ज्ञेय नहीं है।'

अच्छा, 'ब्रह्म ज्ञाता है', ऐसा चिन्तन करो। यह भी अध्यारोप है। ब्रह्म ज्ञाता नहीं है। ब्रह्म देशका ज्ञाता है, ब्रह्म कालका ज्ञाता है, ब्रह्म वस्तुका ज्ञाता है, ब्रह्म पञ्चकोशका ज्ञाता है, ब्रह्म अवस्थात्रयका ज्ञाता है, ब्रह्म कार्य-कारणका ज्ञाता है, ब्रह्म सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदका ज्ञाता है—'ज्ञाता-ज्ञाता' करो। स्वयं ज्ञाता और स्वयं ज्ञेय! ऐसा तो हो ही नहीं सकता। ज्ञाता किसका ? औजार हो तो ज्ञाता। दूसरा हो तो ज्ञाता! जिस स्वरूपमें दूसरा है ही नहीं, तो ज्ञाता कैसे ? जिसके पास औजार है ही नहीं, तो वह ज्ञाता कैसे ? पहले ज्ञाताके स्वरूपका विचार करो, तो 'ज्ञातापना' मर जायगा, ज्ञान-मात्र रह जायगा।

अच्छा आओ, ज्ञाता नहीं, द्रष्टा है। द्रष्टापनपर ही विचार करें। जब हम विचार करते हैं कि 'ब्रह्म अविनाशी है', तो विनाशी कालके पेटमें रहनेवाली चीजोंकी अपेक्षासे हम ब्रह्मको अविनाशी कहते हैं। ब्रह्ममें अविनाशीपना आरोपित है। क्यों आरोपित करते हैं ? विनाशीका निषेध करनेके लिए। जहाँ विनाशीका निषेध हुआ, विनाशीको मिटाके अविनाशीपना भी गया। परिच्छिन्नताको मिटाके पूर्णता भी गयी।

परिच्छिन्नताको मिटाओ नहीं और पूर्णताको जोड़ो नहीं, तो परिच्छिन्न हटेगा नहीं। विनाशीको मिटाओ नहीं और अविनाशीको जोड़ो नहीं तो विनाशी हटेगा नहीं।

इस तरहसे परब्रह्म परमात्माका जो विचार है, बड़ा विलक्षण है। दृश्य बिलकुल है ही नहीं। केवल इतनी बात समझानेके लिए आत्माको 'द्रष्टा' कहा ज़ाता है। वह ज्ञेय नहीं है, यह समझानेके लिए 'ज्ञाता' कहा जाता है। ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई ज्ञेय नहीं है, इसलिए उसको 'ज्ञेय' कहा जाता है। यह प्रयोजनसापेक्ष है। यह सब जो वर्णन है, प्रयोजनानुकूल वर्णन होते हैं। आरोपके द्वारा इनका वर्णन होता है और 'नेति-नेति'के द्वारा इनका निषेध होता है। अध्यारोप और अपवादका जो अधिष्ठान है, वह अद्वितीय ब्रह्म! उसमें सृष्टिका होना और न होना, स्थिति होना और न होना, प्रलय होना और न होना दोनों गलत है। 'सत्-असत्' दोनों बोलना गलत है। वाङ्मनस्गोचर होना भी गलत है और वाङ्मनसागोचर होना भी गलत है। ऐसा यह वेदान्तका जो निरूपण है, बिना सत्सम्प्रदायके, बिना उपनिषद्के, बिना गुरुदेवकी कृपाके, जो लोग समझते हैं कि हम अँधेरेमें ढेला फेंकेंगे, निशाना लग जायगा—उनका निशाना इसमें लगनेवाला नहीं है। वे वेदान्तसे द्रवीभूत हैं, इसलिए हम उनकी स्वतन्त्रताको स्वीकार करते हैं।

वे चार्वाक-मतके अनुयायी हैं तो भी स्वतन्त्र हैं और वे न्याय-वैशेषिक-योग-सांख्य-मीमांसाके अनुयायी हैं तो भी स्वतन्त्र हैं। वे शैव-शाक्त-वैष्णव-सौर-गाणपत्यके अनुयायी हैं तो भी स्वतन्त्र हैं और वे जैन-बौद्ध-सम्प्रदायके अनुयायी हैं तो भी स्वतन्त्र हैं। लेकिन 'वेदान्त', जिसका नाम है उसे समझना आवश्यक है। लोग अपने-अपने मतको, छोटे-छोटे मतको, झूठे-झूठे मतको बिना सोचे, बिना समझे, बिना जाने, बिना अनुभवके, अपने मतका नाम 'वेदान्त' क्यों रखते हैं?

वेदान्तपर लोगोंकी श्रद्धा है, तो 'वेदान्त' नाम सुनकर वे बिना समझे, वेदान्तके नामपर सम्मोहित हो करके हमारी बातको स्वीकार कर लेंगे, इसलिए वे अपने मतका नाम 'वेदान्त' रख लेते हैं। अपने-अपने पन्थका नाम 'वेदान्त' रख लेते हैं।

ले खसमको नाँव, खसमसों परिचय नाहीं।
वेश्या किया सिंगार है, बैठी बीच बजार,
बैठी बीच बजार, नजारा सबको मारे।

वह तो अपनेको सती सावित्री सौभाग्यवती इस लिए बता रही है कि लोग गौरसे उसकी ओर देखें।

लोग अपने साथ बड़ोंका नाम क्यों जोड़ लेते हैं? शंकराचार्यकी गद्दीपर एक सज्जन बैठे थे। पुरानी बात है, इसको आजके साथ मत जोड़ना। हमलोग एक बार

उनका दर्शन करने गये, तो उनसे पूछा कि 'महाराज, शंकराचार्यके कितने ग्रन्थ हैं? उनको मालूम नहीं था। शंकराचार्यकी गद्दीपर बैठे हुए वह सज्जन! जिन्दगी भर भेंट-पूजा ली, परन्तु उनको यह नहीं मालूम था कि आदि शंकराचार्यके बनाये हुए ग्रन्थ कितने हैं?'

जो लोग वेदान्तका नाम लेते हैं कि 'हम वेदान्त बोलते हैं, हम वेदान्त बोलते हैं, हम वेदान्त बोलते हैं'—उनका वेदान्तके ककहरेसे परिचय नहीं होता, क्योंकि उन्होंने सत्-सम्प्रदायकी रीतिसे सदगुरुसे शरणागत होकर, जिज्ञासु होकर वेदान्तकी शिक्षा प्राप्त नहीं की है।

'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'—तुम्हारे मनमें ब्रह्मजिज्ञासाका कभी उदय हुआ है कि नहीं? ब्रह्म माने क्या? ब्रह्म माने ब्रह्मराक्षस नहीं। ब्रह्म माने ब्राह्मण नहीं, ब्रह्म माने ब्रह्मा नहीं; ब्रह्म माने वेद नहीं। ब्रह्म माने—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अभयं ह वै ब्रह्म।

जो सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है; जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सत्य है, उसकी जिज्ञासा।

पहली बात ब्रह्मकी लो—'**न तु दृश्यते।**'

दृशि गोचरतां न आपद्यते।

वह किसीका दृश्य नहीं होता। दृश्य होते ही वह एक द्रष्टा हो जायगा। दृश्य-द्रष्टाका जो दर्शन है, वह द्वैत-दर्शन है। यह आपलोगोंको मालूम हो कि मालूम न हो—यह दृश्य मिथ्या और द्रष्टा सत्य। इसलिए मिथ्या दृश्योपाधिक द्रष्टामें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। आपलोग समझ लो इस बातको। दृश्य मिथ्या और द्रष्टा सत्य। द्रष्टामें जो भेद मालूम पड़ता है, वह दृश्यकी उपाधिसे मालूम पड़ता है। तो मिथ्या-दृश्योपाधिक जो भेद होता है, वह द्रष्टाको भिन्न-भिन्न नहीं कर सकता।

मैं संस्कृत युनिवर्सिटीमें गया था। उन लोगोंने प्रश्न किया था—'भक्ति और मुक्ति दोनों कहाँ तक साथ-साथ रह सकती हैं?' वहाँ तो बड़े-बड़े विद्वान् होते हैं। वहाँ तो बौद्ध-विभाग, जैन-विभाग, वैष्णव-विभाग, वेदान्त-विभाग, न्याय-विभाग वैशेषिक-सांख्य-योग, अलग-अलग विभाग हैं। सब अध्यापक, उपकुलपति, डायरेक्टर—उन्होंने पूछा—

मुक्ति और भक्ति दोनोंका सहयोग कहाँ तक है?

मैंने पहले दृष्टान्त दे के समझाया कि—'देखो, सांख्यका यह सिद्धान्त बिलकुल गलत है, जिसका आपलोग अध्ययन-अध्यापन करते हैं। वह क्या सिद्धान्त गलत है कि—'जन्म अलग-अलग होनेसे, मृत्यु अलग-अलग होनेसे, कर्म अलग अलग होनेसे, सुख-दुःख अलग-अलग होनेसे पुरुष अलग-अलग है'।

क्यों गलत है ? जन्म-मरण होते हैं शरीरके, सुख-दुःख होता हैं अन्तःकरणमें और प्रवृत्तियाँ जितनी होती हैं, वे इन्द्रियोंके द्वारा होती हैं। अन्यनिष्ठ माने दूसरेमें होनेवाले जन्म-मृत्यु, दूसरेमें रहनेवाली प्रवृत्तियाँ, दूसरेमें रहनेवाले सुख-दुःख। ये सब हों दूसरोंमें और उसके कारण दूसरा भिन्न-भिन्न हो, यह युक्ति बिलकुल गलत है। अन्तःकरणमें जन्म-मरण, सुख-दुःख, प्रवृत्तियाँ होवें और उसके कारण द्रष्टा-पुरुष पृथक्-पृथक होवे, यह युक्ति बिलकुल गलत है, क्योंकि औपाधिक भेद माने उपाधिनिष्ठ भेदके द्वारा उपाधिगत भेदके द्वारा आप द्रष्टा-पुरुषमें भेदकी कल्पना करते हैं।

सांख्यका यह सिद्धान्त बिलकुल गलत है कि 'शरीर और अन्तःकरण अलग-अलग होनेसे आत्मा भी जुदा-जुदा सबकी हो सकती है'—यह हुआ दृष्टान्त। अब इसका लो दार्ष्टान्त।

इसका दार्ष्टान्त यह है कि अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित जो आत्मा है, वह मुक्तिस्वरूप है। अविद्याके परिणामसे बना हुआ जो अन्तःकरण है, उसमें भक्ति-वृत्ति रहती है। अन्तःकरणस्थित भक्ति आत्मस्वरूपका विरोध नहीं कर सकती। आत्मस्वरूप मुक्ति अन्तःकरणमें रहनेवाली भक्तिका विरोध नहीं कर सकती। जहाँ समान सत्ताकत्व ही नहीं है; स्वप्नका शेर जाग्रत्‌में खा नहीं सकता और जाग्रत्‌का शेर स्वप्नमें खा नहीं सकता, तो अलग-अलग सत्तामें—व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्तामें, अन्तःकरणसे रहनेवाली भक्ति पारमार्थिक सत्ता—आत्मासे अभिन्न मुक्तिका कहाँ विरोध कर सकती है ? इसलिए मुक्तिके पहले भक्ति, मुक्तिकालमें भक्ति! अन्तःकरणमें भक्ति चलती रहती है। उसका दूसरा प्रवाह है।

मुक्ति बैठी है पहाड़के शिखरपर और भक्ति-गंगाजीकी धारा बह रही है पहाड़के निचले हिस्सेमें। दोनोंका विरोध कहाँ है ? अन्तःकरणनिष्ठ जो धर्म है, उसके द्वारा आत्मस्वरूपका विरोध कहाँ होता है ? अन्तःकरणमें चञ्चलता होनेसे भी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता है। अन्तःकरणमें विक्षेप होनेसे भी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति होनेपर भी आत्माकी मुक्तिरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती है, तो यह भक्ति तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगी ?

अन्तमें विद्वानोंने कहा—'यही सर्वशास्त्रनिष्पन्न है।' अन्तःकरणनिष्ठ जो भाव है, प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्तामें रहनेवाला जो भाव है, वह पारमार्थिक सत्ताका विरोधी कभी हो नहीं सकता।

अब कहना क्या ? कि आप दृश्य और द्रष्टाका करो विवेक। यही तो देखो कि दृश्य कब है ? दृश्य कहाँ है ? दृश्य क्या है ? समझो, द्रष्टासे अलग एक जगह बनी

हुई है जहाँ दृश्य रहता है। क्यों? द्रष्टाकी उमरसे अलग एक काल है जिसमें दृश्य रहता है। द्रष्टासे अलग एक वस्तु है जिसके रूपमें दृश्य रहता है।

आप बिलकुल सच समझो, द्रष्टाकी दृष्टिके सिवाय दृश्यका कोई निवासस्थान नहीं है। कालका मन्वतंर और कल्पादिरूप होना और एक नित्य काल होना, दोनों द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। इसलिए नित्य-अनित्य दोनों प्रकारके काल द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं इसलिए द्रष्टा अविनाशी है। अविनाशी क्या है?

नहि दृष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।

द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता। यह छोटा स्थान और छोटे-बड़े जितने स्थान, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण देशमें कल्पित हैं और वह देश कहाँ है? द्रष्टाकी दृष्टिमें है। इसलिए दृष्टिरूप अधिष्ठानमें वे बिना हुए ही भास रहे हैं, उनका भावाभाव। अपने अभावके अधिष्ठानमें भास रहे हैं। इसलिए मिथ्यारूप दृश्य जो देश है, मिथ्यारूप दृश्य जो काल है, मिथ्यारूप दृश्य-ये जो मिट्टी पानी, आग, हवा, आकाश हैं, वे कहाँ हैं? ये द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं।

समष्टि ईश्वर, समष्टि प्रकृति और समष्टि बीज भी द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। और इनका भावाभाव, दोनों द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। इसलिए इस दृष्टिका जो द्रष्टा है, वह द्रष्टा कैसा? उसमें दृश्य क्या?

यह मिथ्याभूत दृश्योपहित दृष्टिका द्रष्टा होनेके कारण मिथ्या उपाधि चूँकि बाधित है, भासमान होनेपर भी बाधित है। इसलिए यह द्रष्टा महावाक्यके द्वारा बोधित ब्रह्म है।

दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव।

आप कैसे देखते हैं? कभी आपने अपने देखनेपर ध्यान दिया है? कई चीजें ऐसी हैं, जो आप इन्द्रियोंके द्वारा ही देखते हैं। इन्द्रियोंके न होनेपर बिलकुल नहीं देख सकते।

आकृति माने दो हाथ, दो पाँव और सामनेकी ओर मुँह, दाँत छोटे-छोटे। यह नहीं कि जैसे भेड़ियेके दाँत हों, वैसे दाँत नहीं वह। सामनेकी ओर आँख, नाक, बगलमें दो कान, दो हाथ; दो पाँवपर खड़ा होकर चलना और शास्त्रकी मर्यादाको समझ करके मानना! यह जो आप मनुष्य होके बैठे हैं, यह आपकी जाति है। आकृतिके कारण आपने यह जाति मानी है।

आपके हाथ काम करते हैं, पाँव चलते हैं, जीभ बोलती है, आप मूत्र-त्याग करते हैं, मल-त्याग करते हैं। इन पाँच कर्मेन्द्रियोंको अपने-आपमें आरोपित करके

आप कर्ता बनते हैं, तो इन्हींसे होते हैं पाप-पुण्य। आप जबतक अपनेको हाथ-पाँववाला विशेष शरीरवाला नहीं मानेंगे तबतक आप अपनी जाति नहीं मान सकते।

द्रष्टाके तो न हाथ हैं न पाँव हैं, न ऊपर सिर है न पेट है। द्रष्टामें जाति नहीं है। यह एक बात हुई। दूसरी बात देखो—पाँवसे तो चलते हैं, हाथसे कर्म करते हैं। जब इनको हम अपने, आपमें आरोपित करते हैं तब कर्ता बनते हैं। जब कर्ता बनते हैं तब अपनेको पाप-पुण्य लगते हैं। हाथ-पाँवसे अलग करके अपनेको देखिये जरा! पीछे हटिये, जरा शान्त बैठिये, जरा अपनेको दृङ्मात्र अनुभव कीजिये। हाथ-पाँवसे किया हुआ कर्म आपको लगता ही नहीं है। आप न पापी हैं, न पुण्यात्मा हैं। आपको अभी यह बात मामूली मालूम पड़ती होगी।

आप अपनेको एक जातिवाला मान करके दूसरे जातिवालेसे रागद्वेष करते हैं। यदि आपका यह जाति-अभिमान बाधित हो जायगा तो आप मनुष्यकी शक्लमें रहते हुए ही अभिनिविष्ट नहीं होंगे तो राग-द्वेषसे बचेंगे। आप अपनेको पापी-पुण्यात्मा मान करके कितने दुःखी-सुखी होते हैं, आपको मालूम है? क्यों होते हैं? इसलिए कि आपने अपनेको कर्मेन्द्रियोंवाला मान लिया है।

हाथसे किया गया कर्म, पैरसे किया गया कर्म, जीभसे किया गया कर्म, मूत्रेन्द्रियसे किया गया कर्म, इन इन्द्रियोंवाला अपनेको जान-मान करके आप कहाँ बैठे हैं? बिलकुल कर्ता! कर्तापनके गड्ढेमें गिर गये। अपनेको कर्ता मान लिया, पापी पुण्यात्मा हो गये; अब पापके अनुसार नरकमें जाओ, पुनर्जन्ममें जाओ। पुण्यके अनुसार स्वर्गमें देवता बनो, पुनर्जन्ममें जाओ; परेशान होते रहो।

आप ज्ञानेन्द्रियों और मन, इनको अपना मान करके भोक्ता बन बैठे। आँख देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती हैं, त्वचा छूती है, जीभ स्वाद लेती है और मन अपनेमें सुख-दुःखका आश्रयत्व आरोपित करता है। देखो, प्रीति और सुख दोनों अलग-अलग चीज है। सुखमें विषय नहीं होता है और प्रीतिमें विषय होता है।

दुःख जाग्रत-स्वप्न दो ही अवस्थामें रहता है, परन्तु सुख सुषुप्तिमें भी रहता है। सुख आत्माका स्वरूप है, इसलिए आत्माका होना ही सुख है। आत्माकी उपस्थिति ही सुख है, आत्माका ज्ञान ही सुख है। उसमें दूसरी चीजकी बिलकुल जरूरत नहीं है।

भोक्ता—सुख भोगने जाओगे तो क्या पूरी दुनियाके मालिक आप ही हैं? जो चाहोगे सो आपको मिल जायगा? कैसे सुखी होओगे? अगर चीजोंको इकट्ठा करके आप सुखी होना चाहोगे तो आप कभी सुखी हो न सकोगे?

यत् पृथिव्यां ब्रीहिं यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥

आप दुनियाभरके हीरे-मोती, सब हाथी-घोड़े, धन-धान्य, सुवर्ण सब इकट्ठा करके अपनी तिजोरीमें रख लें, तब भी आप सुखी नहीं हो सकते। इकट्ठे हो ही नहीं सकते। कभी शान्ति नहीं मिलेगी। लोभी मनुष्य कभी शान्त नहीं हो सकता। आप अपनी कामनापूर्ति करके कभी सुखी नहीं हो सकते! कभी सुखी नहीं हो सकते!!

घरोंमें औरत-मर्द क्यों लड़ते हैं? आपको मालूम है? औरत समझती है, 'मन तो हमारा है। हमारे मनके अनुसार काम होना चाहिए। हे मरदजी! आपका कोई मन नहीं है।'

'मर्द' शब्द भी संस्कृतका है। **मर्दनात् मर्दः**—शत्रुका मर्दन करे, उसका नाम मर्द।

'अवाग् रमते इति औरता।' अवाग् रमते माने जो उल्टा रमे। बुलाओ तो भाग जाय, सामने जाओ तो मुँह फेर ले। वामभाव जिसके अन्दर हमेशा हो, वामपक्षी (पार्टी)। औरत समझती है कि मर्दके मन ही नहीं है, सब काम हमारे मनसे होना चाहिए। यदि मर्दका मन नहीं मानेगा तो लड़ाई हो जायगी।

मर्द समझेगा कि औरतका मन नहीं है, यह तो कच्ची ककड़ी है, खाओ इसको? औरत कच्ची ककड़ी नहीं है खानेकी, उसके भी मन है। उसके मनसे तुम अपना मन नहीं मिलाओगे, तो तुम्हें दुःख हुए बिना नहीं रहेगा। तो यह जो दो मन संसारमें मिलना—गुरु-चेलेका मिलता नहीं, पति-पत्नीका मिलता नहीं, बाप-बेटेका मिलता नहीं, सास-बहूका मिलता नहीं! दोनोंके संस्कार अलग-अलग! दोनों अलग-अलग लोकसे आये हुए हैं—एक नरकयोनिसे आया, एक स्वर्गयोनिसे आया! एक बिच्छूयोनिमें-से निकलकर आया, और एक बिचारा देवतायोनिमें-से निकलके आया। दोनोंका मन मिले कैसे?

अच्छा, दूसरेका मन मिलाके कहो कि दोनोंकी उमर बराबर रहेगी तब हम सुखी होंगे। दोनोंके प्रारब्ध अलग, दोनोंके संस्कार अलग, दोनोंकी आयु अलग, दोनोंकी साँस अलग, दोनोंके शरीरके उपादान अलग! कैसे एक साथ रहके सुखी हो सकेंगे? तुमने जो यह सोचा है कि 'हम पति-पत्नी हमेशा एक-मन रहेंगे, तो मन सहकर मिलाना पड़ेगा बिना सहे नहीं मिल सकता। थोड़ा उसका, थोड़ा अपना—सहअस्तित्व, 'पंचशील'का पालन करो, सहअस्तित्वका पालन करो, घरमें!

दोनोंका मन रहे ऐसा रखो। तब तुम्हारे घरमें सुख रहेगा, और अपना ही अपना मन रखोगे तो यह जो तुम अपने मनको अपने साथ चिपकाके बैठे हो कि 'यही मेरा'! थोड़ा-थोड़ा छोड़नेका भी अभ्यास करो इसको—'यह मन मेरा नहीं है।' जैसे यह मन मेरा है, वैसे दूसरेका भी है।' विचारके लिए लड़ना तो बेवकूफी है, बिलकुल बेवकूफी है।

तुम्हारे ही विचार बचपनसे अबतक कितने बदले हैं? कल कुछ विचार था, आज कुछ विचार है। अमुक विचार कल रहेगा कि नहीं रहेगा? आज इसपर जिद करके दूसरेसे लड़ाई क्यों करते हो? जरा द्रष्टाकी ओर देखो!

मन बदलता है, विचार बदलते हैं, स्थितियाँ बदलती हैं। रोज सुषुप्ति नई-नई आती है। नया-नया सोमवार, नया-नया मंगलवार, नया-नया बुधवार, नया-नया गुरुवार आता है। नयी-नयी वृत्तियाँ आती हैं, नयी-नयी बुद्धियाँ आती हैं, नयी-नयी स्थितियाँ आती हैं, नयी-नयी विचार-पद्धतियाँ आती हैं, नये-नये विज्ञान पैदा होते हैं। इनमें एकपर जिद करके लड़ोगे तो तुम्हें दुःख होगा। द्रष्टाका क्या अर्थ है?

द्रष्टाका अर्थ है जातिसे असंग, कर्मसे असंग, भोगसे असंग, मानसिक भावनासे असंग, मानसिक विचारोंसे असंग, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे असंग और स्थितियों, समाधियोंसे असंग। द्रष्टा माने असंगता, असंग।

वेदान्तकी असंगतामें और सांख्य-योगकी असंगतामें यह अन्तर है कि वेदान्तमें जो असंग । है, वह मिथ्याभूत दृश्यसे असंगता है और योगमें सत्यभूत दृश्यसे असंगता है। दृश्यमें जो सत्यभूतता है, वही रागद्वेषको उत्पन्न करती है और मिथ्याभूतता रागद्वेषको शिथिल करती है। परन्तु दृश्यका मिथ्या होना—यह कोई भावना नहीं है, यह कोई मनकी कल्पना नहीं है, यह तो साक्षात्कार है।

देखो, दो मिनटमें वेदान्तका सार बताता हूँ—दो चीज भासती है, एक 'मैं' और एक मैंसे जुदा 'यह'। जो 'मैं' भासता है, वह तो नित्य भासता है, सदा भासता है, सर्वत्र भासता है, सर्वावस्थामें भासता है। जो 'यह' रूपमें भासता है, वह सदा नहीं भासता, सब जगह नहीं भासता, सर्वरूपमें नहीं भासता। तो अर्थ क्या हुआ?

भासमानता दो प्रकारकी है—जगत्की भासमानता और आत्माकी भासमानता। आत्माकी भासमानता त्रिकालाबाधित, नित्य है और अपने सिवा दूसरेकी जो भासमानता है, वह अनित्य, बाधित और असत्य है। इतना ही तो वेदान्तका सार है कि जो कुछ मालूम पड़ता है—'मैं और यह', उसमें 'मैं' पदका जो अर्थ है वह सच्चा है और 'यह' पदका जो अलग अर्थ है, वह बिलकुल गलत है। इतना ही तो वेदान्तका सार है। तो आओ, द्रष्टा-दृश्यका विवेक करो।

मिथ्याभूत दृश्यसे द्रष्टाका पृथक् होना द्रष्टाकी ब्रह्मता है और सत्यभूत दृश्यसे द्रष्टाका पृथक् होना, यह द्वैतवाद है, यह 'द्वैत-दर्शन' है। आप देख लो—

येनेष्टं तेन गम्यताम्।

वेदान्तमें जाना होगा तो दृश्यको मिथ्याभूत समझना होगा और सो भी दृश्य-दृश्यसे टकराके नहीं; अधिष्ठान आत्माके ज्ञानसे दृश्यको मिथ्या समझना होगा। यदि वेदान्तका मार्ग छोड़कर आपको किसी भी मार्गसे जाना है, तो इस द्वैत-दर्शनमें—'यह दृश्य अलग है और मैं इसका द्रष्टा अलग हूँ'—ऐसे दृश्यको सच्चा मानकर आप उससे अलग बैठे रहिये।

प्रश्न यह है—'दृश्य है कि नहीं है? दृश्य सत्य है कि नहीं है? भासमान होनेपर भी दृश्य सत्य है कि नहीं है?'

अधिष्ठान-ज्ञानसे दृश्य बाधित हो जाता है और इसका फल यह होता है कि सब ब्रह्म ही है। सब ब्रह्म ही है, तो कितनी निर्द्वन्द्वता! कितनी निर्भयता है? मरनेका डर नहीं, वियोगका भय नहीं, दु:खकी छाया नहीं, सुखकी चाह नहीं।

जहाँ हैं, जो हैं, जैसे हैं, वहीं परमानन्दमें मगन हैं! परमानन्दका समुद्र उमड़ रहा है! परमानन्दकी हवा चल रही है! परमानन्दका आकाश फैला हुआ है! परमानन्दके सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-तारे छिटके हुए हैं! मैं-तू, यह-वह सब परमानन्दमय बिखर रहा है!! परमानन्दकी बौछार है!!! यह भावना नहीं है, यह साक्षात्कार है, यह सत्य है!

●

प्रवचन ४

दुःख सबको ही होता है। यह शरीर धारण करना ही इसलिए होता है कि कभी सुख मिले और कभी दुःख मिले। माने पाप और पुण्य दोनों कर्मोंके फलस्वरूप शरीरकी प्राप्ति होती है। जो शरीरधारी हो करके अपने मनमें यह आग्रह बैठा लेता है कि हमारे जीवनमें दुःख कभी नहीं आना चाहिए, हमेशा सुख ही आना चाहिए, वह गलती कर बैठता है।

यह मनुष्य-शरीर केवल पुण्यका फल तो है नहीं; इसमें पुण्यका भी फल है और इसमें पापका भी फल है। तो जब कभी पुण्य-प्रारब्धका उदय होगा, तो सुख मिलेगा और पाप-प्रारब्धका उदय होगा तो दुःख मिलेगा। दोनोंको सहनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

इसमें पहली भूमिका साधनाकी यह है कि थोड़ी-सी अकल लगानी चाहिए। बिना बुद्धिके दुःख जाता नहीं। कोई भी सुख या दुःख आता है तो प्रथम क्षणमें जितना प्रभावित करता है, दूसरे-तीसरे-चौथे क्षणमें उसका प्रभाव क्षीण होता जाता है। एक दिनमें, दो दिनमें, महीनेभर-दो महीने, एक बरस-दो बरस जब सुख आता है तब आसक्ति हो जाती है कि यह सुख बना रहे। लेकिन रहता कहाँ है?

जब दुःख आता है तब लगता है, 'हाय-हाय! वज्रपात हो गया।' परन्तु वह दुःख रहता कहाँ है? जितने प्रत्याघात होते हैं जीवनमें, दुःखके कारण या सुखके कारण, वह थोड़े दिनोंके बाद भूलते-भूलते-भूलते भूल जाते हैं। उस समय तो ऐसा ही लगता है कि हम इसको भूल नहीं सकते।

हमने ऐसा देखा है कि आदमी कलेजेपर हाथ रखकर— 'हाय-हाय!' करता हुआ मेरे पास आया और बोला—'बस, अब मैं मर रहा हूँ।' पाँच मिनट बैठा, उससे कोई बातचीत कर और मन उसका दूसरी तरफ चला गया, हँस-हँसके बात

करने लगा। अरे! वह कलेजा पकड़के आये थे, 'हाय-हाय' करते हुए आये थे, फिर पाँच ही मिनटमें हँसने क्यों लगे? फिर याद आयी तो फिर बोला- 'नहीं-नहीं, स्वामीजी! बड़ा दर्द है, बड़ा दुःख है।' यह मन बारम्बार अपना वेश बदलता रहता है। नाटक करता रहता है। यह मनका नाटक है, शरीरका नाटक नहीं है और जिसके मनमें यह नाटक होता है, वह भी इसको नहीं समझता है कि 'यह मनका नाटक है।'

मुश्किल तो यह है कि जिसके भीतर मन बारम्बार कभी सुखीकी पोशाक पहन लेता है, कभी दुःखीकी! कभी अपने मुँहपर ऐसा मेक-अप करता है, कालिख पोत लेता है कि मालूम पड़े कि यह कोई भूत है और कभी ऐसा सुन्दर-मधुर बनके आता है!! आश्चर्य तो यह है कि जिसके भीतर यह सब नाटक होता है, वह भी उसको नहीं पहचानता है। वह भी उसीके साथ रोता है-हँसता है।

एक बार कलकत्तेमें जब संकीर्तनका जुलूस निकला, तो सरकारने रोक लगा दी। ब्रिटिश सरकार थी, जबकी यह बात है। रोक लगा दी महाराज, पर संकीर्तन तो निकला। उसमें सौ-दो सौ मण्डली और वह खोल और वह झाँझ और वह नृत्य-संगीत कि रोकनेके लिए जो पैदल आये थे, वे भी ताली बजाने लगे और पाँव उनका थापपर पड़ने लगा। संकीर्तनके साथ-साथ, मण्डलीके साथ, घोड़ेपर बैठे-बैठे वे भी चलने लगे। वे भूल गये कि हम पुलिसके आदमी हैं और इनको रोकनेके लिए आये हैं।

किसीको नाचते देखकर हम भी ताल देने लगते हैं। हम थोड़े नाच रहे हैं! किसीको गाते देखकर हम भी ताल देने लगते हैं। मोटरपर ताल देते हैं, चलते-चलते पाँवसे ताल देने लगते हैं, सिर हिलाने लगते हैं, तो दूसरेके गानेके साथ हम इतने मिल जाते हैं कि हम उनका अनुकरण करने लगते हैं।

इसी प्रकार नाटक करनेवाले मनके साथ हम इतने मिल जाते हैं कि उसीकी बातको हम अपनी बात समझने लगते हैं। दुःख आया वह भी मिटेगा, सुख आया वह भी मिटेगा। अपने-आप मिटनेमें समय लगेगा।

अब आप अपनेको मन-ही-मन दो-तीन बरस बाद कर दीजिये। आजकल हमारे पास ऐसी खबर बहुत आती है कि लड़की-लड़केने बड़े प्रेमसे ब्याह किया था, माँ-बापने अनुमति दी थी। अब एक बच्चा हो गया, दो बच्चा हो गया तो पति कहता है कि 'अब हम तुमको तलाक देंगे।' ऐसे दसियों मामले हमारे पास आते हैं।

पहले झटकेमें जितना सुख मिलता है, मनके उस रूपसे, उतना बादमें नहीं मिलता है और जितना दुःख शुरूमें मिलता है, उतना बादमें नहीं मिलता है। तो उस बादवाले दृश्यका ध्यान करो कि आगे क्या होनेवाला है? यह जो दुःख-सुखका नाटक है, यह तो एक पोशाक है, यह तो मनका धारण किया हुआ वेश है। यह तो छूट जायगा। यह भी न रहेगा। जो अवस्था अपने-आप आनेवाली है, उसे अभ्यासके द्वारा अभी प्राप्त कर लो।

जब सपना देखोगे, तब यह दुःख रहेगा? नहीं रहेगा। जब सो जाओगे, तब यह दुःख रहेगा? नहीं। तो तुम जाग्रत्में ही सपना देखना क्यों शुरू नहीं कर दो? इसीका नाम अभ्यास हुआ। जाग्रतमें ही आँख बन्द करके बैठो और एक स्वप्न देखो! एक बढ़िया-सा स्वप्न देखो कि हम गोलोकमें पहुँच गये हैं। और राधा-कृष्ण युगल-सरकार बड़े प्रेमसे आपसमें बात कर रहे हैं। गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे हैं। यह जाग्रत्-अवस्थाका स्वप्न ही तुम्हारे दुःखको मिटा देगा। अच्छा, तुम जाग्रत्-अवस्थामें यह सोचो कि हम जब सुषुप्तिमें पहुँचेंगे तब दुःख कहाँ रहेगा? सुषुप्ति अवस्थाको बुला लो अपने ध्यानमें। देखो, समाधि लग जायगी। दुःख मिट जायगा।

जबतक तुम इस शरीरके साथ सम्बन्ध रखोगे और इसको 'मैं' रखोगे—

न वै सशरीरस्य सतः दुःखापहतिरस्ति।

वेदका कहना है कि जो अपनेको शरीर समझेगा, शरीरसे बाँधके रखेगा, शरीरको 'मैं' मानेगा, वह शरीरको 'मैं' माननेवाला व्यक्ति कभी दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता। कभी जुकाम हो जायगा, कभी बुखार हो जायगा, कभी दमा हो जायगा, कभी र. .यक्ष्मा हो जायगा, कोई मर जायगा, कोई बिछुड़ जायगा, शरीरको मैं करके बैठोगे तो ‍ु ‍:खसे तो कभी मुक्त हो ही नहीं सकते। तो यह शरीर कहाँसे आया है?

यह शरीर तो धर्माधर्मसे आया है। जब अपनी और सबकी भलाईको ध्यानमें रखकर कर्म करते हैं तो कर्म धर्म हो जाता है और जब स्वार्थवश दूसरेका अनभल करने लग जाते हैं, तो कर्म ही अधर्म हो जाता है। इसी कर्मसे यह शरीर बना हुआ है। अब कर्म कहाँसे आया? वासनासे आया! वासना कहाँसे आयी? संस्कारसे आई! संस्कार कहाँसे आया? कर्तापनसे आया।

जान-बूझकर जो कर्म किया जाता है, उसका संस्कार पड़ता है। अनजानमें जो कर्म हो जाता है, उसका संस्कार नहीं पड़ता। जैसे, तुम जान-बूझकर किसीको

गाली दोगे तो गाली देनेका कर्तृत्व तुम्हारे अन्दर है। तुम्हें पाप लगेगा। जान-बूझकर किसीकी निन्दा करोगे तो निन्दा करनेका कर्तृत्व तुम्हारे अन्दर है। तुम्हें पाप लगेगा।

हजार बरसका सत्संग और पाँच मिनटकी दोषदृष्टि! यही कहना पड़ता है। कल शामको मैं सुना रहा था तो मनमें किसीकी याद आयी। अरे. जाने दो! यह तो दोषदर्शी-सम्प्रदायका सदस्य है। एक सम्प्रदाय ही है जो दूसरोंमें दोष देखता रहता है। उसको न आत्माका ध्यान है, न परमात्माका ध्यान है, न अपने अन्तःकरणकी पवित्रताका ध्यान है। वह तो बिचारा आगमें जलकर छटपटा रहा है। जैसे मरता हुआ आदमी अकबक करे, वैसे अकबक कर रहा है। मरता हुआ आदमी जब पागलपनमें अकबक करने लगे तो उसपर ध्यान थोड़े दिया जाता है? उसकी सेवा ही की जाती है, उसे पानी पिलाया जाता है। उसके सिरकी मालिश की जाती है। वह तो बिचारा दवा करने लायक है।

जान-बूझ करके जब कोई आदमी काम करने लगता है, तब उसका अच्छा या बुरा संस्कार पड़ता है, अनजानमें हुए कामका कुछ नहीं होता। जानबूझके आदमी कब काम करता है? जब अपनेको कर्ता समझता है। हमारे करनेसे सुख मिलेगा, हमारे करनेसे हम दुःखसे बचेंगे। अपने कर्मपर, अपने कर्तत्वपर जब मनुष्यकी आस्था होती है, तब जान-बूझ करके कर्म करता है।

दुनियामें जो अदलने-बदलनेकी वासना है यह संसारीका लक्षण है कि— 'हम यह करेंगे तो यह बदल जायगा' 'हम यह करेंगे तो यह हो जायगा', 'हमको यह मिल जायगा'। 'पारस-भाग' में लिखा है कि एक आदमीने कहा कि—'हम अपने कुत्तेकी पूँछ टेढ़ी नहीं रहने देंगे।' उन्होंने बाँसकी नली लेकर उसमें पूँछ डाल दी और बाँध दिया। अब वह बारह बरसतक बाँधके रखा तो सोचा कि अब सीधी हो गयी होगी। नली निकाली तो वह पूँछ टेढ़ी-की-टेढ़ी! दुनिया है न! उसको तुम सीधी करनेमें आस्था-विश्वास रखते हो, कि हमारे कर्मसे ऐसा हो जायगा! अच्छा, तुम दूसरेको सुधारनेमें विश्वास रखते हो, तो अपनेको सुधारनेमें विश्वास क्यों नहीं रखते? बोले कि हम दूसरेको ऐसा बना देंगे! जब तुम दूसरेको ऐसा बनाना चाहते हो, तो तुम यह क्यों नहीं करते हो कि हम अपने अन्तःकरणमें वासना ही न रहने दें, अपनेको ही ठीक कर दें! पामरपुरुष, दुनियाभरको गलत समझता है— अपनेको भी और सबको। विषयी दूसरेको गलत समझता है, अपनेको नहीं! साधक पुरुष अपनेको गलत समझता है, दूसरेको नहीं!

जिसको आत्मा, ब्रह्म, भगवान्‌का दर्शन होता है, वह न अपनेको गलत समझता है, न दूसरेको। असलमें दूसरेको गलत समझनेवाला तो न साधक है, न सिद्ध! वह तो साधनके मार्गपर चला ही नहीं। गलती है तो तुम्हारे मनमें है और सही है तो तुम्हारे मनमें है। इसीसे निन्दा करनेवाला साधक नहीं हो सकता, निन्दा करनेवाला सत्संगी नहीं हो सकता। स्वयं वह तो कुसंगी है और दूसरोंको कुसंग देता है; अपना दिल बिगाड़े हुए है और दूसरोंका दिल बिगाड़ता है। अपने दिलमें आग लगाये हुए है और दूसरोंके दिलमें आग लगाता है। वह तो आग लगानेवाला है। यदि आध्यात्मिक जेल हो तो उसे तो पुलिसको सौंप दिया जाय कि इसे जेलमें बन्द रखो जिससे वह न तो अपने घरमें आग लगावे, न दूसरोंके दिलमें आग लगावे। वह जेलखाना क्या है? वह जेलखाना समाधि है। अपने ऐसे मनको समाधिमें दफना दो।

यह जो कर्तापन है, वह सम्पूर्ण दुःखोंका मूल है। 'हमारे किये यह होगा, हमारे किये यह होगा'—न ब्रह्मदृष्टि है, न ईश्वरदृष्टि है, न मायादृष्टि है, न स्वभावदृष्टि है, न काल-दृष्टि है। वहाँ तो दृष्टि ही नहीं है, बिलकुल अन्धापन है। लेकिन यह कर्तापन आता कहाँसे है?

असलमें विचार करके देखो तो कर्तापन भोक्तापनसे आता है कि हमको सुख मिलना ही चाहिए। हम करेंगे नहीं तो हमें सुख कैसे मिलेगा? जितना कुछ करना पड़ता है, वह भोगकी वासनासे। शास्त्रका इस सम्बन्धमें सिद्धान्त यह है कि भोग माने स्त्री-पुरुषका संयोग नहीं और भोग माने शक्कर और जिह्वाका संयोग नहीं; भोग माने त्वचा और त्वचाका संयोग नहीं, भोग माने आँख और रूपका संयोग नहीं। भोग ईंट और पत्थरका नहीं हुआ करता।

बड़े-बड़े करोड़पति लोग जब शराबके नशेमें मगन होके अपने ड्राईंगरूम या बेडरूममें उपद्रव करते हैं; शीशा इधर गिराया और कुर्सी उधर उलटाई और फर्शपर पड़ गये! हमने खुद कभी देखा नहीं। एक माताजी थीं, वह इधर पहले हमारे पास आती थीं तो हमें बताती थीं कि 'आज मैंने देखा कि लड़का आठ बजेतक आया नहीं तो चली गई, महाराज! वह तो बिलकुल नंगा और बेहाश, फर्शपर पड़ा हुआ था। दो बजे राततक शराब पीता रहा। गाँवकी औरतें और मरद आये थे, उनके साथ नाचता रहा और सबेरे जाकर देखा तो फर्शपर नंगा ही पड़ा हुआ था! उसके पास बहुत बढ़िया मकान है, उस महलका भोग करता है? वह भोग नहीं करता। असलमें भोग न शराबका होता है, न औरतका होता है, न मकानका होता है, न भोजनका होता है। अपने दिलमें जब अनुकूल और उल्लासात्मक वृत्तिका उदय

होता है, हमारे मनके मुताबिक हमारा मन जब उल्लसित होने लगता है, आनन्दकी जब तरंग उठने लगती है, तब उस मनका ही भोग है।

भोग सुखाकार वृत्तिका होता है। इसलिए एक धनीको भोग कम है और वैराग्यवान्‌को ज्यादा है। वह जंगलमें रह करके गोलोकके मंगलका अनुभव कर सकता है और महल, फर्नीचर और भोगविलासके बीचमें रह करके अपने मनकी कड़वाहटका भोग करता है। सोचते हो कि सुख वस्तुसे मिलता है, यह गलत है। सोचते हो कि सुख क्रियासे मिलता है, यह गलत है। असलमें भोग होता है अपनी ही सुखाकार वृत्तिका। हम यह बात गाकर आपको नहीं सुना सकते, नहीं तो इसी समय आपको मजा आ जाता। कोई कहानी सुना देते, तो आपको जिसकी कहानी सुनाते, उसके घर आपका मन पहुँच जाता।

एक प्याज बेंचनेवाली थी और अपनी झोपड़ पट्टीमें रहती थी, लेकिन वह खुद प्याज कभी नहीं खाती थी। अच्छा, आपका मन कहाँ गया? जरा बताइये तो! आपका मन सत्संगमें रहा कि प्याज बेचनेवालीके घर चला गया? सत्संगके माने यह होता है कि हम आपके मनको ईश्वरके पास पहुँचावें; हम आपके मनको प्याज बेचनेवालीके घर न ले जायँ। यह हमारा कर्तव्य है। असलमें जितना भी सुख मिलता है, वह देहसे बाहर नहीं मिलता है; वह देहके भीतर अपने मनमें मिलता है।

जब भोगवासनासे वासित मनुष्यको यह मालूम पड़ता है कि दही-बड़ा खानेमें सुख है, कि कोकाकोला पीनेमें सुख है, औरतमें सुख है, मर्दमें सुख है, कपड़ेमें सुख है, तब उसे यह मालूम नहीं पड़ता है कि पराधीनतामें दुःख होता है।

एक श्रीमतीजी थीं, उनको एक दिन क्लबमें जाना था। अब चलते समय जब उनको अपना होंठ रँगना हुआ, (औष्ठिक-लेप, लेपौष्ठिक) तो वह शृंगारगृहमें गई लिपस्टीक लगाने, तो लिपस्टीक थी ही नहीं! बाजार उस दिन बन्द! भूल हो गयी थी! उसपर ध्यान नहीं दिया था। रोज-रोज लगाते-लगाते होंठ तो ऐसे हो गये थे! पराधीनता हो गयी न! बिना लिपस्टीक लगाये निकले तो मालूम पड़े कि होंठ सड़ गये हैं। अब शरमके मारे उन्होंने कहा—'आज क्लब नहीं जायेंगे।' क्यों नहीं जायेंगे? बिगाड़ लिये ?! पराधीनता हो गयी न! अपनी आदत बिगाड़ दी!

जब दुःख नहीं मालूम पड़ता है कि ऐसा कपड़ा पहननेमें गुलामी है, ऐसा शृंगार करनेमें गुलामी है; अपने पैसेको दूसरेकी तिजोरीमें रख देनेमें गुलामी है कि नहीं? जरूरत होगी तो कैसे निकालोगे अपने पैसेको? यदि दूसरेकी या पड़ोसीकी तिजोरीमें रख आओगे, तो जब जरूरत होगी तब कैसे मिलेगा? उसकी भी सुविधा देखनी पड़ेगी न?

जब तुमने अपने सुखको अपनी तिजोरीमें-से निकालकर दूसरेकी तिजोरीमें रख दिया, तो अपनेको पराधीन कर दिया! तुमको यह गुलामी नहीं मालूम पड़ती तो तुमको दुनियामें और क्या दुःख मालूम नहीं पड़ेगा? अमुक चीज खाये बिना दुःख, अमुक चीज पिये बिना दुःख, अमुक चीज पहने बिना दुःख! अमुक प्रकारके मकानके बिना दुःख, अमुक प्रकारके फर्नीचरके बिना दुःख; अमुक प्रकारकी औरतके बिना दुःख और अमुक प्रकारके मर्दके बिना दुःख! अमुक प्रकार हुए बिना दुःख! तुमने अपनेको गुलाम बनाया और रहना चाहते हो सुखी! यह तो कोई सुख पानेकी प्रक्रिया नहीं है!

यह जो बाहरकी वस्तुओंसे सुख पानेकी भोगवासना है, यह भोगवासना ही तुमको गुलामसे मजदूर बनाती है। कर्तापना कहाँसे आया? इसी भोगवासनासे कर्तापना आया।

दृगेव न तु दृश्यते।

आपके ध्यानमें इसका सम्बन्ध लगता है कि नहीं लगता है? असलमें आपने अपनेको देह माना, उससे दुःखी हुए। अपनेको कर्ता माना, उससे दुःखी हुए! अपनेको भोक्ता माना, उससे दुःखी हुए। असलमें कर्म कभी होता है, कभी नहीं होता है; भोग कभी होता है, कभी नहीं होता है। तो जो भोग और भोगके अभाव दोनोंको देखनेवाला है, जो कर्म और कर्मके अभाव दोनोंको देखनेवाला है, वह भोगके अभावसे उपलक्षित अभोग है और कर्माभावसे उपलक्षित अकर्म है। देखो, यह हम आपको वेदान्तका गुर सुना रहे हैं। यदि आप इसपर ध्यान देंगे तो समूचा ब्रह्म इसी गुरमें भरा हुआ है।

जिस चीजका आपको भाव और अभाव, होना और न होना दोनों मालूम पड़ता है, पहले आप इतना ही ध्यान कीजिये कि आप उससे बड़े हैं। आपके घरमें एक मेहमान आया और चला गया और फिर आया और फिर चला गया। आप वही-के-वही! तो मेहमानका आना-जाना छोटा है और आप बड़े हैं। हम सुनाना क्या चाहते हैं आपको?

जैसे अनेक वस्तुएँ आपके सामने आती और जाती हैं तो अनेक वस्तुओंका आना भी आप देखते हैं और उनका जाना भी आप देखते हैं। उनका होना भी आप देखते हैं और उनका न होना भी आप देखते हैं। उनके होनेमें तो आप रहते ही हैं, परन्तु होना तो न होना हो जाता है और उनके न होनेमें भी आप रहते हैं। तो उस वस्तुसे आप बड़े हैं कि नहीं? जब आप उस वस्तुसे बड़े हैं, तो उस वस्तुके न होनेसे उपलक्षित आप हैं।

जितनी आदिवाली वस्तुएँ हैं, जितनी अन्तवाली वस्तुएँ हैं, जितनी मध्यवाली वस्तुएँ हैं, सबके भावाभावसे उपलक्षित, सबके भावका द्रष्टा और सबके अभावका द्रष्टा आपका स्वरूप अभावसे उपलक्षित है। अभाव अपने अधिष्ठानमें भिन्न होता ही नहीं है।

जो लोग 'है-है-है' बोलते हैं, 'तत्-तत्-तत्' बोलते हैं, समझते हैं कि बड़ी भारी चीज हो गई। आपको गीता भूल जाती हैं उस समय, जब आपलोग बोलते हैं—'ईश्वर है' नहीं; 'है' ईश्वर है। ऐसे बोलते हैं न?

'ईश्वर है— ऐसा मत बोलो। जो 'है' सो ईश्वर है ऐसा बोलो। पर जब 'है' आप बोलते हैं, तो 'है' बोलना है कि नहीं है? और गीता भूल जाते हैं। कौन-सी गीता?—

न सत्तन्नासदुच्यते।

परमात्माका नाम 'है' नहीं है और परमात्माका नाम 'न है' भी नहीं है। 'है' तो एक वृत्ति है—'अस्ति' वृत्ति है। 'अस्ति' इति सत्—ऐसी एक वृत्ति बनती है और इस 'है' के अभावसे उपलक्षित जो 'है' और 'नहीं'—दोनोंका साक्षी और दोनोंका अधिष्ठान है, वह अपना आत्मा है। उसको समझानेके लिए केवल शब्दका प्रयोग किया जाता है।

'परमात्मा है'—यह भी नहीं कहा जा सकता, 'नहीं है' भी नहीं कहा जा सकता। वेदमें मन्त्र है—

नासदासीत् नो सदासीत् तदानीम्।

यह ऋग्वेदका प्रसिद्ध मन्त्र है। परमात्मामें न सत् है न असत् है—यह समझानेके लिए ही 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। परमात्माके लिए 'अस्ति' शब्दका प्रयोग किया जाता है। तो 'अस्ति' और 'नास्ति'को भी देखनेवाला, लम्बाई-चौड़ाई और उसके अभावको भी देखनेवाला, अद्वितीय होनेके कारण ही इसको ब्रह्म कहते हैं; इसका नाम ब्रह्म नहीं है। जैसे तुम्हारे बेटेका नाम 'मनोरंजनलाल' है, वैसे इस तत्त्वका नाम, इस वस्तुका नाम 'ब्रह्म' नहीं है। इस वस्तुका नाम 'आत्मा' नहीं है। जैसे तुम्हारी बेटीका नाम 'सुषमा शर्मा' है, वैसे इसका नाम 'आत्मा' नहीं है। दूसरा नहीं है, तुम हो। इसलिए हम इसको 'आत्मा' कहकर पुकारते हैं। यह परिच्छिन्न नहीं है, यह कहनेके लिए हम इसे 'ब्रह्म' कहकर पुकारते हैं।

यदि शब्दको ही पकड़ोगे तो अर्थकी पकड़ छूट जायगी। इसलिए किसी भी शब्दके द्वारा यह बात समझायी जाती है। 'आत्मा' नाम भी अध्यारोप है, 'ब्रह्म' नाम भी अध्यारोप है। 'है' भी अध्यारोप है, 'ना है' भी अध्यारोप है। सबका

अपवाद करनेके बाद 'नेति-नेति-नेति' करनेके बाद जो स्वयंप्रकाश उस 'नेति-नेति-नेति'को भी प्रकाशित करनेवाला और 'नेति-नेति-नेति'के अभावको भी प्रकाशित करनेवाला जो तुम्हारा अपना आपा है, वह अद्वितीय ब्रह्म है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

शरीर तो रहे स्वस्थ! बीमारीमें नहीं सूझता है, सब भूल जाता है। मनमें किसीके प्रति दुर्भावना न हो; आप सत्संगमें बैठकर अपने दुश्मनके बारेमें सोचोगे तो, या किसी दोस्तके बारेमें सोचोगे, तब भी बात समझमें नहीं आयेगी।

जिसके चित्तमें राग-द्वेष होता है, उसको वेदान्तकी बात समझमें नहीं आती है। यह कोई खिलवाड़ नहीं है, तमाशा नहीं है कि जाकर गंगास्नान किया और पुण्य मिल गया। गंगास्नानका पुण्य दूसरा होता है और जो सत्संगकी समझ होती है, वह बिलकुल दूसरी चीज होती है। शरीर स्वस्थ हो, मनमें सद्भावना हो। चरित्रवान् व्यक्ति, सद्भावसम्पन्न व्यक्ति और जिसकी बुद्धि भी कही हुई बातको थोड़ी ग्रहण करने योग्य हो, वह व्यक्ति! बुद्धिमें विवेक हो, मनमें सद्भावना हो, स्वास्थ्य हो, सौन्दर्य हो—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठो० १.२.२४

'कठोपनिषद्'में यह श्रुति है। 'कठोपनिषद्' दिल है। दिल—वेदका हृदय है। 'क'से लेकर 'ठ' तक दस अक्षरोंका विन्यास दसदल-कमलपर किया जाता है। कसे ङ, चसे ञ, ट और ठ—हृदयके दस दलोंपर विन्यस्त होते हैं। कठोपनिषद् माने हृदयोपनिषद्—वेदका हृदय। वेद एक पुरुष है और उसके दिलका नाम 'कठोपनिषद्' है। क्या दिलकी बात कही?

नाविरतो दुश्चरितात्—बोले कि 'लायब्रेरीमें बैठकर स्टडी करते हैं।' ना भाई! वेदान्त एक विद्या है। वेदान्त लायब्रेरीमें बैठकर स्टडी करनेकी वस्तु नहीं है—'**नाविरतो दुश्चरितात्**' जिसने दुश्चरित्र नहीं छोड़ा, उसकी समझमें वेदान्त नहीं आता है।

'**नाशान्तः**'। जिसके मनमें काम है, क्रोध है, अशान्ति है, पाँच रुपयेपर अपने दिलको बेच दिया। एक आदमीके पाँच रुपये खो गये और कैसे छटपटाये! जैसे उसके कलेजेमें आग लगी हो। पाँच रुपयेने उसके कलेजेको भस्म कर दिया और वह समझना चाहता है वेदान्तको? **नाशान्तः**। जिसके मनमें काम है, क्रोध है, लोभ है, राग है, द्वेष है, वह नहीं समझ सकता है वेदान्तको। यह कोई कठियारेका घर है कि जो चाहे सो घुस जाय?

नाशान्तो नासमाहितः- जिसके मनमें समाहितता नहीं है, जिसका मन एकाग्र नहीं है, चञ्चल है, घण्टेभर सत्संग सुना और दस बार घड़ी देखी कहीं आफिसमें पहुँचनेमें देर न हो जाय। तो दस बार तो आफिसकी याद आयी घड़ी देख-देखकर! सत्संग समझमें कहाँसे आयेगा? अरे भाई! उसके लिए थोड़ी एकाग्रता चाहिए।

नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि- एक बात और—जो सन्तसे सिद्धि चाहता है या सन्तमें सिद्धि देखना चाहता है, उसकी समझमें भी यह वेदान्त नहीं आता। सिद्धोंके पीछे भटकना जिज्ञासुका काम बिलकुल नहीं है।

एक मैया थी वृन्दावनमें, वह गोलोकसे कुलिया मँगाया करती थी, कुल्हड़! उसमें मलाई भरी होती। जब वह खूब कीर्तन करती, खूब कीर्तन करती और जब लोग तन्मय होते, तो अन्तमें झट् निकालकर देती कि देखो, गोलोकसे भगवान्ने भेजा है। अन्तमें मालूम पड़ा कि वह मलाई कहाँ पकती है, और वह कुल्हड़ कौन कुम्हार बनाता है। वह कुल्हड़ बनानेवाला कोई कुम्हार गोलोकमें थोड़े ही है, जो भगवान्ने बनवाकर भेजा था? मान लो कि मलाई होती भी हो, भगवान् वहाँ खाते हों गोलोकमें, तो वह कुल्हड़ थोड़े ही गोलोकमें बना था? परन्तु बेवकूफ लोगोंको यह हुआ कि 'बस सबसे बड़ा सिद्ध सन्त है तो यही! इसीके पीछे चलो! आज हमें यह कुल्हड़ बनाकर देता है तो कल हमें जरूरत होगी तो हीरा-मोती मँगाकर दे देगा। ऐसे जो बेवकूफ लोग होते हैं, वे वेदान्तके अधिकारी नहीं होते हैं!

नाशान्तमानसो वापि—जिनका मन सिद्धियोंके पीछे भटक रहा है, 'हम अमर हो जायेंगे, हमारी बीमारी दूर हो जायगी, बेटा मिल जायगा, मुकदमेमें हमारी जीत हो जायगी, हमारा व्यापार बढ़ जायगा'—इसके लिए यदि तुम सन्तके पास जाते हो, तो जो चीज तुम चाहते हो, वह ईश्वरकी कृपासे मिल भी सकती है। वेदान्तका ज्ञान नहीं मिल सकता। जो शरीरको अमर बनाकर वेदान्त-ज्ञान चाहते हैं, उन्हें वेदान्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

जो कहते हैं—'इनको भगवान्का दर्शन हुआ, ये हमें ज्ञान दे देंगे।' अरे! भगवान्का दर्शन तो ऐसे-ऐसे लोगोंको होता है कि बिचारे भगवान्का दर्शन होनेके बाद अपने लोकमें रोते रहते हैं।

शास्त्रमें ऐसा वर्णन है कि 'ध्रुव'को भगवान्का दर्शन हुआ और मृत्युके सिरपर पाँव रखकर विमानपर चढ़कर ध्रुवलोकमें गया। परन्तु वहाँ रोता है कि 'हाय-हाय! राज्यप्राप्तिकी कामनासे भगवान्की आराधना की, बड़ी भारी गलती की।' झर्-झर् आँसू गिरते रहते हैं।

भगवान्‌के दर्शन! जो काम प्राप्त करना चाहते हों, ब्याह करना चाहते हों; 'कर्दम' ऋषिको ब्याह करना था और भगवान् आये। दर्शन दिया। 'कर्दम' ऋषिने कहा—'भगवान्! हम बहुत बढ़िया एक

उद्‌बोधमिच्छन्-'गृहमेधधेनुम्।' भागवत ३-२१-१५

हम घरकी एक कामधेनु चाहते हैं।' घरकी कामधेनु माने पत्नी। घरमें कामधेनु पत्नी है। जो माँगो सो देती है। भगवान्‌की आँखसे टप्से दो बूँद आँसू टपक पड़े। 'सिद्धपुर'में 'बिन्दु सरोवर है। 'गरुड़'जीने देखा। जब उनको वरदान देकर भगवान् गये तो 'गरुड़'जीने पूछा—'आज आपकी आँखसे दो बूँद आँसू गिरे, तो कैसे गिरे?'

भगवान् – 'इसलिए गिरे कि वह हमारी आराधना करके ब्याह करना चाहता है। जिसके ऊपर मैं प्रसन्न हुआ, जिसको वरदान देनेके लिए मैं गया, वह आदमी हमसे हमको नहीं चाहता है, उसे हम पसन्द नहीं हैं, वह ब्याह करना चाहता है! करुणाके मारे उसपर दया आयी, उसकी दीन दशा देखकर कि मैं सामने खड़ा हूँ और वह ब्याह करनके लिए हमसे एक लड़की माँगता है! दयाके मारे आँसू निकल पड़े।'

'कर्दम'ने देख लिया था कि एक भगवान् आये तो ब्याह कराकर चले गये। अब दूसरे भगवान् घरमें आये हैं, वे क्या करेंगे? वे कहीं नाती-पोतोंमें फँसा दें! तो पैदा होते ही बोले कि—'कपिलजी महाराज! आप घरमें ठहरिये! हम अब संन्यास लेकर जाते हैं। जन्मके दिन!'

वेदान्त कोई मामूली चीज है? वेदान्त मामूली चीज नहीं है। जिसके मनमें सिद्धिके प्रति आस्था है, वह संसारी है। वह संसार चाहता है। जितनी भी सिद्धियाँ होती हैं, ये संसारमें सुख देनेके लिए होती हैं। ये संसारका दुःख मिटानेके लिए होती हैं, संसारमें उत्कर्ष देनेके लिए होती हैं।

वेदान्तका अधिकारी कौन? जबतक सिद्धि चाहता है मनुष्य, तबतक वह वेदान्तका अधिकारी नहीं है। एक बात—दुश्चरित्र छोड़ो। दूसरे—कामक्रोधादि और अशान्ति छोड़ो। तीन—मनको एकाग्र करो। चार—सिद्धियोंके पीछे मत भटको और उसके बाद आओ, वेदान्तके दरबारमें।

प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। ना० प० ९.१९

तो कैसे प्राप्त होगा? आपको इसकी बात सुनाते हैं। असलमें किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कैसे होता है, इसपर जो लोग विचार नहीं करते हैं, उनको

परमात्माका साक्षात्कार कैसे होगा ? क्या परमात्मा घड़ी जितना है कि उसे आँखसे देख लोगे ? क्या परमात्मा किताब जैसा है कि उसे आँखसे पढ़ लोगे ? परमात्मा कैसा है ? किस इन्द्रियसे परमात्माकी पूर्णताका साक्षात्कार होगा ?

किसीने कहा—'अरे, पूर्ण नहीं तो थोड़ेसे भी दिख जायेंगे तो क्या हरज है ?'

थोड़ेसे दिख जायेंगे तो अज्ञान नहीं मिटेगा। तुम अपनेको जो कर्ता और भोक्ता मान करके बैठे हो, यह अपनेको परिच्छिन्न मान करके ही तो बैठे हो न! तुम तो हो परिच्छिन्न, तो बाकी क्या हो ?

बोले—'वह हमको नहीं मालूम।'

जबतक 'हमको नहीं मालूम', नहीं मिटेगा, तबतक शुद्ध हृदयकी वेदना नहीं मिट सकती। जबतक तुमको यह रहेगा कि 'सातवें आसमानके ऊपर क्या है, यह हमको नहीं मालूम'—'नहीं मालूम'—यह वेदना नहीं मिटेगी। यदि तुमको यह मालूम हो जाय कि जो परमात्मा यहाँ है, जो नीचे है, जो ऊपर है, जो दिलमें है, जो दिमागमें है, वह नित्यप्राप्त अपना आपा ही है; तो न जाननेका जो दुःख है, वह मिट जायगा।

यदि तुम्हें न जाननेका दुःख ही नहीं है, तो जिज्ञासु क्यों बनते हो ? तो जाओ, तुम दूध-मलाई खाओ! तुम्हारी उमर लम्बी हो, तुम्हारे दो-तीन बच्चे हो जायँ, तुम्हारी पत्नीकी जवानी बनी रहे! तुम भी जवान बने रहो! लोक-परलोकका सुख भोगो! भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा करे!

यदि अज्ञानके कारण तुम्हें दुःख हो, और उसे मिटाना चाहते हो; क्या तुमने अपनेको जो ऐसा माना है कि 'मैं पापी पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ, संसारी माने लोक-परलोकमें जाने-आनेवाला हूँ'—यह जो अपनेको तुमने माना है, अपनेको देखकर माना है कि बिना देखे माना है ?

तुमको स्वर्ग जानेकी याद आती होगी, नहीं तो नरककी पीड़ा याद आती होगी!— मरनेके बाद मैं रहता हूँ और मैं स्वर्गमें जाता हूँ और नरकमें जाता हूँ, मेरा एक यातना-शरीर है, एक सूक्ष्म शरीर है'—यह बात तुमने कैसे जानी है ? और कैसे मानी है ?

'महाराज, जानी-मानी तो नहीं। हमारे पिता-पितामहने, हमारे शास्त्रने, हमारे सम्प्रदायने, हमारी परम्पराने यह बतायी है।'

'ठीक है। बताई है, परन्तु इसको समझनेकी कभी कोशिश की है कि यह क्या है ? इसका कहना तो यह है कि 'तुम देह नहीं हो।' इतना ही इसका अर्थ है,

लेकिन तुमने कभी इसको माना ? अगर तुम यह देह नहीं हो इतना ही मान लेते कि 'तुम देह नहीं हो' और तुम्हारे कर्मके अनुसार तुमने अच्छे-अच्छे कर्म किये हैं, मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, तो मरनेका क्या दुःख होता ? पाप करनेमें प्रवृत्ति कहाँसे होती ? परन्तु शास्त्रकी यह बात तुमने कहाँसे मानी ?'

अगर शास्त्रकी यह बात मान ले कि 'देहसे अलग एक आत्मा है और वह शरीरके बाद भी रहती है, उसके साथ पाप-पुण्य लगा रहता है, सुख-दुःख लगा रहता है, वह ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है', तो देहमें मोह कहाँ रहेगा ? लेकिन यह भी नहीं माना तुमने ? शास्त्रका नाम लेते हैं, उसे कहाँ माना है तुमने ?

लेकिन यह वेदान्त-विद्या तो ऐसी है कि—क्या आप अनन्तको आँखके द्वारा देख सकेंगे ? क्या अनन्तको कानके द्वारा सुन सकेंगे ? क्या अनन्तको जीभके द्वारा चाट सकेंगे ? क्या अनन्तको नासिकाके द्वारा सूँघ सकेंगे ? आप अनन्तके बारेमें क्या करेंगे ?

घड़ेको तो देखकर घटका साक्षात्कार जाना हुआ है तो देखकर; अनजाना है तो किसीने बता दिया कि 'यह घड़ा है', तो घटका साक्षात्कार हो गया! दोनों तरहसे साक्षात्कार होगा। पहलेसे जाना-पहचाना होगा तो देखते ही साक्षात्कार।

हम लोग विश्वास पैदा करनेके लिए शास्त्रका नाम नहीं लेते। लोग अनजान हैं, शास्त्र कभी पढ़ा नहीं है, वह समझता है कि केवल विश्वास करानेके लिए शास्त्रका नाम लेते हैं।

शास्त्रका नाम वस्तुका साक्षात्कार करानेके लिए लेते हैं, परब्रह्म परमात्माको दिखानेके लिए लेते हैं। जहाँ वस्तु परोक्ष होती है वहाँ वाक्यसे परोक्ष-ज्ञान होता है। जैसे, समझो कि विलायतमें एक 'कीथो' नामका आदमी है। हमने आपको मुँहसे बताया, लेकिन आपको साक्षात्कार हुआ ? नहीं हुआ, साक्षात्कार। अरे भाई, होगा कोई विदेशमें 'कीथो' नामका आदमी! तो विदेशके आदमीको, जिसको आपने कभी देखा नहीं है और हम नाम लेकर बतायेंगे तो आपको विश्वास करना पड़ेगा। उसकी कल्पना कर देनी पड़ेगी या अविश्वास करना पड़ेगा, उसकी कल्पना छोड़ देनी पड़ेगी। लेकिन हम आपको एक ऐसी चीज दिखा रहे हैं, जिसको आप किसी दूसरी तरहसे तो जान नहीं सकते।

आपके मनमें क्या ब्रह्मपनेका संस्कार है ? आत्मा कैसा है, यह आपके मनने कभी अनुभव किया है ? आत्मा कैसा है यह आपकी बुद्धिने कभी अनुभव किया है ? और, यदि अनुभव किया होता, तो आप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मसे एक-हो गये होते। अनुभव किया कहाँ ? आपकी बुद्धिमें इसका कोई संस्कार नहीं है।

ब्रह्म आपका पूर्वानुभूत नहीं है। पूर्वानुभूत नहीं होनेसे संस्कार नहीं है। इन्द्रियोंसे देखा हुआ न होनेके कारण अदृष्ट है। तब आपकी ब्रह्मता? कौन-सा निमित्त है जिससे साक्षात्कारकी वृत्ति आपके हृदयमें उदित हो जाय? आप इसपर विचार करें; इस बातको मत भूलें।

घड़ेको देखकर घटाकार-वृत्ति हृदयमें उदित होती है और अज्ञान हो, तो पहचान करा देनेसे भी वृत्ति उदय होती है। लेकिन अपना आत्मा क्या है, यह आप किस इन्द्रियसे देख करके अनुभव करेंगे और किस बुद्धि और मनसे अनुभव करेंगे? ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय आपके चित्तमें कैसे होगा? यह आत्मा कैसा है, यह आप कैसे समझ सकेंगे?

देखो, आत्मा साक्षादपरोक्ष है। वह क्या है?

दृगेव न तु दृश्यते।

यह अदृष्ट द्रष्टा है। उपनिषद्‌में इसके लिए यही शब्द है। अदृष्ट दृष्ट्‌ (दृष्टरि)। यह दृश्य नहीं है। यह देखा नहीं जाता। यह देखनेवाला है।

अच्छा, देखनेवाला है? आपके मनमें यह सवाल नहीं पैदा होता कभी कि यह देखनेवाला कितना बड़ा है? कैसे आप अपनी लम्बाई-चौड़ाई नापेंगे? इस देखनेवालेकी उमर कितनी है? यह सवाल क्या आपके मनमें पैदा नहीं होता? आप कैसे इसको कालमें नापेंगे? कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, हम आपको दिखा देंगे!

इसकी उम्र इतनी है कि आप उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। इसकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी है कि आप उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। और, एक या दो है? आप वेदान्तके द्वारा इसका साक्षात्कार कीजिये। यह कल्पना नहीं है, यह विश्वास नहीं है, यह भावना नहीं है, यह परोक्ष नहीं है। यह तो खुद आपके बारेमें है। और, आपके बारेमें जो बात होगी, वह विश्वास कैसे होगी? वह कल्पना कैसे होगी? वह भावना कैसे होगी? वह परोक्ष कैसे होगी? क्योंकि आप खुद परोक्ष नहीं हैं। क्योंकि आप खुद भावना नहीं हैं। आपके बारेमें जो बात कही जायगी, वह कल्पना कैसे होगी परोक्ष स्वर्गके समान, कि स्वर्ग ऐसा है-वैसा है? बहिश्तमें क्या होता है? इतनी हूरें होती हैं, इतने जलसे होते हैं, इतने चश्मे होते हैं!

आपके बारेमें जो बात कही जायगी, वह ऐसी होगी? आप कहीं छिपे हुए हैं? वेदान्त चूँकि आपको ही आपका बोध कराता है; किस निमित्तसे? इस बातपर ध्यान दें कि घड़ेको देखकर आँख घड़ेको दिखा देती है। आँखके चश्मेसे आप

घड़ेको अपने दिलमें देख लेते हैं। वह कौन-सा निमित्त है जो आपके अपने ब्रह्मपनेको दिखा सके? वह एक ऐसा निमित्त है; जो आपके ही बारेमें है।

आपको ध्यान नहीं करना पड़ेगा। ध्यान परोक्षका करना पड़ता है। आपको कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। आपको परोक्षज्ञान नहीं होगा कि कोई स्वर्ग सरीखी चीज है, ऐसा विश्वास नहीं करना पड़ेगा। आपको विलायतके 'कीथो'की तरह परोक्षज्ञान नहीं होगा। आप चूँकि साक्षात् अपरोक्ष हैं और जो बात वेदान्त बताता है वह आपके बारेमें ही बताता है। आपको विश्वास करनेके लिए नहीं बताता। यदि आपके बारेमें कोई कहे कि देखो, आपके नाकपर एक कालिखकी बिंदी लगी हुई है, तो आँखसे तो नहीं दिखी। परन्तु आप शीशेमें देख सकते हैं।

यदि आपके बारेमें कोई बात कही जाय कि आप ऐसे हैं, तो साक्षादपरोक्ष हो सकता है, क्योंकि आपके बारेमें बात कही हुई है, क्योंकि आप स्वयं हैं वह। इसलिए वेदान्त कोई स्वर्ग-प्रतिपादक शास्त्र के समान परोक्षशास्त्र नहीं है। यह कोई केवल गोलोक-वैकुण्ठकी भावनाके समान भावना करानेवाला शास्त्र नहीं है। यह समाधिके समान कोई आँख बन्द करानेवाला शास्त्र नहीं है। यह धर्मानुष्ठानके समान कोई क्रियापरक शास्त्र नहीं है। यह भोगमें जैसे गुलामी करनी पड़ती है वैसे गुलामी सिखानेवाला शास्त्र नहीं है। भोगमें पराधीनता है, धर्ममें श्रम है, मजदूरी है। भावनामें केवल विश्वास है। स्वर्गका अस्तित्व मान्यतामें है। अपना गमनागमन शास्त्रोक्त विश्वासमें है। यह जो अपना आपा है, तुरन्त साक्षात् और अपरोक्ष। इसको कोई काट नहीं सकता।

एक बार इस वस्तुको आप ध्यानमें लीजिए। दुनियामें ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो काट सके। कोई कहे कि 'आप परिच्छिन्न हैं।' देखो; हाँ, परिच्छिन्नता तो मालूम पड़ती है। अरे बाबा! परिच्छिन्नता मालूम पड़ती है, तो परिच्छिन्नता दृश्य हो गयी! आप तो—**'दृगेव न तु दृश्यते।'** कभी मालूम पड़ती है और कभी मालूम नहीं पड़ती। मालूम न पड़ने पर तो न मालूम पड़नेका जो साक्षी है, वह परिच्छिन्न कैसे हो सकता है? अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही अपनेमें परिच्छिन्नता कल्पित है।

वेदान्तविद्या यह कहती है कि कालकी परिच्छिन्नता तुममें कल्पित है, इसलिए तुम अनादि-अनन्त हो। देशकी परिच्छिन्नता तुममें कल्पित है, इसलिए पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, बाहर-भीतरकी कल्पनासे मुक्त हो। दृश्यके द्वारा द्रष्टाकी परिच्छिन्नता बिलकुल कल्पित है, इसलिए तुम्हारे अन्दर परिच्छिन्नता नहीं है। यह शास्त्र-अपरोक्षविद्या है, यह प्रत्यक्ष विद्या है। अपने आत्माको ब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष दिखानेवाली विद्याका नाम वेदान्तविद्या है।

●

प्रवचन ५

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

द्रष्टा-दृश्य दोनोंका विवेक जीवनकी एक ऐसी विद्या है जिससे सब दुःख मिट जाते हैं। जीवनका दुःख मिटानेके लिए ऐसी कोई विद्या, ऐसी कोई कला सृष्टिमें दूसरी नहीं है।

उनका यह कहना है कि घड़ा चाहे कच्चा हो, चाहे पक्का, उसमें गंगाजल भरा हो चाहे शराब, सीधी बात है—चाहे वह काला हो चाहे लाल, वह तुम्हारा नहीं है और वह तुम नहीं हो। तुम तो सिर्फ उसके एक मामूली दर्शक हो, मालिक नहीं हो! उस घड़ेको हटानेका या फोड़नेका या बदलनेका तुम्हें कोई हक नहीं है और कोई जरूरत भी नहीं है। उसको जब तुम 'मैं' और 'मेरा' मानोगे, तब तो दुःखी हो जाओगे और जब उसको 'मैं-मेरा' नहीं मानोगे तो सुखी हो जाओगे। केवल अपने भीतर बैठी हुई अहंता और ममता—मैं और मेरा है, उसको मिटाना-मात्र ही द्रष्टा-दृश्यके विवेकका प्रयोजन है।

जैसे, मोटरपर चलते हैं या पैदल चलते हैं तो बहुत सारी जमीन पड़ती है, बहुत सारे आदमी पड़ते हैं, बहुत सारे मकान पड़ते हैं, तो उस जमीनको, उन मकानोंको, उन आदमियोंको मैं मेरा तो नहीं समझते हो न? वह आदमी कहाँ जा रहा है, क्या कर रहा है, उससे कोई तकलीफ नहीं होती है। वह जमीन किसकी है? उस मकानमें कौन रहता है? उससे कोई मतलब नहीं है। ऐसे यह दुनिया है। रास्तेमें चलते हुए जैसे खेत पड़ते हैं, ऐसी यह दुनिया है। जैसे मकान पड़ते हैं, जैसे कालबादेवीपर हजारों-लाखोंकी भीड़ दिखायी पड़ती है, ऐसे ही यह दुनिया दिखायी पड़ती है। इसमें मैं-मेरा कुछ नहीं है। जितना दुःख है, मैं और मेराका है।

एक आदमीके पास एक घोड़ा था। अच्छा था, बुरा था, जैसा था, उसे वह तो मेरा समझता था। अब घोड़ा भूखा हो तो दु:ख, प्यासा हो तो दु:ख, बिगड़ जाय तो दु:ख, बीमार पड़े तो दु:ख। एक दिन उसने उसको बेच दिया। अब वह अपना नहीं रहा, दूसरेका हो गया, दूसरेके घर चला गया। अब तो वह कभी पूछता ही नहीं कि घोड़ा बीमार है, कि अच्छा है, कि बुरा है? भूखा है कि प्यासा है? मर गया कि जिन्दा है? क्यों? घोड़ा बिक गया।

हमारे यहाँ ऐसे एक जमीन पड़ी थी, तो हमारे दादा भी उसे अपनी समझते थे, हमारे बाप भी उसे अपनी समझते थे, मैं भी उसे अपनी समझता था, और उस जमीनपर किसीका बैल चरने आ जाय, तो हमें दु:ख होता था। जमीनकी सिंचाई न हो, निराई न हो, खेती न हो तो हमको भी दु:ख होता था। उसमें अच्छी फसल पैदा हो जाय तो हमें बड़ा सुख मिलता था। एक बार सरकारी जाँच-पड़ताल हुई तो यह निकला कि वह जमीन हमारी बिलकुल नहीं थी। हमारे दादा भी गलत जानते थे, हमारे बाप भी गलत जानते थे और मैं भी गलत जानता था। वह तो हमारे दुश्मनको अपनी जमीन भूल गयी थी। उसको मालूम नहीं था, उसने उसका ख्याल नहीं किया था। कागज थे, पत्र थे, दस्तावेज थे; यह प्रमाणित हुआ कि वह जमीन हमारी नहीं है। हमारी नहीं है, तो जाओ, तुम्हारी है। बस खतम!

यह जो शरीर है और शरीरके सम्बन्धी हैं, ये गलतीसे माने हुए अपने हैं, अविद्यासे माने हुए अपने हैं, अविवेकसे माने हुए अपने हैं, मोहवश माने हुए अपने हैं। जब मालूम हो गया कि अपने नहीं हैं, तो उनका दु:ख अपनेको क्या है? देखो, द्रष्टाके ज्ञानकी जो पद्धति है, उसकी तारीफ यही है।

जबतक संन्यासी नहीं थे, तबतक माँके मरनेपर, पत्नीके मरनेपर, बापके मरनेपर, दादाके मरनेपर ब्राह्मण हो तो दस दिनका और क्षत्रिय हो तो पन्द्रह दिनका, वैश्य हो तो महीने भरका पातक लगता था—अशुद्धि लगती थी। हमलोग तो किसीको छूते नहीं थे। हमने भी दाहकर्म किया है—अन्त्येष्टिकर्म किया है। अन्त्येष्टिकर्म करनेके बाद दस दिन तो बिलकुल अलग तख्तेपर कम्बल बिछाकर अलग रहते थे। कोई घरका आदमी भी दूसरा छूता नहीं था।

जब संन्यासी हो गये, तो चाहे कोई मरो चाहे जीओ! न जनमनेका सूतक लगता है, न मरनेका पातक लगता है। तो यह क्या हुआ? हम तो वही हैं और वे जनमने-मरनेवाले भी वहीं हैं। ये सूतक-पातक अपने ऊपर कहाँसे आये? संन्यासी हुए तो छूट गया न! जब छूट गया, जब सम्बन्ध टूट गया, जब घोड़ा बिक गया! समझो कि रजिस्ट्रीसे ब्याह हुआ था और डाइवोर्स हो गया। रजिस्ट्रीसे ब्याह तो

माना हुआ! तो माना हुआ ब्याह और माना हुआ छूटा! उसमें दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। संसारमें जितने भी दुःख हैं, वे 'मैं और मेरा'—इस मान्यतामें-से निकलते हैं।

जमीन दुःख नहीं देती, उसको 'मेरा माना हुआ' दुःख देता है। हम 'मणिकर्णिका' घाट पर बैठते। आपको शायद मालूम हो न हो, 'मणिकर्णिका' घाटके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि चौबीस घण्टेमें ऐसा कोई समय नहीं होता जब वहाँ मुर्दा जलता हुआ न हो! चौबीस घण्टे 'मणिकर्णिका' घाटपर मुर्दे जलते रहते हैं। हम ऐसी जगह बैठते जहाँसे मुर्दा जलता हुआ दिखता था, धुआँ उठता हुआ दिखता था, आग जलती हुई दिखती थी। जाके बैठ गये, कभी दुःख न हो। लेकिन जिस दिन यह दिख जाय कि इस मुर्देके साथ तो हमारे जान-पहचानवाले आये हैं, हमारे दोस्त आये हैं, हमारे परिवारवाले आये हैं, हमारे ताऊके नानाके भतीजेका साला है, तो 'हाय-हाय! वे तो बहुत अच्छे थे, मर गये?'

हम आपको यह बात सुनाते हैं कि प्रकृति कभी किसीको दुःख नहीं देती है। उसमें जो 'मैं और मेरापनका सम्बन्ध' है, वह दुःख देता है।

अब दूसरी बात—देखो, ईश्वर कभी किसीको दुःख नहीं देता है। कहो तो हम दस्तावेज लिखकर दे दें और आपके मनमें जितने तर्क-वितर्क-युक्ति उठते हों, सबका हम समाधान कर सकते हैं। ईश्वर परमानन्दस्वरूप है। उसका पाँव भी आनन्द, हाथ भी आनन्द, आँख भी आनन्द, दिल भी आनन्द, दिमाग भी आनन्द! ईश्वरके द्वारा तो दुःखदायी कर्म कभी हो ही नहीं सकते। ईश्वरसृष्टिमें दुःख नहीं है।

जीवकी सृष्टि है जो अविवेकके कारण अपने लिए दुःख बना लेता है। जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता, और ईश्वरके स्वरूपको भी नहीं जानता। अज्ञानसे ही, बेवकूफीसे ही यह साराका-सारा दुःख बनता है। अज्ञान माने यह नहीं समझना कि सातवें आसमानमें कोई चीज रहती है। अपनी जो नासमझी है, बेवकूफी है, इस नासमझी और बेवकूफीको ही अज्ञान कहते हैं। जो दुःखी है, वह अज्ञानी भी है और जो अज्ञानी है, वह दुःखी भी है। जो अज्ञानी है, दुःखी है, वह मृत्युके भयसे ग्रस्त भी है, क्योंकि अपनेको आनन्दस्वरूप नहीं जानता, इसलिए दुःखी है। जो अपनेको ज्ञानस्वरूप नहीं जानता, इसलिए अज्ञानी है, अपनेको सत्स्वरूप नहीं जानता, इसलिए मृत्युके भयसे ग्रस्त है।

यदि वह अपनेको सच्चिदानन्दस्वरूप जानता है, तो उसे मृत्युका भय, अज्ञानका भय और दुःख नहीं हो सकता। यदि वह अपनेको अद्वैत जानता है, तब किसीसे 'मैं-मेरा' हो ही नहीं सकता। क्योंकि दूसरा कोई हो ही नहीं सकता, तो रागद्वेष होगा ही नहीं। वह तो परमानन्दस्वरूपको प्राप्त हो गया।

परमानन्दस्वरूप तू नहीं तोमें दुःखलेश।

तू परमानन्दस्वरूप है, तुझमें दुःखका लेश नहीं है। यह जो द्रष्टा-दृश्यका विवेक है, कई लोग समझते हैं कि यह क्या चीज है? क्या बला है? किस कामके लिए है? आप निश्चित समझो कि आपके सारे दुःखोंको मिटा देनेके लिए यह रामबाण औषध है। यह बाजारमें खरीदनेसे नहीं मिलती है, पैसेसे खरीदनेसे नहीं मिलती है। भारतवर्षमें यही एक ऐसी अजबकी चीज है, गजबकी चीज है। यह भारतीय वस्तु है। सब जगह यह हो सकती है, परन्तु निर्यात यहींसे हुआ है।

अपनेको सत् जानो, मृत्युका भय छूट गया। अपनेको चित् जानो, अज्ञानका भय छूट गया। अपनेको आनन्द जानो, सारे दुःख मिट गये। अपनेको अद्वैत जानो और रागद्वेष एवं मैं-मेरा छूट गया।

सत्ताईस बरसतक तुमको यह विवेक बताया, तुम तो बुड्ढे हो गये सत्संग करते-करते हमारे बाल पक गये हैं, हमारे दाँत टूट गये हैं, हमारे चेहरेपर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं और राग-द्वेषकी एक रेखा भी नहीं मिटी। तुम्हारे पत्थर दिलपर सत्संगके पानीका कोई असर नहीं पड़ा। तो आओ, द्रष्टा-दृश्यका विवेक करें।

एक बात और आपको सुनाता हूँ। कई लोगोंको यह ख्याल है कि संसारकी वस्तुएँ हमको मिलेंगी और अर्थ मिलेगा तब हम सुखी होंगे, हम खूब काम करेंगे तब हम सुखी होंगे, हम खूब भोग करेंगे, तब हम सुखी होंगे। इसीको अर्थ, धर्म और काम बोलते हैं।

वस्तुसे सुखी होनेकी कल्पना, कर्मसे सुखी होनेकी कल्पना और भोगसे सुखी होनेकी कल्पना—इसीका नाम संसार-कल्पना है। यह द्रष्टा-दृश्यका विवेक तीनोंमें-से किसीको छुड़ाता नहीं है। आपको यह आश्चर्यकी बात सुनाता हूँ। यह न अर्थको मिटाता है, न कर्मको छुड़ाता है, न भोगका दुश्मन है। यह विवेक केवल अज्ञानका दुश्मन है, अविवेकका, नासमझीका दुश्मन है।

चीजको तुम पकड़ लेते हो—'सोनेके बिना, चाँदीके बिना, यह हमारे पास नहीं रहेगा तो हम सुखी कैसे होंगे? यह चला जायगा तो हम दुःखी होंगे।' हम आपको दृष्टान्त देकर यह बात सुनाते हैं—

'हम संन्यासी होंगे तो जो हमारे आश्रित हैं अमुक-अमुक-अमुक, वे सब दुःखी हो जायेंगें, यह हमारी एक कल्पना थी। आपको क्या बतावें? अनुभवकी बात सुनाता हूँ। जबतक मै समझता था कि इनका जिम्मेवार मैं हूँ, इनका पालन-पोषण मुझे करना चाहिए, तबतक सब लोग चुपचाप बैठे हुए थे और जिस दिन

मैंने अपनी जिम्मेवारी छोड़ दी, उस दिन पचास हजार आदमियोंकी दृष्टि गयी कि इनका पालन-पोषण हमारा कर्तव्य है। जबतक मैं अपनी जिम्मेवारी लिये बैठा था, तबतक मुझे दो-दो, पाँच-पाँच रुपये लाने पड़ते थे उनके पालन-पोषणके लिए और जिस दिन मैंने अपनी जिम्मेवारी छोड़ दी, हमारे पचास गाँवके चेले हैं गृहस्थाश्रमके।' 'गुरुजी महाराज तो चले गये, अब गुरुआनीजीका ख्याल कौन करे? उनके बच्चेका ख्याल कौन करे? हम पढ़ावेंगे, हम भोजनकी व्यवस्था करेंगे, हम कपड़ेका ख्याल करेंगे, हम मकान ठीक रखेंगे, हम जमीनको खराब नहीं होने देंगे।' हजारों आदमियोंकी नजर उस तरफ खिंच गई, जब मैंने जिम्मेवारी छोड़ दी। जो लोग समझते हैं कि सब कुछ हम ही करते हैं, वह बिलकुल गलत है।

जब एक व्यक्ति अपनी जिम्मेवारी छोड़ देता है, तो समूची समष्टि उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेती है। असलमें ये सम्बन्ध ही लोगोंको सुखसे वंचित किये हुए हैं, आरामसे वंचित किये हुए हैं, सम्बन्धके सिवा दुःखका और कोई हेतु नहीं है।

आपको एक बात सुनाता हूँ अर्थ-सम्बन्धी। अर्थ, कर्म और भोग—कोई केवल धन ही कमाना चाहते हैं, वे कुछ करना भी नहीं चाहते, मसनदको गन्दा करते हैं; माने गद्दीपर बैठे रहते हैं, वे भोग भी नहीं चाहते। उनको खानेकी भी याद नहीं आती। केवल 'हाय पैसा, हाय पैसा, पैसा हाय!' न उन्होंने कोई धर्म-कर्म किया, न भोग किया। ऊँटकी तरह अपनी पीठपर पैसा लादे रहे और मर गये।

कोई-कोई ऐसे होते हैं, जो धन और भोग (अर्थ और काम) दोनों चाहते हैं। हमको धन तो चाहिए, लेकिन कमाईका चाहिए। दूसरेकी कमाईका धन चाहना, यह निकम्मेपनका लक्षण है। प्रत्येक योग्य सन्तानको चाहिए कि वह अपने बापसे कह दे कि तुम अपनी कमाईका सब धन अपने हाथसे खर्च करके जाओ। ईश्वरने हमको दो हाथ दिये हैं, हमारा भी नसीब है, प्रारब्ध है, कमायेंगे। असलमें बापकी कमाई लेना भी प्रतिग्रह ही है एक प्रकारका। बापने कमाया, बाप दान कर दे! बाप अच्छे काममें लगा दे—स्कूलमें लगा दे, अस्पतालमें लगा दे, गरीबोंमें लगा दे, धर्ममें लगा दे! क्यों बेटा लेगा? क्या बेटेके हाथ नहीं हैं? उसका प्रारब्ध नहीं है? तो स्वयं कमाई करके खानेकी जो रुचि है, वह है अर्थ चाहना। और, अर्थके साथ-साथ कर्म चाहना।

कोई-कोई अर्थ और कर्मके साथ-साथ भोग भी चाहते हैं कि भोगविलास भी करें। जो भोगविलास भी नहीं चाहते हैं, और धर्म भी नहीं करते हैं, वे तो पशु

हैं। जो कर्म करते हैं और अर्थ कमाते हैं, उनमें तमोगुणकी मात्रा कम है, रजोगुणकी मात्रा अधिक है। जो भोगविलाससे थोड़ा-सा सुख भी लेते हैं, उनका रजोगुणकी ओर उन्मुख थोड़ा सत्त्वगुण उनके जीवनमें है। बिना सत्त्वगुणके सुखी नहीं हो सकता कोई, चाहे कितना भी कर्म करे, कितना भी भोग करे।

चौथी चीज यह है कि—अपनेको इनमें फँसाओ मत। इसको असंगता बोलते हैं। तुम्हारा सुख—धन आता है और जाता है, तुम एकसरीखे रहते हो। तुम्हारा कर्म होता है और नहीं होता है, तुम एकसरीखे रहते हो। भोग मिलता है और नहीं मिलता है, तुम एकसरीखे रहते हो।

पहलेके महात्मालोग कहा करते थे कि जैसे तुम सरायमें रह रहे हो, और जितना पैसा जमा किया है, उसके अनुसार पलंग और भोजन मिलता है और उतने दिन रहनेको मिलता है। बस, संसार इतना ही है। सरायके जीवनमें फँसना नहीं चाहिए। यहाँ किसीको रहना नहीं है। सबको एक-न-एक दिन जाना है।

रहना नहीं देश विराना है।

यह धर्मशालाका जीवन है। यह धरती भी एक धर्मशाला है। अपना गाँव भी एक धर्मशाला है। अपना घर भी एक धर्मशाला है। देखो, पाँच-पाँच पीढ़ीतक मकान रह जाता है। दादा उसीमें पैदा हुए और मर गये, बाप भी उसीमें पैदा हुए और मर गये। तुम भी उसीमें पैदा हुए और मर जाओगे। गाँव वही रहा, घर वही रहा, धरती भी वही रही। तुम्ही आये-गये। तुम ही धर्मशालेकी तरह आये और गये। तो इसमें अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए। जीवनका सार-सुखी होनेका स्वभाव यह है, सुखी होनेका गुर यह है। यदि इसमें पैसा आवे और जाय नहीं, ऐसा करोगे तो सुखी होओगे नहीं, दु:खी हो जाओगे उसको चाकके समान, रथके पहियेके समान आने दो और जाने दो। और तुम उसके आने-जानेका सिनेमा देखो। यह द्रष्टा-दृश्यका विवेक है। इसमें आना-जाना सच्चा है कि झूठा है, यह विवेक दूसरा है और हम इसमें-से न्यारे हैं, यह विवेक दूसरा है। इसमें सच्चे-झूठेका विवेक करनेकी जरूरत नहीं है।

'द्रष्टा-दृश्य विवेक' में भले वह सच्चा हो, हम नाटक देख रहे हैं कि सिनेमा देख रहे हैं? एक सवाल यह है। नाटकमें तो नटी और नट, पात्र मंचपर आकर नाचते हैं और सिनेमामें सिर्फ उनकी तसवीर दिखती है। परन्तु यह बात सच्ची है कि नट-नटी चाहे नाच रहे हों और चाहे, सिनेमाका दृश्य हो; पर्देपर नट-नटीके नाचनेका दृश्य दिखायी पड़ रहा हो, पर तुम तो देखनेवाले ही हो न? वह सच्चा है कि झूठा, यह विचार दूसरा है और हम, सिर्फ देखनेवाले हैं, यह विचार! बस सिर्फ इतनेसे ही देखो।

मैंने मंचपर बिछुड़ते हुए देखा है। राधा-कृष्णका नृत्य हो रहा है, गोपी-कृष्णका नृत्य हो रहा है। कृष्ण बिछुड़ गये और गोपी रोने लगी। अच्छा, हम रोवें, कि नाचें, कि हँसें? हम तो देख रहे थे।

एक और बात है-वह सिनेमा था कि नाटक था, चाहे कोई भी हो, हम तो नृत्य देख रहे थे। अच्छा, निकलनेके बाद क्या होगा? यदि तुम सिनेमा देख रहे हो, या नाटक देख रहे हो, भले बैठकर तुम्हारे आँसू गिरें, भले नाटकमें बैठे-बैठे तुम्हारी साँस बढ़ जाय, और हिचकी बँध जाय, परन्तु सिनेमा या नाटक देख लेनेके बाद जब तुम बाहर आओगे तो कहोगे कि 'बड़ा मजा आया।' यही न!

यह जो दुनिया है न दुनिया! यह नाटक है कि सिनेमा है, इस बातका निर्णय बादमें करना, पर तुम दर्शक हो, यह बात पक्की है। इसमें तुम एक द्रष्टा हो। द्रष्टा होनेसे ही दुनियाका दुःख मिट गया। जब बेटी अपनी होगी और बिना तुमसे पूछे ब्याह कर लेगी, तो तुमको बड़ा दुःख होगा। लेकिन बाबा, न बेटी तुम्हारी न दामाद तुम्हारा! उन लोगोंमें प्रेम हो गया, ब्याह कर लिया! इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है? वे तुम्हारे कौन होते हैं? जाओ वे सुखी रहेंगे। उनके भविष्यके बारेमें तुम इतनी फिकर क्यों करते हो?

एक दिन पैसा आया था; जिस दिन आया, उस दिन तो रोये नहीं! आयेके दिन रोना चाहिए था! तुम्हारे घरमें बेईमानीका पैसा आया, चोरीका पैसा आया, तुमने सोचा कि पुलिसको पता नहीं चलेगा, टैक्स-अफसरको पता नहीं चलेगा, पड़ोसीको पता नहीं चलेगा! इस बेईमानीके पैसेसे हम सुखी होंगे-जिस दिन ऐसा सोचा, उस दिन तुमको दुःखी होना चाहिए था। जिस दिन वह पैसा गया, उस दिन क्यों दुःखी होते हो? सुखी तो उस दिन होना चाहिए कि चलो, कंटक कटा! दुःखका जो कारण हमारे घरमें आया था, वह निकल गया। जो चोर हमारे घरमें घुसा था वह निकल गया। पैसेका आना और जाना, उसको तुम देखते हो और तुम असंग हो! और भोग-विलासकी वस्तुएँ?

एक समय था जब हमको खीर बहुत अच्छी लगती थी। जब हम 'अलीफ'में, 'ब'में और दर्जा एकमें पढ़नेके लिए अपने गाँवसे डेढ़ मील दूर जाते थे। बस, इतनी हिन्दी पढ़ी है। अब तो 'अलीफ-बे'का नाम भी लोग नहीं जानते होंगे। उन दिनोंमें क्लासोंका नाम अलीफ-ब और उसके बाद एक-दो-तीन-चार शुरू होता था। तब हम रोज खीर खाके जाते थे, क्योंकि घरमें गाय होती, भैंस होती। सबेरे दूध गरम होता,उसमें चावल-शक्कर डाल दिया,खीर पक गयी। खाकर चले गये। बस, अच्छा लगता था। आप जानते हैं—'**ब्राह्मणा मधुरप्रियः।**'

हम तो बच्चे थे ही, लोग भुलावेमें भी डाल देते थे, तो एक दिन क्या हुआ कि रातका पकाया हुआ बासी भात जो बचा हुआ था न, लंबा-लंबा, ठंडा-ठंडा, उन्होंने पकते हुए दूधमें डाल दिया। वह ज्यों-का-त्यों रह गया, गला नहीं। जो सामने आया खानेको तो ऐसा मालूम हुआ, जैसे पनालेमें सफेद-सफेद कीड़े बिलबिलाते हों, ऐसे दूधमें ये कीड़े बिलबिलाते हैं। और ऐसी ग्लानि हुई कि देखते ही कै हो गयी। उसके बाद कोई पचीस बरस मैंने खीर नहीं खायी।

वही खीर जो पहले जीभको बड़ी मीठी लगती थी, वही खीर! खीर मीठी है कि सफेद-सफेद कीड़ोंका समूह है! मन ही है न?

देखो, इसका नाम मन है। पहले पहली बात तथा बादमें दूसरी बात गयी। बात बदल गई और मैं एक ही था। मैं दोनोंको जाननेवाला था। जब मैं संन्यास लेकर उड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें आया, जब उनको मालूम पड़ा कि इनको तो खीर देखकर कै आता है, तब उन्होंने मखाना पिसवाकर थोड़ी-थोड़ी खीर खिलानी शुरू की। उसके बाद चावलकी खीरको मथवा देते थे कि कोई चावल दिखाई न पड़े। फिर खीरका स्वाद आ गया। जीभपर स्वाद फिर आ गया तो थोड़ी-बहुत खीर कभी-कभी खाने लग गया। तो, खीर अच्छी है कि बुरी? इसका सम्बन्ध तुम्हारे भावके साथ है, तुम्हारे साथ नहीं है।

यह भोग-विलास संसारका क्या है? यह तुम्हारा अभ्यास है, यह तुम्हारा संस्कार है, जिसमें तुमको मजा आता है। उसीमें किसीको मजा नहीं आता है। द्रष्टापनकी विद्या जो है, यह असंगताकी विद्या है। असंगताकी विद्या माने हर हालतमें तुम सुखी रहना सीखो। चाहे परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल हो तो भी उसका उपयोग कर लो और प्रतिकूल हो, तो भी उसका उपयोग कर लो। यहाँ यों भी वाह-वाह है, यहाँ यों भी वाह-वाह है।

एक स्थितिमें आग्रह करके—जैसे, समझो, किसी दिन तुम्हें सिनेमा देखने जाना है, परन्तु ऐन मौकेपर ऐसी अड़चन पड़ी; टिकट जहाँसे आना था नहीं आया; घरवाले तैयार नहीं हुए; बाधा पड़ गयी तो बोले—अब बैठ कर रोओ! हाय-हाय! आज सिनेमा देखना था, नहीं देख सके तो बैठकर रोना क्या है? रोना बेवकूफी है।

आप लोगोंमें-से यदि कोई ऐसा बेवकूफ हो—मैं तो समझता हूँ कि नहीं होंगे, पर अगर हों तो इस बातको समझें कि आज सिनेमा देखनेको न मिला तो आप यह ख्याल करो कि आपके घरमें कई दिनोंसे कोई काम बाकी पड़ा हुआ है कि नहीं? कोई सफाई बाकी पड़ी हुई है, कोई तिजोरी साफ करनी है, कोई जेवर ठीक-ठाक बैठाना है! आपके घरमें जो काम कई दिनोंसे बाकी रह गया है, और जो आपके

सिरपर बोझ है, आपके दो-तीन घंटेका समय जो सिनेमामें जाता, वह घरमें मिल गया, तो आप घरमें कोई ऐसा काम कर लो, कि आपका घर चमक जाय! और आपका मन बिलकुल हल्का हो जाय।

यदि आप सिनेमा देखनेका आग्रह रखोगे तो घरका काम भी नहीं बनेगा और आपका दिल भी दु:खी हो जायगा। यदि आप सिनेमाका ख्याल बिलकुल छोड़ दो, असंग हो जाओ कि 'क्या रखा है सिनेमामें? वह तो एक पर्दा है, उसपर एक रोशनी पड़ती है, उसमें झूठे दृश्य दिखाये जाते हैं! क्या रखा है?' आप अपने-आपको सिनेमाके ख्यालसे मुक्त कर लो और उपस्थित जो ख्याल है, उसमें लगा लो!

अच्छा, आपको कभी भगवान्‌का भजन करनेका समय नहीं मिलता है, माला फेरनेका, पाठ करनेका। जिस दिन आपके मनका कोई काम न हो, उस दिन उतना समय—उतना नहीं, उसका आधा ही सही, उसका चौथाई ही ईश्वरके काममें लगा सकते हैं कि नहीं? जब आप तीन घंटे सिनेमाके लिए दे सकते थे और आज वह आपको नहीं मिला, तो उसमेंसे घंटेभरका समय भगवान्‌के लिए निकाल सकते हैं कि नहीं?

अच्छा, तो आपका यह जो दु:ख है, वह आपके मनसे कल्पित है। यदि पिछली बातको पकड़े नहीं, असंग रहे; असंगता और द्रष्टापन एक चीज है—

असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा।

यह असंग शस्त्र है दृढ़! तुम जब चाहते हो कि हमारे ही मनके मुताबिक हो, तब तुम संगमें फँस गये। और, यदि जो कुछ होता है, उसमें तुम बोलो कि 'ऐसा नहीं, ऐसा सही।' हलुआ नहीं बना तो लपसी ही सही! उसमें क्या बात है? मिठासमें क्या फरक पड़ेगा? उसमें रोनेकी और सिर पीटनेकी तो कोई बात ही नहीं है।

आपने वह कथा सुनी होगी—दस गुरु हुए न? उनमें एक गुरुके दो शिष्य थे। एक बेटा था, एक चेला था। गुरुजीने बेटेसे और चेलेसे कहा कि—'तुम लोग एक-एक चबूतरा बनाओ। उसपर बैठकर हम भजन किया करेंगे!'

जब दिनभर उन लोगोंने बनाया, तो शामको आकर गुरुजीने कहा—'ठीक नहीं बना! तोड़ दो!' फिर दूसरे दिन बना। बोले—'ठीक नहीं है।' तीसरे दिन बना, बोले—'ठीक नहीं है।'

तो बेटेने कहा—'पिताजी, आपको तो हमारा बनाया हुआ चबूतरा कभी पसन्द नहीं आवेगा। हम बनाना बन्द करते हैं। हम नहीं बनायेंगे।'

चेलेने बनाया तो गुरुजीने चेलेसे पूछा—'जब तुम्हारा बनाया हुआ चबूतरा हमें पसन्द नहीं आता है, तो तुमने फिर क्यों बनाया?' उसने कहा—'महाराज! आपने कहा—'बनाओ', तो मैंने बनाया।'

गुरुजी—'लेकिन मैंने तो तुम्हारा बनाया हुआ कई बार नापसन्द किया।'

चेला—'नापसन्द कर दिया तो क्या हुआ? हमको जिन्दगीभर आपकी आज्ञाका ही तो पालन करना है। हम चबूतरा नहीं बनाते तो आप कहते—'लकड़ी चीरके ले आओ।' या दीवार बनाओ! एक बोझ गेहूँ लेकर आओ।' तो हम आपकी आज्ञाके अनुसार कोई-न-कोई परिश्रम तो करते! दूसरे परिश्रमसे हमारा क्या रिश्ता था? जब इसी परिश्रमसे आपकी आज्ञाका पालन होता है। दूसरे परिश्रममें हमारा अपना क्या रखा है? हम तो जिन्दगीभर रोज—चबूतरा बनावेंगे और शामको आप कहेंगे तो तोड़ देंगे। सबेरे आपके कहनेसे बना देंगे। हमें तो जिन्दगीभर आपकी आज्ञाके अनुसार चलना है। चबूतरा तोड़ते रहेंगे और बनाते रहेंगे। उसमें हमारी रुचिका तो कोई सवाल ही नहीं है। क्या हम अपने भोगके लिए बनाते हैं?'

ये जो कर्म होते हैं, उनमें जब तुम आग्रह करोगे कि 'यह करेंगे' और 'यह नहीं करेंगे' तो तुमको दु:ख होगा। जब आग्रह करोगे कि 'यह चीज हमारे पास रहे और यह चीज हमारे पास न रहे'—तो तुमको दु:ख होगा। जब सोचोगे कि 'हमको एक किस्मका मजा मिले'—मजामें यदि किस्म लगाओगे किस्म! यदि यह सोचोगे कि रोज हमको नमकीन ही मिले, न मिले मीठा; या मीठा ही मिले, नमकीन न मिले'; यदि तुम सोचो कि जिन्दगीभर तुम्हारी औरत जवान ही रहे, तो यह सुख तुमको मिल सकता है कभी? एकदम बेवकूफीकी बात है।

एक दिन एक पतिने हमारे सामने अपनी पत्नीको कहा कि-'देखो महाराज, इसके तो बाल पक गये, बुढिया हो गयी।' तो उसने कहा—'तुम्हारी जवानी तो रोज-रोज बढ़ रही है न! तुम भी तो बुड्ढे हो रहे हो!'

द्रष्टाका अभिप्राय क्या है? द्रष्टाका अभिप्राय है कि तुम अपनेको ऐसी जगह पर बैठा लो, एक ऐसी गद्दी बनाओ, वह किसी आचार्यकी गद्दी नहीं होगी, वह सोने-चाँदीकी बनी हुई नहीं होगी, उसपर छत्र-चमर नहीं लगेगा, एक मन रुई नहीं लगेगी। वह गद्दी क्या है? तुम अपने आत्मस्वरूपमें बैठ जाओ और तुम्हारे सामने जो नाटक हो रहा है, जो सिनेमा हो रहा है, जो स्वप्न दीख रहा है, जो गन्धर्वनगर दीख रहा है, जो मायाके खेल दीख रहे हैं, जो प्रकृतिके खेल दीख रहे हैं, जो ईश्वरकी लीला दीख रही है, उसमें तुम कर्ता-भोक्ता मत बनो। उसके तुम द्रष्टा हो, द्रष्टा!

जब काशीमें भारतमाता मन्दिर बना, (पहले तो राजा थे, बादमें राजा-वाजा छोड़ दिया)—बाबू शिवप्रसादने बनवाया। हमलोग जाते थे देखनेके लिए। अब तो कोई नहीं जाता है, बिलकुल बन्द पड़ा है।

पराधीन भारतका नक्शा देखते ही आँखमें आँसू आजाते थे, जब भारत स्वतन्त्र होगा तब कैसा होगा? देखते ही चित्त खिल जाता था। कैसी समृद्धि होगी? नक्शे बनाये हुए थे, धरतीपर, दीवारपर। धरतीपर तो पत्थर-ईंट-माटी। कैसी खेती होगी, कैसी सिंचाई होगी, कैसे बाँध बनेंगे, कैसी सड़क बनेगी, कैसे कल-कारखाने होंगे! स्वाधीन भारतका एक नक्शा तैयार किया गया था। भारतमें अंग्रेज लोग कैसे शोषण कर रहे हैं, भारतवर्ष कैसे टुकड़े-टुकड़े हो गया है, यह देखके रोना आ जाता था।

अब सोचो आप कि वह जो नक्शा देखकर हमलोग रोते या हँसते थे, वह क्या चीज थी? असलमें वह देखना ही था, और कुछ नहीं था। म्हैसूरकी चित्रशालामें गये। वहाँ शृंगारका चित्र देखें तो ललित भावना आवे, बीभत्सरसका चित्र देखें तो ग्लानि हो; हास्यरसका चित्र देखें तो हँसी आवे; करुणरसका चित्र देखें तो आँखमें आँसू आ जाय, लेकिन बाहर निकले तो कुछ नहीं, ठनठनपाल!

इसी प्रकार इस सृष्टिमें जो रूप दीख रहा है, सो भी एक तमाशा है और जो आँख मालूम पड़ रही है, सो भी एक तमाशा है। मनमें वृत्तियाँ जो हेर-फेर, अदलती-बदलती हैं, सोती-जागती हैं, सो भी एक तमाशा है, और जो द्रष्टा है, वह?

सुखी होनेका अर्थ जो है, यह जड़ है। कर्ममें परिश्रम है, अर्थमें जड़ता है, भोगमें गुलामी है और द्रष्टामें स्वतन्त्रता है। द्रष्टा असंग, उदासीन, स्वतन्त्र है।

आप अपनेको ऐसे सिंहासनपर बैठाओ, जहाँ पैसेके आने-जानेसे गरमी नहीं पहुँचती, कर्मके करने-न करनेसे पसीना नहीं होता, जहाँ भोगविलास मिलने-न मिलनेसे हास्य और रोदनकी सृष्टि नहीं होती। उसका नाम है द्रष्टा। वह हो तुम। समग्र दुःखोंसे बचानेकी यह विद्या है।

अच्छा, स्कूलमें तुमने बहुत पढ़ा, कालेजमें बहुत पढ़ा; आपका संसारके सम्बन्धमें अनुभव बहुत है। यह सब जानते हुए भी आपके जीवनमें दुःख आता है कि नहीं आता है? दुःख आता है। तो दुःखसे बचनेकी विद्या आपने सीखी है कि नहीं सीखी है? क्यों नहीं आती?

असलमें आपने धन कमानेकी विद्या सीखी है; आजकल तो धन कमानेकी ही विद्या सिखायी जाती है, खर्चनेकी सिखायी ही नहीं जाती। खर्चनेके लिए भी बताते

हैं कि जिससे विज्ञापन हो, कोई मिनिस्टर पक्षमें हो जायँ, लोग समझें कि यह बड़ा धनी है तो लोग विश्वास करने लग जायँ। ऐसा खरचना भी जो आजकल सिखाया जाता है, वह कमाईके अंगके रूपमें सिखाया जाता है। इसलिए उससे सुख नहीं होता। आजकल काम करना सिखाया जाता है, लेकिन विश्राम करना कहाँ सिखाया जाता है ?

एक बार मैं कलकत्ते गया। वहाँ हमारे एक मित्र हैं। भारतवर्षके बड़े सम्पन्न व्यक्तियोंमें उनकी गिनती है। वे बोले—'मैं काम करते-करते थक जाता हूँ महाराज! दिमागको श्रम होता है।'

मैंने उनको कहा—'अच्छा, आफिसमें बैठे-बैठे तुम थक जाओ, तो थोड़ी देर अपने दाँतोंको ऊपर कर लो, एक दूसरेसे लगें नहीं। जीभको अधरमें रहने दो भीतर ही, न तालुको लगे न नीचे लगे, न दाँतोंको छुए। होंठ बन्द रहें, दाँत ऊपर-नीचे अलग-अलग रहें, और जीभ अधरमें लटक जाय। ऐसे बैठो; देखो, कैसा लगता है ?' दो मिनट बैठ गये तो बोले—'महाराज, बड़ा विश्राम मिला।'

इसका विज्ञान है। यह जो मैं बोल रहा हूँ, 'शतपथ ब्राह्मण'में विज्ञान—सहित यह बात कही हुई है। उनका कहना यह है कि जैसे अरणी-मन्थन होता है, तो एक नीचेकी लकड़ी होती है और एक ऊपरकी लकड़ी होती है; बीचमें मथानी होती है। जब उसको घुमाते हैं, मन्थन करते हैं तब आग पैदा होती है। इसी तरह मुँहमें निचला हिस्सा है, वह नीचेकी लकड़ी है और ऊपरी हिस्सा है, वह ऊपरकी लकड़ी है; यह जीभ मन्थानी है। जब जिह्वा हिलती है, तब मन्थन होता है और गरमी पैदा होती है, वाक्की उत्पत्ति होती है। यदि जिह्वाको स्थिर कर दिया जाय, और नीचेकी और ऊपरकी—अधरारणी और उत्तरारणीके साथ इस जिह्वारूप मन्थनकाष्ठका सम्बन्ध न हो, तो वाक्की उत्पत्ति नहीं होगी। माने शब्द नहीं निकलेंगे। जब शब्दका उदय नहीं होगा, तो विचारका उदय भी नहीं होगा। बिना शब्दके विचारका उदय होता ही नहीं। विचारका उदय नहीं होगा तो तुरन्त तुम्हारे मस्तिष्कको शान्ति मिल जायगी। इस बातको पन्द्रह वर्ष हो गये; अब भी मिलते हैं तो बताते हैं कि—मैं आफिसमें बैठे-बैठे जब थकानका अनुभव करता हूँ, तब ऐसा करता हूँ तो बड़ा विश्राम मिलता है, बड़ी शान्ति मिलती है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि आपको श्रम करनेकी विद्या तो सिखाई जाती है, आपको भोग करनेकी विद्या सिखायी जाती है और आप उस भोगके लिए व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु भोगके त्यागकी विद्या नहीं सिखायी जाती। बिना भोगके भी

आप सुखी रह सकें, यह विद्या आपको नहीं सिखायी जाती। आपको यह मालूम पड़ेगा कि आजकी शिक्षामें यह त्रुटि है।

वस्तुके संग्रहसे हम सुखी होते हैं, त्यागसे नहीं, यह भ्रम है। यदि हम उसके संग्रहसे सुखी होते हैं, तो त्यागसे भी सुखी होते हैं। यदि कर्म करनेसे सुखी होते हैं, तो विश्राम करनेसे भी सुखी होते हैं और यदि भोगसे सुखी होते हैं, तो भोगके त्यागसे भी सुखी होते हैं। भोग और भोगका त्याग, कर्म और कर्मका विश्राम, वस्तु और वस्तुका अभाव—इन तीन जोड़ोंमें सुखी रहनेका उपाय क्या है?

इन तीन जोड़ोंमें सुखी रहनेका उपाय यह है कि आप इस 'दृग्-दृश्य-विवेक'रूप जो विद्या है, द्रष्टा और दृश्यकी विद्या, द्रष्टा और दृश्यके विवेककी जो विद्या है, असंगताकी विद्या है, इस असंगताकी विद्याको सीखें! इसे प्राप्त करें। यह आपके जीवनके लिए बड़ी उपयोगी है। पैसेसे खरीदने पर यह नहीं मिलेगी। कारखानेमें अभ्यास करनेसे इस ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी। भोगविलासमें इस विद्याकी प्राप्ति नहीं होगी।

विद्या वह होती है, जो आपको स्वभावसे न मिले, सिखानेपर मिले। कोई भी बालक जन्मसे, पैदा होकर अपने-आप सन्ध्यावन्दन नहीं कर सकता। जब वह अपने बापको करते देखेगा, या पण्डित उसे सिखावेगा, तब वह सन्ध्यावन्दन करेगा। कोई भी आदमी बचपनसे पैदा होकर सूर्यको अर्घ्य नहीं देगा, सिखाना पड़ेगा।

रागद्वेषकी बातें होती हैं, वे जीवनमें बिना सिखाये आती हैं। बल्कि कायेदेसे तो सिखाना ही पड़ता है। वैसे पेशाब बच्चेके शरीरसे अपने आप निकल जाती है, परन्तु कैसे, कहाँ बैठके पेशाब करनी चाहिए, यह बात सिखानी पड़ती है। टट्टी अपने-आप निकल जाय, परन्तु कैसे टट्टी जाना चाहिए, यह भी उसे सिखाना पड़ता है।

जितनी ज्ञानकी बात होती है, धर्मकी बात होती है; अज्ञानको, दुःखको मिटानेवाली बात होती है उसके लिए शिक्षण प्राप्त करना पड़ता है। आपके शिक्षणमें, आपकी विद्यामें यह असंगताकी बात है कि नहीं है? आपको निवृत्तिकी कला आती है कि नहीं? कोई भी काम करते हों और चाहे जब उसको छोड़ दें! छोड़नेका आपको दुःख न हो, यह कला आपको आती है कि नहीं आती है? चाहे आपके हाथमें कोई भी वस्तु हो, परन्तु चाहे जब वह गिर जाय या छूट जाय, और उसके छूट जानेका आपको दुःख न हो! यह कला आपको आती है कि नहीं आती

है ? यदि यह कला आपको नहीं आती है, यदि आप वस्तुको पकड़े रखना चाहेंगे, तो आपको नींद भी नहीं आवेगी, नींद आना बन्द हो जायगा।

हाथमेंसे वस्तु छूट जाय और आपको दु:ख न हो, तब आपको वस्तु ग्रहण करनेका अधिकार वास्तविक है। आप वस्तु रखनेके हकदार तब होते हैं, जब उसके छूटनेपर भी आपको दु:ख न हो। असलमें आप कर्म करनेके अधिकारी तब होते हैं। नहीं तो दिन-रात मशीनकी तरह चलना पड़ेगा। आप कर्म छोड़के विश्राम करें। आप भोगविलास करनेके अधिकारी तब होते हैं जब बिना भोगविलासके भी आप रह सकें। यदि आप बिना भोगविलासके नहीं रह सकते हैं, तो अपने लिए बन्धन तैयार कर रहे हैं।

यह जो विद्या है, भोगमें भी त्याग हो; कर्ममें भी विश्राम हो और वस्तुके भाव-अभाव दोनोंमें आप सुखी हों; इसकी विद्या यह है कि आप द्रष्टा-दृश्यका विवेक करें। धनका स्तर दूसरा है, कर्मका स्तर दूसरा है, वासनाका स्तर दूसरा है, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिका स्तर दूसरा है। आप उसके भीतर—

दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।

मनकी सारी अवस्थाएँ देखी जाती हैं, परन्तु वह तो एक नाटक देख रहे हैं।

मनकी सारी अवस्थाओंके साथ अपनेको बाँधिये मत, मनकी सारी अवस्थाओंके साथ अपनेको फँसाइये मत। उसकी समाधिको अपनी समाधि मत मानिये। मनकी चंचलताको अपनी चंचलता मत मानिये, मनकी शान्तिको अपनी शान्ति मत मानिये। निवृत्त होकर थोड़ी देर उससे अलग होके बैठ जाइये। आप कहाँ बैठते हैं ? अपने आत्मामें बैठते हैं। उस आत्माका नाम द्रष्टा है, दर्शक है, तटस्थ है, कूटस्थ है।

क्या आप अपनी पत्नीसे भी तटस्थ होकर कभी उसके बारेमें सोचते हैं ? क्या आप अपनी मातासे भी तटस्थ होकर कभी उसके बारेमें सोचते हैं ? मकान और धनदौलतके बारेमें भी कभी तटस्थ होकर सोचते हैं कि बिलकुल फँसे-फँसे, पकड़े-पकड़े सोचते हैं ? अपने अन्त:करणकी अवस्थाओंसे तटस्थ होकर कभी सोचते हैं ? अपने शरीरसे भी तटस्थ होकर सोचना पड़ता है।

हम ऐसी कौन-सी गलती करते हैं, जिससे रोग होता है ? इस रोगका कारण क्या है ? जब उससे तटस्थ होकर विचार करेंगे तो कार्य-कारणभाव प्रतीत हो जायगा, दीख जायगा। तो, सुखी होनेकी विद्या यह है कि आप बिलकुल फँसकर, पक्षपाती होकर, द्वेष करके किसीके बारेमें मत सोचिये। एक बार रागद्वेष छोड़कर, रिश्ता-नाता छोड़कर, सम्बन्ध छोड़कर विचार कीजिये। रिश्तेदारीमें जो विचार

किया जाता है—एक आदमीने कहा—'अरे भाई, तुम तो बड़े ऊँचे पदपर चले गये! बड़े योग्य हो!'

उस आदमीने कहा—'हमारी योग्यता इतनी है कि हम एक मिनिस्टरके रिश्तेदार हैं। इसके सिवाय हमारी कोई योग्यता नहीं है।' जब रिश्तेदारी-नातेदारीकी जो योग्यता है, सम्बन्धको ले करके हम विचार करते हैं, तो उसमें यथार्थ विचार नहीं होता है। यथार्थ विचार तब होता है, जब सम्पूर्ण दीखनेवाली वस्तुओंसे रिश्ता-नाता, पक्षपात और निर्दयता छोड़कर, तटस्थ हो कर, कूटस्थ होकर, अलग होकर, निष्पक्ष होकर उनके सम्बन्धमें विचार करते हैं। तब ठीक-ठीक विचार होता है और तब उस वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान होता है; और तब वह चीज हमें दु:ख नहीं दे सकती।

'आत्मा द्रष्टा है'—उसका क्या अर्थ है? 'आत्मा द्रष्टा है', उसका अर्थ यह है कि आत्मा निष्पक्ष है, आत्मा असंग है, यह रागद्वेषसे रहित है। 'आत्मा कूटस्थ है'—इसका अर्थ है कि जन्म और मृत्युका, किसीके आने और जानेका, मरने और बिछुड़नेका इसपर कोई असर नहीं पड़ता है। ऐसा यह आत्मा! जब यह सोचेगा कि यह चीज बनी रहे, यह चीज न आवे, यह भोग मिलता रहे, यह भोग न छूटे—ऐसे जब वह सोचेगा, तब वह दु:खी रहेगा ही रहेगा।

प्रश्न यह है कि आप जो शिक्षण प्राप्त करते हैं, उसमें आपको दु:खसे बचानेवाली कला, अशान्ति और दु:खसे बचानेवाली विद्या, अविद्यासे बचानेवाली, बन्धनसे बचानेवाली, मृत्यु और अज्ञानसे बचानेवाली विद्या आप प्राप्त करते हैं कि नहीं? उसी विद्याका नाम यह 'द्रष्टा और दृश्यका विवेक' है। उसी विद्याका नाम आत्मा और अनात्माका विज्ञान' है।

●

प्रवचन

६

'दृग्-दृश्य विवेक'का सार क्या है? 'मैं' और 'मेरा' करनेसे जो सुख मिलता है, वह झूठा है और अन्तमें दुःख देनेवाला है। द्रष्टा और दृश्यका विवेक करनेका सार यह है। दुनियामें जहाँ और जब मैं और मेरा करके अपनेको सुखी मानते हो, तुम्हारा वह सुख गलत है। जहाँ मैं और मेरा—इन दोनोंसे मुक्त हो करके तुम सुखस्वरूप हो, वहाँ तुम्हें बैठना चाहिए। यह द्रष्टा-दृश्यके विवेकका सार-सार बता दिया।

अब आप कैसे सुखी होते हैं, इसपर भी एक नजर डालिये। चार तरहसे सुखी होते हैं-इसको बोलते हैं विश्लेषण, वर्गीकरण। आपको दुनियामें तरह-तरहके सुख आते हैं, लेकिन उनको हम चार हिस्सोंमें बाँट सकते हैं, यह उसका मतलब है।

जब आपको विषयभोग मिलता है तब सुखी होते हैं, या विषयभोग मिलनेका जब मनोराज्य होता है तब सुखी होते हैं या आपको किसी बातसे अभिमान होता है तब सुखी होते हैं; या जिस कामकी आदत पड़ गयीहै वह काम करते हैं तब सुखी होते हैं। आप पहले इसको अपने मनमें बैठा लो-

(१) विषयभोगकी प्राप्तिसे आप सुखी होते हैं। अच्छा, कोमल-कोमल सुन्दर वस्त्र पहननेको मिले, सुन्दर शय्या मिले शयन करनेको, सुन्दर मकान मिले रहनेको, पति-पत्नीका शरीर सुन्दर हो और मनोनुकूल शब्द मिले सुननेको, मनोनुकूल स्पर्श मिले छूनेको, मनोनुकूल रस मिले, मनोनुकूल रूप मिले, मनोनुकूल सुगन्ध मिले। सुगन्धमें रहें, सुस्वादु खायँ, सुरूप देखें, कोमल छुएँ और सुननेको मीठी-मीठी बात मिले तो संसारके लोग कहते हैं कि हम बड़े सुखी हैं। विषयभोगसे जो सुख मिलता है, उसको बोलते हैं, 'हम बहुत सुखी हैं।' दूसरेके पास देखते हैं तो बोलते हैं-'ये बहुत सुखी हैं' और अपने पास होवे तो समझते हैं, 'हम बहुत सुखी हैं।' इसकी अच्छाई-बुराईपर इस समय हम विचार नहीं करते हैं।

और एक बात यह है कि जब हम मनोराज्य करते हैं कि 'हमको यह मिलेगा', 'यह मिलेगा', 'यह मिलेगा।' देखो, एक आदमीके घरमें तकलीफ थी पैसेकी। बिलकुल सच्ची बात सुनाता हूँ। पाँच-सात बरसोंसे तकलीफ पैसेकी थी, तो वे लोग कभी बहुत सुखी होते थे और कभी बहुत दुःखी होते थे। पैसा तो घरमें था नहीं, पर कभी सुखी हो जाते, कभी दुःखी हो जाते। तो इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि एक जगहसे उनको रुपया मिलनेवाला था, दस लाख, बीस लाख, पचास लाख तो जिस दिन उनको आशा बँध जाती कि आज रुपया मिलनेवाला है, साहब हमारे अनुकूल हैं, सेक्रेटरी हमारे अनुकूल है, मिनिस्टरने हाँ कह दी, महीने-दो महीनेमें मिलनेवाला है, तो उनके घरमें खुशी छा जाती, खाते-पीते, खूब खुशी मनाते। महीने-दो महीनेके बाद खबर आती कि अभी तो नहीं मिलेगा, तो फिर दुःखी हो जाते। पैसा हाथमें आता नहीं, पर आशा बँध जानेसे सुखी हो जाते और पैसा हाथसे जाता नहीं, परन्तु निराशा मिल जानेसे दुःखी हो जाते इसका नाम है, 'मनोराज्य'। सुनाते हैं—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

अर्थात्—रात बीत जायगी और गुड मॉर्निंग (Good Morning) होगा, सूर्य उगेगा। कमलकी लक्ष्मी हँसेगी—कमलकी शोभा मुस्करायेगी। कमलकी पंखुड़ियोंका कैदी भौंरा वहीं बन्द-बन्द यह सोच रहा था। इसी बीचमें हाथी आया। उसने कमलको उखाड़ा और मय भौंरेके अपने मुँहमें डाल दिया। तो, बहुत लोग अपने मनोराज्यसे ही सुखका अनुभव कर लेते हैं।

तीसरे वे होते हैं जो अभिमानी होते हैं। एक हमारा मित्र था। उसको यह ख्याल था कि हमारे पास पन्द्रह-बीस करोड़ रुपये तो हैं! एक दिन पुलिसने पकड़ लिया। जिस समय उसका यह ख्याल था कि मेरे पास पन्द्रह-बीस करोड़ रुपया है, उसकी आँख सीधी न हो! सीधी आँखसे देखे नहीं। आप लोग बुरा नहीं मानना, कुछ यों रहता था और आँख बायीं यों करके लोगोंकी ओर देखता था। यह हमने यहीं देखा! मैं बम्बईमें संन्यासी नहीं था जबसे आता हूँ। सन् ३५-३६ में पहले-पहल आया था। अब ३४-३५ बरस हो चुके हैं। कई श्रोता तो हमारे ऐसे सत्संगी होंगे, जिनका उस समय जन्मही नहीं रहा होगा। सन् ३५में पहले-पहले कल्याणके सम्पादन-विभागमें काम करता था। रतनगढ़से आके नेमाणियोंकी बाड़ीमें अपना

सामान रखा। हमारी जान-पहचानके एक मिले, तो हमारा सामान उठाके जबरदस्ती अपने घर ले गये। उनके घरमें ठहरा। व्याख्यान तब भी देता था। सत्संग होता था।

उस समय एक आदमीके घरमें दस लाख रुपया था तो वह दोनों हाथसे पाँव छूता था और दबाता था। उसके बाद बीस लाख हुआ तो हाथ जोड़ने लगा। जब पचास लाख हुआ तब बोलता था—'नमो नारायण स्वामीजी!'

जो हमारे चेले थे, वे दण्डीस्वामी हो गये तो देख करके कतरा जायँ। प्रणाम ही नहीं करते। यह सुख काहेका? यह बड़प्पन काहेका है? यह बड़प्पन अभिमानका है।

सचमुच, अपने अभिमानको धारण करके कि 'मैं बड़ा विद्वान हूँ', 'बड़ा तपस्वी हूँ', 'बड़ा त्यागी हूँ', 'बड़ा धनी हूँ'; यद्यपि धनी भी पूरे मकानमें नहीं रहता, एक कमरेमें रहता है; पूरे कमरेमें नहीं रहता, एक पलंगपर सोता है और वह भी पावभर ही खाता है। वह भी थोड़े-से ही कपड़े पहनता है। उसका बैंक-बलांश (बैलेन्स) बड़ा रहता है और वह अपनेको बड़ा मानता है। काहेका बड़प्पन? उसके दो आँखकी जगह चार आँख तो हैं नहीं! उसके दो हाथकी जगह चार हाथ तो हैं नहीं! उसके दो पाँवकी जगह चार पाँव तो हैं नहीं! अगर वह चतुष्पाद हो जाता तो हम मानते कि द्विपादकी अपेक्षा वह विशेष हो गया है। असलमें विशेषकी महिमा नहीं है, जाति, विद्या और धनकी महिमा नहीं है।

महिमा इस बातकी है कि वह व्यक्ति बैठा कहाँ है? परमात्मामें बैठा है कि पनालेमें बैठा है? अभिमान गन्दगीकी टोकरी है; अभिमानमें बैठ करके वह सुखी हो रहा है।

चौथी चीज है सुखी होनेकी, वह होता है अभ्यास। आदत कोई जब जीवनमें पड़ जाती है, तो उस आदतमेंसे सुख नहीं निकलता है। लेकिन, अगर वह काम न करें तो दु:ख होता है। तो उस आदतको बारम्बार दुहराते हैं। एक स्वामीजी थे काशीमें, व्याकरणाचार्य! वे दुर्गापाठ करते थे। जैसे मुसलमान लोग कुरानका पाठ करते समय ऊपर-नीचे होते हैं न, झूमते हैं, ऐसे वे झूमते थे।

हमारा यह पक्का विचार है कि एक बार प्रैषोच्चारण कर देनेके बाद जो संन्यासका मन्त्र है। प्रैषोच्चारण—उसका अर्थ यह होता है कि 'हमने तीन लोक, तीन अवस्था, तीन गुण, ये सब छोड़ दिया।' इसका यही अर्थ होता है। तो हमारा यह पक्का विचार है कि शास्त्रकी रीतिसे संन्यासी सकाम अनुष्ठान करनेका अधिकारी नहीं है, क्योंकि जिस चीजको वह छोड़ चुका है, उसको पानेके लिए उसे कोई अनुष्ठान

नहीं करना चाहिए। तीन गुणके अन्दरकी चीज नहीं, तीन अवस्थाकी अन्दरकी चीज नहीं, त्रिपुटीकी अन्दरकी चीज नहीं-विश्व-तैजस् प्राज्ञ और ईश्वर तककी वस्तु नहीं चाहिए उसको! वह पहले प्रैषोच्चारण कर चुका है। इसलिए वह सकाम अनुष्ठानका अधिकारी नहीं है, छोड़ चुका है, इस्तीफा दे चुका है, समझो। मान लो कि कोई पुलिसपनेसे अपना इस्तीफा दे दे; उसके बाद किसीके घरमें तलाशी लेने जाय, तो वह अधिकारी है कि नहीं है ? नहीं है। इसी प्रकार जो संन्यास प्रैषोच्चारण करके त्रिपुटीका त्याग कर चुका है, उसको अनुष्ठान करके फिर उसीमें-से कोई वस्तु प्राप्त करनेका अधिकार नहीं है। अधिकारी नहीं होनेसे ही जो ऐसे संन्यासी होते हैं, उनको सफलता नहीं मिलती है। अनधिकारीको फलकी प्राप्ति नहीं होती है। यह धर्मशास्त्रीय निर्णय दे रहा हूँ कि यदि संन्यासी पुत्रेष्टियाग करेगा, तो उसे पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होगी कि नहीं होगी ? नहीं होगी। इसी प्रकार जो त्रिगुणका परित्याग कर चुका है, त्रिपुटीका परित्याग कर चुका है—जैसे इस्तीफा देनेपर पुलिस तनख्वाहका अधिकारी नहीं है, न तलाशी लेनेका अधिकारी है, न रिश्वतका अधिकारी है; इसी प्रकार संन्यासी प्रैषोच्चारण करनेके बाद सकाम अनुष्ठानका अधिकारी नहीं है। दुर्गापाठ करते थे, वह बात कह रहा था।

वे झूमते थे। हमारे 'स्वामी योगानन्दजी' 'परमहंस स्वामी रामकृष्ण'के शिष्य 'स्वामी नित्यानन्दजी'(नंगे रहते थे)के शिष्य थे। शारदामाताजी रहती थीं, तो हमलोग उनकी सेवामें जाते थे। हमने गृहस्थाश्रममें उनसे मन्त्रदीक्षा ली थी।

'स्वामी योगानन्दजी' मना करते थे कि 'स्वामीजी! देखो, पाठ करते समय झूमो मत। स्थिर होके पाठ करो।'

उन्होंने मना कर दिया कि—'मैं झूमता नहीं हूँ, तो मुझे पाठ करनेका मजा ही नहीं आता है।'

हिलनेमें आदमीको जिसे अभ्यासजन्य सुख बोलते हैं, वैसे शराब पीनेका सुख भी आदतका ही सुख है। वस्तु, व्यक्ति या क्रियामें-से सुख नहीं निकलता है, आदतका ही सुख है। अमुक तरहसे सूर्यनमस्कार जो लोग रोज करते हैं, उनको सूर्यनमस्कार करनेको न मिले तो बड़ी तकलीफ मालूम होती है, सुख नहीं होता। तो चार प्रकारका सुख सृष्टिमें होता है—भोगका सुख, मनोराज्यका सुख, अभिमानका सुख और अभ्यासका सुख। परन्तु इन चारों सुखोंमें एक बहुत बड़ी भूल है।

असलमें सुख न तो विषय-भोगमें होता है, न मनोराज्यमें होता है, न अभिमानमें होता है, न अभ्यासमें होता है। सुखरूप हम स्वयं हैं। हम जिस चीजपर चढ़ बैठते

हैं, उसमें सुख मालूम पड़ने लगता है। हम जहाँ हाथ लगा देते हैं, वहीं सुख मालूम पड़ता है। जिसको मेरा समझते हैं, उसमें सुख मालूम पड़ने लगता है। 'मेरे बच्चेके समान और कौन है?' 'मेरी पत्नीके समान और कौन है?' 'मेरे मकानके समान और किसका मकान है?' 'मेरी अक्कलके समान और किसकी अक्ल है?'

असलमें यह जो सुख है, वह है तो सुख आत्माका, लेकिन हम अपने-आपको दूसरेके साथ जोड़कर उसमें सुख समझते हैं। देखो, सुखका उपादानकारण कहाँ है? सुखका उपादानकारण माने? देखो, घड़ा बनता है, तो घड़ेका उपादानकारण क्या है? मिट्टी, जिस मिट्टीसे वह घड़ा बना। जेवर बनता है तो उसका उपादान क्या है? सोना। सोनेसे जेवर बना। आपके घरमें नहरना है या कोई औजार है, तो उसका उपादान क्या है? लोहा। तो, यह सुख जो है उसका उपादान माने उसका मसाला क्या है? जहाँ सुख होता है, वहीं उसका मसाला रहता है।

जो भलेमानुस यह समझता है कि बाहरकी चीजमें-से सुख आता है, और हमारे हृदयका सुखाकार परिणाम होता है, घड़ा एक आकार है और मिट्टी उपादान है। तो सुखका एक आकार है। वह आकार किस उपादानमें बना है? आप यह निश्चित समझो कि आत्मारूप उपादानमें ही वह सुखका-आकार कल्पित हुआ है। सुखका मसाला अपना आपा ही है, दूसरा कोई नहीं। द्रष्टा-दृश्यका विवेक करते हैं तो कई बातें ऐसी होती हैं तो कहने लायक नहीं होती हैं। देश-काल-वस्तुके अनुसार और अधिकारीके अनुसार कहनी पड़ती हैं।

एक हमारे मित्र थे, तो एक दिन वे किसीको मारपीटके आये, गालीगलौज करके आये। मैंने उनको डाँटा कि 'तुमने क्यों गालीगलौज की? क्यों मारपीट की? बहुत गलत किया!'

वे बोले—'अच्छा? मैंने गलत किया?' तो उठाके ईंटा अपने सिरपर पटक लिया। हमारा एक आदमी तो वह घायल हुआ था, जिसको वे मारके आये थे और दूसरा आदमी यह घायल हुआ जिसने अपना सिर फोड़ दिया। दोनोंकी दवा अस्पतालमें हमको करनी पड़ी। हमने यह सोचा कि भाई, आदमी गलत भी करे, तो उसको कहना नहीं चाहिए। चुप लगा जाना चाहिए। कमसे कम एकको ही दवा करनी पड़ेगी न! और कह देंगे कि 'तुमने गलती की' तो दोकी दवा करनी पड़ेगी न! क्योंकि दोनों ही अपने हैं!

जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिः
तद् वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥

श्रीमद्भागवत ११-२३-५१

एक दिन किसीकी दाँतसे जीभ कट गई। उसने कहा कि 'भाई! अपनी जीभको दाँतने काट दिया,दाँत बड़ा दुष्ट है और उठाया लोढ़ा और अपना दाँत तोड़ लिया! वह बेवकूफ है न? अपनी जीभ और अपना ही दाँत। दोनों अपने ही हैं। पहले तो जीभ ही कटी थी, अब तो दाँत भी टूट गया! मनुष्य कभी-कभी बड़ी नासमझीका काम करता है। अपनेको तुम खुद अगर दुःखसे नहीं बचाओगे, तो तुमको दुःखसे बचानेवाला दुनियामें और कोई नहीं है। यह बात आप निश्चय कर लो, ईश्वर भी उसकी मदद नहीं करता जो अपनी मदद नहीं करता। माने, जो अपनी मदद करता है, ईश्वर भी उसीकी मदद करता है। अन्यथा ईश्वर भी मदद नहीं करेगा, प्रकृति भी मदद नहीं करेगी। ईश्वर तो इन्तजार कर रहा है कि तुम पुकारो और वह तुम्हारी मदद करे। लेकिन जब तुम पुकारोगे, तब अपनी मदद करोगे। अपनी मदद तुम कब करोगे? जब ईश्वरको पुकारोगे। हमारे संसारी लोग समझते हैं कि हम पैसेका भी मजा ले रहे हैं और पैसेका अभिमान धारण करके सुखी हो रहे हैं। हम 'द्रष्टापने'का अभिमान धारण करके भी सुखी हो जायँ! यह द्रष्टापना कोई अभिमान नहीं है, यह विवेक है। द्रष्टा-दृश्य विवेककी बात ऐसी नहीं है।

पाँच मिनट या पन्द्रह मिनट या घण्टे-दो-घण्टे बन्द कमरेमें पलंगपर, कुर्सीपर या आसनपर बैठके, आँख टेढ़ी करके अभिमान धारण कर लेते हैं कि 'हम द्रष्टा!' और ऑफिसमें जाके अभिमान धारण कर लेते हैं कि 'मैं करोड़पति।' तो जैसे 'मैं करोड़पति'—यह धारण किया हुआ झूठा अभिमान है वैसे 'मैं द्रष्टा'—यह धारण किया हुआ भी झूठा अभिमान है।

अभिमानसे दुःखकी निवृत्ति चाहते हैं, ऐसे लोगोंकी पहचान क्या है? ऐसे लोगोंकी पहचान यह है कि जरा उनको समझाओ कि 'भाई! असली तत्त्वमें द्रष्टापना कल्पित है, सच्चा नहीं है। यह तो एक अध्यारोप है; तुम्हारे कर्तापनेका अपवाद करनेके लिए यह तो एक अध्यारोप है।' ऐसे समझाओ तो वे लड़ जायेंगे कि 'यह कैसे होगा? यही सच्चा है।' माने वे द्रष्टाको समझते नहीं हैं। केवल द्रष्टाका भाव या केवल द्रष्टाका अभिमान धारण करते हैं।

भाव धारण करना और अभिमान धारण करना दूसरी चीज है। समझदारीके साथ दृश्यका अपवाद करके दृश्यसे विलक्षण द्रष्टा है। सब देशमें वह द्रष्टा है, देश-काल-वस्तुका भी वह द्रष्टा है और जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थामें द्रष्टा है, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालोंमें द्रष्टा है। वह बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दाहिने-बांये और आगे-पीछे आठों स्थानोंमें द्रष्टा है; और तुम्हारे अभिमानका भी वह द्रष्टा है। यह द्रष्टापना अभिमानजन्य सुखकी निवृत्तिके लिए है, क्योंकि विषयभोगमें

भी अभिमान है, मनोराज्यमें भी अभिमान है, अभिमानमें भी अभिमान है और अभ्यासमें भी अभिमान है। इसलिए अभिमानजन्य सुखकी निवृत्तिके लिए— अभिमानजन्य सुखसे असङ्ग करनेके लिए वेदान्तने द्रष्टापनेका विवेक किया है, द्रष्टापनेका उपदेश किया है। तो आओ, इसका कायदा सुनाते हैं—

एक द्रष्टा योगका सिद्धान्त है, एक द्रष्टा सांख्यका सिद्धान्त है, और एक द्रष्टा वेदान्तका सिद्धान्त है। तीनोंमें फरक होता है। ये तीनों तीन तरहके द्रष्टा हैं। इसमें मूल बात यह है कि आप पहले कायदेसे विवेक यह करो कि आपका प्रिय क्या है? प्रिय नहीं, प्रियतम क्या है? द्रष्टाका विवेक करनेके लिए यह जरूरी है। यह सीखो कि तुम्हारा सबसे अधिक प्रिय कौन है?

गुरु तो तुम्हारा प्रिय है नहीं, क्योंकि यदि वह तुम्हारे मनके खिलाफ काम करें तो तुम उसे छोड़ दोगे। वह तो तुम्हारे मनके मुताबिक चले तो गुरु और तुम्हारे मनके मुताबिक न चलें तो नहीं। ऐसे-ऐसे लोग जिन्दगीमें मिले हैं, जिन्होंने सत्रह-सत्रह गुरु बदले हैं और वे कहते हैं कि 'महाराज! भजन करने बैठते हैं तो उस गुरुकी बात आती है, उस गुरुकी बात आती है, उस गुरुकी बात आती हैं! कौन-सी करें?' तो मैंने कहा—'एक मैं भी बता देता हूँ, अठारहवीं हो जायगी।'

इस तरहसे साधन नहीं होता है। पहला विवेक यह है कि तुम्हारा प्रिय कौन है? तो तुम देखोगे कि स्त्रीसे भी अधिक प्रेम, पुत्रसे भी अधिक प्रेम, धनसे भी अधिक प्रेम, पतिसे भी अधिक प्रेम, पिता-मातासे भी अधिक प्रेम, मकानसे भी अधिक प्रेम और शरीरसे भी अधिक प्रेम, और अपने मनसे भी ज्यादा प्रेम— कभी-कभी सोचते हैं कि मनको थोड़ा दुःख होता है तो हो लेने दो। लेकिन हम तो यही करेंगे। तो मनसे भी अधिक प्यारा कौन है?

देखो, कभी-कभी अपने सुखके लिए नींदको भी छोड़ देते हैं कि आज सोवेंगे नहीं। किसी दिन समाधि भी छोड़ देते हैं, किसी दिन ईश्वरपूजाको भी छोड़ देते हैं। सबसे प्यारा अपना आत्मा है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

बृहदा. २-४-५ और ४-५-५

आपने श्रुति बहुत अधिक सुनी है, बारम्बार सुनी है, लेकिन आप विचार करके देख लो। एक 'सत्य' है और यह एक 'तथ्य' है। एक बार 'तथ्य' शब्द विलायत गया तो वहाँ ऐसी टाँग तोड़ी लोगोंने कि वह 'टुथ' होके लौटा। यह 'तथ्य' ऐसा

शब्द है। यह 'तथ्य' 'टथ्य' हो गया। 'य' 'ट' में 'उ' होके लगा तो 'ट्रुथ' हो गया। अरे, वे तो बढ़ा ही देते हैं, थोड़ा आगे-पीछे। शब्द भी विलायतकी यात्रा करते हैं। जैसे यहाँके लोग विलायत जाते हैं तो अपना खान-पान, रहन-सहन, सब बदलके आते हैं न! तो ये शब्द भी जब विलायतकी यात्रा करते हैं तो ऐसा असर पड़ता है!!

एक बार जेठका महीना था और वृन्दावनमें खूब गरमी पड़ रही थी। मैं पंखा चलाके नीचे बैठा हुआ था। इतनेमें एक सज्जन आये। उन्होंने पाँवमें काला-काला पैन्ट पहना था और काला कोट, जाकेट भी काला और टोपी भी लगाये थे। उन्होंने वह पंखा चलाया जोरसे! एक सज्जनने कहा कि 'भाई, तुम इतनी जोरसे पंखा चलाते हो, तो जरा कुर्सीपर थोड़ी देरके लिए कोट ही उतारके टाँग दो, जाकेट उतार दो! सिर्फ कुर्ता पहने रहो। थोड़ी देरमें गरमी कम लगेगी। पर वे कोट काला नहीं उतार सकते थे। लन्दनमें तो काला कोट पहनना जरूरी है, परन्तु हिन्दुस्तान तो गरम देश है। इतना गरम कपड़ा पहननेकी हिन्दुस्तानमें क्या जरूरत है? कश्मीर जाओ तो पहन लो! लोग विलायत जाते हैं तो वहाँकी गलत-गलत बातें सीखके आते हैं। चिकित्साके लिए वहाँके वातावरणमें जो दवाएँ बनती हैं; वहाँके लोग अण्डे-मांस ज्यादा खाते हैं तो वहाँके लोगोंको दूध-घीकी ज्यादा जरूरत नहीं होती है पौष्टिक पदार्थके लिए। वहाँके लोगोंकी चिकित्साकी रीति दूसरी होती है और भारतवर्षमें जो लोग अण्डे और मांस नहीं खाते हैं, उनकी चिकित्साकी रीति दूसरी होती है। वे समझते नहीं। तो बिना समझे किसीकी बातको पकड़के बैठ जाना यह गलत है।'

आप यह समझो कि आपका परम प्रिय कौन है? किसके लिए आप सब कुछ छोड़ सकते हैं! तो अन्तमें आपको मालूम पड़ेगा कि आप अपने लिए सब कुछ छोड़ सकते हैं! इस बातको हमारे महात्माओंने ऐसी गहराईके साथ समझा है! देखो, एक उच्चाधिकारी अपने स्वार्थके लिए राष्ट्रहितकी उपेक्षा कर सकता है कि नहीं कर सकता? क्यों? देशसे ज्यादा प्यारा उसका अपना आत्मा है।

महात्माओंने कहा, इस बातको किसी कदर हटाया नहीं जा सकता। आप इस विज्ञानको ध्यानमें बैठाओ। हम अपने-आपसे प्यार करते हैं, इस बातको किसी तरह नहीं बदला जा सकता। इसमें केवल यही हो सकता है कि हमारा अपना आपा सब हो जाय! जब अपना आपा सब हो जायगा, तब हम परिच्छिन्न स्वार्थसे बच सकते हैं। नहीं तो जबतक हमारा अपना आपा सब नहीं हो जाता, तबतक हम परिच्छिन्न स्वार्थ और परिच्छिन्न सुख-भोगकी वासनासे बच नहीं सकते। जब हमें

यह बात मालूम पड़ती है कि हमें अपना आपा सबसे अधिक प्यारा है, तब दूसरोंसे हमारी आसक्ति नहीं है, यह बात अपने-आप खुल जाती है।

अच्छा, तो दूसरी चीजें हैं क्या? जरा यह देखो! यह दूसरा सवाल है। पहला सवाल यह है कि सबसे प्यारा कौन है? दुनियामें सबसे प्यारा अपना आत्मा है। जड़ क्या है और चेतन क्या है, यह दूसरा विवेक प्रारम्भ होता है।

दृश्यके तुम द्रष्टा हो। तुम्हारे बिना दूसरी कोई चीज मालूम नहीं पड़ सकती। 'दूसरा है'—यह किसको मालूम पड़ता है! 'ईश्वर है'—यह किसको मालूम पड़ता है? आपको मालूम पड़ता है न? ईश्वर है-यह आपको मालूम पड़ता है। यह दुनिया है—यह आपको मालूम पड़ती है। दूसरे जीव हैं, यह आपको मालूम पड़ता है। जो जरा देखिये, आपका ज्ञान कैसा है? अरे, आपका ज्ञान ऐसा है कि आपका ज्ञान हो तो सब मालूम पड़े और आपका ज्ञान न हो तो कुछ न मालूम पड़े। आप हों, तो सबसे प्यार कर सकते हैं। वही न हो तो किससे प्यार करेंगे? तो प्यारका अधिष्ठान आत्मा है। और ज्ञानका अधिष्ठान भी आत्मा है। दुनियाका सारा प्यार अपने लिए है। दुनियाकी सारी जानकारी अपनेमें है।

अब देखो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? अब विवेक प्रारम्भ होता है। पहले काम नहीं होगा, पहले होगा प्रिय-अप्रियका विवेक और उससे होगा वैराग्य कि आत्माके सिवा और कोई प्रिय नहीं है। फिर होगा दृश्य-द्रष्टाका विवेक। आत्माके सिवा कोई चेतन नहीं है। सब दृश्योंका ज्ञाता, सब जड़ोंका ज्ञाता। सब सापेक्ष है। सापेक्ष है माने 'मैं' होऊँ तभी सब हो सकता है। मेरे हुए बिना किसीका ज्ञान ही नहीं हो सकता।

अब तीसरी बात देखो—'एक यह है' और 'एक मैं है।' एक 'अन्य' है और एक 'स्व' है। इन दोनोंमें सच्चा कौन है? सदसद्का विवेक करो तो आप देखोगे कि जो सापेक्ष है, वह आता और जाता है, बदलता है और तुम बदलते नहीं हो—

साधो तुम मरते नहीं, पलटू करो विचार।
पलटू करो विचार तुम हो कर्ताके कर्ता॥

जब प्रिय-अप्रियका विचार होगा तो वैराग्य होगा और जब दृश्य-द्रष्टाका विवेक होगा, तो तुम चेतन हो, यह सिद्ध होगा।

तुम्हीं चेतन हो। जो तुम्हें दूसरेके रूपमें ज्ञात होता है, वह चेतन नहीं है, वह तो चेतनका विषय है। तुम उसके द्रष्टा, तुम उससे न्यारे हो। फिर यह देखोगे कि

तुम जिससे न्यारे हो, वह तो मिथ्याभूत पदार्थ आकाशकी नीलिमाके समान तुम्हारे अनन्त अविनाशी स्वरूपमें दिख रहा है। अविनाशीको जो विनाशी दीख रहा है, वह मिथ्या है। विनाशीके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान और प्रकाशक जो अविनाशी है, वह विनाशीके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो अविनाशी है, उस अविनाशीमें विनाशी मिथ्या है। अनेकका अधिष्ठान जो एक है, उसमें अनेक मिथ्या है। तब सदसद्का विवेक होगा।

जब तुम प्रियताका विवेक करोगे, तब वैराग्य होगा। जब तुम दृश्यसे चेतन द्रष्टाका विवेक करोगे, तब द्रष्टा अपनेको समझोगे और जब सत्य-असत्यका विवेक करोगे, तब केवल अपनेको ही सत्य समझोगे। तब यह 'सत्-चित्-आनन्द' अद्वय हो जायगा, 'अद्वैत' हो जायगा। इसमें दुःख पूरा मिट जायगा, अज्ञान पूरा मिट जायगा, असत्य पूरा मिट जायगा और आनन्द, चित्, सत्-अद्वय जो तत्त्व है, रह जायगा।

फिरसे बहुत स्थूल भूमिकापर ले आते हैं। आप अपना कोई नाम मानते हैं कि नहीं? देखो, है कि नहीं? सब लोग अपना-अपना एक नाम मानते हैं। अच्छा, यह जो आपका नाम है, इस नामसे हस्ताक्षर करनेपर आपको बैंकसे पैसा मिलता है, नौकरी मिलती है, जिस नामसे घरके लोग जानते हैं और जिस नामको गाली देनेपर उस गालीको आप अपनी समझते हैं, और जिस नामसे तारीफ करनेपर आप उस तारीफको अपनी तारीफ समझते हैं।

क्या यह नाम पूर्वजन्मसे आप अपने साथ लेके आये हैं? पूर्वजन्मसे तो लेके नहीं आये! जब पैदा हुए, तब भी आपका यह नाम नहीं था।

हमारे गाँवकी तरफ तो 'बचवा' बोलते हैं। छोटे बच्चेको बिहारमें 'बबुआ' बोलते हैं। बंगालमें 'खोखा' बोलते हैं, पंजाबमें 'काका' बोलते हैं, मारवाड़ियोंमें 'गीगा' बोलते हैं। उस समय तो आपका कोई नाम नहीं था, बादमें आपका नाम आपने खुद रखा कि दूसरोंने रखा? अरे भाई, चाहे खुद रखा हो या दूसरोंने रखा हो, पर रखा ही गया न? अब उस नामको गाली दो तो आप दुःखी और उस नामकी तारीफ करो तो आप सुखी। यह नाम तो पीछेसे रखा गया है। इसीको अध्यारोप बोलते हैं।

यदि आप अपना आश्रम बदल दें, जरूरत नहीं है, पर ब्रह्मचारी हो जायँ, तो आपका नाम दूसरा हो जायगा 'कृष्णचैतन्य', 'रामस्वरूप', 'वेदान्तप्रकाश'—आपका ऐसा नाम हो जायगा। धीरे-धीरे वह नाम छूट जायगा। इसी नामसे हस्ताक्षर

करेंगे, इसी नामकी निन्दास्तुतिको आप अपनी समझेंगे; तो क्या हुआ? पहलेके नामके अध्यारोपका अपवाद हो गया और दूसरे नामका अध्यारोप हो गया। यह भी नाम तुम्हारा असली नहीं है। यह भी तुम्हारे साथ कल्पित ही हुआ है।

हम आपसे पूछते हैं कि आपने अपनेको 'जीव' कैसे समझा? आपने अपना नाम 'जीव' कैसे रखा? 'जीव'का अर्थ होता है 'जो पूर्वजन्ममें था, फिर इस शरीरमें आया है। यह शरीर नहीं रहेगा तो दूसरे शरीरमें जायगा। उसका पाप-पुण्य उसके साथ लगा रहता है, उसकी वासनाएँ उसके साथ लगी रहती हैं, उसका अहंकार उसके साथ लगा रहता है, अविद्याग्रन्थिके अन्तर्गत काम-क्रोध-लोभ-मोह उसके साथ जुड़े रहते हैं।'

अच्छा, आपने ऐसा जीव अपनेको किस ज्ञानके आधारपर माना है? किस अनुभवके आधारपर माना है? आपमें जीवपना अध्यारोपित है कि वास्तविक है? आप यह देह जो है न, इसकी एक शक्ल-सूरत है। शक्ल-सूरतमें तो इतना मोह होता है कि क्या पूछना?

एक साहब थे। जब उनसे बात करनेका कभी मौका मिले, तो वे यह नहीं बताते थे कि 'मैं क्या हूँ', वे यह बताते थे कि 'मेरी बेगम साहब कितनी सुन्दर है!' 'उनकी नाक कैसी है, उनकी आँख कैसी है, उनकी त्वचा कैसी है, वे बेगमासक्त थे। अब वे दिन-रात जब मिलें, तब उसका वर्णन!' 'हमारी बेगम ऐसी', 'हमारी बेगम ऐसी!' तो, बेगम भी सुन्दरी हो तो उसका अभिमान होता है। जैसे धन अलग होता है और मनुष्य अभिमानसे अपनेमें भोग लेता है; स्त्री अलग होती है, भोग लेता है। खेत-मकान अलग होता है, भोग लेता है।

यह हड्डी-मांस-चामका बना हुआ पाञ्चभौतिक शरीर! इसमें जो 'मैं-पना' है, बिलकुल थोपा हुआ है। आरोप माने थोपा हुआ, अध्यारोप माने थोपा हुआ! जो चीज जैसी हो, जितनी हो, उससे ज्यादा उसपर थोप देना—अधिक और आरोप—एक चीजमें दूसरेका आरोप।

तुम्हारा नाम नहीं था, लेकिन तुम्हारे ऊपर नाम थोप दिया गया। तुम यह पंचभूतके बने हुए शरीर नहीं हो। जब कहा गया कि 'तुम मनुष्य हो', तब तुमने अपनेको शरीररूप समझा, मनमें अपनेको मनुष्य समझा; लेकिन मनुष्यत्वको समझा हड्डी-चाम-मांसमें। हे भगवान्! हड्डी-मांस-चाममें मनुष्यत्व नहीं है। हड्डी-मांस-चाममें पशुत्व भी होता है, पक्षीत्व भी होता है और राक्षसत्व भी होता है। तुमने अपनेको मनुष्य माना।

उसके बाद ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र माना—अपनेमें वर्णकी अवस्था मानी। फिर अपनेमें पापी-पुण्यात्माका आरोप किया, अपनेमें सुखीपना-दुःखीपनाका आरोप किया। बचपनमें अपनेपर कोई घूँसा तानता था, तो आपने बच्चोंको देखा ही होगा—बचपनमें छोटे बच्चे पलंगपर पड़े हों, पालनेमें झूल रहे हों और माँ जाके घूंसा ताने, तो वे हँसेंगे। उनको यह मालूम नहीं है कि घूँसा तानन्का अर्थ मारना है। उनकी बुद्धिमें अभी यह आरोप नहीं हुआ है कि कोई हमें हाथ जोड़के नमस्कार कर रहा है और हमें बड़ा बना रहा है और घूँसा तानके हमको मारना चाहता है। उनकी बुद्धिमें यह आरोप अभी हुआ नहीं है। जब कुछ बड़े हुए न, तो उनकी बुद्धिमें यह बात घुसेड़ दी गई। जैसे नाम बादमें रखा गया, वैसे आदर और अपमानका भाव भी उनके अन्दर घुसेड़ा गया। क्या खानेमें बड़प्पन है और क्या न खानेमें बड़प्पन है, यह बात भी उनके अन्दर घुसेड़ दी गई। आप किसीपर व्यक्तिगत आक्षेपकी यह बात मत मानना। हम तो केवल आपकी सावधानीके लिए यह बात कहते हैं।

जो लोग कहते हैं—कुछ खाओ, कुछ पीओ, कुछ करो और आओ, हम तुम्हें समाधि लगवा देते हैं या परमार्थकी प्राप्ति करवा देते हैं। ऐसे कहनेवाले लोग हैं। बोले—'अच्छा, ईश्वरको भी मानो चाहे मत मानो, हम तुम्हारी समाधि लगवा देते हैं।'

हम आपसे एक बात कहते हैं—ऐसे व्यक्तिके पास कोई भी स्त्री यह कैसे सहन करती है कि उसका पति उसके पास जाय? जो कुछ खाने, कुछ पीने, कुछ भोगने, कुछ करनेकी तो छुट्टी दे देता है; ईश्वरको मानने-न माननेकी भी छुट्टी दे देता है। कोई स्त्री यह बात कैसे पसन्द करती है?

कोई पुरुष अपनी स्त्रीके बारेमें यह कैसे पसन्द करेगा कि वह ऐसी जगहपर जाती है जहाँ चाहे कुछ करो, कुछ खाओ, कुछ पीओ, कुछ भोगो, ईश्वरको मानो-न-मानो, धर्मात्मा रहो न रहो, समाधि लग जायगी।

विचार करना चाहिए, सोचना चाहिए कि हमको समाजको रसातलमें ले जाना है कि समाजका उत्थान करना है? सत्सङ्गका अर्थ होता है समाजका उत्थान! समाजको रसातलमें ले जाना, समाजको उच्छृङ्खल बनाना, समाजको भ्रष्ट करना, यह सत्सङ्गका अर्थ नहीं होता है। फिर तो सुननेवालेको भी कुछ बुद्धि होनी चाहिए। वह सोचे कि इसका परिणाम क्या है?

आपके साथ क्या-क्या अध्यारोपित है, यह बात सुनाते हैं। द्रव्यका सम्बन्ध होनेसे आपमें जाति और वर्णका आरोप हुआ। द्रव्य माने पञ्चभूतसे बना हुआ जो

शरीर है, उसमें 'मैं-मेरा' होनेसे आप भोगके लिए व्याकुल हुए, आप कर्मके लिए व्याकुल हुए। जाति और वर्णके साथ आपका सम्बन्ध हुआ और इसलिए हुआ कि देह माननेके कारण आप भोगके बिना और कर्मके बिना तो रह नहीं सकते! तो आप उच्छृङ्खल न हो जायँ, इसके लिए आपकी एक जाति बनायी गयी, आपका एक वर्ण बनाया गया। आपका एक आश्रम बनाया गया कि आपके कर्म गलत रास्तेपर न जायँ! आपके कर्मोंका नियन्त्रण करनेके लिए आपके अन्दर वर्ण और आश्रमकी जरूरत पड़ी।

जब आपने मनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा, तो वासनाओंके साथ मनका सम्बन्ध हो गया। वासनाएँ तो कभी कामकी होती हैं, कभी क्रोधकी होती हैं, कभी लोभकी होती हैं। आपको उपासक बताया गया और भगवान्‌को उपास्य बताया गया। शास्त्रने आपकी सारी वासनाएँ भगवान्‌के साथ जोड़के आपमें उपासकत्वका आरोप किया।

जब आपकी बुद्धि विचार करने लगी, तो बुद्धिके सम्बन्ध जोड़कर अपनेको बड़ा भारी अभिमानी, बड़ा भारी बोद्धा-प्रमाता मान लिया। आनन्दमय-शान्तिके साथ सम्बन्ध जोड़कर आपने अपनेको शान्त-सुखी मान लिया। बोले—'हमको कोई दुःख नहीं होता।'

इसकी गिनती होती है। धर्मकला अलग होती है, प्रेमकला अलग होती है, विद्याकला अलग होती है, निवृत्तिकला अलग होती है, शान्तिकला अलग होती है। ये सब कलाएँ हैं जो मनुष्यके जीवनमें रहती हैं। धर्मकला स्थूल शरीरमें होती है, प्रेमकला मनमें रहती है, विद्याकला बुद्धिमें रहती है, शान्तिकला मनकी स्थिरतामें रहती है और निवृत्तिकला वैराग्यमें रहती है, और इन कलाओंसे ऊपर है वह जो इन कलाओंमें 'मैं और मेरा'का अभिमान नहीं करके केवल इनको देख रहा है, इनका साक्षी है। 'मैं-मेरा' नहीं, द्रष्टापनेका अभिमान नहीं, द्रष्टापनेकी वृत्ति नहीं, द्रष्टापनेका भाव नहीं। जो वस्तुतः साक्षी है, देहके अलग-अलग होनेसे वह अलग-अलग नहीं होता।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। ब्रह्मो. १६

वह बुद्धिके अलग-अलग होनेसे अलग-अलग नहीं होता। वह मनके अलग-अलग होनेसे अलग-अलग नहीं होता। वैराग्यके अलग-अलग होनेसे वह अलग-अलग नहीं होता और शान्तिके अलग-अलग होनेपर भी वह अलग-अलग नहीं होता। वह एक साक्षी है, वह एक द्रष्टा है।

देखो, दुनियामें तुमने अपनेको जहाँ कहीं जोड़ा, अपनेको देह मानकर जोड़ा। मन मानकर वासनाओंके साथ जोड़ा। तब पाप-पुण्य तुमको लग गये और बुद्धिके साथ अपनेको जोड़ करके न्याय-अन्याय, हित-अहित, उचित-अनुचितके साथ जोड़ा और तुम्हारे साथ लग गये। शान्ति-समाधि-निवृत्तिके साथ सम्बन्ध जोड़ करके चित्तकी निरोध अवस्थाके साथ अपनेको जोड़ा तो वे तुम्हारे साथ जुड़ गये। समाधि नहीं लगे, तो दुःख होगा, लेकिन तुम्हारा स्वरूप वह है—केवल दृङ्मात्र, देखना-मात्र, ज्ञान-मात्र। बिना किसी पंखके, बिना किसी लौ-लगावके! नारायण! यह तुम्हारा स्वरूप है। इसीको कहते हैं—'**दृगेव न तु दृश्यते**।'

साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।

यह साक्षी दृङ्मात्र है, कभी दृश्य नहीं होता।

●

प्रवचन ७

मनुष्य कुछ ऐसी भूल-भुलैयामें फँस गया है कि वह क्या चाहता है, इसका भी उसको पता नहीं है। देखो, यह एक बहुत सीधी-सी बात है। आदमीको सुख चाहिए। यह निर्विवाद है। इसमें कोई मतभेद, सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट किसीका कोई मतभेद नहीं है कि सुख चाहिए। जरा ध्यानसे सुनना तो बात समझमें आयेगी।

कितनी देरके लिए सुख चाहिए? अधिक-से-अधिक? अर्थात् हमेशा सुख चाहिए। तो यह बात मनमें बैठा लो कि हमेशाके लिए सुख चाहिए। कहाँ-कहाँ सुख चाहिए? सब जगह सुख चाहिए। किससे-किससे सुख चाहिए? सबसे सुख चाहिए। मेहनत करके मिले तो अच्छा रहेगा कि बिना मेहनत मिले तो अच्छा रहेगा? नहीं, बिना मेहनतके अनायास मिले तो अच्छा रहेगा।

देखो—सुख चाहिए, हमेशा चाहिए, हर जगह चाहिए सबसे चाहिए और बिना मेहनतके चाहिए। ऐसा सुख जो तुम्हें मालूम पड़े कि मालूम न पड़े? मेहमान घरमें आवे और चला जाय? नहीं, मालूम पड़ता हुआ चाहिए। है न यह बात? और वह सुख हमेशा आपके निकटसे निकट रहे कि कभी दूर चला जाय? सदा अपरोक्ष चाहिए और सदा आत्माके सन्निकट चाहिए। ऐसा सुख आपको चाहिए। किसीको नहीं चाहिए तो बोले!

सुख चाहिए, अर्थात् चेतन चाहिए। तो इस पहेलीका अर्थ आप समझो, इस बुझौवलका अर्थ आप समझो। इन सब चीजोंको अगर एकमें मिला दो तो उसका नाम ईश्वर हो जायगा। जरा अक्ल लगाओ तो मालूम पड़ेगा।

हमेशा चाहिए माने 'नित्य' चाहिए। हर जगह चाहिए माने 'पूर्ण' चाहिए। हरसे चाहिए माने 'सर्वात्मक' चाहिए। अनायास चाहिए माने 'स्वत:सिद्ध' चाहिए। और ज्ञानरूपसे चाहिए माने सदा 'अपरोक्ष' चाहिए। इसीका तो नाम 'ईश्वर' हुआ।

इसीको तो हम शास्त्रीय लोग, अनुभवी लोग, जानकार लोग 'ईश्वर' कहते हैं। कई लोग घबड़ायेंगे कि अरे! हम ईश्वर चाहते हैं?

हाँ, तुम चाहते तो ईश्वरको हो, पर समझते नहीं इस बातको! माने कोई कहे कि 'तुम ईश्वरको चाहते हो' तो जल्दी नहीं मानोगे। बोलेंगे कि हम तो एक ब्याह करना चाहते हैं और उससे सुखी होना चाहते हैं; या हम तो एक बेटा चाहते हैं और उससे सुखी होना चाहते हैं; या धन चाहते हैं और उससे सुखी होना चाहते हैं। तो क्या यह बात है? तो क्या स्त्रीसे, पुत्रसे, धनसे तुम्हें जो सुख मिलेगा, उससे तुम हमेशा सुखी रह सकोगे? हर जगह सुखी रह सकोगे? बिना मेहनतके सुखी रह सकोगे? सदा उस सुखकी उपलब्धि हो सकेगी? कहनेका मतलब यह है कि तुम चाहते तो हो ईश्वरको और उसको ढूँढ़ते हो छोटी-छोटी जगहमें। वेदान्ती लोग इसका नाम 'अज्ञान' रखते हैं। ऐसा नहीं समझना कि अज्ञान कोई लाल-काली-पीली-नीली वस्तु होती है और वह सातवें आसमानमें रहती है। आप चाहते हो थाली और उसे ढूँढ़ते हो घड़ेमें। है कि नहीं? आप चाहते हो इतना बड़ा सुख और ढूँढ़ते हो चार दिनकी चाँदनीमें। आप चाहते हो, हमेशा सुख मिले और ढूँढ़ते हो औरतमें-मर्दमें।आप चाहते हो हमेशा सुख मिले और ढूँढ़ते हो बच्चेमें। आप चाहते हो हर जगह रहनेवाला सुख मिले और ढूँढ़ते हो तिजोरीमें बन्द।

ये जितना मैं कहता हूँ, यह सब आप सब लोगोंका नाम ही बताता है। तुम चाहते हो क्या ओर ढूँढ़ते हो कहाँ? चाहते हो पीना दूध और गिलास डुबोते हो समुद्रमें। समुद्रमें खारा पानी मिलता है, दूध नहीं मिलता है। तुम चाहते हो ईश्वरको और ढूँढ़ते हो नाशवान् वस्तुओंमें, छोटी-छोटी चीजोंमें, एक जगह रहनेवाली चीजोंमें, मिट जानेवाली चीजोंमें ढूँढ़ते हो।

एक गाँवकी स्त्री थी। वह एक दिन अपने घरके सब घड़ोंमें हाथ डाल-डालकर कुछ ढूँढ़ रही थी। किसीने पूछा कि 'यह माई क्या ढूँढ़ रही है?'

'थाली ढूँढ़ रही हूँ।'

'घड़ेमें कहीं थाली होती है?'

'घरमें तो मिलती नहीं है, खो गयी है। अपने सन्तोषके लिए घड़ेमें देख लेती हूँ कि कहीं इसमें न हो।' तो घड़ेमें थाली कैसे घुसेगी?

नाशवान्में, विनाशीमें, 'अविनाशी' कैसे घुसेगा? अपूर्णमें 'पूर्ण' कैसे घुसेगा? छोटी-छोटी चीजोंमें हर जगह रहनेवाला कैसे घुसेगा? मरनेवाली चीजोंमें अविनाशी कैसे घुसेगा?

स्वत:सिद्ध आत्मा अनायास है। वह अन्य होगा तो अनायास कैसे होगा? उसको तो पकड़के रखना पड़ेगा। देखो, कितनी सीधी बात है? ये जो शास्त्र हैं, आप लोग इस बातको बिलकुल सरल रीतिसे समझो। ये चुटकुलेसे, कहानीसे, यह संगीतसे, तर्कसे-युक्तिसे ज्यादा आसान—अनायास है। हम लोग यह नहीं कहते कि तुम लोग ईश्वरको चाहो। ऐसा कहना शास्त्रके विपरीत है। आप लोगोंने कभी सुना हो-न सुना हो, जानते हों-न जानते हों; किसीसे यह कहना कि तुम 'अमुकको चाहो'—यह गलत है।

इच्छा विधेय नहीं होती है। माने हुक्म दे करके इच्छा नहीं कराई जाती कि 'तुम यह इच्छा करो।' मनुष्यके मनमें इच्छाका उदय स्वयं होता है, तो असलमें तुम्हारे मनमें जो इच्छा है, वह ईश्वरको पानेकी इच्छा है। तुम ईश्वरको चाहते हो, तुम ईश्वरसे प्रेम करते हो, यह साँची-साँची, खाँटी-खाँटी बात है। लेकिन लोग समझते नहीं कि हम ईश्वरसे प्रेम करते हैं और ईश्वरको चाहते हैं।

बोले—'चलो, नाच देख आवें तो बड़ा मजा आवेगा। कबतक नाच देखोगे? आँख दु:ख जायेगी, नाचनेवाले थक जायेंगे, नाच बन्द हो जायेगा। न तुम्हारी आँख चलेगी, न नाच चलेगा; न तुम्हारा दिल चलेगा, न दिमाग चलेगा। असलमें मनुष्यमात्र ही नहीं, प्राणीमात्र भीतरसे ईश्वरको चाहता है। पर उसको बेवकूफीके कारण नासमझीके कारण यह पता नहीं है कि 'मैं ईश्वरको चाहता हूँ।' अब अपनी चाह तुम्हारी पूरी कैसे होगी?

एक समझदारीकी बात सुनाता हूँ और वह यह है। शास्त्रोंमें ऐसी-ऐसी बातें आई हैं कि आप सुनकर आश्चर्य करेंगे। शास्त्रमें ऐसे लिखा है कि जिस दिन क्षौर आप करावें, बाल बनवावें, उस दिन अपने दोनों हाथ अपने गालपर नहीं फिरावें। ध्यान दीजिये, जरा ख्याल कीजिये अपने जीवनपर। यह बात क्यों आई है? जब हाथसे छूनेमें बढ़िया लगेगा, जब अपनेको छूना बढ़िया लगेगा, तो दूसरेको छूनेका मन हो जायगा। अपनेको ही छूनेका कभी-कभी वासनावृद्धिका साधन हो जाता है।

धर्मशास्त्रमें लिखा है कि यदि स्त्री पुरुषका वेश धारण करके और पुरुष स्त्रीका वेश धारण करके नाटकमें आवें तो धर्मात्मा ब्रह्मचारी पुरुषको उनका दर्शन नहीं करना चाहिए। वहाँसे उठ जाना चाहिए। वह ब्रह्मचर्यके बिलकुल विपरीत पड़ता है। आप ब्रह्मचर्य चाहते हैं कि नहीं, यह बात दूसरी है। यदि आप ब्रह्मचर्यका पालन चाहते हैं, तो वीर्य शरीरमें पच जाय, वासना पूरी किये बिना शान्त हो जाय, इसके लिए आपको युक्ति करनी पड़ेगी और यदि युक्ति नहीं करेंगे, तो जो आजकलके माँ-बाप सोचते हैं कि बीस-पचीस बरसतक हमारी लड़की और हमारे लड़के ब्रह्मचर्यसे रहते हैं, वे तो बड़े ही सदाचारी हैं, ब्रह्मचारी हैं, तो उनकी अकलको

धन्य है। हम लोग जंगलोंकी बात जानते हैं, ब्रह्मचर्याश्रमोंकी बात जानते हैं, संन्यासाश्रमोंकी बात जानते हैं! बड़े-बड़े आश्रम जो मशहूर हैं, उनमें सेक्सकी ऐसी-ऐसी गलत घटनाएँ होती हैं उनको जानके-सुनके आश्चर्य होता है। जहाँ युवा-युवती एक साथ रहते हैं, खेलते हैं, हँसते हैं, छेड़छाड़ करते हैं, वहाँ मनमें वासनाका उदय नहीं हो, यह सम्भव नहीं है। बहुत अपनेको सिकोड़के रखना पड़ता है।

आपको धर्मकी बात सुनावें। यह धर्म इसीलिए है कि जो हम चाहते हैं कि हमें ईश्वर मिले, हमारा प्यारा ईश्वर है, हम ईश्वरसे प्रेम करते हैं, हम ईश्वरको चाहते हैं, हमें ईश्वरको मिले बिना सन्तोष नहीं होगा, शान्ति नहीं मिलेगी—

बिनु देखे रघुवीर पद जियकी जरनी न जाय।

भगवान्‌का दर्शन किये बिना तुम्हारे दिलकी यह जलन मिट नहीं सकती। यह रुपया, यह पैसा, यह औरत, यह मकान, यह कपड़े, यह लत्ते, यह शराब तुम्हारे हृदयकी जलनको नहीं मिटा सकते। असलमें तुम जो चाहते हो, वह मिलेगा तब तुम्हारी जलन मिटेगी। तुम चाहते यह हो कि सब जगह सुख मिले, सब समय सुख मिले, सबसे सुख मिले और हमेशा बिना सोये-जागे मिलता रहे, बिना मेहनतके मिले। तो भाई, तुम सोच लो। आप असलमें ईश्वरको चाह रहे हो, ईश्वरको चाह रहे हो! ऐसा ईश्वर ही होता है। तो हे ईश्वर! अब यह देखो, जो सब जगह है, सब समय है, सबमें है, वह तुममें है कि नहीं? यदि तुममें न मिले तो दूसरेके घर जाओ! कायदेकी बात यही है न! गाँवमें आग माँगनेके लिए दूसरेके घर जाते हैं। आपको सुनके आश्चर्य नहीं होता है। दियासलाईकी एक तिल्ली जलानेसे आग बन जाती है, लेकिन गाँवमें ऐसी स्थिति होती है कि घरमें दियासलाईकी एक तिल्ली भी कभी-कभी नहीं होती है। आप शहरी लोगोंको यह बात मालूम नहीं पड़ सकती। वे दूसरेके घर अग्नि माँगने जाते हैं कि 'थोड़ी अग्नि हो तो दो, हम अपने घरमें अग्नि जला दें।' पर कब जाते हैं? जब अपने घरमें नहीं होती है।

यदि ईश्वर तुम्हारे घरमें नहीं हो, तो उसे माँगनेके लिए, उसे पानेके लिए दूसरेके घरमें जाओ, छुट्टी है। पहले जाँच तो कर लो कि तुम्हारे घरमें है कि नहीं? तुम्हारे घरमें स्टोव, बिजलीका चूल्हा, गैस—रखी जाती है, वहाँ है कि नहीं? यदि तुम्हारे पास वह चीज न हो, तब तुम दूसरेके पास माँगनेके लिए जाओ। पर एक बार जाँच तो कर लो अपने घरकी कि जिस चीजको माँगनेके लिए तुम दूसरेके पास जाते हो, वह चीज तुम्हारे घरमें है कि नहीं है?

पहले तुमने यह कहा कि हम उस चीजको चाहते हैं, जो हमेशा रहे। तो हमेशा रहे वह चीज, पहले जाँच तो कर लो कि तुम्हारे घरमें इस समय है कि नहीं? जो

चीज इस समय नहीं है, वह हमेशा कैसे रहेगी? वह इस समय क्यों नहीं है? पहले थी ही नहीं, इसलिए नहीं है कि पहले थी और होके मर गयी, इसलिए नहीं है। जिसको तुम अविनाशी कहते हो, वह होके तो मर नहीं सकती। इसको तो तुम कहते हो, पहले भी थी, आगे भी रहेगी और इस समय भी है न? और सब जगह है तो तुम्हारे दिलमें भी है और सब है तो तुम्हारी आत्मा ही है। जो चीज तुम्हारी आत्मा ही है, वह तो बिना प्रयासके ही है और साक्षादपरोक्ष है।

असलमें तुम जिस चीजको चाह रहे हो, वह तुम्हीं हो। अपनेको न पहचान करके तुम उस चीजको पानेके लिए दूसरेके घरमें जा रहे हो। अगर वह चीज तुम न होते तो जो तुम चाहते हो, जो तुम्हारा प्यारा है, सब समय होनेवाला, अविनाशी! समय सिद्ध ही तुमसे होता है।

समय नामकी कोई चीज है, यह तुम्हारे रहनेपर ही तुमको मालूम पड़ता है। तुम न रहो तो समय किसको मालूम पड़ेगा? तुम न रहो तो स्थान किसको मालूम पड़ेगा? तुम न रहो तो वस्तुएँ किसको मालूम पड़ेंगी? तुम न रहो तो परिश्रम-अपरिश्रम किसको मालूम पड़ेगा? तुम न रहो तो परोक्ष-अपरोक्ष किसको होगा?

हमको क्या तू ढूँढ़े बन्दे, हम तो तेरे पासमें।

अपने घरमें जो चीज है, उसको वहाँ न पाके हम दूसरी जगह उसकी खोज़ करते हैं—

घर आये नाग न पूजें, बाँबी पूजन जायँ।

जो तुम्हारे दिलमें बैठा हैं, उसकी ओर तो देखते नहीं, उसकी पूजा करनेके लिए बाहर जाते हो। जरा ढूँढो अपने दिलमें। शेष भगवान्ने कहा—

आत्मां दुराषौ निखिलोऽपि लोको
मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।

अपने आत्माके समुद्रमें ये सब लोग डूब-उतरा रहे हैं, परन्तु वे न तो उसमें डुबकी लगाते हैं, न उसको पीते हैं। आत्माका क्षीरसागर उमड़ रहा है तुम्हारे दिलमें—

आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभिः। भवाम् दुराषौ रमते मृषैव।

आश्चर्य है कि यह जो संसारका समुद्र उमड़ रहा है, यह बिलकुल मृगतृष्णाका समुद्र है। मरुस्थलमें सूर्यकी किरणोंसे जैसा जल मालूम पड़ता है, वैसा मालूम पड़ रहा है। परन्तु आदमी इसमें रम गया है।

तुम जिससे प्रेम करते हो, वह अगर दूर हो, यहाँ न हो, तो सब जगह नहीं है। और फिर वह हमेशाके लिए तुम्हें मिल नहीं सकता और सब रूपमें वह सुख दे नहीं सकता, बिना परिश्रमके मिल नहीं सकता, सदा अपरोक्ष हो नहीं सकता; तो

असलमें तुम चाहते हो कुछ, ढूँढ़ते हो कुछ! चाहते हो कहीं, ढूँढ़ते हो कहीं! यह चीज नहीं मिल सकती, यह तकलीफकी बात होगी—

धोबिया जल बिच मरत पियासा!
जलमें ठाढ़ पिये ना मूरख, अच्छा जल है खासा!

यह धोबी जलमें खड़ा होके प्यासा मर रहा है। जलमें तो खड़ा है और जल पीता नहीं है। बड़ा बढ़िया जल है।

तुम्हारे हृदयमें आत्मा है। तुम्हारे हृदयमें परमात्मा है। यह जो द्रष्टाका अनुसन्धान है, देखनेवाला कौन है? देखनेवाला कौन है? यदि तुम देखे जानेवालेमें आसक्ति करोगे, तो वह आयेगा-जायेगा, मिलेगा-बिछुड़ेगा।

हमारे शास्त्रकारोंने इसे दो ढंगसे बाँटा है। जैसे, तुम सिनेमा देखते हो तो एक ओरसे रोशनी आती है और पर्देपर पड़ती है। एक है पर्दा, एक है रोशनी। बीचमें हैं संस्कारवाला फिल्म। तब तसवीर दिखायी पड़ती है। यह जो दुनियाकी तसवीर दिखाई पड़ रही है, इसमें एक है पर्दा, एक है प्रकाश। पर्देपर तसवीर दिखायी पड़ती है। बिना प्रकाशके कोई चीज दिखायी नहीं पड़ती है। प्रकाश मालूम पड़ता है द्रष्टाकी ओर और पर्दा मालूम पड़ता है दीखनेवाली चीजोंके पीछे। ऐसी प्रतीति होती है, ऐसा मालूम पड़ता है, परन्तु मैं चाहता हूँ कि आप इस बात पर ध्यान दें, इसे समझें। जो चीज देशमें, कालमें, या वस्तुमें कटती है, वही दो दिखायी पड़ती है। न तो द्रष्टा देश-काल-वस्तुमें कटता है और न तो पर्दा देश-काल-वस्तुमें कटता है। रोशनी एक ही रहती है और पर्दा भी एक ही रहता है। दृश्य ही बदलते रहते हैं। तो, जिस सत्तामें यह सृष्टि दीख रही है और जो चेतन उसको प्रकाशित करता है, वह इसको दिखानेवाला, देखनेवाला चैतन्य और जिस सत्तामें यह दीख रही है, दोनों देश-काल-वस्तुसे परे हैं। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्नतारूप लक्षण दोनोंका लक्षण एक होनेके कारण—'**लक्षणैक्ये लक्षणम्**' दोनोंका लक्षण एक होनेपर दोनों एक होते हैं। माने तुम्हारे दिलमें आत्मा और परमात्मा कहनेके लिए दो बने बैठे हैं, दरअसल तुम्हारे भीतर दोनों एक हैं।

इसमें एक माया यह है कि जबतक तुम देह-इन्द्रिय और अन्तःकरण—इनसे अपनेको एक करके रखोगे, तबतक तो तुम रहोगे परमात्माकी गोदमें और जब तुम अपनेको देह-इन्द्रिय-अन्तःकरणके विभागसे—परिच्छेदसे अलग करके समष्टिसे एक कर दोगे, तो ईश्वरसे तुम्हारा सायुज्य हो जायगा। ईश्वरमें मिल जाओगे।

जब अपनेको द्रष्टा जान करके इनसे अपनेको अलग करोगे, अन्तःकरण और अन्तःकरणके अभाव दोनोंसे—और सृष्टि और सृष्टिके अभाव दोनोंसे अलग करोगे अधिष्ठानको, तब दोनोंकी एकता होगी। विशेष जो है, भेद जो है वह बाधित हो

जायगा, मिथ्या हो जायगा और तब एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा तुम हो! तुम्हारी गोदमें ईश्वर आके बैठेगा, तुम्हारी गोदमें प्रकृति आके बैठेगी।

जबतक तुम देहके साथ मिले रहोगे, तबतक तुम ईश्वरकी गोदमें बैठोगे और जब तुम देह नहीं रहोगे, प्रकृतिसे—पञ्चभूतसे मिल जाओगे, तब तुम ईश्वरसे एक हो जाओगे। ईश्वर सर्वात्मा है। जब 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ दोनोंकी एकताको जान लोगे, माने जब तुम द्रष्टाको 'सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न यह आत्मा ही—यह द्रष्टा ही अद्वितीय है'—यह जब जान लोगे तब ईश्वर, जगत्, जीव सब तुम्हारी गोदमें खेलने लगेंगे, फुरना होके नाचेंगे, प्रतीति होके तुमको रिझावेंगे। उसको देख-देख करके परमानन्दका अनुभव करोगे। इसलिए द्रष्टा-दृश्यका विवेक ही एक ऐसा उपाय है, अपनेको प्रमातासे अलग करनेवाला—यह बात बहुत दिनोंतक वेदान्तका विचार करनेवाले लोग भी नहीं समझते हैं। एक होता है 'प्रमाता' और एक होता है 'द्रष्टा'। ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण दोनोंकी उपाधिके साथ जब तक आत्माका सम्बन्ध रहता है, तब तक इसको प्रमाणवृत्तिसे युक्त होनेके कारण 'प्रमाता' बोलते हैं और यह दुनियाके दृश्य, सब स्थूल जगत् 'प्रमेय' होता है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये 'प्रमेय' होते हैं। इन्द्रियाँ और अन्तःकरण 'प्रमाण' होते हैं और अपना आत्मा उनके साथ मिल करके 'प्रमाता' होता है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'अपनेको सात चीजोंसे अलग कर लो। मिट्टी-पानी-आग-हवा-आकाश और सुख-दुःख इन सात चीजोंवाले तुम नहीं हो। तुम रोनेवाले नहीं हो, खिलखिलाके हँसनेवाले तुम नहीं हो।'

एक बार किसीने उड़ियाबाबाजीसे कहा कि 'ज्ञानी पुरुष तो हर समय खिलखिलाके हँसता रहता है।'

बाबा बोले—'हँसना तो देहका धर्म है। मस्ती ज्ञानस्वरूप आत्माका धर्म नहीं है। खिलखिलाना तो देहका धर्म है, मस्ती रहना तो देहका धर्म है। तपस्वी होगा तो नहीं हँसेगा—'**न हसन्ति तपस्विनः।**'

जैसे वाङ्-निरोध होता है, वैसे हास्य-निरोध भी होता है। जैसे बोलनेकी इच्छा हुई तो बोल दिया। परन्तु कई लोग ऐसे होते हैं कि रोक लेते हैं। असलमें मनमें आई हुई बातको न बोलना बहुत हितकारी रहता है। अपना पति हो, अपना पुत्र हो, अपना शिष्य हो, उसका अनभल होता हो तो बोलके बता देना चाहिए। बहुत जरूरी हो तब बोलना चाहिए। जो लोग बेजरूरी बोलते हैं, वे दुनियामें अपना दुश्मन ही बनाते हैं।

अनावश्यक बोलनेको आप जैसे रोकते हैं, वैसे अनावश्यक रोनेको भी रोकें, वैसे अनावश्यक हँसनेको भी रोकें, क्योंकि दोनोंमें नियन्त्रण नहीं है। यह बात मत

समझना कि आप अपनेको बड़ा छिपाके रखते हैं। यह बात बिलकुल गलत है। खानेमें जिसका काबू नहीं है, बोलनेमें जिसका काबू नहीं है, देखनेमें जिसका काबू नहीं है, उसका मन काबूमें होगा या दूसरी इन्द्रियाँ काबूमें होंगी, यह सोचना ही बेवकूफीकी बात है।

काबू रखनेकी एक शक्ति होती है; जिसमें होती है, उसमें सबपर होती है और जिसमें नहीं होती है, उसमें किसीपर रखनेकी नहीं होती हैं। **'न हसन्ति तपस्विनः।'** तपस्‌में बैठा हुआ जो मनुष्य है, वह दुनियाके दृश्यको देख करके कोई शारीरिक विकार प्रकट नहीं करता है। वह जानता है मायाका खेल है, इसमें क्या हँसना?

अच्छा, समझ लो, एक लीला देख रहे थे। उसमें किसीका मरना देख करके रोते हो; उसमें किसीका बिछुड़ना देख करके रोते हो और प्यारे-प्यारीका मिलना देख करके खुश होते हो; तो तुम क्या समझते हो कि जब तुम्हारे जीवनमें कोई मरेगा, कोई बिछुड़ेगा, और कोई प्यारा तुमको मिलेगा, तब तुम्हारे देह-इन्द्रियपर उसका कोई असर नहीं पड़ेगा? अरे, वह बिलकुल पड़ेगा। वह तुम्हारा भ्रम है, यदि तुम समझते हो कि बाहरी दृश्यमें नाटक-सिनेमामें देख करके हम रो लेते हैं, हँस लेते हैं और जब हमारे शरीरमें होगा तो हम नहीं रोयेंगे, नहीं हँसेंगे? यह बिलकुल गलत बात है। इसका कोई तत्त्व ही नहीं है; इसके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है।जो नाटकमें, सिनेमामें, खेलमें, खेल देख करके रोता है, खेलमें मरना देखकर रोता है खेलमें बिछुड़ना देखकर रोता है, खेलमें स्त्री-पुरुषका मिलना देख करके बड़ी खुशी होती है; तो एक दिन तुमको भी कोई स्त्री-पुरुष मिलेगा तो तुम भी वैसे ही खुश होओगे, क्योंकि उसमें तुम्हारी महत्त्वबुद्धि है। उस चीजको तुम बहुत कीमती समझ रहे हो। उसमें जो कीमत तुमने डाल रखी है, वह चीज जब तुम्हारे घरमें घुसेगी, वह चीज जब तुम्हारे दिलमें घुसेगी, तब उसको भी तुम बहुत कीमती समझोगे और उसके वशमें हो जाओगे। देह, इन्द्रिय और मनसे युक्त जो प्रमाता है, वह औपाधिक है। औपाधिक है माने चश्मेका रंग सच्चा मान करके व्यवहार करनेवाला है। इस बातको आप ध्यानसे समझो। एक आदमी नीला-हरा या काला या लाल चश्मा लगाये हुए है। अब वह किसी चीजको देखता है नीला-हरा, लाल-काला! तो उसको यह खयाल नहीं है कि यह चश्मेका रंग है। उसको यह खयाल है कि मैं जिस चीजको नीली-काली-लाल-हरी देख रहा हूँ, वह उसीका रंग है।

जिसके दिलमें बदमाशी भरी होती है, उसको सारी दुनिया बदमाश दिखती है। वह बदमाशी दुनियामें नहीं है, यह उसके चश्मेका रंग है, यह उसका अविवेक

है, उसकी मूर्खता है यह उसकी नासमझी है। चश्मेके रंगको वह दीखनेवाली चीजका रंग समझ करके उसके साथ दोस्ती या दुश्मनी कर रहा है, या तो यह वासना है, या संस्कार है।

पापी सर्वत्र पापमाशंकते—जिसके दिलमें पाप भरा होता है, उसे सर्वत्र पाप ही पाप दिखाई पड़ता है और जिसके हृदयमें सद्भाव भरा होता है, उसको सबमें पुण्य ही पुण्य, सद्भाव ही सद्भाव दिखायी पड़ता है। तो प्रमाता उसको कहते हैं, जो प्रमाणगत संस्कारको प्रमेयमें आरोपित करके प्रमेयको ही अच्छा या बुरा समझने लगता है। काला चश्मा लगाकर मोटरमें चले तो मालूम पड़े कि आज तो बादल छाये हुए हैं, कैसा बढ़िया मौसम है! आज तो बस धूपमें ही मोटर चलाने लायक है। जब चश्मा हटाया तो देखा कि बड़ी कड़ी धूप पड़ रही है। कड़ी धूपको ठंडी धूप हमने क्यों समझा? चश्मागत जो रंग है, उसको धूपमें आरोपित कर दिया।

इसी प्रकार हमारे अन्तःकरणमें जो रंग चढ़े हुए हैं दुनियाके, उन रंगोंको हम अपने अन्तःकरणमें हैं, यह तो समझ नहीं पाते। यह हमारे अन्तःकरणका संस्कार है, यह हमारे अन्तःकरणकी बुराई है, इस बातको तो समझ नहीं पाते और समझते हैं कि जिसमें हम देख रहे हैं, उसमें है। तो मैं कह रहा था कि आप अपनेको हर कामसे जाहिर कर रहे हैं।

अर्थात् जब आप दूसरेको चोर समझते हैं तब आप अपने अन्तःकरणमें जो चोरीकी वासना है, उसको जाहिर करते हैं। जब आप दूसरेको पापी कहते हैं, तब आपके अन्तःकरणमें जो पापवासना भरी हुई है, उसको दूसरोंके ऊपर जाहिर कर रहे हैं; माने अपने भीतर जो गन्दगी भरी हुई है, उसको उँडेल रहे हैं, उसको उछाल रहे हैं पागलपनमें। समझदार लोग तो जानते हैं। जो तुम्हारा पक्षपाती होगा, वह समझेगा कि वह गन्दा है। जो तटस्थ देखनेवाला होगा, वह तो जानता है कि जहाँसे गन्दगी उछाली जा रही है, वहीं गन्दगी है; जिसपर गन्दगी उछाली जा रही है, उसमें नहीं है। जो गन्दगी उछालता है उसमें है।

यह प्रमाणगत रंग है, अन्तःकरणगत संस्कार है, अन्तःकरणगत वासना है। इन्हीं संस्कारसे युक्त प्रमाणोंको जो अपनेमें आरोपित करके अज्ञानके कारण, अविद्याके कारण अपनेमें आरोपित करके बैठा हुआ है, उसे अन्तःकरणको अपना समझनेके कारण अपनेमें और अन्तःकरणमें दोष दिखायी नहीं पड़ता। अपना बच्चा किसीको मार आवे तो लड़ाई होती है तब कहते हैं—'भाई, हमारा बच्चा वैसे थोड़े मारेगा? तुम्हारे बच्चेने कोई गलती की होगी, तब उसने मारा है।' तो, अपने बच्चेके प्रति पक्षपात होता है।

हमें अपने अन्तःकरणके प्रति पक्षपात है, इसलिए हमें अपने अन्तःकरणके ये रंग, ये दोष, ये संस्कार नहीं दिखायी पड़ते, दूसरेमें दिखायी पड़ते हैं। इसलिए इस अपराधसे मुक्तिका उपाय क्या है?

प्रमाणवृत्तिसे विशिष्ट अथवा प्रमाणवृत्तिसे उपहित अर्थात् अन्तःकरणको 'मैं-मेरा' समझनेवाला जो 'कर्ता-भोक्ता-प्रमाता' है, उसमें-से अपनेको खींच लें माने अलग हो जाय—'अरे बाबा! तू तो दृश्य है, तू इससे अलग है।'

किसीने कहा—'तुम्हारे अन्तःकरणमें यह बात है।' तो बोले—'अरे भाई, यह तो मेहमान है, दो दिनके लिए आया है, इसका ख्याल मत करो, मैं इसके चक्करमें नहीं! है तो क्या हुआ? हमारे पास यह अन्तःकरण है तो क्या हुआ? मैं इसके रंगसे, संस्कारसे आक्रान्त नहीं हूँ। मैं इससे अभिभूत नहीं हूँ, मैं इसके दबावमें नहीं हूँ, मैं इसके प्रभावमें नहीं हूँ। मैं इससे बिलकुल मुक्त हूँ।'

अन्तःकरणके दबावसे, प्रभावसे, रंगसे, संस्कारसे मुक्त होनेका उपाय क्या है?

बोले—'तुम पहले यह देखो कि तुम अन्तःकरणको देखनेवाले हो कि नहीं हो? द्रष्टा-दृश्य-द्रष्टा-दृश्यका विवेक करो। अगर तुम अपने दिलको नहीं देख पाते हो, बाबू! तो तुम किसी दूसरेको देख पाते हो, इसमें बिलकुल सन्देह ही है। अब देखो कि दिलकी क्या हालत है?'

जैसे बाहर शब्द नये-नये आते हैं कि नहीं कानमें, बदलते जाते हैं। रूप नये-नये आते हैं, आँखके सामने वे बदलते जाते हैं। तो आँख एक रहती है, रूप अनेक होते हैं। कान एक रहता है, शब्द अनेक होते हैं। त्वचा एक होती है, स्पर्श अनेक होते हैं। नाक एक होती है, गन्ध अनेक होती हैं। जीभ एक होती है, स्वाद अनेक होते हैं।

इसी प्रकार ज्ञानरूप तुम्हारा मन एक रहता है, उसमें आनेवाले भाव अनेक होते हैं। जैसे—

शब्दस्पर्शादयो वेद्याः वैचित्र्यात्।

यह सब-के-सब शब्द अलग, रूप अलग, स्पर्श अलग ये सब शब्द-शब्द अलग-अलग, सब रूप-रूप अलग-अलग, सब स्पर्श-स्पर्श अलग-अलग। विचित्र है! ये सब-के-सब अलग हैं, परन्तु इनको जाननेवाला जो है, वह इनसे अलग एक है।

घड़ेको देखा, कपड़ेको देखा, मकानको देखा, स्त्री-पुरुषको देखा, आने-जानेवालेको देखा। परन्तु इनको जो जाननेवाला है, वह एक है और, ये आने-जानेवाले, जाने-आनेवाले अनेक हैं।

ततो विभक्ता तत्संवित् ऐक्यरूपान्न भिद्यते।

इन सब शब्दादि विषयोंसे अलग है इनको जाननेवाला और इनके अलग-अलग होनेपर भी वह अलग-अलग नहीं होता। जैसे बाहरकी चीजें बदलनेपर भी—जैसे विलायतमें डायवोर्स होता है तो चार-छः-आठ पति छोड़ दिये, लेकिन स्त्री एक ही रहती है कि नहीं और चार-छः-आठ स्त्री छोड़ दी, लेकिन पुरुष एक ही रहता है कि नहीं!

इसी प्रकार आपकी मनोवृत्तियाँ जो हैं, आपके मनमें एकबार किसीके प्रति दुश्मनी आती है, एक बार प्रेम आता है, एक बार घृणा आती है, एक बार उपेक्षा आती है; मन तो बदलता रहता है, परन्तु तुम तो एक ही हो न!

इस बातपर जमना चाहिए कि मन बदल जाय तो बदल जाय, मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। देह बदल जाय—बच्चेसे जवान हो गया, जवानसे बुड्ढा हो गया। कभी नीला आया सामने, कभी पीला आया सामने, तुम एक रहे। कभी आँख तेज हुई, कभी मध्यम हुई, कभी मन्द हुई, कभी चली गयी, तुम एक रहे। क्या तुम अपना बदलना भी अनुभव करते हो कि 'मैं बदल गया'?

पहले जो बात आपको कही थी, उसपर फिर एक बार ध्यान दो! तुम सब समय रहनेवाली चीज चाहते हो—प्यार चाहते हो, सुख चाहते हो! ऐसा सुख जो हमेशा रहे। यह तुम्हारा जो आत्मा है न, यही हर समय रहनेवाला है, यही हर जगह रहनेवाला है, और यही हर शरीरमें, हर रूपमें रहनेवाला है। यह बिना मेहनतके मिला हुआ है और यह सदा अपरोक्ष है। जिस प्यारेको तुम ढूँढ़ रहे हो, वह कहीं बाहर नहीं है, वह तो तुम्हारे अन्दर है और वह तो तुम्हारा 'तुम' है। अपनेको अपना प्यारा न जान करके, सब जगह रहनेवाला न जान करके, हमेशा रहनेवाला न जान करके, सबमें प्रिय रहनेवाला न जान करके, तुम दूसरी जगह, दूसरेमें उसको ढूँढ़ने जाते हो!

न वह गोलोकमें मिलेगा, न वैकुण्ठमें; न मन्दिरमें मिलेगा, न मसजिदमें; किसी मजहबमें भर्ती होनेसे नहीं मिलेगा; गुरु बदलनेसे नहीं मिलेगा; न हिन्दू-मुसलमान होनेसे मिलेगा। वह मिलेगा तब, जब जरा अपनी ओर देखोगे। दूसरेकी ओर देख रहे हो! दूसरेकी ओर देखना ही उसके मिलनेमें प्रतिबन्ध है।

प्रतिबन्ध माने रुकावट, अड़चन, आँट (मारवाड़ीमें आँट बोलते हैं), अडांस उस प्यारेके मिलनेमें आँट क्या है? अडांस क्या है? प्रतिबन्ध क्या है? अड़चन क्या है? असलमें तुम चाहते हो अपने प्यारे आत्मदेवको और उसको ढूँढ़ने जाते

हो अन्यके रूपमें कि वह कहीं गोलोकमें बैठा है, साकेतमें बैठा है, कैलासमें बैठा है; अमेरिकामें बैठा है, विलायतमें बैठा है, पेरिसमें बैठा है, तिजोरीमें बैठा है, बाजारमें बैठा है कि व्यापारमें बैठा है! उसको ढूँढ़ने जाते हो।

कपड़ा फाड़कर पहले ही काममें आता है कि कैंचीसे काटकर काममें आता है? वह कपड़ा पूर्ण कैसे हो सकता है? जो कपड़ा बनाया गया है, वह हमेशा कैसे रह सकता है? जो सोना हथौड़ेसे पीटा जाता है या प्यालीमें गलाया जाता है, वह सोना हमेशा आपको सुख देनेवाला कैसे हो सकता है? तो आप सचमुच ईश्वरको चाहते हैं।

जीवकी जो चाह है, वह ईश्वरके मिले बिना पूरी नहीं हो सकती। ईश्वर आपके दिलमें है, आपके अन्दर है। उसीको द्रष्टा कहते हैं। प्रमाणवृत्ति तो रंग-में-रंग गयी है लाल-नीली-काली-पीली। एक बार अपने अन्तःकरणको छोड़ो! अन्तःकरणको छोड़ोगे तो अन्तःकरणका अभाव दीखेगा। असलमें वह अन्तःकरणका जो अभाव है, वह अभाव नहीं है, वही माया है।

अन्तःकरणका जो अभाव है, उसका नाम है 'माया।' तुम अन्तःकरणको अपना समझते हो, इसलिए तुम्हारा नाम है 'जीव'। सब अन्तःकरणोंके अभावको माने बीजको, अर्थात् प्रकृतिको माने मायाको अपनेमें ले करके बैठा है 'ईश्वर'। अभावमें विशेष नहीं होता। विशेष न होनेके कारण अनिर्वचनीय जो सम्पूर्ण विशेषताओंका कारण उस अभावमें मौजूद है, इसलिए उसको निर्विशेष नहीं कह सकते। देखनेमें उसमें कोई कारण आता नहीं। अभावरूप दीखता है, इसलिए उसमें किसी कारणका निरूपण नहीं कर सकते। कार्यकी दृष्टिसे सबीज और अधिष्ठानकी दृष्टिसे निर्बीज, यह जो अभाव-तत्त्व है, इसका नाम है 'माया।' यह परब्रह्म परमात्माके जितने अंशमें आरोपित है, उतने अंशको 'ईश्वर' कहते हैं।

तुम्हारा यह जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न द्रष्टा है, यह भाव और अभाव दोनोंकी कल्पनासे मुक्त है। असलमें तत्त्वमें अवच्छिन्न-अनवच्छिन्नका भेद नहीं होता। अन्तःकरणावच्छिन्न जीव, अन्तःकरणाभावसमष्ट्यवच्छिन्न ईश्वर। 'समष्टि' क्यों बोलते हैं? क्योंकि उसमें बीज हैं बहुत सारे। इसलिए अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर और भावाभावके अवच्छेदसे, उसकी कल्पनासे सर्वथा विनिर्मुक्त आत्मा ब्रह्म—यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

इस बातकी जानकारी बहुत ज्यादा जरूरी है कि तुम्हारी वासनाओंने तुम्हें खेला दिया या तुम उसके प्रभावसे मुक्त रहे? महात्माके जीवनमें और संसारीके जीवनमें इतना ही फर्क है। यह नहीं कि महात्मा खाते नहीं-पीते नहीं।

बोले—'वह बहुत बड़े महात्मा हैं!

'क्यों?'

'क्योंकि वे खाते नहीं?' थोड़े दिन रहो उनके साथ, तब तुमको मालूम पड़ेगा।'

'वे तो हिलते ही डोलते नहीं! वे किसीसे मिलते नहीं हैं, बोलते भी नहीं हैं महात्माजी!'

हम लोग उनके पास गये! मिलना तो हुआ नहीं; जिस कमरेमें पहले वे भजन-साधन करते थे, उसमें जाकर बैठे। हमारा एक साथी बड़ा बुद्धिमान् था, पर रहता था बेवकूफकी तरह। पढ़ा हुआ था। वेदान्ताचार्य भी था और एम० ए० भी था। क्या विशेषता बतावें उसकी? वह ऐसा साधु था कि वेदान्ताचार्य होनेके बाद उसने 'हनुमान चालीसा'का पाठ शुरू किया था, उपनिषद्का पाठ नहीं करता था। देहाती बोलीमें बोलता था, बिलकुल गाँवकी बोली!

हम लोग उस आश्रममें गये, तो वह भी साथ था। मैं था, स्वामी सनातनदेव भी थे, रामनारायण शास्त्री भी थे। वहाँ बैठनेके बाद उस महात्माजीका तो न दर्शन होता था, न बात करते थे। उसने कहा—'जब हम इस कमरेमें आकर बैठे तो इस वातावरणमें आवाज आ रही है—'बगला-बगला-बगला-बगला।'

जो वहाँके मैनेजर थे, जो सबसे बड़े जानकार थे, वे बुलाये गये। उनसे हम लोगोंने पूछा—'हमारे मित्रको इसमें 'बगला-बगला' आवाज आ रही है, तो इसका क्या कारण है?'

वे बोले—'अच्छा, मैं थोड़ी देरमें बताता हूँ।' वे सन्त किसीसे नहीं मिलते थे, यह मशहूर था न? वे मैनेजर साहब उनके पास गये और बोले—'महाराज, इन लोगोंको तो आपके कमरेमें 'बगला'-'बगला' आवाज सुनायी पड़ती है। यह क्या बात है?'

महात्माजीने बताया कि 'मैं उस कमरेमें बैठकर 'बगलामुखी देवी'की आराधना करता था, इसलिए 'बगला-बगला' आवाज आती है।'

हमारे मित्रको जब यह बात बतायी गयी तो वे बोले—'नहीं जी। हमें कोई 'बगला-बगला' आवाज नहीं आती थी। वे बिलकुल झूठ बोलते हैं। हमने तो कहा—'बगला-बगला' माने 'दंभी-दंभी'। 'वक' है, 'वक' है। हमारा मतलब तो यह था कि यह 'बगुला' है, यह 'बगुला' है।'

कहनेका अभिप्राय यह कि वे किसीसे नहीं मिलते थे और कुछ नहीं बोलते

थे—यह बात बिलकुल झूठी थी। वे रोज मिलते थे और रोज बात भी करते थे। लोगोंको ऐसा बताया जाता था।

आप अपने भीतर प्रवेश करके जब परमात्माको देखोगे, तब तो सच्चे देखोगे। जहाँ आप चमत्कार देखने जाओगे, ऐसी-ऐसी चालाकी होती है, ऐसी-ऐसी उसमें बुद्धिमानी होती है, ऐसी-ऐसी चतुराई होती है कि आपको ईश्वरका दर्शन करा दें और होगा कुछ नहीं। बिलकुल उसके बाद आप ज्यों-के-त्यों रहेंगे। कुछ फरक नहीं पड़ेगा। वैसे ही पापी रहेंगे, वैसे ही पुण्यात्मा रहेंगे, वैसे ही वासनावान् रहेंगे।

वासनाका रंग छोड़ना है। जिस धारामें वासना बह रही है, आँखको जब आप छोड़ोगे—आपको तत्त्वकी बात बताते हैं। आँखमें वासना नहीं रहती, आँख तो जो चीज जैसी होती है, वैसी उसको दिखाती है। कानमें भी वासना नहीं रहती। नाक भी बता देती है कि दुर्गन्ध है कि सुगन्ध है। जीभ भी बता देती है कि यह खट्टा है कि मीठा है। ये ज्ञानके साधन हैं, ये वासनाके साधन नहीं हैं।

वासना रहती है मनमें। यह अच्छा है, यह बुरा है—यह मनमें होता है। वह वासना बनती है कैसे? वह वासना बनती है आदतसे। असलमें मनुष्य अपने भीतर ठूँस-ठूँसके वासना बनाता है। आँखमें वासना नहीं है, कानमें वासना नहीं है, नाकमें वासना नहीं है, जीभमें वासना नहीं है, सूर्यमें वासना नहीं है, चन्द्रमामें वासना नहीं है, हवामें वासना नहीं है। यह वासना तो मनकी बेवकूफीमें है। अज्ञानके कारण अपने द्रष्टा-स्वरूपमें वासना भर दी गई है। यह बिलकुल नासमझीसे आई हुई है।

वासना न आत्मामें है, न ईश्वरमें है, न प्रकृतिमें है, न द्रष्टामें है। न इन्द्रियमें है, न बुद्धिमें है, न मनमें है, यह वासना तो सिवाय बेवकूफीके, अच्छी-बुरी वासनाएँ कहींसे पैदा ही नहीं होती हैं।

आप विवेक करो कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? तब आपको पता चलेगा कि आप किस चमारिनके, किस चाण्डालिनके चक्करमें, किस वासना-पिशाचीके चक्करमें, किस आशा-पिशाचीके चक्करमें फँसकर अपनेको वासना पिशाचीका पति 'पिशाच' मानने लगे हैं। असलमें यह सारा-का-सारा जितना दुःख-दारिद्र्य है दुनियामें, यह नासमझीकी बेटी, वासना-पिशाचीके चक्करमें पड़ जानेके कारण है। जिसने अपने-आपका विवेक करके अपने-आपको द्रष्टाब्रह्म जान लिया वह मुक्त।

●

प्रवचन ८

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ १॥

इतनी बात तो मैंने ऐसे कर दी कि यह सबकी समझमें आ जायेगी। अब ऐसी भी बात थोड़ी करेंगे जो कुछ की समझमें आवेगी, कुछकी समझमें नहीं आवेगी। इसमें घबड़ाना नहीं। बार-बार सुनोगे, तो जिसकी समझमें नहीं आती है, उसकी समझमें आने लगेगी। कई लोग बीस बरससे सत्संग करते हैं, कई लोग महीनेभरसे आते हैं, कई लोग आज ही आये हैं। लगातार सुनते रहनेसे सब बात समझमें आती है।

हमको श्रीउड़ियाबाबाने समझाया था-"जब गाँवमें भिक्षा माँगनेके लिए साधु जाता है, तो चार घरमें भिक्षा मिलती है, चार घरमें भिक्षा नहीं मिलती। लेकिन पेट भरने लायक भिक्षा तो मिल जाती है। भले, चार घरमें भिक्षा नहीं मिली तो क्या हुआ? और, आज नहीं मिली तो क्या हुआ? कल मिलेगी। जाते रहो तो कभी-न-कभी मिल ही जायेगी। सत्संगमें भी जाते रहना चाहिए। एक दिन, दो दिन, चार दिन! यह मत डरो कि हमारी समझमें नहीं आता है।"

जो तुम्हारी समझमें आ गया है या आता है, उतना ही सुनते रहनेसे तुम्हारी समझ बढ़ेगी नहीं। कुछ ऐसा भी सुनते रहना चाहिए जो अभीतक नहीं सुना है। जो नहीं जाना है, ऐसी नई बात भी कभी सुननी चाहिए। तो आओ, द्रष्टाके बारेमें आपको पाँच बात सुनाते हैं- मनुष्यको पहली दशामें ऐसा मालूम पड़ता है कि 'मैं करता हूँ'; 'मैं भोगता हूँ'; 'मैं जानता हूँ'।

पहली दशामें सभी मनुष्योंको ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं पाँवसे चलता हूँ'; 'मैं हाथसे काम करता हूँ; 'मैं जीभसे बोलता हूँ।' कर्म-इन्द्रियोंकी उपाधिगत

अपनेमें मान ली जाती हैं, सम्बन्ध इसके साथ बना लिया जाता है। तब मनुष्य अपनेको कर्ता मानता है। देखो—हाथ भी हैं, पाँव भी हैं, जीभ है, मूत्रेन्द्रिय है, गुदा है—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं।

प्रश्न यह है कि इनके साथ अपना सम्बन्ध है कि नहीं है? सम्बन्ध है। ये मेरे हैं, तब इनके द्वारा मैं काम करता हूँ। जब इनसे काम करता हूँ, तब मैं कर्ता बन जाता हूँ।

आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ, त्वचासे छूता हूँ, नासिकासे सूँघता हूँ, जीभसे स्वाद लेता हूँ। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके साथ सम्बन्ध रखनेके कारण ऐसा मालूम पड़ता है कि संसारको जाननेवाला मैं हूँ। तो जिसने कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे अपनेको कर्ता माना, वह चेतन है। और जिसने ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धसे अपनेको ज्ञाता माना, वह भी चेतन है।

मनमें सुख होता है, दु:ख होता है; राग होता है, द्वेष होता है; काम-क्रोध-लोभ-मोह ये बुरी बातें भी होती हैं और कामकी वृत्ति, सेवाकी वृत्ति, प्रेमकी वृत्ति, उदारताकी वृत्ति ये भी अन्त:करणमें आती हैं। उन वृत्तियोंके साथ सम्बन्ध जोड़ करके यह चेतन ऐसा मानता है कि मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ; रागी हूँ, द्वेषी हूँ; सद्गुणी हूँ, दुर्गुणी हूँ। तो यह अन्त:करण, बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ, इनके साथ अपना सम्बन्ध मान करके हम अपनेको कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता मानते हैं।

इसी कर्ता-भोक्ता-ज्ञाताको लोक-व्यवहारमें 'जीव' माना जाता है, 'जीव'! चेतन है, मन है, ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रियाँ हैं, शरीर है और संसारके विषय हैं। इन सबको एकमें मिला करके हम ऐसा व्यवहार करते हैं कि हम जीव हैं। अब इसमें-से थोड़ा अलग करो।

असलमें बाहरकी चीजें हैं, यह बात हम जानते हैं। बीचमें दूसरी बात आती है, वह हम सुना देते हैं। हमारे अन्त:करणमें जितने भी ज्ञान होते हैं, वे बाहरसे डाले जाते हैं। कुछ आँखसे, कुछ कानसे, कुछ नाकसे, कुछ त्वचासे, कुछ जीभसे—ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता है जो बाहरसे न डाला जाता हो! भीतर एक चेतनकी रोशनी है; चेतनकी रोशनीमें जब वस्तु पहुँचती है तो हम उसको अपनी मानने लगते हैं या परायी मानने लगते हैं। उसके बारेमें कुछ-न-कुछ धारणा हो जाती है। पहला विवेक द्रष्टाका यदि आपको करना है तो यह करना पड़ेगा कि ये विषय मेरे नहीं हैं क्योंकि मैं विषय नहीं हूँ, मैं विषयोंका ज्ञाता हूँ। ये विषय न मैं हूँ, न मेरे हैं।

दूसरा विवेक यह होगा कि—'यह देह न मैं हूँ न मेरा है। देह है, पर देह न मैं हूँ न मेरा है। मैं तो इस देहका ज्ञाता हूँ।'

ये कर्मेन्द्रियाँ न मैं हूँ न मेरी हैं। इनका ज्ञाता हूँ मैं। जो जिसको जानता है, वह उससे अलग होता है जैसे घड़ेका ज्ञाता घड़ेसे अलग होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, त्वचा, जीभ ये सब अलग-अलग हैं और 'मैं' एक हूँ। ये पाँच हैं और कभी कोई इन्द्रिय काम करती है और कभी नहीं करती है। कभी सब नहीं करती हैं। 'मैं तो एक हूँ और मैं इनसे अलग हूँ।'

अब और बात देखो—मनमें कभी सुख आता है, कभी दु:ख आता है। कभी मनमें किसीके प्रति जलन होती है, कभी राग आता है, कभी द्वेष आता है, कभी दया आती है, कभी घृणा आती है, कभी ग्लानि होती है और कभी उदारता चित्तमें आती है। इनमेंसे कोई भी वृत्ति टिकाऊ नहीं होती है। जैसे एक आदमीको हम कभी उदारता करते देखते हैं और यह उसके बारेमें धारणा बना लेना कि यह बड़ा उदार है, तो एक दिन ऐसा देखेंगे कि यह बड़ा कृपण है, दो आना पैसा भी नहीं छोड़ता है। क्योंकि उदारता हमेशा नहीं रहती, और कृपणता भी हमेशा नहीं रहती, वह बदलती रहती है। इसलिए धर्मात्मा लोगोंका यह कहना है कि 'धर्मकी कोई वृत्ति चित्तमें उदय हो, तो उसे तत्काल ही पूरा कर देना चाहिए, पीछेके लिए बाकी नहीं छोड़ना चाहिए।' नहीं तो, मन दुविधामें पड़ जाता है और दुविधामें धर्मका फल पूरा नहीं मिलता है। दुविधामें पड़नेसे धर्मका फल घट जाता है। इसलिए तत्काल ही पूरा कर देना, यह इस सम्बन्धमें धर्मशास्त्रका निर्णय है। हम धर्मशास्त्रके पूरे जानकार हैं, आप लोगोंको मालूम हो कि न हो! माने, हम भक्ति-वेदान्तकी बात यहाँ करते हैं न, तो हमारा फण्ड जरा दूसरा हो गया।

धर्ममें तो वादविवाद भी होता है और शास्त्रार्थ भी होता है और भक्तिमें वादविवाद भी नहीं और शास्त्रार्थ भी नहीं। वादविवाद नहीं करना। क्यों? **बाहुल्यावशात्।** वादविवाद तो बढ़ता जायेगा, बढ़ता जायेगा! जिन्दगीभर उसमें फँस जाओगे। धर्मकी जो लड़ाई है, वह क्या आदिकालसे अबतक खत्म हुई है? नहीं हुई है।

जब हम एक पार्टी पकड़ेंगे, तो हमको हमेशा उसकी ओरसे लड़ाई करनी पड़ेगी। इसलिए अपने दिमागको खराब करनेके लिए वादविवाद्में अपने दिलको नहीं फँसाना चाहिए। जो वादविवाद करेगा, वह ईश्वरका चिन्तन नहीं कर सकता। उसे ईश्वरसे प्रेम करनेका मौका ही नहीं मिल सकता। ये शास्त्रार्थी लोग हैं न, इनका हृदय बड़ा रूक्ष होता है, कटु होता है, वे गाली देते हैं। दूसरोंको बुरा बताते हैं, दूसरोंकी बुराईका चिन्तन करते हैं। वादविवादसे बचके बस, ऐसे रास्तेसे ईश्वरके

पास पहुँच जाना चाहिए कि दूसरोंको मालूम भी न पड़े कि यह ईश्वरके पास पहुँच गये हैं। ऐसे पहुँचना चाहिए।

जगद्गुरु शंकराचार्य हमारे थे न, स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज, उनका दरवाजा बन्द रहता था। कई बार बड़े-बड़े लोग—डॉक्टर भगवानदास मिलने जायँ तो कहें कि 'महाराज अभी समाधिमें हैं।' सेठ लोगको भी नहीं मिलते थे। कविराज गोपीनाथ मिलने गये तो कहा, 'महाराज अभी समाधिमें हैं।' चार-चार बार लौटाके तब मिले। हम लोगोंको तो मालूम था कि महाराज अभी समाधिमें नहीं बैठे हैं। हम चोर दरवाजेसे खिड़की पार करके घुस जाते। भीतर खूब गप्प होते, चुटकुले होते, बहुत हँसी-खेल होता और बड़े लोग आते तो कह देते—'महाराज अभी समाधिमें हैं।'

ईश्वर असलमें हर समय समाधिमें बैठा रहता हो, सो बात नहीं है। वह भी हँसता है, खेलता है, चुटकुला सुनता है, वह भी गप्प हाँकता है। यह दुनिया उसकी गप्प ही तो है न! एक ऐसी गप्प हाँक दी कि सबको दीखने लग गई! ईश्वरकी गप्पका नाम दुनिया है। इसमें आप लोग वादविवादके झगड़ेमें नहीं पड़ करके सीधे रास्तेसे चलें।

आप कर्मके भी ज्ञाता हैं, भोगके भी ज्ञाता हैं और वृत्तियोंके भी ज्ञाता हैं। तो, अपनेमें कर्मका सम्बन्ध, भोगका सम्बन्ध, द्रव्यका सम्बन्ध और वृत्तियोंका सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। द्रव्यका सम्बन्ध माने मिट्टी-पानी-आगका सम्बन्ध और इनसे बने हुए देहका सम्बन्ध। यह भी देह ही है। इनसे होनेवाले कर्मका सम्बन्ध और इन कर्मोंको करनेवाली इन्द्रियोंका सम्बन्ध। इसमें जो अन्तःकरण है, उसका सम्बन्ध और उसमें होनेवाली वृत्तियोंका सम्बन्ध माने उसमें जो सुखदुःख, रागद्वेषादि होते हैं।

एक बार सम्बन्धको काट दीजिये। आप कर्ता नहीं हैं, भोक्ता नहीं हैं, देही नहीं हैं, देह नहीं हैं और देहके कारण आपमें जो आरोपित हैं सो भी नहीं हैं। मनुष्यपना भी देहके करण है। ब्राह्मणपना, क्षत्रियपना, वैश्यपना, शूद्रपना यह कहीं आपके साथ जुड़ा हुआ थोड़े ही है? ये सब जो आपमें हैं—वर्ण, आश्रम, वैष्णवपना-संन्यासीपना—ये कुछ जनेऊसे आया है, कुछ तिलकसे आया है, कुछ कण्ठीसे आया है। ये सब बाहरसे शरीरमें आया और अपने अन्दर आरोपित हो गया।

एक बार आप अपनेको ज्ञाताके रूपमें पहचानो कि मैं जिनको जानता हूँ, उनसे मैं जुदा हूँ। कोई भी अपने कन्धेपर बैठ नहीं सकता। कोई भी अपनेको जान

नहीं सकता है। इसलिए जिस-जिसको तुम जानते हो, उससे अपनेको अलग कर लो।

ज्ञाताका नाम द्रष्टा है। द्रष्टाके बारेमें आपको सुनाते हैं। इनमें पहली बात जो समझनेकी है, वह यह है कि आप अपनेको ज्ञेयसे विलक्षण ज्ञाता समझो। आप कर्म , वृत्ति, भोग, देह, द्रव्य, संसारके वर्ण, आश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—ये सब आप नहीं हैं। ये सब आपमें आरोपित हैं। आप 'ज्ञ' हैं, आप ज्ञाता हैं।

अब देखो, आपके सामने इस ज्ञातापनेमें एक सवाल उठाता हूँ। हम लोग तो जब बच्चे थे, तब एक मजाक करते थे। एक सज्जनने कहा—'महाराज! मैं आपसे कुछ सवालात करना चाहता हूँ।'

बोले—'बाबा, माफ करना, हमको न एक लात चाहिए, न सवालात चाहिए।' देहाती बात सुनाई, गाँवमें बच्चे थे तब क्या-क्या करते थे।

सवाल यह है कि आप यह जो ज्ञाता हो, तो देहके भीतर रह करके हो कि अन्त:करणके भीतर रह करके हो? कि देह और अन्त:करणका घेरा छोड़ करके हो? बस, सीधी बात आपसे यह पूछते हैं। आप जानते तो सबको हैं!

बोले—'हम पत्नीको जानते हैं, पतिको जानते हैं, बेटेको जानते हैं, बेटीको जानते हैं, हम मनुष्योंको पहचानते हैं, हम ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रको पहचानते हैं, हम ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासीको पहचानते हैं, हम कर्ताको पहचानते हैं और भोक्ताको भी पहचानते हैं।'

'ठीक है, तुम पहचानते तो सबको हो, लेकिन अँगूठेसे सिरतकके बीचमें रहकर पहचानते हो। यह जो चामकी पोटली बँधी हुई है, उसके भीतर रहकर पहचानते हो, कि उसके घेरेको तोड़कर पहचानते हो?'

देखो, यह सवाल है। इसकी पहचान क्या है? इसकी पहचान यह है कि तुम दूसरेके अन्त:करणमें जो विक्षेप होता है और समाधि होती है, उसे क्या समझते हो? उसके बारेमें तुम्हारा क्या ख्याल है।

दूसरेके अन्त:करणमें जो पाप है या पुण्य है, कर्म है या भोग है, वर्ण है या आश्रम है, उसके बारेमें आप क्या सोचते हो? यह एक सवाल है।

तब आप पहचान जाओगे कि आप तो चामकी पिटारीमें बन्द होकर अपनेको ज्ञाता सोचते हो। यह ज्ञाता दो तरहका है। एक आभास चैतन्यमें ज्ञातृत्वका आरोप होता है और एक प्रमातृ चैतन्यमें ज्ञातृत्वका आरोप होता है। दोनों आरोप हैं।

आरोप माने दूसरेको दूसरा समझना। ये दोनों आभासिक हैं। कैसे? आभासका मतलब यह है कि अन्त:करणमें एक प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। संस्कृतभाषामें इसको 'फल' बोलते हैं। 'फल' और 'प्रतिफल' जैसे बोलते हैं।

जैसे, आपने आँखसे घड़ेको देखा, घड़ीको देखा, किताबको देखा, रूमालको देखा, फूलको देखा 'है'। इस जगह, इस समय आँखसे रोशनीमें आपने फूल देखा। अब सवाल असलमें यह है कि यह जो आपने देखा, यह देखनेका फल यह हुआ कि 'मैं फूलको जानता हूँ।'

देखना हुआ प्रमाण और मैं देख रहा हूँ, मैं पहचान रहा हूँ कि 'यह फूल है'— 'यह रूमाल है', 'यह किताब है', 'यह घड़ी है'—तो अपने साथ इस वृत्तिज्ञानको जोड़ लिया न ! इस वृत्तिमें प्रतिफलित जो ज्ञातृत्व है, इसको वेदान्तकी भाषामें 'आभास' बोलते हैं।

'आभास' माने प्रतिफलित। तुमने आँखसे देखी किताब या किताबमें देखा 'द्रष्टा'; या 'द्रष्टा' पूरा नहीं देखा; 'दृ' देखा और 'ष्टा' देखा। अब तुम्हारे अन्त:करणमें—'मैंने 'द्रष्टा' शब्द पढ़ लिया या 'द्रष्टा' शब्द जान लिया, मैंने 'ह' अक्षर देख लिया, या 'स्रष्टा' अक्षर देख लिया ऐसी वृत्ति हुई न ! 'मैंने' 'दृ' अक्षर देख लिया या जान लिया है'—ऐसी वृत्तिसे युक्त जो तुम्हारा मैं-पना है, उसे 'आभासचैतन्य' बोलते हैं। यह वृत्तिमें प्रतिफलित चेतन है।

अच्छा, इसका फरक क्यों हुआ? फरक यों हुआ कि तुम तो समझ रहे हो, कि—'मैं घड़ेको देख रहा हूँ।' एक—'मैं घड़ेको जानता हूँ'; एक दूसरा आदमी यहाँ जो बैठा है, वह 'न घड़ेको देख रहा है, न घड़ेको जानता है' तो तुम्हारे अन्त:करणके आकारमें और उसके अन्त:करणके आकारमें फरक है कि नहीं? हाँ, तुम्हारे अन्त:करणके आकारमें और उसके अन्त:करणके आकारमें फरक है।

तुम्हारे अन्त:करणमें यह जो वृत्ति हुई कि—'मैं घड़ेको जानता हूँ'-यह तुम्हारे अन्त:करणकी वृत्तिका आकार है। उससे तादात्म्य करके, माने वृत्तिमें प्रतिफलित हो करके तुम अपनेको घड़ेको जाननेवाला मानते हो।

पहले आपको सामान्यरूपसे जीवचैतन्यकी बात सुनाई; अब आभासचैतन्यकी बात सुनाई। यह जो प्रतिफलित हो रही है वृत्ति, उस वृत्तिके साथ तादात्म्य करके आप—कि 'मैं घड़ेका जानकार हूँ'; 'मैं मनुष्यताका जानकार हूँ'; 'मैं ब्राह्मणताका जानकार हूँ', 'मैं क्षत्रियताका जानकार हूँ'—यह जो अपनेको जानकार मानते हो, यह वृत्तिका आकार अपने ऊपर आरोपित करके जानकार मानते हो।

जीवचैतन्यकी अपेक्षा यह जो ज्ञाताचैतन्य है, यह विशेष है। इस ज्ञाताचैतन्यको ही प्रमाताचैतन्य बोलते हैं, लेकिन इस ज्ञाताचैतन्यके दो भेद हैं—एक अवच्छेदवाद और एक आभासवाद। पहले जो सुनाया कि 'मैं घड़ेको जानता हूँ इसलिए घड़ेसे न्यारा हूँ' 'मैं देहको जानता हूँ, इसलिए मैं देहसे न्यारा हूँ। अन्तःकरणमें यह जो वृत्ति है, 'अहं' प्रत्यय है—'अहं घटज्ञः'—'मैं घटका ज्ञाता हूँ'—इस प्रत्ययके साथ माने इस वृत्तिके साथ तादात्म्य करके ही तुम अपनेको घड़ेको जाननेवाला मानते हो!

वृत्तिमें प्रतिफलित चैतन्यको यदि तुम 'मैं' मानते हो, तो आभास हो! परन्तु 'इस वृत्तिमें प्रतिफलित मैं इस घड़ेका ज्ञाता हूँ'—इस अहं प्रत्ययके भी यदि तुम द्रष्टा हो, तो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य हो।

अवच्छिन्न चैतन्यमें देखो, जैसे घड़ेमें पानी भरके रख दिया और उसमें आकाशकी नीलिमा प्रतिबिम्बित हो रही है। समझो, पानी तो है चार हाथ और उसमें हजारों मील दूरकी वस्तु प्रतिबिम्बित हो रही है। लम्बाई-चौड़ाई भी मालूम पड़ती है और थोड़े पानीमें गहराई भी मालूम पड़ती है। तो जो गहराई मालूम पड़ती है, वह आभास—आकाश है। आकाशमें जो पानी रह रहा है वह है अवच्छिन्न आकाश।

एक होता है आभास-आकाश और एक होता है अवच्छिन्न आकाश। उसके कई भेद बताते हैं-महाकाश, घटाकाश, जलाकाश और जल-प्रतिबिम्बित आकाश। ये चार भेद उसके हैं। जलमें जो आकाश दीख रहा है वह आभास है। जल जिसमें रह रहा है, वह घटाकाश है। घट जिसमें रह र॒॰ है, वह महाकाश है। जलमें जो दीख रहा है, वह आभासाकाश है, आकाशाभास है, आकाश नहीं है। मकान जिसमें रह रहा है वह महाकाश है, मकानमें जो आकाश है, वह मठाकाश है। मैं इस घड़ेको जानता हूँ—यह अभिमानसहित जो वृत्ति है, इसमें न आ करके जिसमें यह भास रही है,-अन्तःकरणमें तुम हो कि तुममें अन्तःकरण है ? सवाल यह है। यदि तुममें अन्तःकरण है, तो तुम तो अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन हो। अवच्छेदकी रीतिसे इसीको प्रमाता बोलते हैं! इसीको ज्ञाता बोलते हैं।

वृत्ति ज्ञाता नहीं है, वृत्ति ज्ञेय है। वृत्ति-अवच्छिन्न जो चैतन्य है, उसको प्रमाता कहते हैं। वही ज्ञाता है। आभासवादकी रीतिसे अन्तःकरणमें प्रतिभासित-प्रतिफलित जो चैतन्य है जलाकाशके समान, वह ज्ञाता है। अभी बात खतम नहीं होती है। यह नहीं समझ लेना कि 'मैं' हो गया द्रष्टा! यदि वस्तुको समझोगे नहीं, तो तुम्हारी अनुभूति जो है, वह देखेगी पत्थर, समझेगी हीरा। सचाईके ज्ञान ही नहीं होगा। सचाईके ज्ञानके बिना तुम्हारी जो अनुभूति है, वह झूठी है।

अब देखो, दो प्रश्न उठाते हैं—यह जो अवच्छिन्न द्रष्टा है, सचमुचमें वह न तो कर्ता है, न भोक्ता है और न तो प्रमाता ही है। उसके स्वरूपपर विचार करो तो एक अन्तःकरणके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तो यह द्रष्टा है। यह नहीं समझना कि अन्तःकरण ही नहीं है।

अन्तःकरण है, वेद है, तुम ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, सब कुछ हो, परन्तु द्रष्टाका उनके साथ सम्बन्ध नहीं है। तो विवेक करनेसे क्या हुआ? वेदान्तकी दो प्रक्रिया है—एक विश्लेषण और एक संश्लेषण विश्लेषण माने अलग करना। संश्लेषण माने मिला देना।

हम विश्लेषणकी प्रक्रियासे अभी आपको बोल रहे हैं। यदि विचारमें कोई प्रक्रिया नहीं हो, तो विचारसे विश्राम नहीं मिल सकता। प्रक्रियाहीन विचार भटक जाता है। कहाँ जायगा? लक्ष्यहीन तर्क कहाँ पहुँचेगा? विचारसे तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो, अगर तुम्हें नहीं मालूम हो, तो विचार तुम्हें भटका देगा। विचारसे-रास्तेसे तुम्हें कहाँ पहुँचना है, अगर यह नहीं मालूम है तो रास्ता तुम्हें कहाँ पहुँचावेगा? मालूम होना चाहिए कि इस रास्तेसे तुम्हें पहुँचना कहाँ है? लक्ष्यका ज्ञान होना चाहिए।

अमुक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए विचारकी अमुक प्रक्रिया होती है। इसीको 'आगम' बोलते हैं, इसीको 'उपनिषद्' बोलते हैं, इसीको 'वेदान्त' बोलते हैं, इसीको 'सम्प्रदाय' बोलते हैं। आओ, अब आगमकी चर्चा करते हैं। विवेक कर लो।

कर्म और कर्मेन्द्रिय, भोग और भोगेन्द्रिय, वृत्ति और वृत्तिवाला अन्तःकरण—इनके तुम द्रष्टा चेतन हो; तुम अन्तःकरण, इन्द्रिय, देह अथवा इनसे भोगी जानेवाली वस्तु अथवा तदाकार वृत्ति—यह तुम नहीं हो, तुम चेतन हो।

इस चेतनको सांख्यदर्शन भी बताता है और योगदर्शन भी बताता है। अभी वेदान्तकी चर्चा छोड़ देते हैं।

योगदर्शन कैसा द्रष्टा बताता है और सांख्यदर्शन कैसा द्रष्टा बताता है? योगदर्शन बताता है कि जब तुम अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर देते हो, कैसे भी करो, उसकी अनेक युक्तियाँ हैं। वैराग्यसे भी वृत्तिका निरोध होता है और अभ्याससे भी वृत्तिका निरोध होता है। ईश्वरका ध्यान करनेसे भी वृत्तिका निरोध होता है, प्राणायामसे भी वृत्तिका निरोध होता है और शिथिलीकरणसे भी वृत्तिका निरोध होता है। वृत्तिके निरोधमें शिथिलीकरण भी साधन है, ढीला छोड़ दो बिलकुल। इसका मतलब यह

नहीं है कि व्यवहारके समय काम करो चाहे क्रोध करो। इसकी तो चर्चा ही छोड़ दो! जो लोग कहते हैं कि 'चाहे कुछ करो, ज्ञान देते हैं, समाधि लगा देते हैं', वह तो असामाजिक तत्त्व है, समाजविरोधी तत्त्व है। वे तो तुम्हारे घरमें सत्यानाशको बुलाते हैं। उनसे तो और सावधान रहो!

द्रष्टा सांख्यदर्शनका दूसरा है। योगदर्शनका कहना है कि चाहे अध्यात्मज्ञानसे होवे, चाहे सत्संगसे होवे, चाहे प्राणायामसे होवे, वासनात्यागसे होवे,चाहे शवासनसे होवे! शवासन भी एक आसन है मुर्देकी तरह लेट जाते हैं। और, चाहे शीर्षासनसे होवे। इन आसनोंको मुख्य नहीं मानते हैं, क्योंकि शवासनमें निद्राका भय रहता है और शीर्षासनमें विक्षेपका भय रहता है कि गिर जायेंगे तो चोट लगेगी। शीर्षासन करके वृत्ति-निरोध करने लगे और नींद आ जायगी उसका पता ही नहीं चलेगा। इसलिए सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन—ये आसन चित्तवृत्तिनिरोधके लिए अच्छे माने जाते हैं। सावधान बैठके करना चाहिए। भले ढीला छोड़ दो! यदि तनाव बना रहेगा तो अहं और प्रत्ययका सम्बन्ध बना रहेगा, छूटेगा नहीं। इसलिए वृत्तिको पकड़नेका सम्बन्ध है उसको छोड़ दो।

चित्तवृत्तिका निरोध हुआ तो निरोध साफ मालूम पड़ता है कि इस निरोधको भी 'मैं' जान रहा हूँ। उस समय, जब अन्तःकरणका विक्षेप था, तब भी 'मैं' जाननेवाला और निरोध है तब भी 'मैं' जाननेवाला! इसलिए निरोधकालमें द्रष्टा जो है, उसको सम्बन्धका भान नहीं होता है।

निरोधकालमें अर्थात् अन्तःकरण मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, कर्म मेरे हैं, भोग मेरे हैं, वृत्तियाँ मेरी हैं, वर्णाश्रम मेरा है—इन सब भानोंका प्रतीतियोंका निरोध हो जाता है। और निरोधका जो साक्षी है, निरोधका जो द्रष्टा है, वह अन्तःकरणमें बना हुआ नहीं है।

योगदर्शनकी दृष्टिसे आत्मा विभु है। परन्तु उसमें दोष क्या है? जब उसमें निरोधका व्युत्थान होता है, तब योगदर्शन के मतमें तत्काल वृत्तिके साथ सारूप्य हो जाता है। यह योगदर्शनमें ही माना हुआ है—

तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। समाधिपाद ३
वृत्तिसारूप्यमितरत्र । समाधिपाद ४

योगदर्शनमें सम्बन्धका अभानमात्र ही होता है। जितनी देर समाधिमें रहो, निरोधमें रहो, उतनी देर सम्बन्धकी अप्रतीति—अभाव हो जायगा, सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ेगा। और, जहाँ जागे, वहाँ यह मेरा शरीर, यह मैं, यह मेरा अन्तःकरण, यह मेरा कर्म, यह मेरा भोग, ये मेरी इन्द्रियाँ; तुरन्त कर्ता-भोक्ता होके व्यवहारमें बाहर आ जायेंगे। और, वासनाके अनुसार काम होने लगेगा।

निरोध-समाधिकी प्रबलतासे वासनाका अभिभव हो जाता है, तब वह क्षीण हो जाती है, यह भी बात सच्ची है। लेकिन सांख्यदर्शनका जो द्रष्टा है, वह इससे विलक्षण है। वह यह नहीं कहता है कि केवल सम्बन्धका अभान चाहिए। वह तो कहता है कि सम्बद्ध वस्तुसे विवेकमात्र होना चाहिए। विवेक माने विवेचन विश्लेषण। यदि तुमको सचमुच यह विवेक हो गया कि मैं पञ्चभूत और भौतिक नहीं हूँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ नहीं हूँ, इनका कर्म नहीं हूँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हूँ, इनकी वृत्तियाँ नहीं हूँ, अन्तःकरण मैं नहीं हूँ तो अन्तःकरणकी समाधि भी मैं नहीं हूँ और अन्तःकरणका विक्षेप भी मैं नहीं हूँ। मैं तो सचमुच द्रष्टा हूँ।

निरोध होनेपर मैं द्रष्टा हो जाऊँ और निरोधके बाद मैं कर्ता-भोक्ता हो जाऊँ, यह बात बिलकुल नहीं है।

रागोपहतिर्ध्यानम्।

अपने द्रष्टाका ऐसा विवेक हुआ कि व्यवहारमें देहसे काम करते रहनेपर भी, इन्द्रियोंके काम करते रहनेपर भी, बोलते-चालते रहनेपर भी, हँसते-खेलते रहनेपर भी, खाते-पीते रहनेपर भी मैं तो सचमुच द्रष्टा ही हूँ। व्यवहारमें भी सम्बन्धकी निवृत्ति। निरोधकालमें सम्बन्धका अभान—यह योगका द्रष्टा है।

व्यवहारकालमें सम्बन्धका मिथ्यात्व अर्थात् सम्बन्ध ही झूठा है—न मेरा देह है, न मेरा वर्ण है, न मेरा आश्रम है, न मेरा अन्तःकरण है, न अन्तःकरणकी वृत्ति है। सम्बद्ध पदार्थसे विवेक हो करके सम्बन्धका छूट जाना—यह सांख्यका द्रष्टा है। अभी वेदान्तका द्रष्टा रह गया।

वेदान्तके द्रष्टामें क्या फरक है? आपको पहले बताया—एक सामान्य रूपसे जीव, विशेष रूपसे ज्ञाता। ज्ञाताके दो भेद-एक आभासचेतन और एक अवच्छिन्नचेतन। एक योगोक्त रीतिसे और एक सांख्योक्त रीतिसे। यह विवेक हुआ।

सांख्योक्त रीतिसे जो द्रष्टा चेतन है, वह? एक किताब है और एक द्रष्टा है। किताब है तो सही, पर यह न 'मैं' हूँ न 'मेरी' है, परन्तु किताब है। सांख्यका विवेक द्वैतको नहीं मिटाता, द्वैतके सम्बन्धको मिटाता है।

योगका द्रष्टा सम्बन्धको पूरी तरहसे नहीं मिटाता, वह सम्बन्धके भानको मिटाता है। समाधिकालमें सम्बन्धका भान नहीं होता, परन्तु व्यवहारकालमें सम्बन्धका भान होता है।

सांख्य विवेकके द्वारा इस सम्बन्धको ऐसे काटता है कि जो कुछ हो रहा है, वह प्रकृति और प्राकृतमें हो रहा है और 'मैं' तो निष्क्रिय, निरंजन, निर्विकार द्रष्टा हूँ। यह विवेक हुआ।

वेदान्त कहता है कि जबतक एक सफेद वस्तु है और तुम उससे अलग हो; माना कि उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन चीज तो दो है न? वेदान्तदर्शन कहता है कि चीज दो नहीं है। यह विश्लेषणकी प्रक्रियाको संश्लेषणमें बदल देनेवाली वस्तु है। वेदान्तका ज्ञान पहले सबसे अलग करते-करते-करते ऐसी जगहपर पहुँचता है, जहाँ एक 'खट्'—आवाज होती है; एक 'खट्'—आवाज होती है और दूसरा नहीं रहता है। अपना आपा ही रहता है। दूसरेसे हमारा सम्बन्ध नहीं है।उतना ही नहीं, दूसरेका भान नहीं होता है।उतना ही नहीं, दूसरा है ही नहीं।

वह दूसरा कितने प्रकारका हो सकता है? दूसरा एक देशमें द्रष्टा है और दूसरे देशमें दूसरा है; एक कालमें द्रष्टा है और दूसरे कालमें दूसरा है; चेतन वस्तु द्रष्टा है और जड़ वस्तु दृश्य है। एक तो यह हुआ और दूसरा यह हुआ कि दूसरा द्रष्टा है। हजारों द्रष्टा हैं। जैसे इस अन्तःकरणका द्रष्टा मैं हूँ, वैसे हजारों-लाखों-अनगिनत द्रष्टा हैं और उस दृश्यको नियमित करनेवाला अपने काबूमें रखनेवाला एक ईश्वर है। ईश्वर जिसको काबूमें रखता है वह दृश्य है। तो दृश्यका होना, दृश्यके नियन्ताका होना और दृश्यमें अलग-अलग द्रष्टाका होना—एक भेदकी प्राप्ति तो यह होती है और दूसरे भेदकी प्राप्ति यह होती है कि प्रत्येक अन्तःकरणका द्रष्टा अलग है।

प्रत्येक अन्तःकरणका द्रष्टा अलग ही नहीं है तब भी कालके भेदसे, देशके भेदसे, वस्तुके भेदसे द्रष्टा अलग-अलग है, जड़ और चेतनका एक भेद है, काल और चेतनका एक भेद है, देश और चेतनका एक भेद है, और इस भेदसे चेतन भिन्न-भिन्न है।

द्रष्टा अद्वितीय है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। यह समझनेके लिए वेदान्तकी जो प्रक्रिया है, उसका अवगम आवश्यक है।

हमको लोग ऐसा कहते हैं कि 'केवल सम्बन्धका ही अभान या विवेक हो जाने दो।' हमारे ऐसे मित्र हैं जो कहते हैं कि 'हम समाधिमें बैठ जायेंगे तो दुनियामें किसीसे सम्बन्ध है हमारा, शत्रु है कि मित्र है, वह प्रतीत ही नहीं होगा। सम्बन्धका अभान हो जायगा।' फिर बोले—'नहीं, विवेक होनेपर सम्बन्ध कट जायगा, इतनेसे क्या होगा? दुःखकी निवृत्ति हो जायगी।'

यह तो सच्ची बात है कि दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। सांख्यदर्शनका तो कहना ही है कि—

त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है? सबसे बड़ा पुरुषार्थ यह है कि जो तीन प्रकारके दुःख हमारे जीवनमें हैं, वे कट जायँ। तीन प्रकारके दुःख कौनसे हैं?

एक—बाहरकी वस्तुओंके न मिलनेसे होता है और एक—कोई अचानक, अतर्कित, अकल्पित घटनासे, जैसे ऊपरसे वज्र गिरनेसे होता है, ऐसा दैवी दुःख आता है। बाहरकी जो दीखती हुई वस्तुएँ हैं वे दुःख देती हैं और कोई अज्ञात दुःख हमारे सिरपर आ पड़ता है। जो अज्ञात दुःख आता है, यह दैवी दुःख है। भौतिक वस्तुओंसे दुःख मिलता है, वह भौतिक है।

न कोई बाहर निमित्त हो, न कोई भीतर निमित्त हो, अपने शरीरमें ही, मन ही मन कोई दुःख मना लें तो उसका नाम आध्यात्मिक दुःख होता है। आध्यात्मिक माने मनके भीतर होनेवाला दुःख। मनमें ही कल्पना कर ली कि यह जो सामनेसे आदमी आ रहा है, उसके हाथमें डण्डा है; कहीं आके हमको मार दे तब ? अब वह आदमी तो अपना रास्ता पकड़े चला गया! तुमको तो उसने मारा नहीं! तो बादमें मालूम हुआ कि हमारी जो कल्पना थी, वह झूठी थी। ज्ञानसे ही जो दुःख निवृत्त हो जाता है, उसको आध्यात्मिक दुःख बोलते हैं। कल्पनासे बहुत दुःख होता है। गोस्वामी तुलसीदासने लिखा है—

शत्रु-मित्र-मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरियाईं।
त्यागब गहब उपेक्षणीय यह हाटक मनिकी नाईं॥

बरियाईं माने जबरदस्ती, बलात्। यह हमारा शत्रु है, यह हमारा मित्र है, और यह मध्यस्थ है—ये तीनों बातें हमारे मनने बलात् गढ़ ली हैं। यह हमारे मनका दोष है।

त्यागब गहब उपेक्षणीय—छोड़ देना चाहिए, पकड़ लेना चाहिए, इसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यह क्या है ? *'हाटक मनिकी नाईं।'* जैसे, बाजारमें कोई हीरा हो, एक विरक्त आदमी हो, वह कहेगा कि होगा! क्या सम्बन्ध है उससे ? क्या लेना-देना है ? हमें न गलेमें पहनना है, न खरीदना है! उसके बारेमें सोचके क्या करना है ?

एक व्यापारी है, वह कहेगा कि 'दस रुपयेमें खरीदेंगे, दस हजारमें बेचेंगे। यह तो बस लेने ही लायक है। इसको पकड़ लो।'

एकने उपेक्षा कर दी। एकने त्याग कर दिया। एकने पकड़ लिया। अब हीरेमें क्या है ? हीरा न त्याज्य है, न ग्राह्य है, न उपेक्षणीय है। वह तो एक पत्थर है। यह मनका खेल है।

मनुष्यको आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकारके क्लेश होते हैं। सांख्यवादियोंका कहना है कि यदि तुम विवेक कर लोगे, वस्तुओंसे अपनेको अलग कर लोगे और मनुष्यता, ब्राह्मणता-क्षत्रियता-वैश्यता-शूद्रता,

ब्रह्मचारिता-गृहस्थता-वानप्रस्थता-संन्यासिता, इनसे अपनेको जुदा कर लोगे और पापीपना-पुण्यात्मापना, सुखीपना-दु:खीपना, ज्ञानीपना-मूढपना, इनके तुम द्रष्टा हो—यदि इनसे तुम्हारा सम्बन्ध छूट गया तो तुम्हारे सारे दु:ख मिट गये। जब तुम्हारे दु:ख मिट गये तो फिर अद्वैतज्ञानकी, वेदान्तज्ञानकी जरूरत ही क्या है?

आओ, हमने केवल द्रष्टा बनाके! अरे!! जबरदस्ती बनाना हुआ! बनाया हुआ जो द्रष्टा होता है, वह झूठा होता है। आओ, हमने तुमको द्रष्टा बनाके तुम्हारे सारे दु:ख मिटा दिये!

परन्तु आपको मैं बिलकुल पक्की बात बोलता हूँ—जबतक हल्के-फुल्के दु:ख स्थित होंगे, तबतक तो आप द्रष्टा बनकर उसको छोड़ सकेंगे; लेकिन यदि ईश्वर न करें कभी आपके जीवनमें ऐसा आवे, कोई बड़ा मौका पड़ेगा, तो द्रष्टापनका जो भाव है—एक भाव होता है और एक द्रष्टापनका अभिमान होता है। इसमें भी उपासना-प्रधान व्यक्ति 'मैं' द्रष्टा हूँ, 'मैं' द्रष्टा हूँ, 'मैं' द्रष्टा हूँ'—यह उपासना करते हैं। जो उपासना नहीं करते हैं, वे भाव करते हैं। यहाँ तक नहीं; जैसे सांख्यमें बताया है विवेक, वैसा विवेक हो जानेपर भी—

पुरैव प्रकृतिः संगं पुनराबाधयेत्।

जैसे पहले तुम द्रष्टा थे और बीचमें तुम दृश्यसे मिल गये, सम्बन्ध हो गया। ऐसे ही तुम फिरसे मिल नहीं जाओगे दृश्यसे, इसका आश्वासन क्या है? बिना द्वैतकी निवृत्तिके निर्भय पदकी प्राप्ति नहीं होती।

वेदान्तमें किस प्रकारके द्रष्टाका निरूपण है? आपके ध्यानमें आवे। सामान्य रूपसे जीव-जीवमें, ज्ञाता-ज्ञातामें, आभासज्ञाता और अवच्छिन्न ज्ञाता-अवच्छिन्नमें योगकी रीतिसे द्रष्टा और सांख्यकी रीतिसे द्रष्टा—फिर अद्वैतवेदान्तकी रीतिसे द्रष्टा और उस द्रष्टाका ब्रह्मपना। यह वेदान्तमें समझनेकी बात होती है। उसके बिना परमानन्दस्वरूपकी अनुभूति, अद्वितीयताकी अनुभूति सम्भव नहीं। केवल दु:खकी निवृत्ति नहीं—

परमानन्दस्वरूप तू नहीं तो मैं दु:खलेश।

सम्पूर्ण दु:खलेशकी निवृत्ति, अज्ञानकी निवृत्ति होकरके परमानन्दस्वरूप ब्रह्मताकी जो अवाप्ति है, वह वेदान्तका प्रतिपाद्य है।

●

प्रवचन

१

रूपं दृश्यं..............न तु दृश्यते ॥ १ ॥

मनुष्य देहको ही आत्मा मानकर बैठ गया है। आत्मा माने मैं। आत्मा माने और कुछ नहीं। जैसे, हमको आत्माका साक्षात्कार करना है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा नामकी कोई दूसरी चीज है और उसका साक्षात्कार करना है। आत्मा माने अपना आपा।

आत्माका अनुभव, आत्माका दर्शन, आत्माका साक्षात्कार—ये सब शब्द जो चलते हैं, वह 'मैं कौन हूँ?' उसका अर्थ केवल इतना ही है। अपनी स्वयंताको पहचानना। स्वयं अपने आपका अनुभव—इसीको आत्मानुभूति, आत्मानुभव, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन बोलते हैं।

जैसे, आप मन्त्र बोलते हैं—

ओम् नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो।

ब्रह्मको नमः। नमः पदका अर्थ यह है कि नमन माने झुक जाना, अपने अलगावको छोड़ देना। जैसे कोई छाती तानकर खड़ा हो गया कि 'एक तुम हो, एक मैं हूँ। तुम क्या होते हो? तुम हो, तो मैं भी कुछ हूँ।'

'नमः' कहनेका अर्थ यह हुआ कि 'मैं अपने-आपको झुका रहा हूँ तुम्हारे सामने। तुम प्रधान हो गये। तुम्हारी सत्ता, तुम्हारी इच्छा और तुम्हारे ज्ञानमें मेरा ज्ञान, मेरी इच्छा और मेरी सत्ता मिल गयी।' इसको 'नमन' बोलते हैं। तुम्हारे अधीन मेरी सत्ता है, तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा है और तुम्हारा जो ज्ञान है, वह मेरा ज्ञान है। व्यवहारमें नमनका अर्थ यही होता है—'नमस्'।

अब सीधे इसका अर्थ सुनाता हूँ। 'नमः'में दो अक्षर हैं—न और मः। न माने नहीं, मः माने मैं और मेरा। मः जिसमें न हो वह नमः। मः क्या है? मैं-मेरा ही मः है।

नमो ब्रह्मणेका अर्थ है—मैं अपना अलग 'मैं-मेरा' छोड़कर तुमसे एक हो रहा हूँ। **नमो ब्रह्मणे।**

'ब्रह्म' शब्दमें 'ब' और 'ह' के बीचमें 'र' है। ब् र ह् म। आप रको ब् और ह्के बीचमें मत रखो, ह्के बाद रखो, तो क्या शब्द बनेगा? 'भ्रम' शब्द बन जायगा। ब् और ह्के बीचमें र माने अग्नि है, प्रपञ्चका मिथ्यात्व है। तब तो 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्म ही है। यदि प्रपञ्चका मिथ्यात्व नहीं है, ब् और ह्के बीचमें र नहीं है तो 'भ्रम' हो गया।

जैसे 'गृह' शब्द है—ग्+ऋ+ह। हके बाद ऋ रख दो तो वह 'घर' हो जायगा—ग्+ह+ऋ। ग्+ह मिलकर 'घ' हो गया और ऋ उसके बाद रेफ (र) हो गया। प्रत्येक शब्दकी व्युत्पत्तिका, निष्पत्तिका एक तरीका होता है।

इसके बाद बोलते हैं—'**नमस्ते वायो**'। हे वायुदेवता! तुमको नमस्कार है। एक बार ब्रह्मको नमस्कार और एक बार वायुको नमस्कार। इसका क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है कि ब्रह्मको नमस्कार और प्राणवायुको नमस्कार। अर्थात् जो अनादि अनन्त परिपूर्ण अविनाशी, अपरिच्छिन्न, अद्वितीय, निर्विकार, निर्धर्मक ब्रह्म है, वही प्राणोपाधिक आत्मा है। प्राणके भीतर रहनेवाली जो साँस चलती है, इस साँसके भीतर शक्ति है। शक्तिको अपनी माननेवाला जो जीवात्मा है, वह वही है। जो ब्रह्म है सो आत्मा है। जो आत्मा है वह ब्रह्म है। इसलिए—'**नमस्ते वायो**'।

'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।'

हे वायुदेवता ! हे प्राण! तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। प्राण माने प्राणी। प्राणवाला आत्मा—'प्राण' शब्दका जो अभिधेय है, उससे सम्बद्ध। आत्मामें 'प्राण' शब्दकी लक्षणा है। इसको 'जहत्लक्षणा' बोलते हैं। यहाँ 'वायु' शब्दमें जहल्लक्षणा है। अर्थात् 'वायु' शब्दका अर्थ छोड़ करके 'प्राण' शब्दका जो आधार है—'आत्मदेव', उसका ग्रहण है।

आप लोग तो वेदान्त पढ़ते हैं, इसलिए जहत्-लक्षणा, अजहत्-लक्षणा, भाग-त्याग-लक्षणा समझते होंगे।

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।

हे प्राणोपाधिक आत्मदेव! मैं तुमको ही 'प्रत्यक्षब्रह्म' कहूँगा। तुम ब्रह्म हो, यही बोलूँगा।

ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि।

जो मैं बोलूँगा, वह बिलकुल ऋत बोलूँगा। Right (राइट) सरीखा शब्द होता है न! 'ऋतं' विलायतमें गया तो Right (राइट) हो गया। देखो, कि चोटी-जनेऊवाले लोग विलायत जाते हैं तो बिना चोटी-जनेऊके लौटते हैं कि नहीं?

ऋत् माने वैदिक सत्य। **ऋतं च सत्यं च अभिजात तमसो जातः।** यही वैदिक सत्य है। **सत्यं वदिष्यामि।** सत्य माने लौकिक सत्य। जो वेदसे सत्य सिद्ध हो, वह 'ऋत्'। जो लौकिक तर्कसे सत्य सिद्ध हो, वह सत्य। आगम और तर्क दोनोंसे यही सिद्ध है कि—'आत्मा ब्रह्म है।'

तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु माम् अवतु वक्तारम्।

वह श्रोताकी रक्षा करे, वह वक्ताकी रक्षा करे। वह ब्रह्मातिरिक्तका भाषण न करे। वह सबको समझावे कि ब्रह्म ही ब्रह्म है। हमारे कानकी रक्षा करे कि वह 'सब परमात्मा है', इसके सिवा और कुछ सुने नहीं, जिससे रागद्वेषकी मनमें उत्पत्ति न हो। वक्ताकी रक्षा करे। वह भी यही कहे कि-'सब परब्रह्म परमात्मा है जिससे चित्तमें रागद्वेषकी उत्पत्ति न हो।

द्विषामहे माने हम रागद्वेष छोड़ करके परमात्माका चिन्तन, परमात्माका ध्यान करें।

अब आओ, द्रष्टा-दृश्यकी बात सुनावें। इसीसे 'दृग्-दृश्य-विवेक' 'त्वं' पदप्रधान ब्रह्म-साक्षात्कारका उपाय है। 'त्वं' पदार्थका अर्थ है 'मैं', 'तुम' जिसको आप लोग 'मैं' बोलते हैं, उसको मैं 'तुम' बोलता हूँ और जिसको आप लोग 'तुम' बोलते हो, उसको मैं 'मैं' बोलता हूँ।'

इसका अर्थ यह हुआ कि 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अहं' पदका जो अर्थ है, 'तत्त्वमसि' में 'त्वं' पदका वहीं अर्थ है। जिसको तुम सब लोग कहते हो कि 'तुम वक्ता हो'; मैं कहता हूँ, 'तुम श्रोता हो।' तुम कहते हो, 'मैं श्रोता हूँ', मैं कहता हूँ कि 'मैं वक्ता हूँ।' इसमें वक्ता और श्रोताका भेद हटा दो, यह औपाधिक है। कानकी उपाधिसे तुम श्रोता हो गये, वाणीकी उपाधिसे 'मैं' वक्ता हो गया। इसीको उपाधि बोलते हैं। इन दोनोंको हटा दिया जाय तो वक्ता वक्ता नहीं है और श्रोता श्रोता नहीं है। तब वहाँ क्या है? जो 'तुम' है सो 'मैं' है और जो 'मैं' है, सो 'तुम' है।

यह वक्ता और श्रोताकी उपाधि जो कान और जीभकी उपाधिके भेदसे आ गयी है, वही हमको अलग-अलग करती है। यह तो हुआ उपलक्षण। अन्तःकरणकी उपाधिके कारण जो 'मैं-मैं-मैं-मैं' मालूम पड़ता है, उस 'मैं' को अन्तःकरणकी

उपाधिसे अलग करना। उप=पास, आधि=रखी हुई चीज। 'आधान' जिससे होता है न; जो चीज पास रखी हुई हो, और दूसरी चीजको रंगारंग कर दे, उसका नाम होता है 'उपाधि'। उप=समीपे स्थित्वा। जो पास=समीप रखकर दूसरी चीजपर अपना रंग चढ़ा दे, उसका नाम होता है 'उपाधि'। जैसे लाल रंगकी कोई चीज शीशेके पास रख दें, तो वह शीशा रँगा हुआ दीखता है। तो वह लाल कपड़ा है उपाधि और शीशा लाल दीख रहा है। शीशा उपहित हो गया माने सफेद शीशा उपहित होकर लाल भासता है। वेदान्तके शब्दोंको अगर नहीं समझेंगे, तो बात बनती नहीं है।

आत्मा आभास होकर अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित हो करके संसारके विषयोंको प्रकाशित करता है। वैसे आभास और प्रतिबिम्बके अर्थमें वेदान्तकी दृष्टिसे थोड़ा भेद होता है। परन्तु हम मिलाके बोल रहे हैं।

जैसे, थालीमें पानी रखा है घरमें और सूर्यकी रोशनी भीतपर पड़ रही है। भीतका रंग दीख रहा है—लाल भीत है कि नीली भीत है, कि पीली भीत है कि काली भीत है। भीतमें रंग क्यों दीख रहा है? कि रोशनी पड़ रही है भीतपर। भीतपर रोशनी कहाँसे आरही है? थालीके पानीमें-से आ रही है। थालीमें रोशनी कहाँसे आ रही है? बाहरसे सूर्यका आभास पड़ रहा है। तो, सूर्य है आसमानमें और आभास है थालीमें और आभासका आभास कहाँ पड़ता है? भीत पर। और फिर भीतपर खूँटी है कि खूँटीपर कपड़ा रखा हुआ है, यह दिखायी पड़ता है।

जो परिपूर्ण परमात्मा है, वह तो सूर्यके समान है, सर्वव्यापी और हमारे अन्त:करणकी जो थाली है, उसमें वासना और वृत्तियोंका जो जल रखा हुआ है, उसमें वह आभासित होता है। इन वृत्तियोंके द्वारा जो रोशनी बाहर निकलती है, उससे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषय मालूम पड़ते हैं। तो, तुम कौन हो? तुम शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध जो मालूम पड़ते हैं सो हो? कि जिस नालीमें-से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध प्रवेश करते हैं, सो आँख-कान-त्वचा-जीभ-नाक हो? कि वह हृदयकी थालीमें जो जल रखा हुआ है सो हो? कि उसमें जो आभास है सो हो?

बोले—नहीं, तुम्हारे पीछे कोई नहीं हो सकता। तुम सबके पीछे हो। तो, सबके पीछे क्या है? जैसे सबके पीछे सूर्यकी रोशनी है, वैसे यह आत्मदेव जो हैं, वह आभासके पीछे है। इन्हींका आभास अन्त:करणमें पड़कर सबको प्रकाशित कर रहा है।

अब आप देखो! जहाँ अविवेकपूर्वक आप अपनेको कुछ मान बैठते हो, उसमें और सचाईमें मिलान करो। आप समझते हैं कि—'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ और मैं भिन्न-भिन्न वस्तुओंका ज्ञाता हूँ।'

कर्म होता है कर्मेन्द्रियोंसे और भोग होता है अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे, और आप प्रमाता बनते हैं इन्द्रियवृत्तियोंसे। 'प्रमाता=ज्ञाता,' जानकार। परन्तु आप बड़े कर्मी हैं, आप बड़े भोगी हैं, और आप बड़े जानकार हैं—यह आप अन्तःकरणकी उपाधिको अपनेमें आरोपित करके तब मानते हैं। इसका अर्थ हुआ कि आप आभासरूपसे अन्तःकरणमें बैठे हुए हैं।

जहाँतक आप कर्मेन्द्रियोंके उपयोगको करते और रोकते हैं, करनेमें भी कर्ता हैं और रोकनेमें भी कर्ता हैं। जैसे पाँवको समेटकर, हाथको समेटकर आप बैठ गये, सिर सीधा करके बैठे। जैसे हाथसे मशीन चलानेमें आप कर्ता हैं, वैसे हाथको रोककर बैठनेमें भी आप कर्ता ही हैं। यह नहीं समझ लेना कि हाथको रोककर बैठे हैं तो हम अकर्ता हो गये।

इसी प्रकार इन्द्रियोंको खोल करके आप देख रहे हैं तब तो आप ज्ञाता हैं और इन्द्रियोंको, छिद्रोंको बन्द करके बैठ गये तब आप ज्ञाता नहीं? यह बात नहीं है। उस समय बन्द छिद्रवाली इन्द्रियोंके आप ज्ञाता हैं।

जिस समय आपको सुखका भोग होता है—तो बोले—'भोग लेना बन्द कर दिया।' भोग लेना बन्द कर दिया तो आप अभोक्ता नहीं हुए; उस बन्द भोगके आप भोक्ता हो गये। एक दिन आपने खा लिया खूब और शरीर हो गया भारी। खानेका सुख लिया और भारी होनेका दुःख लिया। दूसरे दिन बोले—'भाई, आज हम नहीं खायेंगे। तो नहीं खाया। तो न खानेका सुख कौन ले रहा है? न खानेमें भी एक सुख है। जिसने खानेका सुख लिया था, वही न खानेका सुख भी ले रहा है। वहाँ भी भोक्तापना है और फिर—'मैं आज खाये बिना रह रहा हूँ,' इस अभिमानका सुख कौन ले रहा है? 'आज मैंने कुछ नहीं खाया है'—कुछ न खानेका भी सुख है और वह सुख भी तुम्हीं ले रहे हो। तो असलमें भोक्तापन हुआ।'

अब जरा आभासमें जो द्रष्टापनका आरोप होता है, उसपर विचार करो। यह प्रमातापना माने जहाँतक हम वृत्तियोंका व्यवहार चालू रख करके और बन्द रख करके अपनेको द्रष्टा मानते हैं, वहाँ तक तो द्रष्टा नहीं है, वहाँतक तो प्रमाता है।

अब जरा यह देखो कि—'मैं यह सोच रहा हूँ।' कल हमसे किसीने पूछी थी यह बात। एक होता है द्रष्टापनेका भाव और एक होता है द्रष्टापनेका अभिमान; और एक होता है सचमुच अपने स्वरूपमें द्रष्टाका अवस्थान—इसको तीन हिस्सोंमें करो।

द्रष्टापनेका भाव क्या है? जिस समय हम वृत्तियोंसे काम लेते हैं कि—'हम द्रष्टा हैं'—यह वृत्तियोंसे बार-बार दुहराना। शंकराचार्य भगवान्‌ने एक जगह लिखा है—

नहि वरः विघाताय संयोगवहः।

लड़कीसे जो ब्याह किया जाता है, वह वरको मारनेके लिए नहीं किया जाता। तो 'मैं द्रष्टा हूँ'-यह जो भाव किया गया, उसमें तो बार-बार 'मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ'- यह दुहरानेमें द्रष्टापनेका कर्तृत्व आ गया। तुमने द्रष्टापनेकी वृत्तिसे जो ब्याह किया, उसमें द्रष्टा बिचारा; द्रष्टाका दृष्टृत्व ही खतम हो गया; कर्तापन आ गया उसमें कि 'मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ।' यह द्रष्टापनेकी जो आवृत्ति है, यह द्रष्टापनेका भाव है। यह भाव न तो योगमें है, न तो सांख्यमें है। वेदान्तकी तो चर्चा ही छोड़ दो! अभी तो हाथ जोड़कर वेदान्तको दूर ही रखा है।

यह क्या है? बोले—'जैसे उपासक लोग 'राम-राम-राम-राम', यह आवृत्ति करके उपासना करते हैं, वैसे यह भी एक उपासना है कि—'मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ', मैं द्रष्टा हूँ'—यह जप है। जैसे 'सोऽहं, सोऽहं'—यह अहंग्रह उपासना करते हैं, वैसी होवे? 'सोऽहं' भी तो अहंग्रह उपासना ही है न!' वैसी नहीं है। उसमें क्या फरक है?

'सोऽहं'में तो परोक्षरूपसे जो 'तत्' पदार्थ है; कैसा 'तत्' पदार्थ? देशसे अपरिच्छिन्न, कालसे अपरिच्छिन्न, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, सच्चिदानन्दघन, अद्वय, जो 'तत्' पदार्थ है, 'वह मैं हूँ'। बारम्बार 'तत्' पदार्थपर दृष्टि जानेके कारण उसमे अज्ञातज्ञापक प्रमाणके उदय होनेकी सम्भावना है।

परन्तु 'मैं द्रष्टा हूँ','मैं द्रष्टा हूँ'में प्रमाणवृत्तिका सम्बन्ध तो टूटेगा, अन्तःकरणवृत्ति-सम्बन्ध तोड़नेकी शक्ति तो उदय होगी, परन्तु अपनी अपरिच्छिन्नताके ज्ञानकी शक्तिका उदय नहीं होगा। तो बोले कि—'हम दुहराते नहीं हैं, हम जानते हैं कि 'हम द्रष्टा हैं?'

अच्छा, एक दूसरी बात लो। हम आपको द्रष्टापन समझानेके लिए यह सुना रहे हैं। द्रष्टापनका खण्डन करनेके लिए यह नहीं सुना रहे हैं।

आप अपनेको शुद्ध द्रष्टा जानो। जो आपका आत्मा आन्तर-से-आन्तर, भीतरसे भीतर, एक रकम सेतो इतना भीतर है कि उसके भीतर दूसरी कोई चीज नहीं होती।

जब हम द्रष्टाका भाव रखें, तब हम द्रष्टा रहें और जब हम द्रष्टाका भाव न रखें, तब भी हम द्रष्टा रहें। यह कैसे? ऐसे कि जब हमको याद रहता है कि ब्राह्मण हैं तब भी ब्राह्मण रहते हैं और जब याद नहीं रहता तब भी हम ब्राह्मण रहते हैं। जब ब्राह्मणकी याद भूल जाते हैं, तब हम अब्राह्मण थोड़े हो जाते हैं? जब हमें याद रहता है कि हम संन्यासी हैं, तब भी हम संन्यासी हैं और जब याद नहीं रहता है कि हम संन्यासी हैं, तब भी हम संन्यासी हैं।

अध्यारोपका भाव जब प्रबल हो जाता है, तब विस्मृतिसे उसकी कोई हानि नहीं होती है, यह बात निश्चित है। मनुष्यमें ब्राह्मणपना आरोपित है और उसमें संन्यासीपनेका अध्यास हुआ। संन्यासीपना आरोपित है और उसका अपवाद कर देनेपर वह अवधूत हो गया। जब दण्ड नहीं, जब कमण्डलु नहीं, जब गेरुआ कपड़ा नहीं, तो कौन पहचानेगा कि यह संन्यासी है कि भिखारी है? संन्यासीपना भी आरोपित होता है और उसका भी अपवाद होता है।

इसी प्रकार द्रष्टापनका अभिमान जब अपनेमें आरोपित होता है, तब समाधिकालमें हम निरोधके द्रष्टा हैं; व्यवहारकालमें हम व्यवहारके द्रष्टा हैं। तब भी हम हैं द्रष्टा। अब देखो, इसमें सावधान रहनेकी जरूरत कहाँ है?

तुम एक शरीरके भीतर, अन्तःकरणके भीतरके बीचके माँय रहकर द्रष्टा हो, कि अन्तःकरणको छोड़ करके द्रष्टा हो? तुम्हारा घर अन्तःकरण है? कि अन्तःकरणका घर तुम्हारी दृष्टिमें है? यहाँ पकड़ो—

यह जो द्रष्टा है, वह अन्तःकरणका द्रष्टा है, अन्तःकरणके निरोधका द्रष्टा है और सम्पूर्ण विश्वके अन्तःकरणोंका द्रष्टा है; सम्पूर्ण विश्वके अन्तःकरणोंके बीजका द्रष्टा है।

द्रष्टाकी दृष्टिमें ही एक अन्तःकरण है। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही कोटि-कोटि अन्तःकरण हैं और द्रष्टाकी ही दृष्टिमें ही कोटि-कोटि अन्तःकरणोंके कोटि-कोटि बीज हैं। माने द्रष्टाका अधिकरण अन्तःकरण नहीं है, अन्तःकरणका अधिकरण द्रष्टाकी दृष्टि है।

जिस द्रष्टाका वर्णन सांख्य और योगमें है, उस द्रष्टाकी छाया अब आप छूने लगे हैं। थोड़ी देरतक अन्तःकरणमें जो द्रष्टापनेका भाव करते हैं, वह द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान नहीं है। अन्तःकरणरूप घड़ेमें रहनेवाले चेतनका नाम द्रष्टा नहीं है। जिस द्रष्टाकी दृष्टिसे अन्तःकरण सिद्ध होता है, उस द्रष्टाको 'द्रष्टा' बोलते हैं। इसमें एक बात और समझनेकी है।

अन्तःकरणमें जो वृत्तियोंकी प्रवृत्ति है, माने यह शब्दज्ञान है, यह स्पर्शज्ञान है यह रूपज्ञान है, यह रसज्ञान है, यह गन्धज्ञान है, यह सुखज्ञान है, यह दुःखज्ञान है, यह शत्रुज्ञान है, यह मित्रज्ञान है—यह अनेक-अनेक वृत्तियोंके रूपमें बदलता हुआ अन्तःकरण है। आप उसके तटस्थ और कूटस्थ द्रष्टा हैं।

तटस्थ और कूटस्थमें क्या फरक है? पहले एक महात्मा हमको कहा करते थे; हम अठारह-उन्नीस बरसके थे, तब वेदान्तकी चर्चा साधुओंके पास जा-जाकर किया करते थे। उनका कहना था कि तटस्थ होना माने किनाराकश होना। किनाराकश होना क्या है?

जैसे, गंगाजीकी धारा बह रही है। हम तटपर खड़े हैं। गंगाजीमें एक बार फूलमाला बह गयी,एक बार मुर्दा बह गया, एक बार कमलका फूल बह गया, एक बार किसीने कोई गन्दी चीज डाल दी थी वह बहती हुई निकल गयी। परन्तु हम तो किनारेपर खड़े हैं, तटपर खड़े हैं। न मुर्दाने हमको छुआ, न फूलने हमको छुआ। दोनों बह गये।

इस प्रकार यह प्रकृतिकी गंगा बह रही है—प्रकृतिकी धारा बह रही है। प्रकृति गंगा है। गं=गगनं=आकाश। **गगनं अभिव्याप्य गच्छति इति गंगा।**

आकाशमें जो चले, उसका नाम 'गंगा।' आकाशव्यापिनी जो प्रकृति है, जो आकाशसे पैदा करनेवाली कारण-प्रकृति है, उसकी धारा आकाशमें बहती रहती है। शब्दकी धारा बह गयी,स्पर्शकी धारा बह गयी, रूपकी धारा बह गयी, रसकी धारा बह गयी, गन्धकी धारा बह गयी, इन्द्रियवृत्तियोंकी धारा बह गयी और अन्तःकरणकी धारा बह गयी। और हम? बोले—'तटस्थ हैं, किनारे हैं। कोई सम्बन्ध नहीं है। धारा बह रही है, पर हम उसमें सम्बन्धशून्य हैं।'

द्रष्टापनेके भावमें वस्तुकी निवृत्ति नहीं होती, वस्तुके साथ सम्बन्धकी निवृत्ति होती है। यह द्रष्टापनेकी खास बात है। 'कूटस्थ' किसको कहते हैं? कूटस्थ उसको कहते हैं कि जो गंगाजीकी धाराके भीतर एक बड़ी भारी चट्टान है। तटस्थका अर्थ होता है अलग, किनारे। तट=किनारा कूटस्थका अर्थ होता है, ठीक गंगाजीकी धाराके बीच बहुत बड़ी चट्टान बैठी हुई है। वह कैसी है? उस परसे गंगाजीकी बाढ़ आके चली जाती है; गंगाजी शान्त होती हैं, वह बैठी रहती हैं। गंगाजी बहती रहती हैं; वह स्वच्छ होती हैं, गंदली भी होती हैं।

देखो, बाढ़ आती है, वह कूटस्थ डूब जाता है—वह चट्टान डूब जाती है। गंगाजीमें पानी कम होता है, तो वह चट्टान दीखती है। गंगाजी कभी शान्त और स्वच्छ होके बहती हैं, और कभी गँदली होकर बड़े वेगसे बहती हैं।

गँदला होना तमोगुण है। वेगसे बहना रजोगुण है, स्वच्छ और शान्त होना सत्त्वगुण है। ये तीनों गुण प्रकृतिकी धारामें बहते रहते हैं। परन्तु यह कूटस्थ? न गंगाजीकी स्वच्छताका असर है उसपर, न शान्तिका असर है। न प्रवाहका असर है और न तो गँदलेपनका असर है। वह ज्यों-की-त्यों बिना हिले-डुले अकम्प होकर बैठी हुई है।

गंगाजीसे अलग होकर तटस्थ होना, यह योगका द्रष्टा है और गंगाजीमें रहकर कूटस्थ होना, यह सांख्यका द्रष्टा है। तो योग और सांख्यके द्रष्टामें क्या फरक है?

योगका कहना है कि चित्तवृत्तिका निरोध हो जाने दो। और तुम उससे अलग हो जाओ। तुम वृत्तियोंके निरोधके, शान्तिके द्रष्टा हो। यावत्काल निरोध रहेगा, तावत्काल तो तुम शुद्ध द्रष्टा रहोगे और जब वृत्तियाँ उठेंगी, तब तुम्हारा उनके साथ हो जायगा सायुज्य। तब तुमको मालूम पड़ेगा—'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'मैं ज्ञाता हूँ।' जैसी-जैसी वृत्ति तुम्हारे सामने नाचेंगी, वैसे-वैसे तुम होते चले जाओगे। लेकिन फिर बादमें छोड़ दिया, फिर निरोध हुआ और फिर समाधि। इसका फल यह होगा कि विवेकख्याति हो जायगी—

तत् परंपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

इस अभ्यासवैरागयजन्य निरोध-अवस्थाके द्रष्टा होनेसे तब तुम यह समझ जाओगे कि वृत्तिके निरोध और विरोध दोनों ही अवस्थाओंमें 'मैं द्रष्टा हूँ।'

वृत्तिके निरोधमें वृत्तिके विरोधमें, वृत्तिके अनुरोधमें और वृत्तिके अवरोधमें—अवरोध, माने अन्त:पुर। जिस समय वृत्तियाँ निरुद्ध करती हैं उस समय भी मैं द्रष्टा; जिस समय वृत्तियाँ अनुरोध करती हैं उस समय भी मैं द्रष्टा;; अनुरोध माने विषयानुरोधसे जिस समय वृत्तियाँ परस्पर विरोध करें कि काम करें कि समाधि लगावें —उस विरोध दशामें भी द्रष्टा।

तुम द्रष्टा जो हो, अन्त:करणसे बिलकुल तटस्थ रह करके द्रष्टा हो। यह ज्ञान होनेसे वृत्तियाँ जो हैं, ये धीरे-धीरे शिथिल पड़ जाती हैं, ठण्डी पड़ जाती हैं और योगके प्रभावसे अभिभूत हो करके एकदम शान्त हो जाती हैं।

सांख्यदर्शनमें द्रष्टाका जो प्रसंग आता है, वह ऐसा है कि उसमें वृत्तियोंके अभिभवकी जरूरत नहीं है। निरोधके संस्कारसे वृत्तियोंका जो अभिभव होता है; अभिभव माने जैसे नशा छा जाय थोड़ी देरके लिए। नशा पीते हैं तो दिनभर छाया रहता है। इसी प्रकार थोड़ी देरके लिए वृत्तियोंका निरोध करते हैं, तो निरोधसे वृत्तियाँ ऐसी अभिभूत हो जाती हैं कि दिनभर, रातभर वह न-कुछके समान रहती

हैं। अर्थात् योगीकी चित्तवृत्ति निरन्तर शान्त रहती है। वह द्रष्टापनेके कारण शान्त नहीं है, अभ्यासजन्य शान्तिसे उसने वृत्तिको जो स्थिर किया है—निरोधजन्य संस्कारसे वृत्ति शान्त हो जाती है। द्रष्टा तो वही है; जो निरोधमें द्रष्टा है वही अभिभूत शान्तिका द्रष्टा है।

सांख्यदर्शनमें ऐसा मानते हैं कि वृत्तिका निरोध करके उसको अभिभूत करनेकी जरूरत नहीं है। इसमें जो दोष है, सो आपको बताते हैं।

एक अन्तःकरणकी वृत्तियोंका जब निरोध किया जाता है—आप असलमें जैसे एक शरीरको आसनसे बैठाते हैं, 'यह मेरा शरीर है' और एक शरीरमें चलनेवाली साँसको रोकते हैं कि 'ये मेरे प्राण हैं' और 'इनका प्राणायाम हो जाय, कुम्भक हो जाय'—इसी प्रकार आप एक अन्तःकरणमें बैठकर उन चित्तवृत्तियोंको निरुद्ध अथवा शान्त करते हैं, तो—'यह निरोध-अवस्था मेरे अन्तःकरणकी है, यह अन्तःकरण मेरा है और अब अभ्यास-वैराग्यके द्वारा मैंने इसमें निरोध-अवस्था उत्पन्न की है'—यह जो अन्तःकरणके साथ मेरेपनेका सम्बन्ध है, वह नहीं कटता है; मैं-पनेका सम्बन्ध कट जाता है।

'अन्तःकरण मैं हूँ'—यह सम्बन्ध कट जायगा, परन्तु 'अन्तःकरण मेरा है'—यह सम्बन्ध नहीं कटेगा। सांख्यदर्शनने इसके ऊपर द्रष्टाके सम्बन्धमें एक बात बतायी कि—

रागोपहतिर्ध्यानम्।

चाहे जितने विषय प्रतीत हों संसारमें और चाहे जितनी इन्द्रियाँ प्रतीत हों, चाहे जितनी वृत्तियाँ प्रतीत हों और अन्तःकरण चाहे जैसा प्रतीत हो, निरुद्ध हो कि अनिरुद्ध हो; अन्तःकरण अलग होकर चाहे शान्त बैठा हो या विषयोंमें जाता हो, यह अन्तःकरण न मैं है, न मेरा है।

द्रष्टा अर्थात्—वृत्ति कभी उदय होती है, कभी शान्त होती है, वृत्तियोंमें कभी सन्धि होती है, वृत्तियोंका कभी मिश्रण होता है, वृत्तियोंका कभी प्रलय होता है—ये पाँचों आकार वृत्तियोंमें रहनेपर भी द्रष्टा वह है जो किसी वृत्तिको 'मैं' और 'मेरी' नहीं समझता। विवेक हो गया। उसने अन्तःकरण और वृत्तिसे अपना विवेक कर लिया।

विवेक=अलगाव। अपने पृथक्त्वका बोध हो गया। पृथक्त्वका दर्शन ही सांख्यदर्शन है। दो विभाग हुए—एक दृश्य और एक द्रष्टा।

बौद्ध कहते हैं—'नहीं-नहीं, यह द्रव्य नहीं चित्त ही है जो द्रव्याकार भासता है। तुम चित्तको छोड़ करके अलग हुए हो।'

जैन कहते हैं—'यह पुद्‌गल है, पुद्‌गल जिसको तुमने दृश्यके रूपमें छोड़ दिया है।'

नैयायिक कहते हैं—'यह परमाणुओंका खेल है, जिसको छोड़कर तुम अलग हुए हो।'

सांख्यवादी कहते हैं—'यह प्रकृति है।'

पूर्वमीमांसक कहते हैं—'यह कर्मका वैचित्र्य है।'

वेदान्ती कहते हैं—'यह मिथ्या प्रतीतिमात्र माया है जिस दृश्यको छोड़ करके तुम अलग हुए हो, कि अपनेको द्रष्टा मानके बैठ गये न स्वरूपमें! तो जिस चीजको छोड़ करके तुम अलग हुए हो उस चीजके बारेमें तुम क्या सोचते हो?' क्या ख्याल है तुम्हारा? इस ख्यालका क्या असर पड़ेगा? यह असर पड़ेगा कि—वह अलग है, तुम अलग हो। तो तुमको द्वैतका ज्ञान हुआ है। एक दृश्य है, एक द्रष्टा है। वह दृश्य है तो तुम द्रष्टा हो। तुमको द्वैतका ज्ञान हुआ है!

अजी! तुमको द्वैतका ज्ञान नहीं हुआ है, तुमको अनेकत्वका ज्ञान हुआ है। कैसे? तब प्रत्येक अन्त:करणका जो द्रष्टा है, वह अलग-अलग आत्मा है, और सम्पूर्ण अन्त:करणोंका नियन्ता ईश्वर है। सम्पूर्ण अन्त:करणोंके रूपमें परिणामको प्राप्त होनेवाली प्रकृति है और कर्मवासनाके अनुसार सबका अलग-अलग शरीर है। तुमको द्वैतका ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, तुमको अनेकत्वकी भ्रान्ति हुई है।

अब यहाँसे यह जरूर निकालो कि जिस दृश्यको हमने छोड़ दिया है उसका भी पारावार मालूम होना चाहिए। उसका भी आदि-अन्त मालूम होना चाहिए।

अभी वेदान्त नहीं आया। क्यों नहीं आया? वेदान्त यों नहीं आया कि वेदान्तकी प्रतिज्ञा है कि—'एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। इसलिए कि द्रष्टाका तो ज्ञान हो गया, परन्तु दृश्यका ज्ञान नहीं हुआ।'

अब दूसरी बात देखो—ज्यादा दिनतक अनुसन्धान करते हैं, उनकी समझमें बात आती है। संसारके सब दर्शन केवल दु:खकी निवृत्तिके लिए हैं। न्यायदर्शन अपवर्जनार्थक है। सांख्यदर्शन दु:खनिवृत्यर्थक है। मीमांसादर्शन सम्बन्धलयार्थक है; बौद्धदर्शन दु:खनिवृत्यर्थ है। जैनदर्शन दोषनिवृत्यर्थ है। यह दोनोंमें फरक है। सुखप्राप्त्यर्थ केवल दो ही दर्शन हैं, यथाकथञ्चित् तीन : एक तो चार्वाक्‌दर्शन सुखप्राप्त्यर्थक है, क्योंकि उसमें विषयभोगजन्य सुखाकार वृत्ति होती है। एक भक्तिदर्शन सुखप्राप्त्यर्थ है, क्योंकि उसमें भगवदाकार भक्तिजन्य, सुखप्राप्त्यर्थ है।

आजके वेदान्तियोंमें जो सबसे ज्यादा गड़बड़घोटाला हुआ है, ईश्वरके बारेमें विचार न करनेसे और उपदेशकी जो प्रक्रिया है, उसको छोड़ देनेसे हुआ है। जहाँ

लक्ष्य होता है वहाँ क्रम भी होता है। अमुक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए क्या क्रम है? जहाँ लक्ष्यहीन तर्क होता है, वहाँ 'कहाँ पहुँचना है', यह मालूम नहीं।

कहाँ पहुँचना है, यह मालूम नहीं तो तर्क-वितर्क करके किस रास्तेपर चलोगे? पहुँचनेकी जगहका अगर ज्ञान न हो, तो कोई तर्क करके क्या रास्तेका निर्णय कर सकता है? माने, तुम अगर जंगलमें भटक जाओ, तो कहाँ पहुँचना है यह पता न हो। तर्क करके तुम पहुँचनेकी जगहका निश्चय कर सकते हो? नहीं कर सकते। इसीलिए आगमप्रक्रियाकी आवश्यकता होती है कि—हमको प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका बोध प्राप्त करना है तो उसकी प्राप्तिके लिए क्या प्रक्रिया होनी चाहिए?

सुखप्राप्त्यर्थ केवल तीन ही दर्शन हैं—एक चार्वाकदर्शन, एक भक्तिदर्शन और एक वेदान्तदर्शन। भक्तिदर्शनमें भगवदाकार-चित्तवृत्ति करो, सुख मिलेगा। वेदान्तदर्शन आत्मा और ब्रह्मका अभेदज्ञान प्राप्त करनेके लिए है। अनर्थनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी अवाप्तिरूप मोक्षके लिए है। माने, विवेक कर रहा हूँ, भेद आपको बता रहा हूँ।

कुछ दर्शन ऐसे हैं, जो दुःखनिवृत्ति करके छोड़ देते हैं। और कुछ ऐसे दर्शन हैं जो दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दका साक्षात्कार—अनुभव कराते हैं।

सांख्य और योगके द्रष्टामें और वेदान्तके द्रष्टामें पहला भेद यह है कि सांख्य और योगका जो द्रष्टा है वह प्रकृति और प्राकृतको मैं और मेरा मानना छोड़कर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जायगा। वह दुःखसे मुक्त हो जायगा, परन्तु परमानन्दलक्षणा मुक्ति जो है, परमस्वातन्त्र्यरूपा मुक्ति। हम उसको और सरल कर देते हैं। परमस्वातन्त्र्यरूपा मुक्ति सांख्य और योगके द्रष्टाको नहीं मिल सकती, क्योंकि उसका दुश्मन जो दृश्य है, वह तो सामने खड़ा है। उसको तो बारम्बार 'दृश्यसे एकता न हो जाय', 'दृश्यसे एकता न हो जाय'—यह डर लगा हुआ है और—

अभयं ह वै ब्रह्म। बृह० उ० ४-४-२५

ब्रह्म तो अभय पद है और जहाँ द्वैत है—

द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृह० १-४-२

वेदान्त कहता है—'दूसरेसे भय बना रहता है' और यहाँ द्वैत बना हुआ है। इसलिए दूसरेसे भय बना रहेगा। यहाँ भय बना हुआ है, तो स्वातन्त्र्य नहीं है और स्वातन्त्र्य नहीं है तो परमानन्द नहीं है। एक भेद यह हुआ।

सांख्यदर्शन और योगदर्शनमें जो द्रष्टामात्र है, उसमें दु:खनिवृत्ति तो है, परन्तु परम-निर्भयतारूप, परम स्वतन्त्रतारूप, परम अद्वितीयतारूप ब्रह्माभेदरूप जो मुक्ति है, वह मुक्ति उसमें नहीं है। इसलिए प्रयोजनका ही भेद हो गया।

एक दु:ख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करता है और एक अनर्थनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्तिके लिए, मुक्तिके लिए प्रयत्न करता है। योगदर्शनके प्रयोजन और वेदान्तदर्शनके प्रयोजनमें ही भेद हो गया।

दूसरी बात लो। दूसरी बात क्या है? अज्ञान निवृत्त हो गया कि नहीं? यह प्रश्न है। बोले कि—'अच्छा, तुमको मालूम है कि यह जो दृश्य दिखाई पड़ रहा है, यह कब पैदा हुआ और उसका कहाँ अन्त होगा? और किससे पैदा हुआ और किसमें भास रहा है? यह ज्ञान तुमको हुआ कि नहीं हुआ?'

द्रष्टाजी अगर ऐसा बोले कि 'मुझसे पैदा हुआ है, मुझमें दीख रहा है, मुझमें इसका अन्त हो जायगा', तो पहले यह बताओ कि तुम विकारी द्रष्टा हो कि निर्विकारी द्रष्टा हो? यदि तुम जगत् बन गये, तब तो तुम विकारी द्रष्टा हो और यदि तुम निर्विकारी द्रष्टा हो तो जगत्‌के रूपमें तुम पैदा हुए और जगत्‌का प्रलय तुममें होगा। यह बात तुम कैसे कहते हो?

यदि कहें कि—'अजी, मैं निर्विकार द्रष्टा हूँ, यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च मुझमें ही उत्पन्न-सा, स्थित-सा, प्रलीन-सा भासता है; वास्तवमें यह है ही नहीं।'

प्रपञ्च नहीं है, तो दूसरा द्रष्टा भी नहीं है और उसका नियन्ता भी नहीं है। तुम अद्वितीय द्रष्टा हो गये और वेदान्तमें तुम्हारा समावेश हो गया। यदि यह दृश्य सच्चा है और तुम द्रष्टा हो, तो वेदान्तका ज्ञान न होनेके कारण अज्ञान भी निवृत्त नहीं हुआ। आनन्दकी दृष्टिसे सच्चिदानन्दमेंसे पहले यह बात बतायी कि योग और सांख्यके द्रष्टाको आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। और दूसरी बात यह बतायी कि उसको जो अद्वितीय चिद्भाव है, उसकी भी प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि दृश्यरूपसे जड़ उसकी अक्लके सामने बना हुआ है—द्वैत बना हुआ है, इसलिए चिद्भावकी भी प्राप्ति नहीं हुई। अचित् बना हुआ है और द्वैत बना हुआ है और जड़ बना हुआ है।

जिसको आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई, उसके साथ कहीं-न-कहीं दु:ख लगा हुआ है। जिसके द्वैतकी—जड़की निवृत्ति नहीं हुई, उसको अज्ञान लगा हुआ है।

तीसरी बात देखो—द्रष्टा-दृश्यका विवेक करके देखो कि कौन सत् है, और कौन असत् है? सदसत्‌का भी विवेक नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? देखो, अन्तिम सत्य आत्मा होता है। यह बात नोट कर लो, अनुभव कर लो कि अन्तिम सत्य

केवल आत्मा ही होता है। वैसे 'ईश्वर है'—यह बात तभी मालूम पड़ सकती है जब आत्मा हो। आत्मा न हो तो 'ईश्वर है'—यह बात भी मालूम नहीं पड़ सकती; 'द्रष्टा है'—यह बात भी मालूम नहीं पड़ सकती; 'प्रकृति'—यह बात भी मालूम नहीं पड़ सकती; 'समाधि लगती है'—यह बात भी मालूम नहीं पड़ सकती, अथवा 'जगत्‌के मूलमें शून्य ही है'—यह बात भी मालूम नहीं पड़ सकती।

'जगत्‌के मूलमें शून्य ही है'—यह बात भी जिसको मालूम पड़ेगी, उसका नाम आत्मा। नैरात्म्यवाद नितान्त भ्रान्तिमूलक है। आत्मा ही सत् है।

अब देखो—आत्मा जो है, वह अनादि है, क्योंकि उसका जन्म कौन देखेगा? जो जन्म देखेगा, वह आत्मा तो पहलेसे ही होगा। आत्मा अनन्त है। आत्मा क्या अपना अन्त देखेगा? अपना अन्त तो देख ही नहीं सकता।

आत्मा अनादि और अनन्त है और इसमें जो घटः अस्ति, पटः अस्ति, जगत् अस्ति, ईश्वरः अस्ति, जीवः अस्ति—यह 'अस्ति-अस्ति'रूप जो वृत्ति होती है—सत्‌रूप आत्मामें यह अस्ति-अस्तिरूप वृत्तियाँ उदय होती हैं और मिट-मिट जाती हैं, तो परम सत्य आत्मा है, व्यावहारिक सत्य और सब दूसरा है। तो देखो, वेदान्तके द्रष्टामें परम सत्य-रूप अपना द्रष्टा है, बाकी सारी वस्तुएँ असत्य हैं।

यदि तुम द्वैतको भंग नहीं करोगे, दूसरेको असत्य नहीं समझोगे तो देही बने रहोगे, ब्रह्म नहीं। यदि तुम दूसरे ज्ञेयको मिटाओगे नहीं तो तुम ज्ञाता बने रहोगे, द्रष्टा नहीं। मिथ्या दृश्यका द्रष्टा होता है और सत्य दृश्यका ज्ञाता होता है। तुम प्रमाता बने रहोगे। तुम्हारे दुःख तो सारेके सारे मिट जायेंगे, लेकिन परमानन्दस्वरूप जो अभयपद है ब्रह्म, उसका साक्षात्कार नहीं होगा।

यह अद्वैतवेदान्तका जो द्रष्टा है, उसके स्वरूपको समझनेके लिए 'एकजीववाद'की प्रक्रियाको स्वीकार करना पड़ता है। 'एकजीववाद' की जो प्रक्रिया है, उसको समझे बिना वेदान्तका जो द्रष्टा है, वह समझमें नहीं आता है।

इस विश्लेषणका अभिप्राय यह है कि—इस विश्लेषणसे जब द्रष्टा सत् है और दृश्य असत् है, तो उसको कहाँसे लेना पड़ेगा? आत्मा आनन्दरूप परमप्रेमास्पद है और जो दृश्य है, वह अनात्मरूप और दुःखरूप है। इससे वैराग्य होना चाहिए।

एक बात—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और अनात्मा ज्ञेय, जड़ अन्य जितना है, वह ज्ञेय और जडस्वरूप है; तो आत्माको असंग द्रष्टा होना चाहिए।

पहली बात यह है कि सुख—आनन्द और दुःखका विवेक करके आत्माको आनन्द स्वरूप जानो। तो दुःख-दोषरूप दृश्यसे वैराग्य होगा और फिर जड-

चेतनका विभाग करके अपनेको चेतन जानो और दृश्यको जड जानो। तो जडसे अपना विवेक हो करके हम चेतन द्रष्टा हैं और यह दृश्य जड है; तो असंगता आवेगी। पहले वैराग्य आवेगा, फिर असंगता आवेगी।

उसके बाद देखो—जड दृश्य है वह असत् है और आत्मा सद्‌रूप है। एक आत्मा ही सत्य है, उसके सिवाय जो कुछ है, वह असत्य है, मिथ्या है। इससे क्या होगा? इससे आत्मा अद्वितीय हो जायगा। यह जो आत्माकी अद्वितीयता है, इसीको ब्रह्म कहते हैं। यही समझानेके लिए सम्पूर्ण वेदान्तोंकी प्रवृत्ति हुई है। इसलिए साधकको जिद्द करके गिरी हुई जगहमें नहीं बैठना चाहिए; विवेक करके जो उत्तमसे उत्तम स्थान है, उसमें बैठना चाहिए। अपना स्वरूप है, उसमें बैठना चाहिए। यह 'दृग्-दृश्य विवेक'का अभिप्राय है।

●

प्रवचन

१०

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ १॥
नीलपीतस्थूलसूक्ष्म- ह्रस्वदीर्घादिभेदतः।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥ २॥
आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥ ३॥
कामः सङ्कल्पसन्देहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः॥ ४॥
नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना॥ ५॥

अच्छाजी, आओ द्रष्टा-दृश्यका विवेक करें। पहले तो मामूली आदमीको मालूम नहीं पड़ता है कि द्रष्टा-दृश्यका विचार करनेसे फायदा क्या है? लाभ क्या है? मनुष्यकी मनोवृत्ति जबतक बानियेकी होती है, तबतक वह लाभ देखे बिना, प्रयोजन देखे बिना किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता।

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

मन्द-से-मन्द मनुष्य भी प्रयोजनका विचार किये बिना कि—'इससे हमको क्या लाभ होगा'—किसी काममें लगता नहीं है। तो द्रष्टा-दृश्य विचार करनेसे लाभ क्या है? फायदा क्या है? श्रुतिमें भी 'लाभ' शब्दका प्रयोग होता है—

आत्मलाभात् न परं विद्यते।

आत्माके लाभसे बढ़ करके दूसरा कोई लाभ नहीं है।

अरे भाई! तुम तो अपनेको ही खो बैठे हो। अपनेको कैसे खो बैठे हैं? एक दिन सड़कपर जारहे थे, तो दो आदमी आपसमें लड़ रहे थे। जो तीसरा आदमी जा

रहा था, वह पहले तो गया दोनोंको छुड़ानेके लिए कि दोनोंको अलग-अलग करें। लेकिन एक आदमीका हाथ लग गया उसको, तो वह दूसरेकी ओर हो गया और उससे लड़ने लगा। जिससे लड़ाई हो रही थी, जो चोर था, जिसने जेब काटी थी, वह तो भाग गया और जो छुड़ाने गया था सो और जिसकी जेब कट गयी थी सो, दोनों आपसमें उलझने लगे। लड़ाई हो गयी। उसने न जेब काटी थी, न उसकी जेब कटी थी। वह तो गवाह था, द्रष्टा था। द्रष्टा माने साक्षी=गवाह। न तो वह जेब काटनेवाला अभियुक्त था और न तो जिसकी जेब कटी थी, वह अभियोक्ता था। दोनोंसे वह न्यारा था, लेकिन भाई! दालभातमें मूसलचन्द! वह दोनोंके बीचमें कूद पड़ा और खुद अभियुक्त बन गया। तो पुलिस उसीको पकड़कर ले गयी कि तुम बीचमें क्यों पड़े?

इसी प्रकार यह जो संसारका व्यवहार हो रहा है, इसमें जो गवाह है, जो साक्षी है, इसमें कूद पड़ता है और अपनेको पक्षी बना लेता है। खुद है तो झूठ-मूठ देखनेवाला और बन जाता है कर्ता, बन जाता है भोक्ता।

'हाय-हाय! हमारी जेब कट गयी!' और, 'इतने रुपये चले गये!' 'हाय-हाय! हमको झूठा ही दोष लगा रहे हैं!' तो आप यह समझो कि द्रष्टा-साक्षी होनेका अभिप्राय यह है कि दुनियामें जितने झगड़े हो रहे हैं—कोई लड़ रहे हैं, कोई लाड़ कर रहे हैं। तो लड़नेवाले भी फँस गये और लाड़ करनेवाले भी फँस गये। कम्बलने हमको नहीं पकड़ रखा है, हमने कम्बलको पकड़ रखा है। गये थे दुनियामें तमाशा देखनेके लिए और खुद तमाशा बनकर रह गये। तो साक्षीका अभिप्राय यह होता है कि—तुम दोनों पक्षोंमें-से कोई नहीं हो। यह साक्षीका अर्थ होता है।

यह पोथी जो हमारे सामने है—यह 'वाक्यसुधा', बचपनसे हमारे साथ है। १७-१८ वर्षका था तबसे हमारे साथ है। वह रखी रहती है, कोई पढ़ता थोड़े ही है? उसके साथ एक बात हमको याद आगयी।

पहले लोग हमको पूछा करते थे कि 'जब आँखसे यह दुनिया दिखती है, नाकसे सूँघी जाती है, जीभसे स्वाद आता है, सब इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती है, तो यह सच्ची क्यों नहीं है? प्रमाण-प्रतिपन्न यह सृष्टि आँखसे, कानसे, नाकसे, जीभसे, त्वचासे, मनसे, दिलसे, दिमागसे यह सृष्टि मालूम पड़ती है, तो यह सच्ची क्यों नहीं?'

इसका इस किताबके साथ सम्बन्ध यह है कि जब मैं किताब पढ़ता था, तो मैंने यह बात याद कर रखी थी। अपने दिमागमें जमा रखी थी:

यह चालीस वर्ष पहलेकी बात है कि हम लोगोंको यह जवाब देते थे—हम लोगोंको पूछते थे कि—'तुम्हें जो यह दुनिया दिखायी पड़ती है, यह दुनियासे दिख पड़ती है, या बिना दुनियाके दिख पड़ती है। तुम्हारी आँख, तुम्हारे कान, तुम्हारी नाक, तुम्हारी जीभ, तुम्हारी त्वचा, तुम्हारा मन—यह भी संसार ही है कि यह संसार नहीं है? तुम्हें इन्द्रियोंसे और अन्तःकरणसे सृष्टि दिखती है। तुम सृष्टि कहते किसको हो? अन्तःकरण सृष्टि है कि नहीं? आँख-कान सृष्टि है कि नहीं?'

वे कहते—'हाँ, सृष्टि तो यह भी है।' मैं कहता—'सृष्टिसे ही तो सृष्टि दिखती है। तुम सृष्टिके बारेमें कोई ऐसा प्रमाण बता दो जो सृष्टि न हो।'

चोरका गवाह चोर! चोर-चोर मौसेरे भाई! सृष्टिके अस्तित्वके बारेमें सृष्टिकी गवाही नहीं चल सकती। पहले तुम सृष्टि मत बनो, स्रष्टा मत बनो, पहले अपनेको द्रष्टा जानो।

अब कुछ सवाल आपको बताते हैं—

१. आप द्रष्टा हैं कि आपको द्रष्टा होना है? इस सवालपर आप विचार करो।

२. द्रष्टा एक है कि अनेक है? आप यह प्रश्न अपने मनमें बैठा लो।

३. आप जब व्यवहार करते हैं तो अन्तःकरण, इन्द्रिय, देहसे एक हो जाते हैं कि नहीं हो जाते हैं?

४. द्रष्टा और दृश्य एक है कि दो? यदि द्रष्टा और दृश्य अलग-अलग है, तो दोनोंके बीच सन्धि क्या है? क्योंकि दो चीज तो तब होती है, जब दोनोंके बीचमें विभाजक रेखा होती है। दो उँगली अलग-अलग हैं। क्यों? क्योंकि दोनोंके बीचमें अवकाश है और द्रष्टा और दृश्यके बीचमें विभाजक-रेखा क्या है? एक; और द्रष्टा-द्रष्टा दो है, तो उनमें विभाजक-रेखा क्या है? यह दो, और कोई अज्ञात पदार्थ हो सकता है जो द्रष्टाके पीछे बैठा हो और उसको रोशनी दे रहा हो? ऐसा हो सकता है क्या? आप द्रष्टा हैं कि आपको द्रष्टा होना है? आप ध्यानसे इन बातों पर विचार करें।

जो लोग तीन मिनटमें समाधि लगवा देते हैं! हम कहते हैं कि हम एक सेकण्डमें आपका अज्ञान मिटाते हैं। आपको तो समाधि लगानेमें तीन मिनट लगता है! यह जो आपको मालूम पड़ता है कि परमात्मा अप्राप्त है; यह जो आपको मालूम पड़ता है कि अद्वैत नहीं है, द्वैत है; आपको मालूम पड़ता है कि आपका आत्मा पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी है, ये सब अज्ञानके खेल हैं और अज्ञान मिट जाय तो

एक सेकण्ड नहीं लगता है। सेकण्डमें अज्ञान मिट सकता है। अज्ञानका मिटना और ज्ञान होना—इसमें दो काल नहीं है, एक ही काल है। बल्कि काल ही मिट जाता है। ऐसा है ज्ञान! आप विचार करो।

एक सज्जन द्रष्टा हो गये हैं—उनका नाम-पता हम आपको बता दें? आप द्रष्टाजीकी जाति जानना चाहेंगे, नाम जानना चाहेंगे, गाँव जानना चाहेंगे; आप द्रष्टाजीका व्यक्तित्व जानना चाहेंगे। हे भगवान्! जो अपनेको द्रष्टा भी जानता है और अपनेको अलग भी जानता है, तो वह अलगावका ज्ञाता है, प्रमाता है। वह अलगावका द्रष्टा नहीं है। यह बड़ी अद्भुत बात है।

यह जो भेद है कि एकसे दूसरा अलग है, दूसरेसे पहला अलग है, इस भेदका ज्ञान बिना अन्तःकरणकी वृत्तिके नहीं होता। जब दृष्टा अन्तःकरणकी वृत्तिसे तादात्म्य करता है, तब भेदका ज्ञान होता है। यह बात सूक्ष्म है। बिना अन्तःकरणकी वृत्तिसे एक हुए, भेदका ज्ञान होता ही नहीं।

जो द्रष्टाजी ऐसा अनुभव करते हैं कि 'मेरी समाधि लगती है'; आप सोचो कि वह द्रष्टा है कि नहीं है? देखो, इसका उत्तर है कि—'वह नहीं है।'

तुम्हें समाधि लगती है अन्तःकरणमें, विक्षेप होता है अन्तःकरणमें। अन्तःकरणका धर्म है समाधि। उस समाधिको अपनेमें आरोपित करके वे ऐसा बोलते हैं कि—'मेरी समाधि लगती है।' जिस अन्तःकरणकी समाधि लगती है, उससे तुम न्यारे हो, तुम उसके द्रष्टा हो।

मान लो, समाधिकालमें न्यारे हो गये। मान लो, समाधिकालमें ईश्वर भी न्यारा नहीं है; दूसरा द्रष्टा भी नहीं भासता है और संसार भी नहीं भासता है, समाधिकालमें अन्यरूपसे ईश्वर नहीं भासता है, अन्यरूपसे दूसरा द्रष्टा नहीं भासता है, अन्यरूपसे दृश्य नहीं भासता है और यह दूसरा द्रष्टा, ईश्वर और दृश्य स्वरूप रूपसे भी नहीं भासते हैं। क्योंकि जहाँतक अज्ञान है, वहाँतक स्वरूपरूपसे भासेंगे नहीं और अज्ञान नहीं है तो समाधि और विक्षेपकी कोई कीमत नहीं है।

जब व्यवहार करोगे तब अन्तःकरणकी वृत्तियोंके साथ ही व्यवहार करोगे और जहाँ अन्तःकरणसे तादात्म्य हुआ, जहाँ जुड़े; क्योंकि व्यवहार एक अन्तःकरणसे करोगे, सब अन्तःकरणसे तो करोगे नहीं। तो जहाँ एक अन्तःकरणसे व्यवहार किया, वहाँ अन्तःकरणी प्रमाता बन गये।

अन्तःकरणका कर्म तुम्हारा कर्म, अन्तःकरणकी वासना तुम्हारी वासना, अन्तःकरणकी वृत्ति तुम्हारी वृत्ति, अन्तःकरणका भोग तुम्हारा भोग। समाधिकालमें

तो तुम द्रष्टा हो गये थे; अभ्यासके द्वारा हो गये थे, साधनके द्वारा हो गये थे, निवृत्तिके द्वारा हो गये थे, शान्तिके द्वारा हो गये थे भला! माफ करना, हो गये थे। निरोधकालमें तो तुम द्रष्टा हो गये थे।

अब व्यवहारकालमें तुम एक अन्त:करणके साथ मिलकर उसकी वृत्तिको अपनी वृत्ति, उसके प्रमाणको अपना प्रमाण, उसके कर्मको अपना कर्म, उसके भोगको अपना भोग, उसकी वासनाको अपनी वासना, उसकी प्रवृत्तिको अपनी प्रवृत्ति मान रहे हो और साथ-साथ यह भी कि हम तो द्रष्टा हैं और दूसरे द्रष्टा हैं ही नहीं! हम तो ज्ञानी हो गये, हम तो द्रष्टा हो गये और दूसरे सब अज्ञानी हैं!! हमारी तो समाधि लगी और दूसरे तो सारे विक्षिप्त हैं! हम तो मुक्त हैं, दूसरे बद्ध हैं!

अरे! यह क्या तुमने भेदन-छेदन कर लिया? भेदन=टुकड़े-टुकड़े। आओ, द्रष्टाका विवेक करो। आँख बन्द करके बैठनेका नाम 'द्रष्टा' नहीं है। यदि तुम द्रष्टा 'हो जाओगे', तो फिर 'बिगड़ जाओगे', द्रष्टा नहीं रहोगे!

अच्छा, यदि तुम दृष्टा हो, तो अपनेको द्रष्टा कैसे जानते हो? यह एक सवाल है। हम अपनेको दृश्यसे अलग करके द्रष्टा जानते हैं। हम पाँचों विषयोंके द्रष्टा हैं, हम पाँचों विषयोंके अभावके द्रष्टा हैं; हम पाँचों कर्मेन्द्रियोंके द्रष्टा हैं और उनके पाँचों कर्मोंके द्रष्टा हैं। हम मनकी पाँचों वृत्तियोंके द्रष्टा हैं और कर्मेन्द्रिय, विषय, ज्ञानेन्द्रिय और उनके अभावके भी द्रष्टा हैं। बहुत बढ़िया! तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर! द्रष्टा तो तुम सबके हो, पर तुमने जाना तो दृश्यको जाना कि द्रष्टाको जाना? सवाल तो यह है।

जो जाना गया सो तो द्रष्टा नहीं और तुमने जिसको जाना सो द्रष्टा नहीं। जाना तुमने दृश्यको, तो द्रष्टाको कहाँ जाना? सवाल तो यह है। जैसे तुमने एक अन्त:करणके समाधि और विक्षेपको जाना; वैसे हजार-हजार जिज्ञासु हैं, हजार-हजार साधक हैं। सब अपने-अपने अन्त:करणके निरोध और विक्षेपके द्रष्टा बने बैठे हैं, तो कितने द्रष्टा हैं आखिर? द्रष्टाओंकी कोई गिनती है?

अन्यगत विशेषसे अन्यमें भेदकी कल्पना करना, यह सर्वथा अनुभवके विरुद्ध है। जैसे देखो, शरीर सबके अलग-अलग मरते हैं, अलग-अलग पैदा होते हैं, अलग-अलग काम करते हैं, सबकी वासनायें अलग-अलग होती है। सब अलग-अलग खाते हैं, अलग-अलग पीते है, अलग-अलग सोचते हैं। सबकी वासनाएँ अलग-अलग हैं अन्त:करणमें। यह तो न 'तत्'करणमें सब अलगाव है न!

अन्त:करणमें सब अलगाव है। उसको तुम आरोपित करो द्रष्टामें! कर्मवासना, भोगवासना, अनुभववासना, आवागमन, जन्ममृत्यु, पुनर्जन्म, परलोक—सब-का-

सब है अन्तःकरणमें। उसके कारण तुम अपनेको अलग-अलग मानते हो तो अन्य पदार्थका जो गुण है, जो धर्म है, जो विशेष है, उसको तुम अपने ऊपर आरोपित कर रहे हो।

इस बातको वेदान्तमें बहुत बढ़िया ढंगसे कहा जाता है। नये शब्द समझमें नहीं आते हैं। पुराने शब्दोंके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। हम गये 'बरेली'में। वहाँ एक साइनबोर्ड लगा हुआ था—'अधीक्षक अभियन्ता'। 'इंजीनियर'को तो मैं जानता हूँ, लेकिन 'अभियन्ता'को नहीं जानता हूँ। माने, जिन पुराने शब्दोंसे हमारा परिचय है, उस शब्दके द्वारा ही हम नवीन शब्दको समझते हैं।

अब बात रही वस्तु दिखानेकी, तो घट-पटादिके समान कोई वस्तु तो है नहीं, कि भाई, हम पकड़के हाथसे दिखावें। संस्कृतमें एक शब्द चलता है—'सामानाधिकरण्य' और 'व्यधिकरण्य'। एक ही आधारमें दो चीजका होना 'सामानाधिकरण्य' है। जैसे, एक बर्तनमें दूध और पानी दोनों मिलाके रख दें, तो समान अधिकरणमें—एक ही बर्तनमें दूध और पानी पानी दोनों मिले हुए रखे हैं। इसको 'सामानाधिकरण्य' बोलते हैं।

एक होता है 'व्यधिकरण्य'। एक बर्तनमें आग और पानी दोनोंको नहीं रख सकते। अब आप देखो कि द्रष्टाकी जो सत्ता है, द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित है और अन्तःकरण दृश्यमें कल्पित है। कल्पित दृश्यमें अन्तःकरण भास रहा है; तो अन्तःकरणकी प्रातिभासिक सत्ता है और द्रष्टाकी पारमार्थिक सत्ता है। प्रातिभासिक सत्तावाली वस्तु पारमार्थिक सत्ताका कोई विरोध नहीं कर सकती। आपसमें समसत्ता होती है तब विरोध होता है और आपसमें विषमसत्ता होती है तब विरोध नहीं होता। जैसे व्यवहारमें आग लगे और आप कहो कि मैंने तो सपनेमें गंगाजी बहती हुई देखी है। तो, सपनेके पानीसे जाग्रतकी आग नहीं बुझ सकती और जाग्रतके पानीसे सपनेकी प्यास नहीं बुझ सकती, चाहे कितने भी घड़े पानी भरे रखे हों।

इसको बोलते हैं कि जहाँ समसत्ताकत्व होता है वहाँ विरोध नहीं होता। माने, जागतेकी आग जागतेके पानीसे बुझेगी और सपनेकी आग सपनेके पानीसे बुझेगी। जागतेकी आग सपनेके पानीसे नहीं बुझेगी और सपनेकी आग जागनेके पानीसे नहीं बुझेगी। द्रष्टा जो है, वह तो देश-काल-वस्तुका द्रष्टा है, देश-काल-वस्तुका अधिकरण है और देश-काल-वस्तुके अभावका भी अधिकरण है।

ऐसी स्थितिमें एक देशमें, एक कालमें, एक आकारमें प्रतीत होनेवाला अन्तःकरण द्रष्टाका विरोधी नहीं हो सकता। द्रष्टाका समसत्ताक नहीं है अन्तःकरण। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण दुनियामें खेल रहा है और ज्ञानस्वरूप तुम जो हो, अन्तःकरणसे बिलकुल निराले हो। अत्यन्त स्वातन्त्र्य वर्तन।

पहली बात—आप विचार यह करें कि आप द्रष्टा हैं कि आपको द्रष्टा होना है ?

बोले कि—'द्रष्टा बनकर बैठ जाओ।'

आप जब बनके बैठे, तो यह बनावटी द्रष्टा, झूठा हुआ।

'अच्छा, तो द्रष्टा हो जाओ!'

'अभी नहीं हो, तो हो जाओगे। तो द्रष्टा होना भी नहीं है।'

पहले हम लोग एक सत्संगमें जाते थे। कहते थे कि 'द्रष्टा-साक्षीका ध्यान करो। सब लोग बैठो, आसनसे बैठो।' अच्छा भाई, बैठ गये। बोले-'पीठकी रीढ़ सीधी करो। आसनसे बैठो।' अब क्या है ? बोले—'द्रष्टा साक्षीका ध्यान करो।'

जिसका ध्यान किया जायेगा, वह द्रष्टा-साक्षी होगा ? जो ध्यान करनेवाला है, उसका अपना आपा द्रष्टा-साक्षी है। जिसका ध्यान किया जाता है, वह द्रष्टा-साक्षी नहीं होता। बोले कि-'साक्षी-द्रष्टाका ध्यान करो।' क्या साक्षी द्रष्टाका ध्यान करें ? उनके तो हजारों अनुयायी थे, उनके पीछे चलते थे। आप लोगोंको तो हँसी आती है और उनके यहाँ तो हजारों आदमी साक्षी द्रष्टाका ध्यान किया करते थे। बात यह है कि जबतक दुनियामें नासमझ रहेंगे, तब तक उनको भटकानेवाले लोग भी रहेंगे।'

असलमें इस द्रष्टा साक्षीकी बात इतनी है कि इन्द्रियोंको मेरी मानकर, मनको मेरा मानकर, बुद्धिको मेरी मानकर, चित्तवृत्तिको मेरी मानकर उसके विक्षेप और समाधिसे आप अपनेको सुखी और दुःखी मानते हो। 'द्रष्टा' कहनेका अभिप्राय यह है कि चित्तकी समाधिसे तुम्हारी समाधि नहीं लगती। तुम चंचल नहीं हो। बुद्धिके ऊहापोहसे (माने उधेड़बुनसे) तुममें कुछ ऊहापोह नहीं आता। अन्तःकरण सोवे तब भी तुम जागे, तब भी तुमने सपना देखा, तब भी तुमने व्यवहार किया, तब भी तुम और व्यवहारसे मुक्त हो, तब भी तुम—तुम्हारी जो सत्ता है, वह-अखण्ड है। तुम्हारी जो दृष्टि है वह अखण्ड है। अन्तःकरणके धर्मको अपनेमें आरोपित करके साधक लोग बहुत दुःखी होते हैं।

देखो, जमीनको अपनी मान करके राजा लोग दुःखी होते हैं कि नहीं ? सेठ लोग पैसेको अपना मान करके दुःखी होते हैं। न जमीन राजाकी और न पैसा सेठका। अच्छा, पैसा अपना है तो सेठ रख ले अपने घरमें, दूसरेको क्यों देते हैं ? वह तो बाजारमें घूमनेवाली चीज है। जिस दुकानमें जाता है, वही उसको अपना समझता है। जिस दुकानमेंसे निकल जाता है, उस दुकानवाला उसको अपना नहीं समझता। माने, पैसा किसीका अपना नहीं है। थोड़ी देरके लिए हम उसको अपना मान लेते हैं। इसी प्रकार जमीन अपनी नहीं है, परन्तु उसको हम अपनी समझते हैं।

इसी प्रकार यह शरीर भी अपना नहीं है। इसका कालापन-गोरापन अपना नहीं है। इसकी जवानी और बुढ़ापा भी अपना नहीं है। इसका पैदा होना और मरना भी अपना नहीं है। इसका पुनर्जन्म भी अपना नहीं है। इसका नरक-स्वर्गमें जाना भी अपना नहीं है। इसका सुखी-दु:खी होना भी अपना नहीं है।

इस शरीर और अन्त:करणके धर्मको अपनेमें अध्यस्त करके—अपनेमें आरोपित करके हम इनके साथ एकमेक हो जाते हैं, हम इनके साथ लथपथ हो जाते हैं और इनके जो हम द्रष्टा हैं—इस बातको नहीं समझते। अच्छा, तो इसमें बात क्या है?

जितने देह उतने द्रष्टा? जितने अन्त:करण उतने द्रष्टा? देह और अन्त:करण तो सबके अलग-अलग हैं। कंगन टूट जाय तो क्या सोना टूट गया कि कंगनकी शक्ल टूट गयी? एक नहरनी टूट गयी तो लोहा टूट गया कि नहरनी टूट गयी? एक घड़ा फूट गया तो माटी फूट गयी कि घड़ा फूट गया? घड़ेका फूटना माटीका फूटना नहीं है।

अच्छा, इन्द्रधनुष आकाशमें बना और बिगड़ गया तो उससे क्या सूर्यका कुछ बिगड़ गया? उससे आसमानका कुछ बिगड़ गया?

ऐसे ये जितनी परिच्छिन्नताएँ हैं, ये द्रष्टाकी दृष्टिमें बनती और बिगड़ती हैं। किसीके मरनेसे इस गवाहका, इस साक्षीका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यह नुकसानका भी गवाह है और फायदेका भी गवाह है। न इसका नुकसान है, न इसका फायदा है। नुकसान होगा तो कर्ता-भोक्ताका होगा, फायदा होगा तो कर्ता-भोक्ताका होगा! द्रष्टाका न फायदा है न नुकसान है। क्या बढ़िया बात है!

इस अन्त:करणकी जो विशेषता है, वह द्रष्टामें आरोपित नहीं होती। माने अपनेमें नहीं है। तब इसके भेदसे अपनेमें भेद क्यों होने लगा?

बात यह है कि अन्त:करणके भेदसे द्रष्टामें भेद होता है कि भेद नहीं होता है? अच्छा, थोड़े दिन पहले एक रुपयेमें कितने पैसे होते थे? चौंसठ और अब सौ पैसे होते हैं। तो असलमें बताओ, रुपया कितने पैसेका होता है? चौंसठ पैसा असली कि सौ पैसा असली? अरे भाई, रुपयेमें न चौंसठ पैसा होता है, न सौ पैसा होता है। सरकार कल्पनासे रुपयेमें जितने पैसे कल्पित कर लेती है, उतना पैसा होता है।

अब बताओ कि जैसे रुपयेमें पैसा कल्पित है, घण्टेकी बात बताओ, घण्टेमें साठ मिनट। जैसे सरकारने रुपयेमें पैसेका संशोधन किया है, वैसे घण्टेमें हिसाब लगानेके लिए संशोधन किया जा सकता है कि नहीं? सौ मिनटका घण्टा! आज नहीं मालूम पड़ता सुननेवालेको, परन्तु कोई भी सरकार घण्टेमें संशोधन करके सौ

मिनटकी कल्पना कर सकती है। एक मिनटमें सौ सेकण्डकी कल्पना कर सकती है। इस तरह समयका हिसाब लगानेमें बहुत सुविधा भी हो जायेगा।

जैसे दशमलवकी पद्धतिमें सौ पैसेसे हिसाब लगानेमें सुविधा हो गयी न? वैसे दशमलवकी पद्धतिसे मिनटोंका हिसाब लगानेमें सुविधा हो जायेगी। क्यों नहीं होगी? घण्टेमें साठ मिनट कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं। घण्टा एक है, मिनट साठ। रुपया एक है, पैसे सौ।

नक्शा बनाओ। एक इंचमें कितने मील? वह तो नक्शा बनानेवाला कल्पना करता है कि हम यहाँ एक इञ्चमें पचास मील दिखा रहे हैं! छोटा नक्शा हो तो एक इञ्चमें पाँच सौ मील दिखा रहे हैं। एक इञ्चमें सौ मील कि एक इञ्चमें पाँच सौ मील? यह कल्पित सत्य है। यह वास्तविक सत्य नहीं है।

एक अद्वितीय परमात्मामें ये पाँच कोश हैं और तीन अवस्थाएँ हैं। पाँच-पाँचका हिसाब बताया था न! पाँच विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, अन्तःकरणकी पाँच वृत्तियाँ, उनमें मूढ, विक्षिप्त, क्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध आदि वृत्तियाँ, उनमें प्रमाणकी पाँच वृत्तियाँ, क्लेशजन्य पाँच वृत्तियाँ, अक्लेशजन्य पाँच वृत्तियाँ, सम्प्रज्ञात समाधिके भी पाँच भेद और असम्प्रज्ञात समाधिके भी पाँच भेद हैं। आप क्या समझते हैं कि ये पाँच-पाँच हैं?

नहीं, इनको कहीं चार बताया है, कहीं तीन बताया है, कहीं दो बताया है, कहीं एक बताया है। यह क्या है? एक विद्वान्‌ने तो सिद्ध करके बताया कि इन्द्रियाँ पाँच नहीं हैं, छः हैं। 'श्रीमद्भागवत'में स्पर्शेन्द्रियकी दो पद्धति लिखी हुई है। दो प्रकारकी स्पर्शेन्द्रिय होती है। यह सब क्या है? वस्तुको समझानेके लिए, व्यवहारको चलानेके लिए ये सब भेद हैं।

शरीरका भेद होनेसे, अन्तःकरणका भेद होनेसे भी द्रष्टामें भेद नहीं होता। जैसे शीशे अलग-अलग हों और सूर्य अनेक नहीं हो जाता। आगरेके शीशमहलमें गये। दिखानेवालेने एक दियासलाई जला दी, तो अब ऐसा मालूम पड़े कि हजार-हजार जगह रोशनी जल रही है। परन्तु रोशनी तो एक ही थी। इसी प्रकार अन्तःकरण अनेक हैं और उनमें एक ही परमात्माकी रोशनी प्रतिबिम्बित हो रही है। अन्तःकरणगत जो भेद है, वह द्रष्टाका स्पर्श नहीं करता। माने द्रष्टा अनेक नहीं है।

एक बात तो यह है कि द्रष्टा होना नहीं है, तुम सचमुच ज्ञानस्वरूप द्रष्टा हो। जाग्रतकी वस्तुओंको तुम देखते हो इन्द्रियोंके माध्यमसे; स्वप्नको देखते हो मनके माध्यमसे और सुषुप्तिको देखते हो बिना किसी माध्यमके, परन्तु अविद्या वहाँ भी

लगी रहती है। उठनेके बाद फिर अपनेको परिच्छिन्न ही देखते हो, यद्यपि सुषुप्तिमें कोई परिच्छिन्नता दीखती नहीं है। परन्तु उठनेके बाद तुम यही मानते हो कि सुषुप्तिमें भी हम परिच्छिन्न ही थे। तो पहली बात यह है कि द्रष्टा होना नहीं है, तुम सचमुच द्रष्टा हो।

दूसरी बात यह है कि द्रष्टा अनेक नहीं है। अन्तःकरण, शरीर आदिके भेदसे द्रष्टा अनेक नहीं होता, द्रष्टा एक है।

तीसरी बात यह है कि द्रष्टा और दृश्यके बीचमें कोई विभाजक रेखा हो सकती है कि नहीं ? दोनोंको अलग-अलग करनेवाली कोई रेखा हो सकती है कि नहीं ?

अच्छा, तो मान लो, है। यह नील-पीतादिवाली कोई लकीर है जो द्रष्टाको और दृश्यको काटती है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तानको अलग करनेके लिए तार गाड़ दिया गया। भला बताओ, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बननेके पहले दोनोंकी सीमा-रेखा तो नहीं थी धरतीपर कि यहाँसे इधर हिन्दुस्तान है, उधरसे पाकिस्तान! बादमें कुछ ऐसे लोगोंने अपने-अपने शासनकी महत्त्वाकांक्षा पूरी करनेके लिए विभाजनकी कल्पना की और बादमें रेखा बना दी।

यह नदी रेखा है, यह पहाड़ रेखा है, यह कँटीले तारकी रेखा है। ये सब रेखाएँ कल्पित हैं कि नहीं ? क्योंकि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बननेके पहले कोई रेखा नहीं थी। दुनियामें जितने देश बने हैं, सब धरतीपर ही हैं; सबकी रेखा कल्पित हैं। आकाशमें ये जितने स्वर्ग, नरक, मर्त्य, पाताल, चौदह भुवन, ब्रह्मलोक और अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बने हैं, सबकी रेखा कल्पित है आकाशमें। आकाशमें बिलकुल कल्पित रेखा है।

आप बताओ, यह द्रष्टा और दृश्यकी रेखा क्या है ? एक कालमें द्रष्टा रहता है और एक कालमें दृश्य रहता है। आपका क्या ख्याल है ? द्रष्टा मर जाता है और दृश्य जिन्दा रहता है ? दृश्य मर जाता है और द्रष्टा जिन्दा रहता है ? दोनोंमें काल-परिच्छेद हो सकता है ? तो कालके भावाभावको, कालके होने-न होनेको देखेगा कौन ?

यह जो शरीरका चाम है न, उसके भीतरकी ओर द्रष्टा रहता है और चामके बाहरकी ओर दृश्य रहता है। तो यह चाम दृश्य है कि नहीं है ? यह शरीर दृश्य है कि नहीं है ? कैसे रेखा बनाते हो तुम स्थानकी ?

चेतन वस्तु जो है, वह द्रष्टा है और जड़ वस्तु जो है, दृश्य है।

बोले—'अच्छा, ठीक है। जड़ और चेतनका विभाजक क्या है? यह बताओ! श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे हम लोगोंने पूछा—'महाराज! जड़ और चेतन वस्तुको अलग-अलग करनेवाली चीज क्या है?'

बाबा बोले कि—'अज्ञान।'

अज्ञान माने क्या होता है?

अज्ञान माने द्रष्टा देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। माने परिच्छेदके अत्यन्ताभावका अधिकरण। तो जो चीज जिसके अत्यन्ताभावका अधिकरण होती है, उसमें वह वस्तु मिथ्या होती है। द्रष्टाके स्वरूपको न जाननेके कारण जिस दृश्यमान देश-काल-वस्तुको हम सत्य समझते हैं, यह जो भ्रान्ति है—देश-काल-वस्तुको सत्य समझना और द्रष्टाके अपरिच्छिन्न, परिच्छेदात्यन्ताभावोपलक्षित स्वरूपको न जानना—यह न जानना ही द्रष्टा और दृश्यकी विभाजक रेखा है। अज्ञानके सिवाय द्रष्टा और दृश्यकी विभाजक रेखा और कुछ नहीं है। आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अभी एक सवाल उठाते हैं—हमारे दो द्रष्टा नहीं है, हमारे कोई भाई नहीं है और हमारे कोई नौकरिया नहीं है, बेटा नहीं है।

न तस्य कार्यं करणं च श्रूयते। श्वेता. ६.८।

आत्माका कोई कार्य नहीं है, आत्माका कोई करण नहीं है। आत्माके कोई आश्रित नहीं है। अब यह कहो कि भाई, यह तो ठीक है, हमारे सामने भी नहीं है कोई दृश्य और हमारे बगलमें नहीं है कोई द्रष्टा। माने दो द्रष्टा भी नहीं है और हम और दृश्य—ये दो नहीं हैं।

परन्तु शायद कोई हमारे पीछे हो और हम उसको न देख रहे हों!

क्यों भाई! किसीको पीछे बताते हो और अपनेसे अलग बताते हो, तो अज्ञानसे बताते हो कि नहीं?

हम तो उसको नहीं जानते हैं। हम तो उसको नहीं देखते हैं। लेकिन, वह शायद हमको देख रहा हो!

अज्ञानमें ही यह दृष्टि बनती है कि नहीं बनती है? यह दृष्टि बिलकुल अज्ञानमें बनती है। तो देखो, एक बात यह है कि द्रष्टा आपको होना नहीं है। आप सचमुच ज्ञानस्वरूप द्रष्टा हैं। आपका अस्तित्व ही ज्ञानस्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि दूसरा द्रष्टा नहीं है।

तीसरी बात यह है कि द्रष्टा और दृश्यमें कोई विभाजक रेखा नहीं है। और, जहाँ विभाजक रेखा है, सो मिथ्या है। जहाँ विभाजक रेखा नहीं होती, वहाँ दृश्य नहीं होता। मिनटसे घण्टा न्यारा है, परन्तु घण्टेसे मिनट न्यारा नहीं है। जैसे पैसेसे रुपया अलग है, परन्तु रुपयेसे पैसा अलग नहीं है। दृश्यसे द्रष्टा न्यारा है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य न्यारा नहीं है।

द्रष्टाके पीछे ? द्रष्टा अपने स्वरूपको न जान करके ही आगे-पीछेकी कल्पना करता है। आगे-पीछेकी कल्पना तो दृश्यमें होती है, अपने स्वरूपमें आगे-पीछेकी कल्पना नहीं होती। यदि किसीको मालूम पड़ता हो तो—

ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्-ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण॥ अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ मुण्डक० २-२-११

परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

नेह नानास्ति किञ्चन। कठ० २-१-११

इसलिए, द्रष्टाका विचार करनेके लिए वृत्तिको पकड़ करके रखोगे तो द्रष्टा अलग-अलग होगा। एक प्रश्न उठाया है वेदान्तियोंने—यदि किसीको यह अनुभव होता है कि—'मैं तो द्रष्टा हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं ब्रह्म हूँ और दूसरे सब अज्ञानी बद्ध हैं, तो वह कैसा ? वह न ज्ञानी है न मुक्त है, क्योंकि दो बनाके रखे हुए है!'

एक बार एक महात्माने ज्ञानी पुरुषके लक्षण बनाके रखे कि—'ज्ञानी ऐसा होता है,' 'ज्ञानी ऐसा होता है', 'ज्ञानी ऐसा होता है।' तो मैं काटता जाता था। वे बोले—'भाई, ऐसे काटते जाओगे, तो ज्ञानी और अज्ञानीमें फरक ही क्या रहेगा ?'

मैंने कहा—'ज्ञान माने ज्ञानी-अज्ञानीका फरक जानना होता है कि ज्ञानी-अज्ञानीके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो अद्वितीय तत्त्व है, उसका अनुभव है ? ज्ञान माने अद्वितीय तत्त्वको जानना होता है। ज्ञानी-अज्ञानीके फरकको जाननेका नाम ज्ञान नहीं है।'

बड़े अच्छे थे वे। हँसने लगे और बोले कि "हाँ भाई, बात तो सच्ची यही है, पर हम लोगोंको व्यवहारमें ज्ञानीके लक्षण और अज्ञानीके लक्षण बना करके यह होता है कि—'इन सद्गुणोंको धारण करो और इन दुर्गुणोंको छोड़ो।' व्यावहारिक दृष्टिसे ही हम ज्ञानी-अज्ञानीका भेद करते हैं, पारमार्थिक दृष्टिसे ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नहीं करते।'

●

प्रवचन ११

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ १॥
नीलपीतस्थूलसूक्ष्मह्रस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥ २॥
आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेष नेत्रधर्मेषु चैकधा।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥ ३॥
कामः सङ्कल्पसन्देहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः॥ ४॥
नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना॥ ५॥

द्रष्टा और दृश्यको समझो और फिर अपनेको दृश्य मत समझो। रास्ता बहुत सीधा है। प्रथमश्लोकको चार हिस्सोंमें बाँध दिया—

'**रूपं दृश्यं लोचनं दृक्**'—इसकी व्याख्या है दूसरे श्लोकमें—

नीलपीतस्थूलसूक्ष्मह्रस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥ २॥

नीला होना, पीला होना; मोटा होना, पतला होना; छोटा होना, लम्बा होना; ये सब रूपके भेद हैं। '**नानाविधानि रूपाणि**'—रूप होते हैं अनेक प्रकारके और उनको एक ही आँख देखती है। इसका अर्थ हुआ कि रूप अनेक हैं और नेत्रवृत्ति एक है। एक नेत्रवृत्तिसे अनेक प्रकारके रूप दिखाई पड़ते हैं। अनेक रूप बाहर हैं और नेत्रवृत्ति अपने अन्दर है।

पहले यह बात समझो कि रूप पृथक् है और नेत्रवृत्ति पृथक् है। यह विवेक करनेका आलम्बन है। आलम्बनकी बात मैं बताता हूँ। जो आलम्बनको नहीं समझता, वह भक्ति और वेदान्तको भी नहीं समझता।

जैसे आपको ठाकुरजीका, भगवान्‌का ध्यान करना है, तो वस्तु और क्रिया—ये दोनों होंगे आलम्बन और आप भीतर करोगे ध्यान। जैसे, भगवान्‌की मूर्ति रख ली। यह हुआ आलम्बन। उनको मुकुट धारण कराया, चन्दन लगाया, पीताम्बर धारण कराया, माला पहनायी।

मुकुट धारण कराना, चन्दन लगाना, माला पहनाना—यह तो हुई क्रिया। मूर्ति हुई वस्तु और इसके द्वारा भाव क्या बना? कि हम भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं।

भगवान् कैसे होते हैं? जिन्होंने सारी दुनिया बनायी;जो सारी दुनियाको जानते हैं; सारी दुनिया उलट-पुलट कर देनेकी जिनकी सामर्थ्य है; जो सबके आधार हैं। देखो, मूर्तिकी पूजा करोगे और जिसकी तुम पूजा करते हो, उसके बारेमें जानकारी भी होती जायेगी। मूर्ति और क्रिया—ये दोनों हुईं आलम्बन। भगवान्‌का चिन्तन हुआ, यह हुआ उसका फल।

बिना आलम्बनके जो लोग भगवान्‌की पूजा करना चाहते हैं, वे गलत रास्तेपर हैं। केवल आँख बन्द करके बोले कि 'आहा! हमने यह किया, हमने वह किया।' असलमें मानसिक क्रिया भी आलम्बन ही है। मानसी मूर्ति भी आलम्बन है। मनमें भी कोई मूर्ति न हो और उसके प्रति कोई क्रिया न करें! अरे, झूठमूठ बैठे! आपको सच बताता हूँ। आप लोग धोखेमें नहीं पड़ना।

यदि आपको ईश्वरकी प्यास नहीं है; तभी आप बिना मूर्तिके और बिना क्रियाके रह सकते हैं। कोई वेदान्ती आपको आके कह जायेगा कि—'क्या रखा है पत्थरमें?' या किसी आर्यसमाजीका संग हो जायेगा तो वह कह देगा कि—'क्या रखा है मूर्तिमें? ईश्वरकी कहीं पूजा होती है?' तो मूर्ति और पूजा दोनों जो ईश्वरकी ओर ले जानेवाली थीं, जिससे आपका ईश्वरके बारेमें भाव बनता कि 'ईश्वर हमारी माता हैं, ईश्वर हमारे पिता हैं, ईश्वर हमारे आधार हैं, हमारे कारण हैं, सर्वज्ञ हैं, निराकार हैं। आपके मनमें यह जो भाव बनता, वह सहारा तो आपने छोड़ दिया और अब आप ईश्वरमें मन लगाओगे, तो मन टिकेगा नहीं।

बोले कि—'ईश्वरके बारेमें प्यास बढ़ाओ!' जहाँ ईश्वरके बारेमें आपका कोई ख्याल ही नहीं है कि ईश्वर कैसा और उसकी पूजा कैसी, तो प्यास कैसी? जबतक वस्तुका और क्रियाका आलम्बन नहीं होगा, तबतक आप न तो प्यास हमेशा रख

सकेंगे, न तो आपकी स्थिति हमेशा हो सकेगी। आलम्बन लेकर ही आगे बढ़ सकते हैं। यह हुई बात 'तत्' पदार्थके बारेमें।

यह जो प्रसंग है, यह 'तत्' पदार्थका नहीं है, यह 'त्वं' पदार्थका आलम्बन है। आपसे कोई ईश्वरकी मूर्ति छुड़ा सकता है, क्योंकि आपका उसमें प्रेम नहीं है। आपका मन्त्र और जप भी छुड़ा सकता है, पूजा और ध्यान भी छुड़ा सकता है, क्योंकि प्रेम ही नहीं ईश्वरमें। लेकिन आपका जो बालबच्चोंमें प्रेम है, घर-गृहस्थीमें प्रेम है, देहमें प्रेम है, कुटुम्बमें प्रेम है, उसको कोई नहीं छुड़ा सकता। आपका संसारमें जो प्रेम है, वह भी बना रहेगा, आपकी प्यास भी बनी रहेगी, संसार भी बना रहेगा; आप जहाँके तहाँ रहेंगे, क्योंकि ऊपर चढ़नेकी जो सीढ़ी थी, उसको आपने छोड़ दिया। हम बिलकुल कट्टर सनातन धर्मकी बात आपको सुना रहे हैं। बिना आलम्बनके भाव नहीं टिकता।

अब हम आपको दूसरा सिद्धान्त—'त्वं' पदार्थोंवाला सिद्धान्त सुनाते हैं। एक होता है 'तत्' पदार्थ, ईश्वरके बारेमें सोचना। एक होता है 'त्वं' पदार्थ, अपने बारेमें सोचना। ये दोनों परमार्थ नहीं हैं। न 'तत्' पदार्थ परमार्थ है और न 'त्वं' पदार्थ परमार्थ है। इसमें जो 'तत्ता' और 'त्वंता' भासती है, वह परमार्थ है।

'तत्पना' और 'त्वंपना' जिसमें भासता है, जिस अनन्त आत्म-महासमुद्रमें, जिस अनन्त आत्म-महाकाशमें, जिसमें आँख भी है और सूर्य भी है उस अनन्त महाकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मको तत्त्व बोलते हैं। परन्तु विवेक करनेके लिए आलम्बन चाहिए। आलम्बन छोड़ोगे तो तुम्हारा रास्ता छूट जायेगा, तुम्हारी साधना छूट जायेगी, तुम्हारी उपासना छूट जायेगी। अन्तमें तुम जहाँ-के-तहाँ संसारमें ही रह जाओगे।

अब आओ, 'त्वं' पदार्थवाला आलम्बन बताते हैं। सचमुच कोई अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय नामवाला कोश शरीरमें नहीं है, कोई गाँठ नहीं होती है। बाहरसे भीतर जानेके लिए पहला आलम्बन है 'अन्नमयकोश'। मैं स्त्रीरूप नहीं हूँ, मैं पुत्ररूप नहीं हूँ, धनरूप नहीं हूँ, घररूप नहीं हूँ। यह जो अन्नमय शरीर है, यह मेरा स्वरूप है।

इसको छोड़ करके दूसरा आलम्बन है प्राणमयकोश। मैं हड्डी-चाम-मांसवाला शरीर नहीं हूँ, इसमें जो क्रिया होती है, वह करनेवाला हूँ क्रिया न हो तो मैं क्या? प्राणमयकोश मैं हूँ। साँस मैं हूँ। जो हिलना-चलना होता है, सो मैं हूँ।

अरे! इच्छा न हो तो साँस चलनेका क्या अर्थ है? होश तो होना ही चाहिए। तो मैं मनोमयकोशके उपहित आत्मा हूँ।

अच्छा, ज्ञान न हो तो इच्छा क्या करेगी? मैं विज्ञानमय आत्मा हूँ।

अरे! आनन्द न हो तो विज्ञान काहेका? तो मैं आनन्दमय आत्मा हूँ।

नहीं, मैं आनन्दमय आत्मा नहीं हूँ, मैं साक्षी आत्मा हूँ।

जैसे ईश्वरको पहचाननेके लिए साकार राम-कृष्ण आदि और नर्मदेश्वर-शालिग्राम आदि, हृदयमें ध्येयमूर्ति और अन्ततोगत्वा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार, एकरस, सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रेरक, सर्वान्तर्यामी—इन गुणोंसे, इन स्वभावोंसे उपलक्षित जो सर्वाधिष्ठान तत्त्व है, वह परमेश्वर है।

इसी प्रकार यह अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय आदिसे उपलक्षित जो है, यह आत्मा है, तत्त्वमें कोई अवस्था नहीं है, न जाग्रत्, न स्वप्न, न सुषुप्ति। परन्तु 'त्वं' पदार्थके विचार-विवेकके आलम्बनके लिए यह जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था है।

जैसे भावके आलम्बनके लिए मूर्ति है, माला है, मन्त्र है। इस विद्याको सीखना पड़ता है। जप करने बैठते हैं तो तर्जनी उँगली न लगने पावे, मालामें। काहेके लिए? कि सावधान रहो। सीधे बैठना चाहिए। बिलकुल हृदयके सामने माला होनी चाहिए। यह नहीं कि धरतीपर हाथमें माला लटका ली! सावधान रहो। सुमेरुका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। जिधरसे मोटी मालाका प्रारम्भ हो, वहाँसे मुँहकी ओर जप शुरू हो और जिधर मालाका पतला अंश—पूँछ हो, वहाँ जाकर जप समाप्त हो। माने, हमारा चित्त जो असावधानीमें काम करता है, सो न करे, निरन्तर चित्त सावधान रहे, जाग्रत रहे। इसके लिए मन्त्रका आलम्बन होता है। इसके लिए देवताका आलम्बन होता है, रूपका आलम्बन होता है, सेवाका आलम्बन होता है। यह 'तत्' पदार्थ-सम्बन्धी आलम्बन है।

'त्वं' पदार्थके लिए आलम्बन क्या है? हम जाग्रत अवस्थामें बाहरकी इन्द्रियोंसे, बाहरके विषयोंमें काम करते हैं। स्वप्न-अवस्थामें हम भीतरकी इन्द्रियोंसे भीतर ही काम करते हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें हम कोई काम नहीं करते हैं।

अवस्था तीन होनेपर भी मैं एक हूँ। जाग्रत्-अवस्थामें मैं 'विश्व' हूँ, स्वप्न-अवस्थामें मैं 'तेजस्' हूँ, सुषुप्ति-अवस्थामें मैं 'प्राज्ञ' हूँ। असलमें मेरे ये तीन नाम जो हैं, ये तो आलम्बनके लिए ग्रहण किये हुए हैं। मैं निरालम्ब चैतन्य हूँ, 'त्वं' पदार्थ हूँ। यह विचारका आलम्बन है।

पाँच कोशके द्वारा 'त्वं' पदार्थका विचार करना, तीन अवस्थाके द्वारा 'त्वं' पदार्थका विचार करना और दृग्-दृश्य-विवेकके द्वारा 'त्वं' पदार्थका विचार करना—

पश्येल्लोचनमेकधा।

पहला आलम्बन इसमें क्या है? नेत्र और रूप। माने इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय।

अच्छा, अब आगेका दूसरा आलम्बन लो—

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा।
सङ्कल्पयेन्मन-श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥ ३॥

आँख किसीकी अन्धी होती है, किसीकी मन्दी होती है, किसीकी पटु होती है। नेत्र भी अनेक प्रकारके होते हैं। न हों, तो बनाके भी देख सकते हैं। तिरछी आँख होती है, सीधी आँख होती है। भिखारीकी आँख देख करके मालूम पड़ता है कि यह कुछ माँग रहा है और प्रेमीकी आँख देख करके मालूम पड़ता है कि यह प्रेम बरस रहा है। ललित नेत्र, छलित नेत्र, क्रूर नेत्र ऐसा मालूम पड़ता है कि क्रोधसे हमें भस्म कर रहा है। इसकी आँख लोभसे पानी-पानी हो रही है। इसकी आँखमें बड़ा शोक है। इसकी आँखमें काम है। स्त्रियाँ तुरन्त देखके समझ जाती हैं कि इसकी आँखमें काम है। स्त्रियोंकी बुद्धि बड़ी प्रबल होती है इसके सम्बन्धमें। तो, यह आँख तरह-तरहकी होती हैं और बनती हैं। इन सबको कौन देखता है?

इन सबको मन देखता है। मनके साथ मैं देखता हूँ। रूपके साथ, इन्द्रियोंके साथ बैठ करके मैं बाहरकी वस्तुओंको देखता हूँ। और मनके साथ बैठ करके मैं इन्द्रियोंको देखता हूँ।

मेरा कान कुछ कम सुनता है। मेरा कान बड़ा तेज है। त्वचा इन्द्रियमें ऐसा होता है कि कुछ छू जाय तो पता ही नहीं लगता है। हम पहले भजन करने बैठते थे तो कितना भी पसीना हो, उसका कुछ असर नहीं पड़ता था। मक्खी बैठ जाय तो पता ही नहीं चलता। बैठी रहो, उड़ानेकी कोई जरूरत ही नहीं। जब चेले-चाँटी हो गये तो उड़ाने लगे। अब बैठ जाय तो मालूम पड़े। जब चेले-चाँटी नहीं थे, तब कितनी भी मक्खी बैठो, उड़ानेकी जरूरत नहीं और कितना भी पसीना हो, सुखानेकी जरूरत नहीं। क्योंकि उधर ध्यान ही नहीं जाता।

यह त्वचा भी किसीकी तेज़ होती है और किसीकी कमजोर होती है। नाक दूर-दूरका गन्ध सूँघ लेती है—गन्धसौंढ! एक सज्जन थे, उनका नाम था 'गन्धसौंढ'। गन्ध ग्रहण करनेमें बड़े निपुण। एक बार एक आदमीके घर गये भोजन करने। भात खिलाया। भात खाते समय उन्होंने कहा—'इसमें मुर्देकी गन्ध है, भाई!'

'अरे बापरे! मुर्देकी गन्ध कहाँसे आयी, भातमें?' तो तलाश की गयी कि 'यह चावल कहाँ पैदा हुआ था?' 'अमुक खेतमें।' 'वह खेत कैसा है?' 'उसमें एक

मुर्दा जलाया गया था।' जिस खेतमें मुर्दा जलाया गया था, उसमें धानका पौधा पैदा हुआ और उस धानमें मुर्देकी गन्ध आगयी।चावलमें मुर्देकी गन्ध पकनेके बाद आ गयी। बड़ा गन्धसौंढ था!

एक सज्जन स्पर्शसौंढ थे। बड़े मोटे गद्देपर रातको उनको सुलाया गया था। सबेरे उठे तो बोले—'आज रातको तो ठीकसे नींद नहींआयी।' 'क्यों नहींआयी?' बोले—'तुम्हारे गद्देमें कोई चीज गड़ती थी।' गद्दा उलटा गया तो उसमें बाल था, बाल! वह बाल उनको गड़ता था। इसको 'स्पर्शसौंढ' बोलते हैं, त्वचा जिसकी बहुत तीक्ष्ण हो।

आँख जिसकी बहुत तेज हो, वह दूरसे देख लेते हैं। एक स्त्रीने हमसे कहा—'हमने उनको देखा तो सही, पर गौरसे नहीं देखा। उसने बिन्दीके चारों ओर कुछ लगा रखा था। उसका रंग ऐसा था, साड़ी ऐसी थी, चोली ऐसी थी और आँखें ऐसी थीं।'

मैंने कहा—'अब और क्या देखोगी?' एक ही आँखने सब कुछ देख लिया। ये इन्द्रियाँ किसीकी तेज होती हैं और किसीकी मन्दी होती हैं। परन्तु मन सबके भीतर एक ही होता है, मन अनेक नहीं होता।

श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्।

कान, त्वचा, आँख सब अलग-अलग हैं। सब अलग-अलग विषयोंको देखती हैं। एक आलम्बन तो यह है कि बाहरके विषय दीखते हैं और शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ देखती हैं। दूसरा आलम्बन यह है कि अन्तःकरण-मन एक है और इन्द्रियाँ अनेक हैं। उनकी अवस्था एक है। हम इन्द्रियोंमें बैठकर देखते हैं तो दुनियाको देखते हैं और हम मनमें बैठकर देखते हैं तो अपनी इन्द्रियोंको देखते हैं।

सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥

एक बहुत बढ़िया बात ये कह रहे हैं—'**श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्।**' '**इदम् योज्यताम्**' कहनेका अभिप्राय क्या है कि हमने तो यह सब सोच-विचार किया है, इससे आगे बढ़ गये हैं। परन्तु हे शिष्यजी महाराज! हे श्रोताजी महाराज। (आजकल 'शिष्य' नहीं कहना, हो!) पहले तो शिष्यलोग सुनते थे। अब तो दोषदर्शी लोग भी सुनते हैं। पहलेके लोगोंको बड़ी सुविधा थी। जो श्रद्धा करे वह सुने। अब तो श्रद्धालु हो, अश्रद्धालु हो, सबको ही सुनाना पड़ता है।

'**योज्यतामिदम्**'का अर्थ है, जैसे किसी सवालका हल—जैसे गणितका कोई प्रश्न हुआ और उसका सीधा-सीधा हमने हल बता दिया कि '**इसका यह हल है**'

और उसने याद कर लिया तो उसको गणित आ गया क्या? गणितका बताया हुआ हल यदि तुम याद कर लोगे तो तुमको गणित नहीं आवेगी। तुम्हें स्वयं यह विचार करना पड़ेगा कि आखिर इन संख्याओंका जोड़ या गुणा या भाग इतना कैसे हुआ? जब तुम स्वयं उस प्रक्रियाको, उस शैलीको समझोगे, तब तुम्हारी समझमें आवेगी। दूसरेका किया हुआ विवेक दूसरेके काम नहीं आता।

'**योज्यतामिदम्**' माने तुम इसको जोड़ो, अर्थात् तुम स्वयं बैठ करके पहले विषयोंसे इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंसे अन्तःकरणमें आओ। अन्तःकरणमें देखो कि तुम मनके साथ बैठे हुए हो। एक परिधि है—इन्द्रियों-विषयोंकी एक परिधि है। परिधि माने जैसे कंगन होता है-एक घेरा है। विषयोंको इन्द्रियोंके घेरेमें बैठ करके देखते हो।

जो तुम्हारा शरीर है, यह हमारा दृश्य है और तुम्हारे शरीरमें अन्तःकरण है, यह भी हमारे मनका दृश्य है। तुम्हारे अन्तःकरणमें एक 'आत्मा' नामकी चीज बैठी हुई है, यह भी हमारे मनका ही एक दृश्य है, मनकी कल्पना है। मन देखता है।

तुम्हें भी यह शरीर जो स्वामीजीका मालूम पड़ता है, यह तुम्हारी इन्द्रियोंका दृश्य है और इस शरीरमें एक अन्तःकरण है, यह तुम्हारे मनका दृश्य है। कल्पना करते हो तुम। इसमें एक जीवात्मा बैठा है, यह भी तुम्हारे मनका ही दृश्य है, यह तुम्हारी कल्पना है।

हमारा दृश्य माने तुम्हारे शरीरमें तुम्हारे द्वारा जितना कल्पित है, यह दृश्य है और तुम्हारा दृश्य माने हमारे शरीरमें तुम्हारे द्वारा कल्पित जितना है और अपने शरीरमें तुम्हारे द्वारा कल्पित जितना है, वह भी दृश्य है। जो द्रष्टा है, वह न तो तुमने हमारे शरीरमें कल्पित किया और न तो हमने तुम्हारे शरीरमें कल्पित किया। वह तो सम्पूर्ण शरीरोंका एक ही अद्वितीय द्रष्टा है। मनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह द्रष्टा-दृश्यका विवेक है।

बोले कि—'भाई, हमको तो द्रष्टाकी बड़ी प्यास है।' तो कोई दूसरा होगा। दूसरेके लिए—पानी पीनेकी—प्यास लगती है। अपना आपा नित्य प्राप्त होता है। उसके लिए प्यास नहीं लगती। प्यास तो जब ईश्वरको दूसरा समझते हैं, अपनेसे दूर समझते हैं, तो प्यास लगती है। प्यास भक्तिसिद्धान्त है।

विवेक=अलगाव। वह ज्ञानके सिद्धान्तमें होता है। आपको क्या बतावें? आज साधन और प्रमाणमें क्या अन्तर है, इस बातको बहुत थोड़े वेदान्ती समझते हैं।

साधन दूसरी चीज है और प्रमाण दूसरी चीज है। यह घड़ी घड़ी है, यह पहचाननेके लिए कौन-सा साधन चाहिए? हम जप करेंगे तब पहचानमें आवेगी? कि हम होम करेंगे तब पहचानमें आवेगी? हम हाथ जोड़ेंगे तब पहचानमें आवेगी कि हम प्रार्थना करेंगे तब पहचानमें आवेगी? हम ध्यान करेंगे तब पहचानमें आवेगी? घड़ीको पहचानना है, तो किसी साधनकी जरूरत नहीं है; हम आँखसे देखेंगे और पहचान लेंगे कि यह घड़ी है। इसको प्रमाण कहते हैं। घड़ीके लिए साधन नहीं चाहिए, घड़ीके लिए प्रमाण चाहिए।

घड़ी दूसरेके पास है और हम उसे अपने घरमें रखना चाहते हैं, तो उसके लिए पैसेका साधन चाहिए खरीदनेके लिए। यदि तुम खुद ही घड़ी हुए तो खरीदनेके लिए पैसा चाहिए? अपनेको प्राप्त करनेके लिए तीर्थयात्राकी जरूरत नहीं होती। अपनेको प्राप्त करनेके लिए व्रत-उपवास-ध्यान की जरूरत नहीं होती। अपना आपा तो प्राप्त ही है। उसके लिए साधन नहीं करना है। अपने-आपको जानना है कि 'यह नित्य प्राप्त है और ऐसा है।' 'ऐसा है और नित्य प्राप्त है।' उसके लिए प्रमाण चाहिए।

योगदर्शनमें द्रष्टाके साक्षात्कारके लिए साधनकी जरूरत पड़ती है। वेदान्तमें द्रष्टाके साक्षात्कारके लिए साधनकी जरूरत नहीं पड़ती, प्रमाणसे ही द्रष्टाका साक्षात्कार हो जाता है।

इसमें भी एक बात है। वह बात क्या है? जहाँतक द्रष्टाके स्वरूपका सवाल है, वह प्रकाशमें रखे हुए घड़ेके समान है। बिना किसी प्रमाणके द्रष्टा अपना आपा है। इसमें न तो किसी साधनकी जरूरत है और न तो द्रष्टाको देखनेके लिए किसी प्रमाणकी जरूरत है। जो प्रमाणको देखता है, सो द्रष्टा है। उसको देखनेके लिए प्रमाणकी जरूरत नहीं है।

यह कैसे? यह तो देहका साक्षी, इन्द्रियोंका साक्षी, मनका साक्षी, बुद्धिका साक्षी, शान्तिका साक्षी, समाधिका साक्षी! यह कौन है? मेरे बिना और कुछ नहीं है। मेरे होनेसे ही सब कुछ है। मैं सबके होने और न होनेको देखनेवाला द्रष्टा! इसमें वेदान्तकी क्या जरूरत है? तब तो फिर वेदान्त व्यर्थ गया न?

नहीं, वेदान्त व्यर्थ नहीं गया। वेदान्त बिलकुल व्यर्थ नहीं गया। क्यों? यह तो तुम जानते हो कि मैं द्रष्टा हूँ और दृश्यको छोड़कर तुम द्रष्टा-स्वरूपसे बैठते भी हो। दृश्यके भावमें भी बैठे रहते हो और अभावमें भी बैठे रहते हो। परन्तु तुम अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जानते हो कि नहीं?

नहीं जानते हैं।

नहीं जानते हो तो वेदान्तकी जरूरत है। उसी द्रष्टाको ब्रह्म बतलानेके लिए वेदान्तकी जरूरत है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

सांख्यसे जाना हुआ द्रष्टा, योगसे जाना हुआ द्रष्टा, वेदान्तसे जाना हुआ द्रष्टा— यह 'त्वं' पदार्थ है। भक्तिमिश्रित विवेकसे जाना हुआ ईश्वर। दोनोंको मिला करके ईश्वर जाना जाता है। बिना भक्तिके शुद्ध विवेकसे 'त्वं' पदार्थ जाना जाता है। लेकिन द्रष्टा और परमात्मा दोनों एक है, और दृश्य नामकी दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह जाननेके लिए वेदान्तकी जरूरत है।

पहली भूमिका यह हुई कि आप विषयोंको जाननेवाले नेत्रमें बैठे हुए द्रष्टा हो, इन्द्रियोंमें बैठे हुए द्रष्टा हो—एक। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अनेक हैं और मन एक है। अब मनमें बैठे हुए द्रष्टा एक हो।

द्रष्टाका विवेक परमार्थ नहीं है। द्रष्टाका विवेक परमार्थके ज्ञानकी एक सीढ़ी है। बिना साधनके और बिना भक्तिके और बिना प्रमाणके अपने-आप अपने ऊपर जब गौर करोगे, चुप हो जाओगे, मौन हो जाओगे तो दृश्य अलग हो जायगा। बिलकुल साँपके केंचुलकी तरह गिर पड़ेगा और तुम द्रष्टा! बिना साधनके, बिना प्रमाणके और बिना वेदान्तके! लेकिन यह जो द्रष्टा है, यही अद्वितीय ब्रह्म है, इसके लिए वेदान्तकी जरूरत पड़ती है। तो आओ, जरा मनकी ओर देखें!

जब मनमें बैठे हो, जैसे दम्भ दूसरेके सामने किया जाता है, अपने सामने तो तुम दम्भ नहीं कर सकते न! जितना दम्भ, जितना ढोंग होता है, वह दूसरेको धोखा देनेके लिए होता है और अगर कोई अपनेको भी धोखा देता हो, तो उससे ईश्वरकी ओर या परमार्थकी ओर चलनेकी कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। पैसेकी इच्छासे तो मर रहे हैं, व्याकुल किये हुए हैं। रातको नींद नहीं आती! बोलते हैं कि 'हम निष्काम हैं'।

हमारे वृन्दावनमें कुछ निष्कामकर्मी निवास करते हैं। बच्चे हर साल होते हैं, व्यापार करते हैं, ब्लैक भी करते हैं, टैक्सकी चोरी भी करते हैं, ग्राहकसे बेईमानी भी करते हैं और कहते हैं कि 'हम निष्काम कर्म करते हैं।' तो वे अपनेको धोखा देते हैं कि दूसरोंको धोखा देते हैं? बिना ईमानदारीके ईश्वरकी ओर नहीं बढ़ा जाता। अपनी नजरमें तो कमसे कम ईमानदारी होनी चाहिए न? दूसरेकी नजरमें हो कि न हो! दूसरेकी नजर तुम्हारे काम नहीं आवेगी। अपनी नजर अपने काम आवेगी। दुनियाको दिखानेके लिए तुम अपने काले दागको दवा लगाकर दबा सकते हो,

लेकिन क्या तुम भी यही समझोगे कि हमारे शरीरपर कोई दाग नहीं है? तुम्हारे मनमें जो कोढ़ है, उसको अगर तुम खुद नहीं पहचानोगे, तो दूसरा नहीं पहचान सकता।

अच्छा, देखो कामकी गति कितनी सूक्ष्म है? मैं आप लोगोंको निराश करनेके लिए नहीं बोल रहा हूँ, विवेककी वृद्धिके लिए बोल रहा हूँ। आप अत्यन्त सूक्ष्मतासे कामके बारेमें विचार करें।

'अगले क्षणमें ऐसा हो'—यह बात आप चाहते हैं कि नहीं? 'अगले कदमपर ऐसा हो', यह बात आप चाहते हैं कि नहीं चाहते? 'सामनेवाली चीज ऐसी हो', ऐसा आप चाहते हैं कि नहीं चाहते?

यदि सामनेवाली चीजको आप बदलना चाहते हैं, और अगले कदमपर किसीको मिलना चाहते हैं, और अगले क्षणके लिए कोई योजना है, आपके मनमें; माने आपका मन वर्तमानको छोड़कर खिसक गया है। कहाँ? भविष्यमें।

परमार्थमें जिसको मनकी एकाग्रता मानते हैं, वह कोई बच्चोंका खेल थोड़े ही है? जैसे, आँख अपने गोलकमें रहे, बाहरकी वस्तुको न देखे, वैसे ही मन अपने गोलकमें रहे और बाहरकी वस्तुको न देखे। मौन मनका होता है। गीतामें आपने सात्त्विक मनका लक्षण पढ़ा है? सात्त्विक मन कैसा होता है?

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनं आत्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

सात्त्विक मानसतपस्याका स्वरूप क्या है? एक तो देखना, मनको प्रसन्न रखना, निर्मल रखना; किसीके लिए अपना मन बुरा न हो। अरे, दूसरा भला हो कि बुरा हो, अपना मन गन्दला क्यों करते हो? '**मनःप्रसादः**'—हर समय खुश रहना चाहिए; हर समय प्रसन्न रहना चाहिए। एक महात्माने बताया था—'तुम्हारे बारेमें कोई कुछ कहे, उसकी जीभ है और तुम्हारे बारेमें कोई कुछ सोचे, उसका मन है। जो कहे सो कहा जाने दो और जो सोचे सो सोचा जाने दो। तुम हर समय प्रसन्न रहो। जिसकी जबान गन्दी है, वह गन्दी चीजसे प्रेम करता है, जिसका मन गन्दा है, वह गन्दी चीजसे प्रेम करता है। सूअर अगर विष्ठा खाना चाहता है, तो उसको रोकनेका तुमको कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि वह तो उसका स्वभाव है। वह तो वही भोजन करेगा।'

जैसे सूअरका स्वभाव है विष्ठा-भक्षण, वैसे किसी-किसीके मन और जबानका स्वभाव है, दूसरेकी गन्दगीको अपनी जीभ और अपने मनमें लेना। छोड़ो उस बातको। **मनः प्रसादः।**

सौम्यत्वम्=सबके लिए सरल रहना।

मौनम्=मनमें बेकार बातें नहीं सोचना। समझो कि कोई मर गया, और तुम मनसे उसीके बारेमें सोच रहे हो, तो क्या वह लौटके आवेगा? लौटके आवेगा तो नहीं, लेकिन उसके बारेमें सोचनेसे मजा आता है। देखो, जितना-जितना उसके बारेमें तुम सोचके मजा लोगे, उतना-उतना राग उसका बना रहेगा। जो मर गया, जो छूट गया, उसके बारेमें राग और बढ़ेगा। तुम्हें आगे दुःख मिलेगा। मुर्देको ही अगर तुम्हारा मन सोचता है, तो उसकी सडांध तुम्हारे मनमें जरूर आवेगी।

महात्मालोगोंका कहना है कि 'ऐसेको सोचो भाई, जो कभी नहीं मरता है। साधनकी बात बता रहे हैं। कामका अभिप्राय आपकी समझमें आवे। अगले क्षणमें क्या होगा, उसमें कोई दिलचस्पी मत लो। अगले कदमपर क्या मिलेगा, इसमें भी दिलचस्पी मत लो। बाहरकी अमुक चीजको हम बदलके ठीक कर दें—कई लोग दूसरेको ठीक करनेमें खुद ही ठीक हो गये!' यह तो मैंने कई बार आपको सुनाया भी है। 'बनारस'में एक वेश्यासुधार-समिति बनी। अबसे चालीस बरस पहले। जो-जो लोग वेश्याओंको सुधारनेके लिए गये। कि 'हे वेश्याओ, तुम अपना रोजगार छोड़ दो।' तो वेश्याओंने कहा—'पहले हमारे लिए खाने-पीनेकी व्यवस्था करो, हजार-दो हजार रुपया महीना हमारे लिए अनुदान चाहिए।'

बात यह हुई कि जब वे समझाने गये, तो खुद ही समझ गये। वेश्याओंने उन लोगोंको समझा लिया। जो दुनियाको ठीक करनेके लिए जाता है, वह खुद ही ठीक हो जाता है। यह ठीक होनेवाली नहीं है। दूसरेको बदलनेमें दिलचस्पी मत लो।

तुम जब हो, जहाँ हो, जो हो, वहीं बैठ जाओ। तब? निष्काम हो। नहीं तो काम ही भटकाता है यहाँसे वहाँ! यहाँसे वहाँ काम ही भटकाता है। आजकल तो ब्रह्म भी कामी होने लगा है, तो जीवकी क्या बात करें? माने जो लोग अपनेको ब्रह्म मानते हैं; वे लोग भी संसारकी वस्तुओंके लिए व्याकुल होते हैं। वह कैसा ब्रह्म है? हाय औरत! हाय पैसा!! हाय इज्जत!!! हाय कुर्सी!!! मर गये।

कामः सङ्कल्पसन्देहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः॥ ४॥

यह काम कहाँ रहता है? यह मनमें रहता है। सङ्कल्प=सम्यक्त्वकी कल्पना। जब कोई चीज हमको दिखायी पड़ती है, तो कल्पना होती है कि 'यह अच्छी है', 'यह बुरी है।' जिनको गन्दगीकी आदत पड़ गई है,—सूअरोंको देखते हैं तो पसन्द

करते हैं कि यह अच्छा सूअर है, यह खराब है। गधेको देखते हैं तो यह होता है कि यह अच्छा गधा है, यह खराब गधा है। होता है कि नहीं होता है? ये सड़कपर दौड़नेवाली मोटरें न अपनी न अपने यारकी। और देखके मोटरोंकी कल्पना होती है कि नहीं कि यह बहुत अच्छी है, यह बहुत खराब है? तो यह अच्छाई-बुराईकी जो कल्पना है, यह मन है।

सन्देह=शंका। संस्कृतमें शंकाका अर्थ है, शं=शान्ति, का=काट दे। जो शान्तिको काट दे, उसका नाम शंका। जिसके मनमें शंका रहेगी, उसको शान्ति कभी नहीं मिलेगी।

हमको महात्माओंने बचपनमें ही बताया था कि सामनेवाला कितना बुरा है, इससे कोई मतलब नहीं। लेकिन, यदि तुम्हारे मनमें संशय रहेगा, शंका रहेगी, तो दुःख तुमको होगा। उसकी बुराई उसको दुःख नहीं दे रही है, लेकिन उसके प्रति तुममें जो शंका है, वह तुम्हें दुःख दे रही है। शंका तो अपने दिलमें होती है। शंका अपने आश्रयको दुःख देगी, अपने विषयको दुःख नहीं देगी। माने, जिसके बारेमें शंका है, उसको दुःख नहीं देगी, जिसके दिलमें शंका होगी, उसको दुःख देगी।

श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे—कभी श्रद्धा होती है; विचिकित्सा, श्रद्धा-अश्रद्धा। धृति इतरे=अधृति, रुक्षता। कभी श्रद्धा होती है, कभी अश्रद्धा। अश्रद्धा मनका स्वभाव है। इससे डाँवाडोल नहीं होना चाहिए। कभी-कभी अश्रद्धा आ जाय न, जाग्रतमें तो श्रद्धा रखते हैं और कभी-कभी स्वप्नमें अश्रद्धा हो जाती है। अश्रद्धा दुःख देती है। सुषुप्तिमें न श्रद्धा रहती है न अश्रद्धा रहती है। कभी धैर्य बनता है कभी नहीं बनता।

धृति-अधृति यह दुनियाका स्वभाव है। जैसे समुद्रमें लहरें आती हैं और जाती हैं। जैसे सूर्यकी किरणें फैलती हैं और सिमटती हैं। जैसे चाँदनी बरसती है और नहीं बरसती है। जैसे हवा कभी तेज और कभी कम चलती है। जैसे गरमी कभी कम और कभी ज्यादा पड़ती है। ऐसे अपना मन भी बदलता रहता है। कभी तो पाँच हजार रुपया चला जाय तो जरा भी दुःख नहीं होगा, देखना! और कभी दो आना पैसा चला जानेपर दुःख हो जायगा। बोले—'कहाँ पाँच हजार रुपया और कहाँ दो आना पैसा?'

वह पाँच हजार रुपया या दो आना पैसामें-से दुःख नहीं निकलता, दुःख तो अपने दिलमेंसे निकलता है। कभी-कभी कोई सौ गाली दे और जरा भी दुःख नहीं होगा। बोलेंगे—'अरे, जाने दो! वह तो बावला है।' और कभी कोई जरा आँख टेढ़ी

कर दे तो दु:ख हो जाता है। दु:ख बाहरसे नहीं आता, दु:ख भीतरसे निकलता है। जो कुछ हमारे जीवनमें निकलता है—जब हम दूसरोंको दु:ख देने लगते हैं, तो हमारे दिलमें दु:ख भरा है, इसलिए दूसरोंको भी हम उसमें सराबोर कर देना चाहते हैं। जब हम किसीसे दुश्मनी करते हैं, तो वह दुश्मनी उसमेंसे निकलके नहीं आती है, दिलमें जो दुश्मनी भरी हुई होती है, उसमेंसे निकलके बाहर आती है। यह सब मनमें रहता है।

ह्रीर्धीर्भीः। कभी शरम आती है, लज्जा आती है और कभी शरम नहीं आती है। कभी बिलकुल बेशरम हो जाते हैं। कभी धारणाशक्ति बनी रहती है; एक बार सुनी और याद रह गई और कभी दस बार, बीस बार सुनते हैं और वह याद ही नहीं आती। कभी ऐसा भय आता है! यह न समझना कि भय बाहरसे आता है या बेमतलब आता है। बाहर कोई नहीं। दुश्मन बाहर नहीं होता। दुश्=खराब और मन। दुश्मन माने अपना मन ही दूषित-दुष्ट है। बाहर कोई दूषित नहीं है।

आपको एक बात सुनाता हूँ इस बारेमें। जेवर सोनेका है कि पीतलका—जिसका बना उसका है। सोनेसे बना तो सोनेका है, पीतलका बना तो पीतलका है, चाँदीका बना तो चाँदीका है। यह जो उपादान है; जेवर तो कार्य है और सोना चाँदी ताँबा, पीतल—यह क्या है? उपादान है। इसको उपादान बोलते हैं। हमारे दिलमें जो दुश्मनी उठती है, गुस्सा उठता है या द्वेष आता है या नफरत आती है या किसीको हम सताना चाहते हैं, यह जेवर है। यह बना किससे? उपादानसे। इसका मसाला है। इसका मसाला कहाँ है? बाहर कि भीतर? अरे बाबा! जहाँ गुस्सा आया वहाँ मसाला है। मसाला तो साराका सारा सोना चाँदी ताँबा लोहा भीतर है। मसाला भीतर है और जो बाहर आया वह जेवर है।

अच्छा, आपने कभी गन्नेका रस पीया होगा! करेलेका रस हमने कभी-कभी पीया है। तो जो वह स्वाद कड़वा लगता है या मीठा लगता है, वह स्वाद अपने उपादानमें-से आया है कि नहीं? अपने उपादानमें-से आया हुआ है।

हमारे मनमें जो-जो बातें आती हैं, सब इसी तरह भीतरसे निकलती हैं। एक बार हम गये थे जबलपुरके एक गाँवमें। बिलकुल जंगलमें है। 'वेलखेडा' उस गाँवका नाम है। उन दिनों ठाकुरसाहबकी तूती बोलती थी। अंग्रेज गवर्नर आवे तो ठाकुरसाहबको यों (सलाम) करना पड़ता था उसको। बाध्य था कि अंग्रेज गवर्नर उनको पहले हाथ उठावे। उनके पास एक ताम्रपत्र था। ऐसे दिखावें बताया हमको। वह ताम्रपात्र लेकर दिखाना पड़ता था उनको। अंग्रेजके जमानेका था। उनको सलाम करना पड़े गवर्नरको।

उनके गाँवमें गया घूमनेको एक बार बाहर। गाँवमें खेतोंकी रक्षाके लिए ऐसी ऊँची-ऊँची मेंड़ बना देते हैं। अब हम जब निकले उसमेंसे, तो सामनेसे आया सूअर। एक ओरसे निकले हम। सूअर सामने आके खड़ा हो गया तो हम डरे कि सूअर अपने दाँतसे हमको मार न दे! हम खड़े हो गये। सूअर भी हमसे डरे कि ये हमको मार न दें! पाँच मिनट इस तरह खड़े-खड़े बीत गया। न हमारी हिम्मत पड़े कि हम सूअरके पाससे निकलें और न सूअरकी हिम्मत पड़े कि वह हमारे पाससे निकले। दोनोंमें-से एकको लौटना पड़े। अन्तमें हमारी अक्लने काम नहीं किया, सूअरकी अक्लने काम किया। सूअरकी अक्लने क्या काम किया? कि पानी बहनेके लिए एक जगह मेंड़में-से छेद बना हुआ था। तो झट् उसमेंसे घुसके वह दूसरी तरफ निकल गया। वह डरता था, हम भी डरते थे। अच्छा, मैं उसको मारना नहीं चाहता था, यह बात पक्की है। मैं अपने दिलकी जानता हूँ। और वह यदि मारना चाहता तो भागता क्यों? हमारा डर भी झूठा था, उसका डर भी झूठा था। लेकिन डर जो आया, वह बिलकुल झूठा। पाँच मिनटके लिए तो दोनों व्याकुल।

यह सब क्या है? मनके खेल हैं। भय है, धारणाशक्ति है, धैर्य है, अधैर्य है, लज्जा है, श्रद्धा है, अश्रद्धा है, सन्देह है, संकल्प है, काम है—मनमें ये तरह-तरहकी वृत्तियाँ—संज्ञानं, अज्ञानं, प्रज्ञानं, विज्ञानं—संज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान, विज्ञान मनमें आते ही रहते हैं। परन्तु चेतन-स्वरूप हम बिलकुल एक हैं। एक ही आत्मा, एक ही द्रष्टा मनके सब रूपोंको प्रकाशित करता है।

अब तीन चरणका अर्थ हो गया। श्लोकके प्रथम चरण—'**रूपं दृश्यं लोचनं दृक्**' —इसका '**नीलपीतादि**' में और द्वितीय चरण—'**तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्**'—इसका '**आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु**' में और '**दृश्या धीवृत्तयः साक्षी**'—यह '**कामः सङ्कल्पसन्देहौ**' में। '**दृगेव न तु दृश्यते**'—यह द्रष्टा जो है, द्रष्टा ही रहता है, कभी दृश्य नहीं होता।

जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें ज्ञानस्वरूप। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयमें ज्ञानस्वरूप और सामान्यविशेषमें ज्ञानस्वरूप। कार्य-कारणमें ज्ञानस्वरूप।

●

प्रवचन

१२

कई लोगोंका खयाल होगा कि अद्वैतवेदान्तमें ही द्रष्टा और दृश्यका विचार है। सांख्य और योगका तो पहले ही सुनाया है। सब वैष्णव-सिद्धान्तोंमें भी द्रष्टा और दृश्यका विचार है। ईश्वरकृपासे वैष्णवसिद्धान्तसे हमारा ऐसा परिचय है, ऐसी जान-पहचान है; केवल परिचय, जान-पहचान नहीं, ऐसा प्रयोग है कि वृन्दावनमें जितने वैष्णव सम्प्रदाय हैं, अपने-अपने सिद्धान्तके प्रेमी, जब उनके यहाँ कोई उत्सव होता है तो हमको बुलाकर ले जाते हैं और अपने सिद्धान्तकी बात हमसे कहलाते हैं।

अभी दक्षिणके 'कांजीवरम्' के 'श्री अर्ण्णंगाचार्य' आये हुए थे। 'श्रीरामानुजसम्प्रदाय'में उनके जोड़का आजकल कोई दूसरा आचार्य नहीं है। वे 'श्रीवृन्दावन धाम' में आये हुए थे तो हमको ले गये थे।

'श्रीवैष्णवसम्प्रदाय'के अनुसार जो बात कही जाती है, उसमें 'स्व-पर' का विवेक होता है। 'स्व तत्त्व' और 'पर तत्त्व'। अद्वैत-वेदांती तो संसारको 'पर तत्त्व' बोलते हैं और श्रीवैष्णव संप्रदायमें 'स्व तत्त्व'= आत्मा और 'पर तत्त्व'= परम तत्व-इष्ट-आत्मा क्या है और परमेश्वर, भगवान् क्या है, इसका जो विवेक करना है, इसका जो विचार करना है यह 'स्व-पर' तत्त्वका ज्ञान होगा।

स्व शेष है, पर शेषी है। स्व नियम्य है, पर नियंता है। स्व उपजीवक है, पर उपजीव्य है। नियम्य-नियंत्री भाव, शेष-शेषी भाव, सेवक-स्वामी भाव वहाँ भी 'स्व तत्त्व' का विवेक होता है कि आत्मा क्या है? यह नहीं समझना कि भक्ति-सिद्धान्तमें 'स्व तत्त्व' का विवेक नहीं होता है।

जब अपनेको देह समझोगे तो यह जो मिट्टी-पानी-आग हवाका बना हुआ शरीर है, क्या यही वैकुण्ठधाममें जायेगा? या क्या इसीसे जाकर लक्ष्मीनारायणकी

सेवा करोगे ? इस देहसे जुदा है। आत्मा यह विवेक सब भक्ति-सिद्धान्तमें होता है। निम्बार्काचार्य भी करते हैं, मध्वाचार्य भी करते हैं, बल्लभाचार्य भी करते हैं, चैतन्य महाप्रभु भी करते हैं।

शैवाचार्य, शाक्त्याचार्य, वैष्णवाचार्य, गाणपत्याचार्य, सौर्याचार्य सब-के-सब इस देहको अपने आत्मासे न्यारा निश्चय करते हैं। तो कैसे निश्चय करोगे ? 'द्रष्टा-दृश्य विवेक' देहात्मभावको छुड़ानेके लिए सबसे बड़ी तलवार है।

हम जो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य बनकर गायत्रीका जप करते हैं या मनुष्य बनकर भगवन्नामका जप करते हैं, या मनुष्य बनकर भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं, इससे भी उत्तम वस्तु वह है जिसका भगवान्‌के साथ शाश्वत संबंध है। वह ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्रसे ऊपर है; वह हिन्दू-मुसलमान, पशु-पक्षीसे ऊपर है। उसको जब देहमें-से अलग करके, विवेक करके देखोगे, तो देख पाओगे कि वह चीज भगवान्‌के साथ जुड़ी हुई है।

यह बात आपको सुनाई कि चार्वाकको छोड़कर ऐसा सिद्धान्त विश्वमें कोई नहीं है जो देहको आत्मा मानता हो। देहसे अपनेको ऊपर उठाना पड़ेगा। हमारे आस्तिकोंमें, वैदिकोंमें सबसे व्यावहारिक सिद्धान्त आर्यसमाजियोंका है। वे तीन चीज मानते हैं—जीव, जगत् और ईश्वर और आचार्योंने द्वैत-अद्वैतका विचार किया है, आर्यसमाजी-सिद्धान्तमें त्रैतका विचार है। तीन चीज सत्य है—प्रकृतिसे जीवात्मा बनता है। उसमें एक जीवात्मा है और एक सबका नियंता है। प्रकृति और जीवात्माका नियंता ईश्वर है। वह ईश्वर निराकार है और यह जीव भी निराकार ही है। यह तो बिना विवेकके अपनेको शरीर मान बैठा है।

बौद्ध, जैन, इसाई, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और विशिष्टाद्वैती, द्वैती, अचिंत्यद्वैताद्वैती, द्वैताद्वैती, शुद्धाद्वैती-जितने संप्रदाय हैं धार्मिक, वे मानते हैं कि आत्मा यह शरीर नहीं है, इस शरीरसे अलग है। अच्छा, तो इस शरीरसे अलग समझनेके लिए विवेककी जरूरत पड़ती है।

आपने देखा कि अनेक प्रकारके विषय इन्द्रियोंसे दिखाई पड़ते हैं और अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ मनसे दिखाई पड़ती हैं। अनेक प्रकारका मन आत्माको दिखाई पड़ता है। अब प्रश्न यह हुआ कि आप देख लो, जितनी भी दुनियामें चीज 'यह' के रूपमें मालूम पड़ेगी और 'मैं' के रूपमें भी मालूम पड़ेगी, जो मालूम पड़ेगी सो दृश्य होगी। और जिसको जिससे मालूम पड़ती है, उसको द्रष्टा बोलते हैं।

एक होता है लौकिक द्रष्टा और एक होता है पारमार्थिक द्रष्टा। लौकिक द्रष्टा क्या है ? जो अपनी इन्द्रियोंसे देखता है, वह लौकिक द्रष्टा है और जो अपनी

वासनाओंसे देखता है, वह तो लोकभ्रष्ट द्रष्टा है। आप इसका फरक समझ सकते हैं कि नहीं ? इन्द्रियोंसे दुनियाको देखना दूसरी चीज है और अपनी वासनासे दुनियाको देखना दूसरी चीज है। जब हम किसीको पापी या किसीको पुण्यात्मा देखते हैं तो हम इन्द्रियोंसे नहीं देखते हैं। क्यों नहीं देखते हैं ?

इन्द्रियोंसे पाप और पुण्य तो दिखाई नहीं पड़ता है। तो वह अपने मनकी वासनासे दिखाई पड़ता है। जिसके मनमें पाप-वासना भरी हुई है, उसको सारी दुनिया पापी दिखाई पड़ेगी। जिसके मनमें पुण्य-वासना भरी हुई है, उसको सारी दुनिया पुण्यात्मा दिखाई पड़ेगी। पाप और पुण्य दोनों वासनाओंको छोड़कर यदि शुद्ध इन्द्रियोंसे देखो, तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध ये पाँच विषय दिखायी पड़ेंगे। इसमें न कोई शत्रु दिखाई पड़ेगा, न मित्र दिखाई पड़ेगा।

वासनावासित मन तरह-तरहका होता है। कभी हमारे मनमें पाप आता है, कभी पुण्य आता है। पर द्रष्टा कैसा होता है ?

अनन्वागत पुण्येन अनन्वागत पापेन।

पाप-वासना आती है और चली जाती है, पुण्यवासना आती है और चली जाती है। वह पुण्यके साथ आता नहीं और पुण्यके साथ जाता नहीं। वह पापके साथ आता नहीं और पापके साथ जाता नहीं। कभी मनमें सुख वासना आती है कभी दुख-वासना आती है। देखो, कभी हम अपनेको सुखी मानते हैं और कभी दुःखी मानते हैं। जैसे काला चश्मा पहनकर दुनिया देखनेसे दुनिया काली हो गयी, तो गलत मानेगा न ! वह तो चश्मा काला है दुनिया काली नहीं है। हरा या लाल चश्मा पहनकर दुनियाको देखे, तो दुनिया हरी या लाल मालूम पड़े। तो वह चश्मा ही हरा या लाल है, दुनिया हरी या लाल नहीं।

जो अपने द्रष्टापन पर इन्द्रिय और अंन्तःकरणका चश्मा लगाकर दुनियाको देखता है, उसको यह दुनिया रंगबिरंगी दिखती है और जो विवेक-विचारके द्वारा इस चश्मेको उतार कर रख देता है और अपने स्वरूपसे देखता है, उसको यह दुनिया अपना स्वरूप ही दीखती है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि चश्मा उतार देनेके बाद यह दुनिया अपना स्वरूप ही दिखाई पड़ती है। तो अब यह बात हुई कि जितना भी दृश्य दिखाई पड़ता है, वह द्रष्टाको दिखायी पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि वह अंतःकरणको साथ लिये देखता है कि बिना अन्तःकरणको साथ लिये देखता है। एक दूसरा सवाल यह पैदा हुआ कि अन्तःकरणको आखिर हम अपनेसे अलग करें तो कैसे करें ?

घड़ीको उतारकर अलग रख देते हैं वैसे अंत:करणको उतारकर अलग नहीं रखा जा सकता है। जैसे माला या कपड़ेको उतारकर अलग रख देते हैं, वैसे हम अपनी इन्द्रियों या अंत:करणको फेंक दें तो हम शुद्ध द्रष्टा रहें ? ऐसे द्रष्टा नहीं हुआ जाता। तो कैसे द्रष्टा हुआ जाता है ?

हम बहुत सरल करके यह बात सुना रहे हैं आपको। पंडितोंमें या शास्त्रियोंमें बोलना होता न, जो इस विषयके जानकार हैं तो हमें इतना विस्तार करके बोलनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

अच्छा,आपके हिसाबमें कभी गडबड़ी होती है तो कुछ रकम बट्टेखातेमें डालनी पड़ती है या उचन्त खातेमें डालनी पड़ती है। तो रकम उठाकर डालनी पड़ती है या हिसाब उठाकर डालना पड़ता है ? रकम उठाकर नहीं डालनी पड़ती। यह नहीं कि पैसा हाथसे उठाया और 'बट्टेखातेमें' डाल दिया। वह नहीं। तो जैसे वहाँ पैसा फेंके बिना उसको उचन्त खातेमें या बट्टेखातेमें डालकर हिसाब पूरा कर लेते हैं वैसे आप विचारकर हिसाब-किताबमें इन्द्रिय और अन्त:करणको उचन्त खातेमें डाल दीजिये। उनको उठाकर फेंकनेकी जरूरत नहीं है, केवल विचारकी दृष्टिमें से उनको हटा देना है। माने हमारे विचारमें आँख-कान-त्वचा-जीभ-नाकका भेद नहीं है.मन-बुद्धि-अंत:करणका कोई भेद नहीं है; शब्द, स्पर्श, रूप-रस, गन्धका कोई भेद नहीं है। किसीके द्वारा नहीं देख रहे हैं, स्वयं देख रहे हैं।

अच्छा, तब फिर प्रश्न यह हुआ कि जैसे इन्द्रियोंने विषयोंको देखा, माने इन्द्रियोंमें बैठ करके हमने विषयोंको देखा और मनमें बैठ करके हमने इन्द्रियोंको देखा और अपने आपमें बैठ करके हमने मनको देखा। तो अब फिर हम कहाँ बैठकर अपने आपको देखें ? अपने आपको देखना है तो कहाँ बैठकर देखें ?

देखो भाई, यदि अपने आपको भी देखोगे, तो उसको देखनेवालेको भी पूछोगे कि आपको देखनेवाला जो है, उसको कौन देख रहा है ? द्रष्टाका जो पर्यवसान है, विचार करते-करते वह अपने आपमें है। यदि आप कहो कि द्रष्टा द्रष्टाको देखता है, तो एक देखा जानेवाला द्रष्टा और एक देखनेवाला द्रष्टा– अपने आप ही कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। आत्मा ही देखे और आत्मा ही देखा जाय-इसको 'कर्तृ-कर्म विरोध' बोलते हैं दर्शनशास्त्रमें। बनानेवाला ही बननेवाला नहीं होता। जैसे, कुम्हार घड़ेको बनायेगा तो अपनेको घड़ा नहीं बनायेगा। घड़ेसे अलग रहकर घड़ेको बनायेगा।

इसी प्रकार देखनेवाला जब किसी चीजको देखेगा, तब जिसको देखेगा, उससे जुदा रहकर उसको देखेगा। इसलिए विभाग केवल दो ही करना है। एक

दृश्य और एक द्रष्टा। दृश्य अनात्मा है और द्रष्टा आत्मा है। इसलिए अपना आपा दूसरेका भी दृश्य नहीं है और अपना दृश्य भी नहीं है।

तुम सब लोग हमको देख रहे हो?

तुम सब लोग हमको नहीं देख रहे हो?

एक महात्मा वेदान्तका उपदेश कर रहे थे। एक बुढ़िया महात्माको गाली देती हुई आयी कि—'बड़ा ही बदमाशह है! दिनभर गप्प हाँकता रहता है। लोगोंको निकम्मा बना रहा है। हमारे बेटेको किसी कामका नहीं रखा।'

अब सत्संगीलोग घूम-घूमकर देखें कि यह महात्माको गाली दे रही है। महात्माजीने कहा—'यह किसीको गाली देती होगी, हमको नहीं दे रही है। तुमलोग प्रवचन सुनो!'

बुढ़ियाने भी सुना तो वह आगयी। नाम लेकर बोली—'नहीं-नहीं, मैं तुमको गाली दे रही हूँ।'

महात्मा बोले—'देखो, अभी तो यह नाम ले रही है। इस नामके तो दुनियामें बहुत लोग होंगे। यह हमको गाली नहीं दे रही है।'

बुढ़िया पास आयी और सिर पकड़ा, हिलाया, बोली—'मैं इसीको गाली दे रही हूँ।'

महात्मा—'देखलो सत्संगियो! इसने तो अभी मुझे देखा ही नहीं है; हमको कैसे गाली दे सकती है? यह तो अभी अन्नमयकोशको पहचानती है। हम तो नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मा हैं। हम ब्रह्म हैं। इसने तो हमको कभी देखा नहीं, पहचाना नहीं। वह तो इस माटीके पुतलेको पहचानती है। पुतलेको गाली दे रही है, तो देने दो पुतलेको गाली। आओ, हम लोग ब्रह्मका विचार करें! इसने तो हमको कभी देखा ही नहीं, पहचाना ही नहीं। हमारी इसकी जान-पहचान नहीं।'

एक महात्माने हमको बताया था—'बेटा, जैसा तुम हमको देख रहे हो, वैसे हम नहीं हैं। जैसा देख रहे हो, दो हाथवाला, दो पैरवाला, दिलवाला, दिमागवाला, वैसे हम नहीं हैं। इसको जो गाली देता है, वह भी हमको नहीं लगती। इसकी जो तारीफ करता है, वह भी हमको नहीं लगती। जैसा तुम हमको समझते हो, वैसे हम नहीं हैं।'

'तब कैसे हो?'

'अरे, मैं तुमको जैसा बताता हूँ कि तुम जैसे हो, वैसा मैं हूँ। तुम्हारा जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-असंग आत्मा है, वही मेरा स्वरूप है।'

जितना मैं तुमको देख रहा हूँ, वह तुम नहीं हो और जितना तुम मुझे देख रहे हो, उतना मैं नहीं हूँ। और देखनेवाला तो दोनोंमें एक ही है। जो मुझमें देखा गया, सो मैं नहीं और जो तुममें देखा गया, सो तुम नहीं। देखनेवाला तो इस शरीरमें और उस शरीरमें, दोनोंमें बिलकुल एक ही है।

अच्छा, अब यह प्रश्न पैदा हुआ कि मन पैदा होता है और मरता है। शरीर पैदा होता है और मरता है। दुनिया पैदा होती है और मरती है। वैसे 'मैं' भी पैदा होता हूँ और मरता हूँ कि नहीं? यों समझो कि यह सवाल पैदा हुआ कि जैसे मनको देखनेवाला 'मैं' हूँ, वैसे मेरा भी कोई देखनेवाला है कि नहीं? जो पहले श्लोकका चौथा हिस्सा है न,

दृगेव न तु दृश्यते।

यह द्रष्टा जो है, वह द्रष्टा ही है, दृश्य नहीं है। अब—

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना॥ ५ ॥

पहले श्लोकमें तो कहा था—'साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।' 'साक्षी दृगेव।' चौथे श्लोकमें कहा—'चिति' और अब पाँचवें श्लोकमें बोलते हैं—'एषा।' ऐसा बढ़िया है यह! इसको नपुंसकलिंगमें भी बोलते हैं—'तत्त्वम्।' 'ब्रह्म।' स्त्रीलिंगमें भी बोलते हैं—'संवित्।' 'चितिः।' पुल्लिंगमें भी बोलते हैं—'आत्मा।' 'साक्षी।'

अरे, स्त्री और पुरुषका भेद, यह तो कुछ चिह्नोंका ही भेद है। शरीरमें होनेवाले कुछ चिह्नोंका ही भेद है। शरीरमें होनेवाले कुछ चिह्नोंके कारण 'स्त्री-पुरुष' बोलते हैं। यह लिंगोंका भेद होता है। जातिका भेद होता है—'यह मनुष्य है,' 'यह पशु है'—आकृति ग्रहणात् जातिः। शकल-सूरत देखकर अलगाव मालूम पड़े तब जाति अलग होती है। नहीं तो. उपदेशव्यंग्य—'यह चोटीवाला-जनेऊवाला ब्राह्मण है।' यह बतानेसे मालूम पड़ेगी। यह प्राकृत नहीं है। ब्राह्मणत्व आदि जो जाति है, वह प्राकृत नहीं है, संस्कृत है, संस्कारसे प्राप्त हुई है।

ब्राह्मण और बैलका जो भेद है, मनुष्य और बैलका जो भेद है, वह प्राकृत है। कैसे? दोनोंकी शकल प्रकृतिने अलग-अलग बनायी है। मनुष्यकी शकल अलग, पशुकी शकल अलग। मनुष्यमें जो जातिका भेद है, वह प्रकृतिका बनाया हुआ नहीं है। स्त्री और पुरुषका जो भेद है, वह प्रकृतिका बनाया हुआ है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रमें जो जाति है, वह प्राकृत नहीं है, संस्कृत माने संस्कारमूलक है। स्त्री-पुरुषका भेद जातिमूलक है। शैव-वैष्णवका भेद संप्रदायमूलक है। हिन्दू कौन है?

वह एक समाज है। उसमें शैव-वैष्णव, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-क्षत्रिय, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी, सबका विवेक होता है।

तब प्रश्न यह हुआ कि यह जो आत्मदेव हैं, इनका जन्म होता है कि नहीं? देखो, जितना हम तुमको देखते हैं, उसका जन्म तो होता ही है, और जितना तुम हमको देखते हो उसका जन्म भी होता ही है। तो, तुम्हारे देखे हुएसे मैं जुदा हूँ और मेरे देखे हुएसे तुम जुदा हो। इसका नाम द्रष्टा है। हमारा दृश्य होता है, उससे भी द्रष्टा न्यारा है और तुम्हारा दृश्य होता है, उससे भी द्रष्टा न्यारा है।

इसमें हमारे-तुम्हारेका भेद मत करो। 'दृश्यसे जो न्यारा है, सो द्रष्टा है'—ऐसे भेद करना पड़ेगा। द्रष्टाका जन्म कब होता है? आओ, इसकी जन्म-कुंडली बनावें। ये ज्योतिषी लोग, अगर उनको कोई द्रष्टाकी कुंडली बनाकर दिखावें और उनसे कोई फल पूछना चाहें, तो उसकी कुंडली बनाकर फल बता देंगे। प्रश्न यह है कि दुःखकी निवृत्तिका इससे बढ़िया और कोई लौकिक उपाय नहीं है। लोग मनोरंजन ज्यादा चाहते हैं—कुछ गाना चाहिए, कुछ बजाना चाहिए, कुछ नाचना चाहिए, कुछ नाटक चाहिए, कुछ सुरीलापन चाहिए, कुछ लच्छेदार बोली चाहिए। एक बड़े अच्छे वक्ता एक विरक्त महात्माके पास गये। वे भी बड़े भारी महात्मा हैं। विरक्त महात्माने उनको डाँटा कि लोगोंको रिझानेके लिए तुम बात बनाते फिरते हो! तुममें और पतुरियामें भेद क्या है? एक वेश्या भी लोगोंको रिझानेके लिए तरह-तरहके हाव-भाव दिखाती है, गाती है, नाचती है कि लोग खुश हो जायँ। तुम भी लोगोंको खुश करनेके लिए तरह-तरहके चेहरा बनाते हो, तरह-तरहकी आवाज बनाते हो, तरह-तरहके नाटक करते हो! तुममें और उसमें फरक क्या है? क्या बड़े बनते हो? फटकार दिया!! आप लोगोंने अभी फक्कड़ोंकी बात सुनी नहीं है।

यहाँ एक बार एक सत्संगीने हमको तो मना कर दिया कि—'महाराज, फक्कड़ोंकी बात हमको मत सुनाया करो।' परन्तु आप लोग फक्कड़ोंके पास जाते नहीं। यहाँ बैठे-बैठे फक्कड़ोंकी एकाध बात सुन लिया करें तो मजा तो आवेगा न!

अच्छा, समझो कि, मान लो कि आत्माका जन्म होता है तो किसको मालूम पड़ेगा? आत्माका जन्म! हमारी आत्माका जन्म तुमको मालूम पड़ेगा और तुम्हारी आत्माका जन्म हमको मालूम पड़ेगा। जो मालूम पड़ेगा, वह तो दृश्य ही है। वह आत्मा है ही नहीं।

अच्छा, जन्म उसका होता है जिसका प्रागभाव होता है। प्रागभाव होना=पहले न होना। जैसे घड़ा पहले नहीं था, मिट्टीमें घड़ेकी शकल बना दी गयी तो घड़ा पैदा हुआ। अब समझो, नाम और रूपको जाननेवाले, नाम और रूपके द्रष्टा तुम हो!

अगर तुम्हारा जन्म हो तो किसको अनुभव होगा कि तुम्हारा जन्म हुआ? तुमको अनुभव होगा कि दूसरेको? अगर तुमको यह अनुभव हुआ कि मेरा जन्म हुआ, तो जन्मसे पहले तुम थे। जन्मके प्रागभावके साक्षी भी तुम थे। तुमसे ही जन्म सिद्ध होता है। अगर तुम न होते तो जन्मका पता ही न चलता।

अच्छा, तुम कहो कि हम मरते हैं, तो—

पलटू तुम मरते नहीं साधो करो विचार।
साधो करो विचार, तुम हो कर्ताके कर्ता॥

'मैं मर गया'—यह अनुभव क्या किसीको दुनियामें हो सकता है? थोड़ी-सी अकल हो तो विचार कर लो। अनुभवकी श्रेणी माने कक्षा अर्थात् परम्परामें तुम यह तो कह सकते हो कि 'वह मर गया' 'रेना मर गया,' 'पेना मर गया,' 'सेना मर गया'—यह तो बोल सकते हो। दूसरेके बारेमें बोल सकते हो कि 'वह मर गया,' परन्तु अपने बारेमें बोल सकते हो कि 'मैं मर गया!' मर जाओ तो बोलोगे कैसे? और बोलोगे, तो मरे नहीं हो। झूठ ही मूठ चद्दर ओढ़कर बोलोगे कि—'मैं मर गया हूँ,' 'मैं मर गया हूँ,' 'मैं मर गया हूँ,' तो यह बोलना ही तुम्हारे जिन्दा होनेका सबूत हो जायगा।

अच्छा, बोलोगे नहीं, मनमें सोचोगे कि—'मैं मर गया हूँ,' तो जब तुम मनमें सोचोगे कि 'मैं मर गया हूँ,' तो तुमको मालूम पड़ेगा न, कि 'मैं मनमें सोच रहा हूँ कि—'मैं मर गया हूँ?' मर गये हो तो सोच कैसे सकते हो? इसलिए कभी किसीको अपने जन्म और अपनी मौतका अनुभव नहीं हो सकता। तुम अजन्मा हो और तुम अमृत हो।

कोई माईका लाल आकर बता दे कि—'मैं मर गया था या 'मैं मर चुका हूँ। अरे भाई, मर चुके हो, तो बतानेके लिए आये हो? तो अब कैसे जिन्दा हो? अब कैसे बताने आये?

'अरे, मैं तो बिलकुल था ही नहीं, मेरा जन्म हुआ,' तुमको कैसे मालूम हुआ कि 'मेरा जन्म हुआ?' यह बड़ा महत्त्वपूर्ण अनुभव है। तुम अपने जन्म और अपनी मृत्युका अनुभव नहीं कर सकते। जब तुम्हें कभी अपनेमें जन्म और मृत्युका अनुभव नहीं हुआ, तो अपमा जन्म और मृत्यु क्यों मानते हो? सवाल यह है। हमने दूसरोंको मरते देखा है, इसलिए हमको अपने मरनेका डर लगता है। हमने दूसरोंको पैदा होते देखा है, इसलिए 'हम भी पैदा हुए हैं'—ऐसा खयाल करते हैं।

'दूसरोंको पैदा होते तुमने देखा है?'

बोले—'हमने माँके पेटमेंसे बच्चा निकलते देखा है, अस्पतालमें जाकर बिलकुल।'

'तब तो बहुत बढ़िया! माँके पेटमें आते हुए बच्चेको कहाँ देखा तुमने?'

'हमने माँके पेटमें आते हुए बच्चेको भी देखा है।'

'अच्छा, तो बापके पेटमें आते हुए बच्चेको कहाँ देखा है तुमने?'

'हमने बापके पेटमें आते हुए बच्चेको भी देखा है। अंगूरमें से आया, गेहूँमें से आया।'

'अरे, तो अंगूरमें कहाँसे आया? गेहूँमें कहाँसे आया? यह कहाँसे देखा है तुमने?'

बोले—'अरे, हमने पंचभूतमें-से देखा है।'

'अरे, पंचभूतमें कहाँसे आया, यह बताओ!'

आत्माका जन्म कभी होता ही नहीं। यह अविनाशी है, अमर है, अजन्मा है। न यह कभी मरता है न कभी जिन्दा होता है। निर्भय हो जाओ इस बातसे। चोला बदलनेका नाम जन्मना और मरना है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता. २.२२

कपड़े बदलते हैं, पोशाक बदलते हैं। अरे भाई, पोशाक बदलनेमें भी बड़ी तकलीफ होती है। बच्चेको पोशाक बदलनेमें बड़ी तकलीफ होती है, बड़ेको नहीं। बच्चेको एक पोशाक पहना दो और उसको पसन्द आ जाय कि 'यह पोशाक बहुत अच्छी है,' वह सोते समय भी उतारना पसन्द नहीं करेगा। हमने सुना है, पोशाक उतारनेमें तो बच्चे रोते हैं। बड़े लोग तो अपने-आप पोशाक खुशी-खुशी उतार देते हैं।

आध्यात्मिक बचपन है न, वही मृत्युसे डरता है। यह बच्चा डरता है मृत्युसे। अब आगे देखो, मृत्यु भी तुम्हारी एक पोशाक है। इसमें एक और बात है। बोले—'भाई, ठीक है; वेदान्ती तो कहेंगे कि यह पोशाक मैं नहीं हूँ, मेरी नहीं है, सच्ची नहीं है। न उनको पहनना पड़े, न उतारना पड़े। परन्तु भक्तलोग इस डरसे कैसे बचेंगे?'

एक 'खानखाना रहीम' मुसलमान हुए हैं। आप जानते ही होंगे, वे बड़े प्रसिद्ध थे, नवाब भी थे और कवि भी थे। अन्तमें वे बड़े त्यागी-वैरागी हो गये। 'चित्रकूट' में 'तुलसीदास' ने देखा, वे एक भड़भूजेके यहाँ भाड़ झोंक रहे हैं। 'गोस्वामीजी' ने पहचान लिया कि ये तो नवाब 'रहीम खानखाना' हैं। जाकर बोले—

सो कत झोंकत भाड़ जाके सिर पर भार अस? वे भी गोस्वामीजीको पहचान गये। वे बोले—

रहीमन उतर्यो पार भार झोंकि सब भाड़। मैंने सब भार इस भाड़में झोंक दिया और मैं तो अब पार उतर गया। मैं नवाब नहीं हूँ, खानखाना नहीं हूँ।' 'रहीम' ने भगवान्‌से एक प्रार्थना की है—'हे प्रभु! तुमको खुश करनेके लिए मैंने बहुत पोशाकें बदलीं। देखो, कभी तुम्हारे सामने नेवला होकर आया, घुम-घुमाकर तुम्हें देखता हुआ। कभी तुम्हारे सामने मोर होकर आया नाचता हुआ। कोयल होकर कुहू-कुहू करता रहा। कभी हाथी बनकर आया, कभी घोड़ा बनकर आया, कभी गधा बनकर रेंकता हुआ आया। बहुत बढ़िया-बढ़िया पोशाक पहनकर तुम्हें रिझाने आया। इतना बड़ा नाटक किया। अब प्रभु! तुम यह बताओ कि तुम मेरे इस नाटकसे तरह-तरहके वेश बदलनेसे खुश हुए हो कि नहीं हुए हो? अगर खुश नहीं हुए हो, तो कह दो कि—'बस! अब कोई पोशाक नहीं बदलना!' इसका मतलब हुआ कि मुक्त हो जायेंगे। और—'यदि तुम खुश हुए हो, तो मैं जो माँगूँ सो हमको दे दो। दोनोंमें-से एक काम करो!'

देखो, यह जो शरीर है, यह जैसे वेदान्तके सिद्धान्तमें एक पोशाक है, वैसे भक्तिके सिद्धान्तमें भी एक पोशाक है। जो इस पोशाकको बदल-बदलकर धारण करनेवाला है, वह तो इससे बिलकुल न्यारा है। वह तो पोशाकके साथ बनता नहीं और पोशाकके साथ बिगड़ता नहीं।

नोदेति नास्तमेत्येषा।

न तो यह चिति कभी जन्म लेती है, न तो कभी अस्त होती है। इतना ही नहीं, अस्त हो तो अस्तका साक्षी कौन? जन्म हो तो जन्मका साक्षी कौन? जन्म और मृत्यु अनात्मामें होता है, दृश्यमें होता है। यह तो गवाह है गवाह!

न वृद्धिं याति न क्षयम्।

इतना ही नहीं कि जन्म और मृत्यु न हो; बढ़ना और घटना भी लगता है। जरा-सा बच्चा पैदा हुआ था, लम्बा होकर छः फुटका हो गया। पैदा हुआ तब छः फुटका थोड़े ही था? 'वृद्धिं याति' माने बढ़ गया। एक दिन किसीसे डॉक्टरने

पूछा—(उसका वजन बढ़ गया था, दो सौ पाउंड हो गया, ढाई सौ पाउंड हो गया।) 'तुम्हारा जब कम-से-कम वजन था, तब कितना था?' उसने कहा—'आठ पाउंड।' डॉक्टरने कहा—'मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि तुम पैदा हुए तब कितना वजन था? बड़े हुए तब कितना था, यह पूछ रहा हूँ।'

कई-कई तो पाँच पाउंडके पैदा होते हैं, साढ़े चार पाउंडके पैदा होते हैं। उनको बिलकुल बकसमें रुईमें रखकर ऑक्सीजन दे-देकर रखते हैं, फिर बड़ा करते हैं। मैंने दो-दो महीने, तीन-तीन महीने बच्चोंको ऑक्सीजनके डिब्बेमें देखा है। अब तो बड़े हो गये। याद दिलावें तो उनको शरम आती है कि हमको ऑक्सीजनके डिब्बेमें रखा गया था। आँखके सामने पैदा हुए, ऑक्सीजनके डिब्बेमें रहे। अच्छा, तो अब यह देखो, बढ़ रहे हैं। आठ पाउंडसे बढ़कर कितने हो गये? सौ पाउंडके हो गये, डेढ़ सौ पाउंडके हो गये। बोले—'हम बढ़ रहे हैं।'

एकका वजन घटने लगा—८० पाउंड हुआ, फिर सत्तर हुआ, साठ हो गया। 'पहले तुम्हारा वजन अधिक-से-अधिक कितना था?' 'अधिक-से-अधिक तो दो सौ पाउंड था।' 'अरे, यह तो अच्छा नहीं है। तुम बीमार पड़ गये, क्षय हो गया तुमको। तुम्हारे शरीरकी शक्ति क्षीण हो गयी!'

बोले, 'अब देखो! जिसका वजन बढ़ा और जिसका वजन घटा, ये दोनों तुम हो कि कोई दूसरा है?' 'मैं तो वही हूँ जो बचपनमें आठ पाउंडका था, बढ़कर दो सौ पाउंडका हो गया था और घटकर साठ पाउंडका हो गया। मैं तो एक ही हूँ।'

यह वजन किसका घटता-बढ़ता है? वृद्धि और क्षय किसका होता है? शरीरका। वृद्धि और क्षय तुम्हारा नहीं होता है। तुम वृद्धि और क्षयके साक्षी हो। जो मर गया वह तुम्हारा नहीं था, तुमको झूठा भ्रम है। जो बिछुड़ गया वह तुम्हारा नहीं था, तुमको झूठा भ्रम है। जो शरीर घट गया, वह तुम नहीं हो, तुम तो देखनेवाले हो।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें मनोरंजन मत करना, सत्यको समझनेकी कोशिश करना। बिना सच्चाईको समझे, दुःख दूर नहीं होता। नहीं तो बात-बातमें क्रोध आयेगा, बात-बातमें मुहब्बत हो जायगी और इससे फँसोगे, उससे फँसोगे। बात-बातमें दुश्मनी हो जायगी, बात-बातमें कामना हो जायगी, बात-बातमें लोभ आ जायगा, बात-बातमें इन्सल्ट हो जायगी तुम्हारी। जिनको जरा-जरासी में इन्सल्ट हो जाती है न, यह कोई उनकी आध्यात्मिक उन्नति थोड़े हुई है! वे तो मनोरंजनकी दुनियामें बह रहे हैं। वह तमाशा बन गये हैं। कभी लाल होते हैं, कभी पीले होते हैं, कभी काले होते हैं। कभी जोरसे बोलते हैं, कभी धीरे बोलते हैं। अरे बाबा! 'न वृद्धिं याति।'

अच्छा, जरा शरीरको छोड़ो। जरा अपनी ममताको देखो। जब तुम पैदा हुए थे, तब तुम्हारी किसीसे ममता नहीं थी। केवल शरीरमें ही थी। फिर जब देखा कि माँ दूध पिलाती है, तो माँसे ममता हुई। फिर घरमें देखा कि कौन-कौन प्यार करता है? उनसे हुई, फिर पड़ौसियोंसे हुई। तो ममता लेकर पैदा थोड़े ही हुए थे? यह तो बादमें जोड़ी है, बादमें बढ़ा ली है। पहले तो माँसे भी ममता नहीं थी। यह भी पता नहीं था कि—'यह हमारी माँ है।'

अस्पतालमें मैंने वीचकेंडी पर जाकर देखा। जल्दी किसीको दिखाते नहीं हैं। छोटे-छोटे झूलेमें पचीस बच्चे! नंबर लगा हुआ था, एक-दो........। माँ कैसे पहचानेगी कि यह हमारा बच्चा है और बच्चा कैसे पहचानेगा कि यह हमारी माँ है। डॉक्टर और नर्स बच्चे पर निशान लगा देते हैं, अमुक नंबरका बच्चा। माँको तो मालूम ही नहीं था कि हमारा बच्चा कौन है? माँ तो पैदा होते समय बेहोश थी और बच्चेको भी नहीं मालूम था कि हमारी माँ कौन थी? कहाँ ममता थी उस समय? परन्तु धीरे-धीरे दूध पीते-पीते गोदमें लेते-लेते, खेलते-खेलते ममता बन गयी। जिन देशोंमें अस्पतालमें बच्चोंको पैदा करके औरतें चली आती हैं और बच्चे अस्पतालमें रह जाते हैं। अरे, यह सब गढ़ी हुई ममता है। फिर पति-पत्नीकी ममता हुई, फिर रिश्तेदार-नातेदारकी, सास-ससुरकी! क्या शब्द बोलते हैं? 'फादर-इन-लॉ'—'ये हमारे कानूनी पिता हैं!' कानूनी-माता हैं!' यह ममता सच्ची है कि गढ़ी हुई है? फिर ममताका फैलाव हुआ। 'यह मेरा'— 'यह तेरा'—

फिर बुद्धिका फैलाव हुआ। जो विचारोंमें नहीं था, ठूँस-ठूँसकर भरा। पड़ोसीके घरमें क्या हो रहा है? इसके लिए किवाड़ीके छेदमें-से देखा। जहाँ आँख नहीं पहुँचती है, वहाँ दूरबीन लगाकर देखा। जो महीन चीज नहीं दीखती थी, वहाँ खुर्दवीन लगाकर देखा। बोले—'अब हमारी बुद्धि बढ़ गयी।'

जो किताबमें लिखा था, वह अकलमें ठूँस दिया। बोले—अब हमारी बुद्धि बढ़ गयी। बोले—अब हमारी बुद्धि कमजोर हो रही है, विस्मृति हो रही है, याद नहीं रहती है। अरे, बुद्धि बढ़ गयी—घट गयी, ममता मनमें बढ़ गयी—घट गयी। इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ी और घटी, लेकिन जरा इनसे अलग करके अपनेको तो देखो! न तुम बढ़े, न तुम घटे। तुम तो ज्यों-के-त्यों!

स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना॥

यह स्वयं प्रकाश है आत्मा और बिना किसी औजारके सबको प्रकाशित करता है।

●

प्रवचन १३

'द्रष्टा-दृश्य-विवेक' - संस्कृत भाषामें भी वैसे ही बनेगा या तो 'द्रष्टृ-दृश्य विवेक' बनेगा या 'दृग्-दृश्य विवेक' बनेगा। इस पुस्तकके बारेमें दो प्रकारके मत हैं, पुस्तकें जितनी छपी हुई मिलती हैं, उनमें - 'शंकराचार्य' की रचना है यह, ऐसा लिखा हुआ मिलता है। इस पर एक टीका है, 'स्वामी ब्रह्मानन्द भारती'की। पुरानी टीका है। उन्होंने उस टीकामें लिखा है - 'यह पुस्तक 'भारती तीर्थ गुरु'की रचना है। 'भारती तीर्थ गुरु'। 'विद्यारण्य स्वामी'के सन्यास-गुरु तो थे 'शंकरानन्दजी महाराज' और वेदान्तके पढ़ानेवाले गुरु थे 'भारती तीर्थ'। ये पहले वेदके बहुत बड़े विद्वान् थे। जो 'सायण माधव'के नामसे भाष्य प्रसिद्ध है, 'भाष्यं विलोक्यं वटमाधुर्यम्'- 'सायण माधव' जो हैं. वे ये ही सही हैं।

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं बिना॥ ५॥

चितिः—यह जो चिति है, संवित् है, इसका उदय और अस्त नहीं होता। दुनियामें देखनेमें आता है कि दीयेकी लौ जलती है और बुझ जाती है। आग जलती है और बुझ जाती है। सूर्योदय होता है और सूर्यास्त हो जाता है। दुनियामें जितनी रोशनी होती है, वह उदय होती है और अस्त होती है। नेत्रज्योति भी उदय होती है और अस्त होती है। आँख खुलती है और बन्द होती है। मनोज्योति भी उदय होती है और अस्त होती है। वाक्ज्योति भी उदय होती है और अस्त होती है। कभी बोलते हैं, कभी नहीं बोलते हैं। कभी देखते हैं, कभी नहीं देखते हैं। कभी सोचते हैं, कभी नहीं सोचते हैं। तो यह हुआ कि यह जो आत्मज्योति है, उसका भी उदय-अस्त होता है क्या?

जैसे सूर्योदय-सूर्यास्त होता है, जैसे चन्द्रोदय-चन्द्रास्त होता है, जैसे शुक्रोदय-शुक्रास्त होता है, वैसे यह आत्मचैतन्य जो है, इसका भी उदय और अस्त होता है कि नहीं?

बोले कि— 'भाई, सुषुप्तिमें इसका अस्त हो जाता है। और जाग्रत्-स्वप्नमें इसका उदय हो जाता है।' क्या राय है आपकी?

जाग्रत्-स्वप्नमें यह आत्मचैतन्य दर्शनवृत्तिमें आरूढ़ होकर जाग्रत् और स्वप्नके दृश्योंको प्रकाशित करता है, विषयोंको प्रकाशित करता है। दर्शनवृत्तिमें आरूढ़ हो करके जाग्रत् अवस्थामें बाह्यके समान विषयोंको प्रकाशित करना और स्वप्नमें केवल वृत्ति पर आरूढ़ होकर वृत्तियोंको ही तत्-तत् विषयके रूपमें प्रकाशित करना स्वप्नमें अंतरता होना और जाग्रत्में बाह्यता होना, यह जो आंतरवत्-बाह्यवत् आत्मचैतन्यमें भासता है, सुषुप्तिमें यह आंतरपना और बाह्यपना दोनों नहीं भासता है।

आप ऐसा नहीं समझें कि आप सुन लें कि आप आँख बन्द करके बैठ जायँ, ध्यान करें, भीतर हो गये, नाभिमें हो गये, दिलमें हो गये, दिमागमें हो गये, मूलाधारमें हो गये—इस चामकी थैलीके भीतर कहीं बैठनेका नाम आत्मचैतन्यका दर्शन नहीं है।

बोले - 'भाई, सुषुप्ति हुई, तो आत्मचैतन्यका अस्त हो गया और जाग्रत् स्वप्नकी अवस्था हुई, तब आत्मचैतन्यका उदय हा गया।' जैसे सूर्य-चन्द्रादि ज्योतियोंका मालूम पड़ता है या वाक्-नेत्र-मनस् आदि ज्योतियोंका मालूम पड़ता है, वैसे ही क्या आत्मचैतन्यका भी उदय और अस्त होता है।

यह घड़ीका होना किसको मालूम पड़ता है? हमको। आप सब लोग बोल लीजिये कि -'हमको मालूम पड़ता है।' अच्छा, घड़ीका न होना किसको मालूम पड़ता है? हमको। घड़ी न होने पर भी यहाँ घड़ीकी कल्पना करनेकी है। तो वह किसको मालूम पड़ेगा? हमको। तो घड़ीका सचमुच होना, हमको मालूम पड़ता है, घड़ीका कल्पित होना, हमको मालूम पड़ता है। घड़ीका न होना हमको मालूम पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि घड़ी आयी, घड़ीकी कल्पना हुई, घड़ी नहीं रही, लेकिन देखनेवाला 'मैं' ज्यों-का-त्यों रहा। घड़ीका भाव, घड़ीकी कल्पना, घड़ीका अभाव और कल्पनाका भी अभाव, घड़ी और घड़ीकी कल्पना दोनोंका अभाव कहाँ होता है?

व्यवहारमें जाग्रत् अवस्थामें घड़ी होती है। स्वप्न अवस्थामें घड़ीकी कल्पना होती है। सुषुप्ति अवस्थामें घड़ी और घड़ीकी कल्पना दोनों नहीं होती है। प्रश्न यह होता है कि वहाँ आत्मचैतन्य, वहाँ आत्मा, वहाँ 'मैं' रहता है कि नहीं?

नोदेति नास्तमेत्येषा

यह कहो कि भाई, सुषुप्तिमें तो नहीं रहता है। अच्छा, सुषुप्तिमें नहीं रहता है यह आत्मचैतन्य, तो इस समय जो मालूम पड़ा रहा है; क्या मालूम पड़ रहा है? कि

एक 'सुषुप्ति' नामकी दशा होती है। उस समय जाग्रत् भी नहीं है और स्वप्न भी नहीं है। उस समय घड़ी भी नहीं है और घड़ीकी कल्पना भी नहीं है। ऐसी एक अवस्था तुम्हारी देखी हुई है। किसकी देखी हुई है? हमारी देखी हुई है। अगर वह अवस्था तुम्हारी जानी हुई है, तो उस समय तुम्हारा होना जरूरी है।

कुछ लोग ऐसे बोलते हैं कि उस समय तो कुछ मालूम नहीं पड़ा। अब मालूम पड़ता है न! यह तो अबका खेल हुआ! तब तो आत्मा भी नहीं था। हम कहते हैं कि तब सुषुप्ति भी नहीं थी! तुम्हें कभी सुषुप्ति अवस्था हुई ही नहीं। केवल याद आती है, याद आती है माने कल्पना होती है। अनदेखी चीजकी याद आवे, तो वह कल्पित होगी कि नहीं? यदि तुमने सुषुप्ति देखी, तब तो यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्तिके समय तुम थे और तुमने सुषुप्तिको देखा। जाना सुषुप्तिको और यदि यह कहो कि हमने सुषुप्ति नहीं देखी, तो अब तुम सुषुप्तिकी कल्पना कर रहे हो। सुषुप्ति हुई ही नहीं। जब सुषुप्ति नहीं हुई तो तुम्हारे होने-न-होनेका सवाल ही कहाँ है? जब सुषुप्ति ही नहीं हुई, तो तुम्हारे न होनेका सवाल ही नहीं है। यदि सुषुप्ति हुई, तुम जानते हो, तो तुम जरूर थे। तो, या तो सुषुप्ति मिथ्या है यातुम्हारा जाना हुआ दृश्य है। दृश्य है तब भी मिथ्या है, कल्पित है तब भी मिथ्या है, देखी है सुषुप्ति तब भी मिथ्या है और सुषुप्तिकी कल्पना हो रही है तो भी मिथ्या। इसलिए यह जो आत्मचैतन्य है, यह ज्यों-का-त्यों है।

'नोदेति नास्तमेत्येषा'—यह जो चिति है, यह जो संवित् है, इसका न तो उदय होता है और न तो अस्त होता है। **'कथं न उदेति?'** क्यों नहीं उदय होती? **'प्रागभावाभावात्'**। 'कथं अस्तं न इति?' यह अस्त क्यों नहीं होती? **'प्रध्वंसाभावाभावात्।'**

यह नमूना बताते हैं आपको कि संस्कृतभाषामें दर्शनशास्त्रमें विचार करनेकी शैली कैसी है। बात कोई कह देनेसे नहीं मानी जाती है। उसको 'योज्यतामिदम्'-इस बातको तुम स्वयं अपने विचारसे देखो। उदय उसका होता है जो बादमें न रहे। तुम्हारा चैतन्य क्या कभी नहीं था? आत्मचैतन्यके बारेमें यदि आप यह सोचते हो कि कभी नहीं था, तो यह गलत है। क्योंकि 'कभी नहीं'का जो द्रष्टा है, वही तो चेतन है। इसलिए प्रागभावका अभाव है। माने आत्मचैतन्यका प्रागभाव है ही नहीं।

बोले—'तो अस्त हो जायगा।'

भाई! अस्त हो जानेके बाद जो चीज न रहे; सूर्यका प्रागभाव नहीं है। वह पहले रहता है और उदय होता है। सूर्यका प्रध्वंसाभाव भी रोज नहीं होता। यह

नहीं है कि अस्त होने पर नहीं रहता। अरे, यहाँ नहीं रहता, 'अरब' में रहता है; यहाँ नहीं रहता, 'लंदन' में रहता है; यहाँ नहीं रहता, 'अमेरिका' में रहता है। तो अस्त होनेके बाद भी उसका अभाव नहीं होता और उदय होनेके पहले भी उसका अभाव नहीं होता। यहाँ नहीं होता, 'जापान' में होता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जो आत्मचैतन्य है, उसका प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव नहीं है।

'प्रागभाव', 'प्रध्वंसाभाव' कई लोगोंको भारी मालूम पड़ता होगा। पुरानी बोली है न? हमारा ऐसा ख्याल है कि जो लोग अनुवाद करते हैं न; अनुवादके बारेमें हमारी जानकारी किसीसे कम नहीं है। क्यों? हमने बड़े-बड़े मोटे ग्रंथोंका अनुवाद किया है। हम कहते हैं कि 'गायत्री' का कोई हिन्दी-अनुवाद करके बता दे। बिलकुल झूठी बात है। 'गायत्री' में ब्रह्म और आत्माकी एकता भी है।

धियो यो नः प्रचोदयात्।

जो हमारी बुद्धिका प्रेरक '**त्वं**' पदार्थ है,

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गः।

वही सृष्टिकर्त्ता ईश्वरका तेज है। जो ईश्वरका श्रेष्ठ तेज है, वही हमारी बुद्धिका प्रेरक है। सामानाधिकरण्यसे दोनोंकी एकता हो गयी। अर्थात् जो महावाक्यका अर्थ है, वही गायत्रीका अर्थ है। हिन्दीमें इसका अनुवाद कैसे होगा? किसी भी भाषामें इसका अनुवाद कैसे होगा? हमारे संस्कृतके काशीके पंडित पहले इसके बड़े विरोधी थे। 'बाल शास्त्री,' 'विशुद्धानन्दजी महाराज,' 'शिवकुमार शास्त्री,' और 'बापूदेव शास्त्री' जो बड़े-बड़े विद्वान् थे, 'दामोदर शास्त्री' कहते थे कि-'संस्कृतवाली बात दूसरी भाषामें जायेगी कैसे? पहले यह तो बताओ!'

एक दिन हमने उनके साथ तादात्म्य किया कि-'भाई, क्यों?' अपने मनमें 'दामोदर शास्त्री' को बुलाया, 'शिवकुमार शास्त्री' को बुलाया। 'क्यों विरोध करते हो? लोगोंको मालूम तो पड़ने दो!'

बोले-'अच्छा, गीताका कोई अनुवाद करके बता दे!' 'गीता' जहाँ मूलमें है, वहाँ उसको 'शंकर'-'रामानुज' दोनों मानते हैं, है कि नहीं? वहाँ उसको 'मध्व'-'निम्बार्क' दोनों मानते हैं; उसको 'चैतन्य'-'वल्लभ' दोनों मानते हैं। उसको 'भास्कराचार्य,' 'कपिल', 'गौतम' सब मानते हैं।

जब एक भाषामें उसका अनुवाद होता है, उसपर एक टीका आती है, वहाँ उसको सब नहीं मानते हैं। आप जानते हैं? 'गीता' के मूलमें जो बात भरी हुई है, वह बाहर नहीं निकलती। अभी तक बाहर आयी नहीं, आगे आवेगी नहीं।

जितने-जितने विद्वान् होंगे, जितने-जितने संत होंगे, अनुभवी होंगे, उनको 'गीता' में नयी-नयी बात निकलेगी और जो अनुवाद किया हुआ है न, उसमें नयी-नयी बात नहीं निकलेगी। अनुवादके बारेमें हमारी पूरी जानकारी है। मैंने 'महाभारत' का अनुवाद किया है, मैंने 'भागवत'का अनुवाद किया है। आपको प्रामाणिकताके लिए यह बात बताता हूँ कि यह बात आप समझें। यह तो-

अभावे शालिचूर्णं वा शर्करा वा गुडस्तथा।

'सत्यनारायण'की कथामें अगर घरमें चीनी न हो, तो गुड़से काम लेना और गेहूँ न हो तो चावलके आटेसे ही काम चला लेना।

मूलमें जो बात है, 'प्रागभाव' और 'प्रध्वंसाभाव' की। जैसे घड़ा बनाया गया, तो घड़ा बनानेके पहले क्या था? घड़ा न था। प्राक् = पहले। अभाव = न होना। घड़ा बननेसे पहले न होना प्रागभाव है। बननेके बाद डंडा मारकर घड़ा फोड़ देना या घड़ेका फूट जाना-यह क्या है? प्रध्वंसाभाव है। फूट जानेके बाद घड़ेका न होना-इसका नाम प्रध्वंसाभाव है-फूट जाने पर न रहना।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—ये चार प्रकारके अभाव होते हैं। एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका न होना, जैसे घड़ेका कपड़ेमें, कपड़ेका घड़ेमें न होना-इसको 'अन्योन्याभाव' बोलते हैं। चीजका बिलकुल न होना, वस्तुका ही अभाव होना स्थानमें-इस स्थानमें यह वस्तु नहीं है—इसको 'अत्यंताभाव' बोलते हैं। तो देशमें वस्तुका न होना 'अत्यंताभाव' है। एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका न होना 'अन्योन्याभाव' है। काल-विशेषमें वस्तुका न होना 'प्रागभाव' और 'प्रध्वंसाभाव' है।

दर्शनशास्त्रकी बात आपको समझाते हैं। 'आत्मा' जिसको बोलते हैं, उसका अभाव ही नहीं है। 'हम देख रहे हैं जी, ध्यान कर रहे हैं।'

'किसका ध्यान कर रहे हैं?'

'अपने अभावका।'

'हम शून्यका ध्यान कर रहे हैं।'

'भलेमानुस! यह ध्यान करनेवाला कोई है कि नहीं है?'

'ध्यान करनेवाला तो है।'

'तो शून्य कहाँ हुआ? जो ध्यान करनेवाला है, वही तो सत् है। वही तो 'है', जो ध्यान कर रहा है। जिसका तुम ध्यान कर रहे हो, वह तो तुम्हारी एक कल्पना है, कल्पित बिंदु है। तुम्हारा अभाव कभी नहीं हो सकता। आत्मचैतन्यका उदय नहीं है, आत्मचैतन्यका अस्त नहीं है।'

न वृद्धिं याति न क्षयम्।

न वृद्धि होती है न क्षय होता है। आत्मा न बढ़ता है न घटता है। शरीर बढ़ता है और घटता है। आपने देखा कि नहीं? क्या इतना-सा शरीर था और बढ़कर इतना बड़ा हो गया। एक फुटमें-से छः फुट निकल आया! शरीरकी वृद्धि हुई!

पहले मोटे थे, फैले हुए थे इतने बड़े और अब दुबले हो गये। पहले लम्बाई ऊँची थी, अब लटक गये—

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्
तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम्।

बुड्ढे हो गये। हम ऐसे लोगोंको जानते हैं जिनके न औरत है न मर्द है। माने औरतके मर्द नहीं है, मर्दके औरत नहीं है। न भाई है, न बेटा है। न रिश्तेदार है, न नातेदार है। हम भी दस-बीस बरस तक और जिन्दा रहेंगे, सो बात नहीं है। लेकिन बेईमानीसे, चोरीसे पैसा इकट्ठा कर-करके रखते जा रहे हैं। क्या होगा? यह तुम्हारी बेईमानी, यह तुम्हारी चोरी किसके काम आवेगी, मालूम है?

आशा पिण्डको ऐसी पकड़कर बैठी हुई है कि बुड्ढे हो गये, लठिया टेकते हुए चल रहे हैं, आँखसे सूझता नहीं है, कानसे सुनायी नहीं पड़ता, खाया हुआ पचता नहीं। एक सज्जन थे, उनके दाँत टूट गये थे। उनको चना खानेका बहुत मन होता तो वैद्योंकी कुण्डी होती है न, उसमें कूटकर चने खाया करते थे। मैंने पान खानेवालोंको देखा है; दाँत टूट गये, तो पान कूटकर खाते हैं। अरे, यह किसके हाथ लगेगा, आपको मालूम है? दाँत टूट गये, कान बहरे हो गये, आँखको दिखायी नहीं पड़ता, पेटमें पचता नहीं, पाँवसे चला नहीं जाता, लठिया टेककर लम्बेसे छोटे हो गये, मोटेसे दुबले हो गये, ताकत चली गयी, फिर भी पकड़कर बैठे हुए हैं। दादा गये, बाप गये, दादी गयी, नानी गयी और तुमको भी एक दिन उसी रास्ते पर जाना है।

किं वा धनेन किमु बाजिभिस्ते
किं वा दारैः पुत्रयोः ।

ब्राह्मण वो मरिष्यसि? अरे ओ ब्राह्मण! सुन ले मेरी बात! एक दिन तू मर जायगा, तो यह धन तेरे किस काम आवेगा-किं वा धनेन? ये घोड़े किस काम आवेंगे? ये मोटरें किस काम आवेंगी? ये हाथी किस काम आवेंगे? ये स्त्री-पुरुष, यह जो काफला-का-काफला, पलटन-की-पलटन तेरे साथ डोल रही है, तेरे मरने पर किस काम आवेगी? बेटे! मरनेवाला है तू, इस बात पर ध्यान रख।

शरीरका भाग्य ही है यह कि वह पैदा होता और मरता है। शरीरका भाग्य ही है यह कि वह बढ़ता है और घटता है। वह मालूम पड़ता है और बदलता जाता है। वृद्धि और क्षयसे अत्युत् और विपरिणाम लक्षण जो षड्भावविकार हैं, उनका ग्रहण कर लेना चाहिए। शरीरमें पाँच बात लगी हैं—वह पैदा होता है, पैदा होनेके बाद बढ़ता है। ऐसा मालूम पड़ता है, बदलता है ऐसा मालूम पड़ता है, क्षीण हो रहा है, ऐसा मालूम पड़ता है, मर जाता है ऐसा मालूम पड़ता है। इसको 'भावविकार' बोलते हैं।

दुनियामें जितनी भी वस्तु होती हैं, उन होनेवाली चीजोंका यह भाग्य है। जो पैदा होगा, वह दीखेगा। जो दीखेगा सो बढ़ेगा। जो बढ़ेगा सो बदलेगा। जो बदलेगा सो क्षीण होगा। क्षीण होगा सो मर जायगा। दुनियाकी प्रत्येक वस्तुका यह भाग्य है। 'निरुक्त' में 'यास्क' ने प्राचीन महर्षियोंके नामसे इस वचनको उद्धृत किया है—*'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति।'* ये षड्भावविकार हम अपनी ओरसे नहीं बता रहे हैं। पहलेके महात्माओंने इसका अनुसन्धान करके देखा है कि प्रत्येक होनेवाली वस्तुमें ये छः बातें होती हैं। इस वचनको उद्धृत किया है।

अच्छा, तो अब अपने बारेमें सोचो। ये आत्मदेव क्या इस शरीरके साथ पैदा होते हैं? क्या ये शरीरके साथ मिट जाते हैं? जिसको मालूम पड़ता है बढ़ना, वह बढ़ता नहीं है। वह तो बढ़नेसे न्यारा रहकर बढ़नेको देख रहा है। जिसको मालूम पड़ रहा है क्षय, वह क्षयसे न्यारा रहकर देख रहा है क्षयको। वह अस्तित्वसे न्यारा रहकर देख रहा है अस्तित्वको। जिसको मालूम पड़ता है बदलना और मरना, वह बदलने और मरनेसे न्यारा रहकर बदलने और मरनेको देख रहा है। इसको 'दृग्-दृश्य विवेक' बोलते हैं। इन छः भावविकारोंका द्रष्टा है, वह निर्विकार है और जो दृश्य है वह विकारी है।

स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं बिना।

आप अपने हाथमें लो एक मोसंबी। मोसंबी आँखसे दिखती है और सूर्यकी रोशनीमें दिखती है। देखो रोशनी। रोशनी है मोसंबी देखनेके लिए। आँखकी रोशनी, सूर्यकी रोशनी, बिजलीकी रोशनी, चन्द्रमाकी रोशनी। कितनी मोसंबी आईं और गईं, रोशनी एक है। कितने संतरे आये और गये, रोशनी एक है। ऐसे अपने मनमें मोसंबी आने दो और जाने दो। सौ मोसंबी अपने मनमें गिनो। वह गिननेवाली मोसंबी आपकी कल्पनामें है। लेकिन मोसंबीका सौपना जिसको मालूम हो रहा है, वह मोसंबीसे न्यारा है।

अच्छा, मोसंबी गयी, संतरे आये। मनमें संतरे गिननेवाला गिने हुए संतरेसे जुदा है कि नहीं? मनमें आम गिननेवाला गिने हुए आमसे जुदा है कि नहीं? सौ

मोसंबी अलग-अलग हैं, सौ संतरे अलग-अलग हैं, सौ आम अलग-अलग हैं। मोसंबी, संतरे और आम भी अलग-अलग हैं। उनको हटा दिया, तो कोई नहीं है, न मोसंबी है, न संतरा है, न आम है। पर तुम्हारी रोशनी है कि नहीं वहाँ?

किसकी रोशनीमें, जहाँ आँख बन्द है, आग नहीं जल रही है, सूरज नहीं पहुँच रहा है, भीतर चाँदनी नहीं पहुँच रही है, वहाँ तुम्हारी बुद्धिमें मोसंबी है, संतरा है, आम है और उनकी गिनती है। वह किसकी रोशनीमें मालूम पड़ती है? आपको मालूम है? वह आपही हैं। वह आपकी ही रोशनी है। वहाँ आपके सिवाय दूसरी कोई रोशनी नहीं है। इसीको आत्माका प्रकाश, आत्मचैतन्य बोलते हैं! चैतन्यका अर्थ ज्ञान ही होता है। यह आप द्रष्टा हैं।

अब सवाल यह है कि आँखमें रोशनी तब आती है जब सूर्य हो और जीभमें रोशनी तब आती है जब भीतर आग हो-गरमी हो। जिसके भीतर गरमी नहीं होगी, उसकी जीभ बोल नहीं सकती। मरते समय शरीर जब ठंडा पड़ जाता है, आप बुलाओ आदमीको, भीतर गरमी नहीं होगी, तो जीभ नहीं बोलेगी और बाहर सूर्यकी रोशनी नहीं होगी तो आँख नहीं देखेगी। अन्नरसकी रोशनी भीतर नहीं होगी तो मन नहीं सोच सकता। आप करके देखो। उपनिषद् में कथा आयी है। पन्द्रह दिन खाना-पीना छोड़के देखो। तुम्हारे मनकी जो घुड़दौड़ है, वह समाप्त हो जायगी। इसीको चन्द्रमा बोलते हैं। चन्द्रमा कैसे बोलते हैं? जितना अन्नमें रस आता है, वह चन्द्रमाकी चाँदनीमें जो शीतलता है, उस शीतलतासे अन्नमें रसका आविर्भाव होता है। मनका देवता चन्द्रमा है माने अन्नरससे मन बनता है।

वाग्ज्योति अग्नि-ज्योतिसे बनती है, चक्षुज्योति सूर्यकी रोशनीसे बनती है। ये सब आते हैं और जाते हैं। आत्मचैतन्य 'स्वयं विभाति', आत्मचैतन्य न अन्नरससे पैदा होता है, न अग्निज्योतिसे पैदा होता है, न सूर्यज्योतिसे पैदा होता है। बल्कि, 'सूर्य है'—यह वृत्ति जिसके द्वारा प्रकाशित होती है, 'अग्नि है'—यह वृत्ति जिसके द्वारा प्रकाशित होती है, 'चन्द्रमा है', ऐसी कल्पना, ऐसी वृत्ति जिसके द्वारा प्रकाशित होती है, उसका नाम है 'आत्मचैतन्य'। आत्माके होनेके लिए बाहर सूर्य, अग्नि, चन्द्रमाके होनेकी जरूरत नहीं है।

देखो तब भी आत्मा है, न देखो तब भी आत्मा है। बोलो तब भी आत्मा है, न बोलो तब भी आत्मा है। सोचो तब भी आत्मा है, न सोचो तब भी आत्मा है। यह सोचने और न सोचनेका द्रष्टा है, वह बोलने और न बोलनेका द्रष्टा है, वह देखने और न देखनेका द्रष्टा है।

बोले—'आओ, द्रष्टाको भी देखें।' असलमें द्रष्टा वह है, जो किसीके द्वारा देखा नहीं जाता। जिसको तुम कल्पनाकी आँखसे देखते हो, कि यह रहा द्रष्टा—एक मिट्टीका ढेला रख दिया और बोले—'यह रहा द्रष्टा।' परन्तु उसका नाम द्रष्टा नहीं है।

मनमें शून्यकी कल्पना कर ली और बोले—'यह रहा द्रष्टा।' असलमें तुम कल्पना ही बाँधते हो। एक बड़े महात्माके शिष्य मिले। बड़े महात्मा थे। कहीं कोई बात कथा-सत्संगमें सुनकर उसके मनमें संशय हो गया कि हमारे गुरुजीने जो बताया है वह ठीक कि अब जो सुना है वह ठीक? हमसे पूछा कि—'हमारे गुरुजीने ऐसा बताया है और हमको अब ऐसा सुननेको मिला है, तो हमको क्या करना चाहिए?'

मैंने कहा—'भलेमानुस! जब तुम अपने गुरुजी पर श्रद्धा नहीं करोगे, तो अब हमारे ऊपर कहाँसे श्रद्धा करोगे? गुरुजी परसे श्रद्धा टूट जाती है, तो हम परसे भी श्रद्धा टूट जायगी। तुम्हारी तीन पीढ़ी जिसपर श्रद्धा करती है, उस परसे तुम्हारी श्रद्धा टूट जाय; उसकी बात पर तो विश्वास न हो कि भगवान्‌का दर्शन होता है, ईश्वरका दर्शन होता है!'

वेदशास्त्रपर तो श्रद्धा न रहे, सन्त-महात्मापर श्रद्धा न रहे, गीता-भागवतपर श्रद्धा न रहे, मीरा-सूर-तुलसी, नरसिंह-नामदेव-एकनाथ-ज्ञानेश्वरपर श्रद्धा न रहे और आज किसीके मुँहसे बात सुन लो, उसपर तुम्हारी श्रद्धा रहेगी? पहली टूट जायगी और दो-चार दिनके बाद यह भी न रहेगी। तुम रहोगे ठनठनपाल। पहली न रहेगी और यह भी चली जायगी, यह टिकनेवाली नहीं है। जैसी तुम्हारी परम्परा है, सनातन धर्म है, वेद-शास्त्र है, उपनिषद् है, पुराण है, वही भगवान्‌ने भी यह बात कही है, सन्तोंने भी कही है। उसपर टिकोगे, नहीं टिकोगे, तो आजका लच्छेदार व्याख्यान आपको अपने भरोसेपर कबतक रख सकेगा? बड़ा भारी आधार है न कि वेदमें भी यह बात कही है? उपनिषद्‌में भी यह बात कही है! तुम तो अपने मकानकी नींव गिरा रहे हो! तुम अपने मकानकी नींव मत गिराओ! उसको प्रबल करो।

स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना।

स्वयं विभाति—यह आत्मदेव स्वयं प्रकाशित हो रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हें गुरु-शास्त्रकी जरूरत नहीं है। समझनेमें भी—'स्वयं विभाति' का अर्थ जैसे हिन्दीमें होता है, वैसे नहीं। इसका अर्थ है—*प्रकाशान्तर निरपेक्षं विभाति।* जैसे मनको देखनेके लिए हम हैं; हम हैं, तब मन दीखे। हम न हों तो मन न दीखे।

ऐसे, अपनेको देखनेके लिए कुछ और होनेकी जरूरत नहीं है कि किसी और के द्वारा देखें।

घड़ी कब दीखेगी? जब आँख होगी। कौन घड़ीको देखता है? हम घड़ीको देखते हैं, परन्तु आँखके द्वारा देखते हैं। ऐसे अपने आपको जाननेके लिए आँखकी तरह किसी द्वारान्तरकी, किसी प्रकाशान्तरकी, किसी जरियेकी जरूरत नहीं है। यह प्रकाशमान् है। तो देखो, एक बात यह है कि जो षड्भावविकाररहित रहकर और स्वयंप्रकाशमान् है, उसका नाम आत्मा। और, जो स्वयंप्रकाश रहकर षड्भावविकारोंको प्रकाशित करता है, सो आत्मा। जो षड्भावविकारोंसे रहित रहकर स्वयं प्रकाशित होता है, सो आत्मा और जो स्वयंप्रकाश रहकर षड्भाव विकारोंको प्रकाशित करता है, सो आत्मा। इस श्लोकमें दो निष्कर्ष निकले-खींचा हुआ सार। जैसे फूलमें-से इत्र निकलता है वैसे इस श्लोकरूपी फूलमें-से इत्र निकला।

क्या इत्र निकला? इसके रंग दो हैं पर इसका सार एक है। जो षड्भाव-जन्मसे, मृत्युसे, वृद्धिसे, क्षयसे, अस्तित्वसे, परिणामसे माने अन्यतासे रहित रहकर बिना किसी दूसरेकी मददके प्रकाशित होता हो, उसको आत्मा कहते हैं। और जो बिना किसी साधनके स्वयंप्रकाश रहकर बिना किसी साधनके स्वयं प्रकाश रहकर बिना किसी जरियेके, बिना किसी द्वारके, बिना किसी सहारेके, सबको प्रकाशित करता हो, उसको आत्मा कहते हैं। इसका यह निष्कर्ष, निर्गणित, सार, **इत्र है।**

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं बिना॥

बिना किसी साधनके ही यह दूसरेको प्रकाशित करता है **और अपने-को** प्रकाशित करनेके लिए किसी दूसरे साधनकी जरूरत नहीं है। दूसरेको **भी प्रकाशित** करनेके लिए दूसरेकी जरूरत नहीं है और अपनेको भी प्रकाशित करनेके लिए दूसरेकी जरूरत नहीं है। यह षड्भावविकारको प्रकाशित करता है और उनसे यह अछूता रहता है। इसीलिए श्रुतिमें इसका वर्णन आया। एक बात आपको सुनाते हैं—

एकने कहा, 'हम अपना गुरु भगवान्को बनाते हैं। आप लोग बुरा मत मानना, हम बाततो दो-टूक ही करेंगे। चाहे आपको भला लगे, चाहे बुरा। हम अपना गुरु भगवान्को बनाते हैं।'

बहुत बढ़िया, भगवान्से बड़ा तो कोई है ही नहीं। उनको गुरु बना लो, लेकिन हे बनानेवाले महापुरुष, तुम उसको बिगाड़ भी दोगे। जब तुम्हारी ही बनायी हुई चीज होगी। उसमें भगवान्का कोई योग नहीं होगा, तो जैसे पकड़नेमें तुम्हारी

स्वतन्त्रता है, वैसे छोड़नेमें भी तो तुम्हारी स्वतन्त्रता होगी! यह तो 'गांधर्व-विवाह' हुआ न? यह तो राह चलते जैसे ट्रेनमें ब्याह कर लिया हो! अलग-अलग स्टेशनपर बैठे, ट्रेनमें ब्याह कर लिया, फिर मान लिया—'तुम हमारे पति'—'तुम हमारी पत्नी' और अगले स्टेशनपर दोनों अलग-अलग उतर गये। माना हुआ ब्याह हो गया यह। इसमें टिकाऊपना नहीं है। इसीसे वैष्णवसंप्रदायमें ऐसा मानते हैं कि, जैसे पिता अपनी कन्याका हाथ पकड़कर वरके हाथमें समर्पित करता है, वैसे गुरु जीवको - चेतनको अपने हाथमें पकड़कर परमात्माको समर्पित करता है। तब चेतन ना-नु नहीं बोल सकता। फिर उसको डायवोर्सका अधिकार बिलकुल नहीं रहता है। इसलिए आचार्य द्वारा होना चाहिए।

भगवान्की बात सुनाते हैं। ये तुम्हारे जो भगवान् हैं, माने हुए गुरु-उनमें क्या-क्या दोष हैं उसकी तरफ आपकी नजर खींचता हूँ। एक तो, आप किसीको महात्मा नहीं मानते हो। दुनियामें किसीको गुरु न बनानेका अर्थ क्या हुआ? कि दुनियामें तुम किसीको महात्मा नहीं मानते हो। अच्छा, दुनियामें अबतक कोई महात्मा नहीं है या इस समय कोई महात्मा नहीं है, तो तुम कहाँसे महात्मा हो जाओगे? तुम भगवान्को मान करके महात्मा हो जाओगे? कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि यह अभिमानका विलास है, यह अहंकारका विलास है। अहंकारके द्वारा बनाया हुआ भगवान् है; अहंकारका बच्चा है यह। यह तुम्हारा साथ नहीं देगा।

दूसरी बात सुनाते हैं—हम अपने विवेकको ही अपना गुरु बनाते हैं। श्रीमद्भागवतमें तो ऐसा लिखा है कि मनुष्य अपना गुरु स्वयं है—

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते परम्॥

बताया कि मनुष्यमें ऐसी बुद्धि है कि वह स्वयं प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सच्चाईको ढूँढ सकता है। इसलिए वह स्वयं अपना गुरु है। ये जो प्रत्यक्ष और अनुमान है, उसपर जरा विचार करो। जो युक्ति दी है, उसपर विचार करो। यह प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा अपनी भलाईकी बात बोलेगा। माने जिसमें अपना हित होगा सो करेगा और जिसमें अपना अहित होगा सो नहीं करेगा। अन्वय और व्यतिरेकसे वह ऐसे विचार करेगा, पर यह प्रत्यक्ष और अनुमान- अन्वय और व्यतिरेक परमात्माके बारेमें होगा कि जगत्के बारेमें होगा? बिलकुल व्यावहारिक होंगे प्रत्यक्ष और अनुमान। इसलिए व्यावहारिक भलाई सोची जा सकती है। जैसे दत्तात्रेयजीने देखा कि मधुमक्खीने शहद इकट्ठा किया, चुरानेवालेने-निकालनेवालेने निकाल लिया। तो उन्होंने यह सीखा कि धन इकट्ठा नहीं करना चाहिए। यह नहीं

सीखा कि परमात्मा ऐसा होता है; आत्मा ब्रह्म है, यह नहीं सीखा; ब्रह्म अद्वितीय है, यह नहीं सीखा।

प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा कितना ज्ञान होता है? उसके बारेमें तो तुम्हारा विवेक तुम्हें बता देगा कि-क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? कौन तुम्हारा दोस्त है, कौन तुम्हारा दुश्मन है। क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए। क्या भोगना चाहिए और क्या नहीं भोगना चाहिए। जिस विषयमें तुम्हारा अनुभव है, उस विषयमें तो तुम्हारी प्रत्यक्षवाली और अनुमानवाली युक्ति काम देगी और जो तुम्हारे अनुभवके बाहर वस्तु है, उसके बारेमें प्रत्यक्ष और अनुमानवाली युक्ति काम नहीं देगी।

वहाँ तो जो शाश्वत अनुभव है, ईश्वरीय अनुभव है, औपनिषद अनुभव है, वही काम देगा। देखो, भागवतका एक दूसरा श्लोक सुना देता हूँ। भागवतमें ऐसा भी लिखा है कि एक गुरुसे काम नहीं चलता। दस-बीस गुरु बनाना चाहिए। कोई पढ़ ले उसको तो कहे—'वाह-वाह! हमको तो अच्छी छुट्टी मिल गयी।'

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयम् वै गीयते बहुधर्षिभिः॥

भागवत ११.९.३१

इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि एक गुरुसे पूरा-पूरा ज्ञान नहीं मिलता है। क्योंकि अद्वितीय ब्रह्मका वर्णन महात्मा लोग भिन्न-भिन्न रीतिसे करते हैं, तो एक गुरुसे उसका ज्ञान कैसे मिलेगा?

देखो, इसका अर्थ बहुत बढ़िया है। मनुष्यको सबसे सीखना चाहिए। अपनी बुद्धिका दरवाजा बन्द नहीं करना चाहिए। वहाँ न विवेक गुरु है और न तो ईश्वर गुरु है।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥

विवेकमें वही बात आ सकती है, जो कभी तुम्हारे अनुभवमें आयी हुई हो। उसके बारेमें तुम सोच सकते हो। जिसने कभी आगको छुआ न हो, वह कभी आँखसे देखकर नहीं जान सकता कि हम आगको छूनेसे जल जायेंगे। जिसने पानी कभी देखा ही न हो, वह समुद्रको देखकर नहीं जान सकता कि यह खारा है या इसमें हम डूब जायेंगे। बुद्धि मनुष्यकी वहींतक चलती है, जहाँतक संसारमें अनुभव है। उसके आगे विवेककी गति नहीं है।

स्वयंप्रकाश जो प्रभु है, यह जो आत्मदेव हैं, यह बुद्धिके घेरेमें नहीं है। मान-मानकर या किसीके कहनेसे समझो कि—'यह कल्पवृक्ष है,' 'यह देवता है' तो हम माँग-माँगकर लेंगे। तो क्या-क्या माँगोगे? जो मालूम नहीं है, सो तो नहीं माँगोगे न! ईश्वरको सामने बैठाकर भी तुम ईश्वरसे वही चीज माँग सकते हो, जो तुम्हें मालूम है। और जो माँगा जाय, सो तो ईश्वर नहीं है! जो माँगा जाय, वह ब्रह्म नहीं है। जो माँगा जाय, वह तुम नहीं हो। अगर तुम होते, तो माँगते कहाँ?

अविद्या अनादिसिद्ध है। बिना जीवके ईश्वर नहीं होता, यह बात आप लोगोंको मालूम होनी चाहिए। अगर जीव नहीं हो, तो ईश्वर किसका? एक सज्जन आये तो मैंने उनसे पूछा कि-'आजकल क्या करते हो भाई?' वे बोले-'मैं हेडमास्टर हूँ।' मैंने पूछा—'कितने मास्टर हैं तुम्हारे स्कूलमें?' तो बोले—'मास्टर तो दूसरा कोई नहीं है।' 'अच्छा, विद्यार्थी कितने हैं?' तो बोले—'आजकल विद्यार्थी भी नहीं हैं महाराज!' जब विद्यार्थी भी नहीं और दूसरे मास्टर भी नहीं, तो हेडमास्टर काहेका?

ईश्वर उसको कहते हैं जो नियंता हो। तो वह किसका नियमन करेगा? बिना जगत् और जीवके तो ईश्वरकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। इसलिए ईश्वरकी आयु जितनी है, उतनी आयु हमारी, माने जीवकी है और उतनी आयु जगत्की है। तत्त्वदृष्टिसे सब परब्रह्म परमात्मा है और अविद्या दृष्टिसे अलग-अलग है। आयु जो सद्रूपसे है, वह सबकी बराबर है। अविद्याके कारण तीनों तीन बने हुए हैं और अविद्याके कारण नियम्य-नियंत्री भाव बना हुआ है। अविद्या मिट जानेपर सब एक है। यह जो अनादि अविद्या जुड़ी हुई है, यह क्या करती है?

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥

अनादि अविद्यासे युक्त जो जीव है, वह अबतक अपनेको नहीं जान सकता, तो किस युक्तिसे, किस अन्वयसे, किस व्यतिरेकसे, किस विवेकसे वह अपने आपको जानेगा? *स्वतो न संभवात्।* इसलिए जो आचार्योंकी परम्परा है, उसीके द्वारा, उसीके रूपमें ईश्वर प्रकट होकर अपना ज्ञान देता है। यह जो वैदिक परम्परा है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
मुण्ड. १.२.१२

आचार्याद् ह्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत। छा.दो. ४.९.३
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो; अणुरेष धर्मः॥ कठ. १.२.८

श्रुति कहती है, इसलिए उपनिषद्का मुँह देखना पड़ता है। उपनिषद् आत्मदेवका कैसा स्वरूप बताती है? जिनको ईश्वर नहीं चाहिए, आत्मा नहीं चाहिए, ब्रह्म नहीं

चाहिए, समझो कि जैसे कोई कहे कि—'हमें प्यास लगी है,' तो हम उसको कहें कि 'तुम ब्रह्म हो,' तब उसका काम चलेगा, कि उसको एक गिलास पानी देंगे तब उसका काम चलेगा? प्यासेको तो एक गिलास पानी चाहिए। भूखेको अन्न चाहिए, नंगेको कपड़ा चाहिए। संसारके भोगियोंको भोग चाहिए और तुम भोग लो। परन्तु जिसको ईश्वर चाहिए, उसको उपनिषद् माताकी शरणमें जाना पड़ता है। वह बताती है कि तुम कैसे हो?

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ ॥ वृहदा. ३-८-११

जो कभी देखा नहीं गया, ऐसा द्रष्टा तुम हो। जो कभी सुना नहीं गया, ऐसे श्रोता तुम हो। जो कभी बुद्धिका विषय नहीं हुआ, ऐसे मन्ता तुम हो। जो कभी विज्ञातीका विषय नहीं हुआ, ऐसे विज्ञाता तुम हो।

उसको सामने नहीं देखा जाता है, उसको अपने आपके रूपमें जाना जाता है। श्रुति इस प्रकार आत्मतत्त्वका निरूपण करती है और यही एक अविद्याकी निवृत्तिके लिए आधारभूत माना है। यदि साधनामें तुम्हारी रुचि न हो, तो—'हमें तो ऐसा साधनका रास्ता चाहिए, जिसमें सब कुछ खानेकी छुट्टी हो।' तो सब कुछ खाना तुम्हारा लक्ष्य है, परमात्मा तुम्हारा लक्ष्य नहीं है। जिसमें सब कुछ करनेकी छुट्टी हो, तो सब कुछ करना तुम्हारा लक्ष्य है, परमात्मा तुम्हारा लक्ष्य नहीं है। जिसमें सब कुछ भोगनेकी छुट्टी हो, तो सब कुछ भोगना तुम्हारा लक्ष्य है, परमात्मा तुम्हारा लक्ष्य नहीं है।

बोले—'इससे क्या मतलब है? हम दो मिनट आँख बंद करके शून्यका ध्यान कर लेते हैं! देख लेते हैं कि नाभिके पास एक छेद है—एक फोंफर है। अब हम चाहे कुछ करें! कुछ खायँ!'

यह परमार्थका मार्ग नहीं है। इस तरह कोई अध्यात्मके मार्ग पर नहीं चलता। उसके लिए सदाचारका पालन आवश्यक है। सद्भावना आवश्यक होती है। सद्गुण आवश्यक होता है। सन्मार्गमें चलना होता है। मनमानी करनेकी छूटका माने परमार्थका मार्ग नहीं है। इसलिए इसी रास्तेसे चलोगे तब उसकी प्राप्ति होगी।

●

प्रवचन

१४

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना॥ ५॥

आत्मा स्वयंप्रकाश है और निर्विकार है। जो निर्विकार है, वही स्वयंप्रकाश होता है। और जो स्वयंप्रकाश होता है, वही निर्विकार होता है। यह वेदान्तका नियम है। कितनी बातें ऐसी हैं, जो सिवाय वेदान्तके समझमें नहीं आतीं। ये झूठ ही अपनी अक्कल लगाते हैं। न जानते हैं न समझते हैं। जैसे कोई जंगलमें भटक गया हो और अक्कल लगावे कि—'इस ओर हम चलेंगे और जंगल पार हो जायेंगे'—ऐसे ये जंगलमें भटके हुए आदमीकी अक्कल लगानेके लिए नहीं है। वहाँ तो एक जानकारकी जरूरत है। झूठा ही अभिमान हो जाता है।

'मैं' पदका जो अर्थ है, वही निर्विकार होता है; 'तुम' पदका जो अर्थ है वह निर्विकार नहीं होता है। वेदान्तकी प्रक्रिया है। 'मैं' निर्विकार हूँ तो 'तुम' निर्विकार हो। सामान्यरूपसे यह बात मालूम पड़ती है कि नहीं कि मैं निर्विकार हूँ, तो तुम भी निर्विकार हो। इसमें असलमें 'मैं' और 'तुम' का भेद स्वीकार करके ही ऐसा बोला जाता है। अलग न 'मैं' निर्विकार हूँ, अलग न 'तुम' निर्विकार हो। एक होने पर ही निर्विकार हो। अद्वितीय होनेपर ही निर्विकार हो। तो जो निर्विकार अद्वितीय वस्तु है, उसको जब हम 'तुम' बोलेंगे, तो देहको देखकर, इन्द्रियोंको देखकर, अन्त:करणको देखकर उनकी उपाधिके घेरेमें ही हम 'तुम' को देख सकेंगे। उनकी उपाधिके घेरेके बाहर हम 'तुम' को नहीं देख सकते। हम 'तुम' को जानते ही तब हैं, जब हम आँखसे देखें, जब हम अपने दिलसे सोचें।

हम अपने दिलसे सोचकर, आँखसे देखकर 'तुम'को जानते हैं। हम 'तुम'को रूपमें नहीं जानते, दृश्यके रूपमें जानते हैं। हम अपनी आँखसे जानते हैं, दिलसे जानते हैं, दिमागसे जानते हैं।

जब हम अपने आपको जानते हैं, तब आँखसे देखकर नहीं जानते, मनसे सोचकर नहीं जानते। तो आँखसे देखे बिना, मनसे सोचे बिना हम आँख और मनको भी जाननेवाले हैं। इसलिए 'मैं' पदका जो अर्थ है, वह निर्विकार होता है, शुद्ध होता है, साक्षी होता है। 'तुम' पदका जो अर्थ है, वह दृश्य होता है।

'युष्मत्' पदार्थ जो होता है, वह 'अस्मत्' पदार्थ-सापेक्ष होता है। 'मैं' होगा तब 'यह' और 'तुम' मालूम पड़ेगा। पहले 'मैं' न होगा तो 'यह' और 'तुम' किसको मालूम पड़ेगा? 'यह' और 'तुम' दोनोंके मालूम पड़नेका कारण 'मैं' है। 'मैं' से 'तुम' मालूम पड़ता है। 'मैं' से 'यह' मालूम पड़ता है। 'मैं' से 'वह' मालूम पड़ता है।

बोले—'हाँ महाराज, ठीक है; पर जैसे तुमको ऐसा लगता है, वैसे ही हमको भी ऐसा लगता है।'

'हाँ ठीक है; तो तुम भी अपने अस्मत् पदार्थके रूपमें ही अपनेको द्रष्टा जानते हो। अपने 'मैं' पदके रूपमें ही तुम द्रष्टा हो। तुम्हारा जो 'तुम' है, वह द्रष्टा नहीं है।'

आपको एक आश्चर्यकी बात सुनाते हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ जो लोग तीस बरस रहे, उन्होंने भी कभी उनके मुखसे नहीं सुना कि—'तुम ब्रह्म हो।' वे तो बोलते थे कि 'मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं। स्त्री भी नहीं है। अज्ञानी भी नहीं है, देवता-दानी भी नहीं है। अस्मत् पदका अर्थ माने 'मैं' पदका अर्थ अबाधित होता है। इसका अपवाद नहीं किया जा सकता।' इसका नाम वेदान्त है। ये जो गैरवेदान्ती हैं, उनकी समझमें यह बात आनेवाली नहीं है।

'मैं' पदका जो अर्थ है, वही साक्षी होता है। जब वह अन्तःकरणसे देखता है, तब 'तुम' मालूम पड़ता है, जब वह अन्तःकरणसे देखता है तब 'यह' मालूम पड़ता है। जब वह अंतःकरणसे देखता है तब 'वह' मालूम प्रड़ता है। इसलिए परमात्माका-सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्माका जब साक्षात्कार करना होगा, तब 'मैं' पदके अर्थके रूपमें उसका साक्षात्कार करना पड़ेगा। अद्वैतवेदान्तकी यह प्रक्रिया बिना अहमर्थका विवेक किये—सो भी 'अस्मत्-प्रत्ययका वाच्यार्थ नहीं; अस्मत्-प्रत्ययविशिष्ट आत्मा साक्षी नहीं है। अस्मत्-प्रत्ययोपाधिक, जो अस्मत्-प्रत्ययाच्छिन्न आत्मा है, उस साक्षी-आत्माको वेदान्त निर्विकार बोलता है। अस्मत्-प्रत्यय भी विकारी है। माने 'मैं-मैं-मैं', ऐसा जो मालूम पड़ता है, वह भी बदलता है। कभी 'विश्व' है, कभी 'तैजस्' है, कभी 'प्राज्ञ' है। कभी मनुष्य है, कभी पशु है, कभी पक्षी है। 'मैं' प्रत्यय भी बदलता है। केवल 'मैं' का साक्षी नहीं बदलता अस्मत्-

प्रत्ययोपलक्षित जो साक्षी है, वह नहीं बदलता। जो अस्मत्-प्रत्ययोपलक्षित 'मैं-मैं-मैं' हो रहा है, 'मैं-मैं-मैं' की जो धड़कन चलती है, 'मैं-मैं-मैं' कीजो दाल फुदक रही है, उसमें जो एक पानी है—घड़ी बोल रही है— घड़ीमें आवाज होती है न, अलग अलग; उस आवाजमें जो एक आवाज है, जो अनवकाश-आवाज है; जो टूट-टूटकर आवाज होती है, सो नहीं—जो बिना टूटे आवाज होती है उस वस्तु पर 'मैं-मैं-मैं'। हजार 'मैं' नहीं होता 'मैं' तो एक होता है और 'मैं' हजार मालूम पड़ता है।'

वह अस्मत्-प्रत्ययोपलक्षित जो साक्षी है, वह निर्विकार है, वह बदलता नहीं है। जो हजार 'मैं-मैं-मैं' है, वह बदलता है। जो साक्षी है, वह निर्विकार है, जो निर्विकार है, वह साक्षी है। वही असंग और उदासीन है। हम लोग जो 'स्वयंप्रकाश' शब्द सुनते हैं, 'निर्विकार' शब्द सुनते हैं, इनका अर्थ बहुत लोगोंकी समझमें नहीं आता है। हमारे एक मित्र हैं, वे बहुत दिनोंसे वेदान्तकी बात सुनते हैं। मैंने उनसे पूछा कि—'ये वेदान्तीलोग जो 'कटक'-'कुंडल' बोलते हैं, इसमें 'कटक' का क्या मतलब है ?' तो बोले—'हमको तो नहीं मालूम है।' ऐसा होता है कि सुनते-सुनते लोगोंको उस शब्दसे तो परिचय हो जाता है, उसके अर्थकी ओर ध्यान नहीं जाता है। 'कटक' माने 'कड़ा' होता है। जैसे सोनेका कड़ा बनता है।

कड़ेकी शकल-सूरत बन जानेपर भी वह सोना ही है। कुण्डलकी शकल बन जानेपर भी वह सोना ही है। हार बन जानेपर भी वह सोना ही है। एक शब्दार्थकी बात आपको सुनाता हूँ। एक जगह मैं गया था थोड़े दिन पहले। वह मोटरकी मरम्मतका व्यापारी है। 'बद्रीनाथ' जानेकी बात हुई तो उसने कहा—'महाराज! हम आपनी मोटर दे देंगे, आप बद्रीनाथ हो आइये। लेकिन एक प्रार्थना है, हमारी मोटर देखनेमें अच्छी नहीं है, बॉडी उसकी अच्छी नहीं है। इंजिन बड़ा मजबूत है। वह आपको बद्रीनाथ ले जायेगा ले आयेगा। उसमें कोई शंका नहीं है।'

मैंने उससे पूछा—'तो तुम उसकी बॉडी क्यों ठीक नहीं करवाते ?'

वह बोला—'वह तो पुरानी है, हमारी खरीदी हुई है।' 'इंजिन ?', 'इंजिन तो मरम्मत करनेके लिए मोटरें आती रहती हैं जिसका अच्छा लगता है अपनेमें लगा लेते हैं। मोटरके मालिक अपनी मोटरको पहचानते ही नहीं हैं। वे तो मोटरकी सुन्दरता देखते हैं। अपने इंजिनके बारेमें उनकी कोई जानकारी नहीं होती है। हमारा इंजिन कभी पुराना नहीं होता महाराज, खूब मजबूत!'

शब्द है, जो हम लोग शब्द बोलते हैं, वह तो बॉडी है, मोटरका बाहरी हिस्सा और इसका जो अर्थ है, वह इंजिन है। मोटरकी सारी मजबूती उसके

इंजिनमें है। शब्दकी सारी मजबूती उसके अर्थमें है। उपनिषद्में इस बातके लिए गाली दी हुई है। उपनिषद् गाली कम देती है, परन्तु उपनिषद्में गाली दी हुई है, इस बातपर कि जो शब्दका बोझ तो ढोता है, पर अर्थ नहीं जानता।

नहि जानाति अर्थम्।

अर्थात् पुरुष केवल भारहर है; भार ढोनेवाला आदमी है जो शब्दको तो पहचानता है, परंतु उसके अर्थको नहीं जानता है। उन्होंने कहा है—

'दर्वी पाकरसं यथा।'

जैसे कलछुलसे हलवाको चलाते हैं, हलवेको चलाती तो है, पर हलवेके स्वादको नहीं जानती। गधे हैं, ऊँट हैं, वे बोझ तो ढोते हैं, परन्तु उनके अन्दर कैसी बढ़िया-बढ़िया चीजें हैं रखी हुई हैं, यह उनको पता नहीं है। जिनको केवल शब्दज्ञान होता है और अर्थज्ञान नहीं होता, वे तो केवल बोझ ढोनेवाले हैं, भारहारी हैं।

भासयेत् साधनं बिना।

जिसको हम लोग 'साक्षी' कहते हैं, वह चीज क्या है? 'स्वयं प्रकाश' क्या है? 'स्वयंप्रकाश बहुत बढ़िया चीज है। सूर्यकी तरह चमकनेवाला नहीं, चन्द्रामाकी तरह चमकनेवाला नहीं, अग्निकी तरह चमकनेवाला नहीं।'

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

गीता० १५-६

'न तद्भासयते सूर्यः'—सूर्य उसको प्रकाशित नहीं करता। तो देखो, गीता पढ़कर, अपने-आप पढ़ोगे तो यह बात समझमें नहीं आवेगी। जो चीज सूर्यकी रोशनीमें नहीं दीखती, वह आँखसे भी नहीं दिखती। नेत्रका अधिदेवता सूर्य है। **'न तद्भासयते सूर्यः'**का अर्थ है कि नेत्रसे परमात्मा दृश्य नहीं है।

'न शशांकः'—अर्थात् सूर्यकी रोशनीमें नहीं दीखता, तो चन्द्रमाकी रोशनीमें कहाँ दीखेगा? सूर्य तेज है, चन्द्रमा तो मंद है। लेकिन फिर भी गीतामें यह क्रम छोड़कर बात कही गयी तो कभी आपके मनमें शंका होनी चाहिए। यदि आप गीता पढ़ते हैं तो आपके मन में यह विचार उदय होना चाहिए कि 'जो चीज सूर्यकी रोशनीमें नहीं दीखती', ऐसा कहा गया, उसके बाद फिर कहा गया कि—'चन्द्रमाकी रोशनीमें नहीं दीखती' क्या जरूरत थी?

जरूरत है। जो चीज आँखसे नहीं दीखती वह मनसे दीखती है। चन्द्रमा मनका अधिदेवता है। अन्नमें रसदान करके ही अन्नके द्वारा मनको जीवित रखता

है। चन्द्रमाकी शीतल अमृतमयी किरणें अन्न-ओषधि, गेहूँ, मटर, अंगूर, आम, जल आदिपर पड़ती हैं। उनके द्वारा उसमें जो जीवनशक्ति आती है, चन्द्रमा उस जीवनशक्तिके द्वारा मनको देखनेका सामर्थ्य देता है।

जो चीज सूर्याधिदेवता-नेत्रसे नहीं दीखती है, वह चीज चन्द्राधिदेवता मनसे दिखायी पड़ती है। बोले—'ध्यानमें भी नहीं दिखेगा तुम्हारे।' **न शशांको न पावकः**का अर्थ यह है। तो फिर 'आग' कहनेकी जरूरत क्या पड़ गयी? जो चीज आँखसे भी नहीं दीखती और जो चीज मनसे भी नहीं समझ सकते—समझो, अन्धेरा है। एक आदमी धमाधम करता हुआ वहाँ आया, तो हम उसके पाँवकी धमाधमसे समझ गये कि यह कुबेर है, कि यहवरुणहै। हम लोगोंके गाँवकी तरफ 'कुबेर' नाम होता है। इधर तो 'तिलोत्तमा' होती है, 'रंभा' होती है। अप्सराओंके नाम रखते हैं लोग।

एक आदमी है उसको आँखसे देख नहीं पाते, क्योंकि अंधेरा है। मनसे उसके बारेमें सोच नहीं पा रहे हैं कि कौन है? वहाँ कौन काम करेगा? हम पूछेंगे कि 'कौन है?' बोले कि-'मैं सुषमा हूँ', 'मैं शोभा हूँ।' पहचान गये कि नहीं? हाँ,पहचान गये।

जब आँखसे हम नहीं देख सके और मनसे ध्यान नहीं कर सके, तो वाक्ज्योतिने वहाँ पहचान बता दी। अग्नि वाक्का अधिष्ठान देवता है। जिसको हम देंख नहीं सकते, जिसका हम ध्यान नहीं कर सकते, जिसके बारेमें हम बोल नहीं सकते, जो वाणीसे नहीं बताया जा सकता, उसको '**न शशांको न पावकः**' कहा गया।

अब आप 'स्वयंप्रकाश'का अर्थ देखो जिसको हम न इन्द्रियोंसे अनुभव कर सकते, न मनसे ध्यान कर सकते, न वाणीसे जिसके बारेमें बोल सकते, वह कौन है? जो देख तक नहीं रहा है! वह कौन है? वह तुम हो और वह काल-कल्पना, देश-कल्पना, वस्तु-कल्पनाका साक्षी होनेसे अदेश-अकाल-अवस्तु होनेसे कालातीत-देशातीत-द्रव्यातीत और सबके अभावका अधिष्ठान होनेसे अद्वितीय, उसमें दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। ऐसा है वह!

आत्माको प्रकाशित करनेके लिए माने जाननेके लिए दूसरी किसी चीजकी जरूरत नहीं है। सूर्य,चन्द्रमा, आग आदिकी जरूरत नहीं है। आँख-मन-वाणीकी जरूरत नहीं है। इस लिए प्रकाशान्तरनिरपेक्ष होनेसे उसको कहते हैं 'स्वयंप्रकाश'। जब हम दूसरेको प्रकाशित करते हैं, तो मनसे—साधनके द्वारा प्रकाशित करते हैं। मनसे-आँखसे, कानसे, इसीका नाम साधन है। हमारे पास जो औजार है दूसरोंको देखनेके लिए।

बोले—'भाई! आज आप सत्संगमें क्यों नहीं आये?', 'साधन नहीं था, मोटर नहीं थी।' हम कहीं जाते हैं तो मोटरपर चढ़कर जाते हैं। जानेका साधन क्या है? मोटर। संसारको देखनेका साधन क्या है? इन्द्रियाँ, मन, शब्द।

'साधनं बिना'—इन साधनोंके बिना भी हम हैं। जो बदलेगा सो निर्विकार नहीं। जो दीखेगा, सो स्वयंप्रकाश नहीं। जो बदलनेको तो देख रहा है, और दीख नहीं रहा है, वह क्या हुआ? निर्विकार स्वयंप्रकाश। जितनी काल कल्पना देश-कल्पना, वस्तु-कल्पना तुम्हारे मनमें हो रही है, उससे परे और उसका द्रष्टा, उनसे अपरिच्छिन्न और उनकी कल्पनाका अधिष्ठान अनंत-अद्वय यह परमात्माका स्वरूप है।

अब देखो, एक प्रश्न उठाते हैं। उसमें यह है कि यह जो जन्म-मृत्यु होती है—एक बात पुनर्जन्मके सम्बन्धमें कह दें—हम लोग अध्यारोप, अपवादकी युक्तिको जानते हैं। यह बस वेदान्तकी रीढ़ है। यह वेदान्तकी ब्रह्मनली है। योगीलोग कहते हैं न, रीढ़में एक 'सुषुम्णा' नामकी नाड़ी है और उससे ऊर्ध्वगति होती है।

तयोर्ध्वमाय अमृतत्त्वमेति।

ध्यान करके एक सज्जन आये और बोले—'महाराज! हमारी कुण्डलिनी जागनी चाहिए।'

'अच्छा, तो बताते हैं।' यदि कोई कुण्डलिनी जगानेका अभ्यास करे तो दो-तीन महीने लगते हैं। माने जागरणका प्रारम्भ होनेमें तीन महीने लगते हैं। कुण्डलिनीके जागरणसे इन्द्रियोंकी शक्ति ऊर्ध्वमुख हो जाती है। ब्रह्मचर्य पक्का हो जाता है। मनकी चंचलता घट जाती है। बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। शरीर नीरोग हो जाता है ठीक-ठीक हो जाय तो।

मैंने कहा—'अछा, लो बताते हैं भाई!' मैंने बता दिया। जाकर बैठ गये। आध घंटे-पौन घंटेमें शरीर तो लगा काँपने! जलने लगा शरीर। तुम्हारे शरीरके लिए जो अनुकूल हो, वही साधन करना चाहिए।

देखादेखी करे योग, छीजे काया बढ़े रोग।

साधन ऋजु होना चाहिए, सरल होना चाहिए। धोखेका, खतरेका साधन कभी नहीं करना चाहिए। बहुत सावधानीसे इस मार्गमें आगे बढ़ना चाहिए।

पुनर्जन्मकी बात। अध्यारोप-अपवादका जो सिद्धान्त है, उसे भलीभाँति समझते हैं। जन्म जिसको बोलते हैं, उसका तत्त्वके साथ सम्बन्ध प्राकृत परम्परामें भी नहीं है और आध्यात्मिक परम्परामें भी नहीं है। ब्रह्मका भी पुनर्जन्म नहीं होता और प्रकृतिका भी पुनर्जन्म नहीं होता। पंचभूतका भी पुनर्जन्म नहीं होता है। अंगूर है न,

एक अंगूरके बीजसे दूसरा अंगूर पैदा होगा, दूसरे अंगूरके बीजसे तीसरा अंगूर पैदा होगा। अंगूरमें जो पंचभूत होगा, वह सबमें अलग-अलग होगा। बीजगत जो संस्कार है वही अंगूरको पैदा करेगा। अंगूरकी प्रकृति पुनः पैदा नहीं होती, अंगूरका पंचभूत पुनः पैदा नहीं होता, अंगूरकी आत्मा पुनः पैदा नहीं होती।'

जीव चैतन्यके साथ पुनर्जन्मका जो सम्बन्ध है, यह तात्त्विक परम्परामें या प्राकृत परम्परामें नहीं है। यह आविद्यक परम्परामें है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है; माने हम अपने आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते इस लिए हम जन्म-मृत्युकी परंपरामें पड़े हुए हैं। अज्ञान मिट जाय तो सचमुच अज्ञानकालमें भी हमारा जन्म-मरण नहीं है। न हम पैदा होते हैं, न मरते हैं।

सेठोंका वेदान्त सुनाता हूँ और फक्कड़ोंका वेदान्त सुनाता हूँ। अरे, हम लोग बड़ा-बड़ा भेद कर लेते हैं वेदान्तमें। सुरेश्वराजार्यजीके वेदान्तमें और वाचस्पति मिश्रके वेदान्तमें जहाँ अन्तर पड़ता है—'विवरण प्रस्थान' में और 'भामती प्रस्थान' में जहाँ भेद पड़ता है, वहाँ हम झट पकड़ लेते हैं कि संन्यासीके वेदान्तमें क्या फक्कड़पन है और 'मिश्रजी'के वेदान्तमें कहाँ गृहस्थीपना है। इतना बड़ा विद्वान् अद्वैततत्त्वका! 'वाचस्पति मिश्र'का एक प्रस्थान है वेदान्तका! बात पकड़में आ जाती है—'विवरण प्रस्थान'और 'भामती प्रस्थान'में क्यों अन्तर है?'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे मैंने पूछा—'पुनर्जन्म किसका होता है?' हमारे प्रश्नमें 'किसका' होता है, यह प्रश्न है। अन्तःकरणका होता है, कि द्रष्टा साक्षीका होता है? 'क्यों' होता है, यह प्रश्न नहीं है। 'कैसे' होता है, यह प्रश्न नहीं है। 'क्या' होता है, यह प्रश्न नहीं है। 'पुनर्जन्म'क्यों है, कैसे है, क्या है, यह नहीं पूछ रहे हैं। हम पुनर्जन्मका कारण नहीं पूछ रहे हैं। पुनर्जन्मकी प्रक्रिया कि 'पुनर्जन्म कैसे होता है'—यह नहीं पूछ रहे हैं। 'पुनर्जन्मका स्वरूप क्या है'—यह नहीं पूछ रहे हैं।

हम पूछ रहे हैं कि 'पुनर्जन्मका आश्रय क्या है?' आत्मा है, कि ब्रह्म है, कि ईश्वर है, कि प्रकृति है, कि पंचभूत है? कौन-सा तत्त्व है? अन्तःकरणका पुनर्जन्म होता है। यहाँ देखो, '**रूपं दृश्यं लोचनं दृक्**'—रूप-दृश्यका पुनर्जन्म होता है कि लोचन-दृश्यका पुनर्जन्म होता है, कि धी-वृत्तिका पुनर्जन्म होता है कि द्रष्टाका पुनर्जन्म होता है?

दृश्य तो होता है जड़। उसके पुनर्जन्मका कोई अर्थ ही नहीं है। होता है तो होवे! द्रष्टाका यदि जन्म हो, तो वह तो विकारी होवे तो—'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।' तो जन्म किसका होता है? बाबाकी बुद्धि

ऐसी तीक्ष्ण थी! मैंने पहला प्रश्न उनसे यही किया था। मैं था मौन और पहले ही दिन हम उनसे मिले थे। मैं बोलता नहीं था। हमारा उनसे मौन होनेका तो कोई सवाल ही नहीं था।

पत्नीदण्डः पृथक् शय्या,
मित्रदण्डो ह्यभोजनम्।
मौनभावो गुरोर्दण्डः।

पत्नीको दण्ड देना हो तो कह दो कि—'जाओ, अलग खाटपर सो जाओ, दूसरे कमरे में।' यह पत्नीदण्ड है। मित्रको दण्ड देना हो तो उसके घर खाओ मत। मत बोलो— यह गुरुको दण्ड है। इसीसे 'गुरौ मौनम्।' गुरुके प्रति मौन अपराध माना जाता है। सबसे मौनका जो नियम है, गुरुसे मौनका नियम नहीं लिया जाता। जिसका दिया हुआ नियम है, उसके प्रति उस नियमका प्रयोग नहीं किया जाता।

मैं मौन था और पहले-पहल मिला था। मैंने अपना प्रश्न लिखा और लिखकर रामसुखदासजीको दिया। गीताप्रेसके हैं न!

उन्होंने पढ़कर बाबाको सुनाया, तो वे हँसने लगे। बाबा बोले कि—'बेटा अपनी बुद्धिका उपयोग पुनर्जन्मके समर्थनके लिए मत करो। उसकी निवृत्तिके लिए करो। पुनर्जन्मसे तुम्हें मुक्ति पाना है, कि उसका समर्थन करके बारम्बार जन्म लेना है?'

यह पहला प्रश्नोत्तर था। हमारी बुद्धिमें तो उस समय ऐसी बात नहीं थी। यह सन् ३५ की बात है। हम सोचते थे कि बाबा कहेंगे कि सत्रह तत्त्वोंका बना हुआ जो लिंग-शरीर है, सूक्ष्म शरीर, इसका होता है जन्म। इसका होता है पुनर्जन्म, तो वह स्वर्ग-नरकमें जाता है। तो बादमें मैं यह कहूँगा, मेरा यह प्रश्न होगा कि मैं तो सूक्ष्म शरीरका द्रष्टा हूँ, सूक्ष्म शरीरका मैं साक्षी हूँ! यदि सूक्ष्म शरीरका जन्म-पुनर्जन्म होता है, तो होने दो। स्वर्ग-नरक होने दो! इससे हमें क्या मतलब है? मैंने यह सोचा था।

बाबा बोले—'बेटा, अपनी बुद्धि तुम पुनर्जन्मके समर्थनमें मत लगाओ।' ऐसा उत्तर मिलनेसे चमत्कार हो गया।

हम लोग सैंकड़ों-हजारों चमत्कारोंके द्रष्टा और स्रष्टा दोनों हैं। प्रक्रियाको आप नहीं जानते हैं। जिस वैज्ञानिक तरीकेको-युक्तिको आप नहीं जानते हैं, उस आपके अज्ञानसे हम लाभ उठाकर चमत्कार दिखा देते हैं। यदि आप उसको समझ जायँ!

ऐसे जो चमत्कार दिखाये हैं और आप देखेंगे कि वह बिलकुल प्रकृतिके अनुसार हुआ है, विज्ञानके नियमानुसार हुआ है। केवल आपका अनजानपना ही

उसमें चमत्कार है। हम आँख नहीं बाँधते हैं। आँखको बाँधना तो 'मेस्मेरिजम' है। आपके मनको भी हम नहीं बाँधते हैं, क्योंकि मनको बाँधना तो 'हिप्नोटाइजेज' करना है। 'स्वप्राइजम।' यह हिप्नोटिजम बिलकुल स्वप्रावस्थामें आदमीको कर देना है। 'स' का 'ह' हो गया—'स्वप्राइजम' वह स्वप्राइट है। जैसे 'सप्ताह' का 'हप्ताह' हो गया, 'सिन्ध' का 'हिन्द' हो गया।

हमको एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया मालूम है, जो आपको मालूम नहीं है और आपके अज्ञानके कारण वह चमत्कार भासता है। चमत्कारका इतना ही रहस्य है। इसके सिवाय इसका और कुछ रहस्य नहीं है। यह 'चमत्कार' शब्द यथार्थ है ही, उसके लिए जो अज्ञानी है। 'चमत्कार' शब्दका कोई अर्थ नहीं होता। जरूर कोई-न-कोई नासमझी लगी हुई होती है, तब चमत्कार भासता है।

यह चमत्कार देखो—न अन्त:करणका पुनर्जन्म और न द्रष्टाका पुनर्जन्म। आत्माका पुनर्जन्म नहीं है और पंचभूतका पुनर्जन्म नहीं है। अन्त:करणका भी पुनर्जन्म नहीं है। वह तो जड़ है, दृश्य है। उसका पुनर्जन्म क्या होगा ? तब क्या है ?

असलमें अविवेकके कारण, अन्त:करणको 'मैं' समझनेके कारण, अन्त:करणको 'मेरा' समझनेके कारण और अन्त:करणको सच्चा समझनेके कारण चिज्जडग्रन्थि पैदा हो गयी, माने चेतना और जड़की एक बनावटी चिज्जडग्रन्थि पैदा हो गयी है। यह कृत्रिम ग्रन्थि है। वह भी प्राकृत-परम्परामें नहीं, अविद्या-परम्परामें। इसीसे अविद्याकी निवृत्तिसे पुनर्जन्मकी निवृत्ति होती है। उसमें प्रपंचका प्रतिभान निवृत्त होनेकी जरूरत नहीं है। प्रपंच भले मालूम पड़े, परन्तु अविद्याकी निवृत्तिसे पुनर्जन्मकी निवृत्ति हो जायगी। पुनर्जन्मकी निवृत्तिके लिए भ्रमकी निवृत्ति अपेक्षित है। श्रमकी निवृत्ति अपेक्षित नहीं है। इसका नाम वेदान्त है। यह उपनिषद् है।

दुनिया जब नहीं मालूम पड़ेगी, तब पुनर्जन्म निवृत्त होगा ऐसा नहीं; स्वर्गमें जाना, नरकमें जाना, ऊर्ध्वगतियोंका होना, पितृयानमार्ग, देवयानमार्ग, एक अलौकिक पुरुषका आ करके ब्रह्मलोकमें ले जाना, ये जितनी गतियाँ हैं, ये सारी-की-सारी अविद्याकी परम्परामें हैं। उपनिषद्में देखो न,

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः ॥ मुण्डक. १-२-७

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः; जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मुण्ड. १-२-८

यह यज्ञरूप जो प्लव=नौका है, अदृढ़=टूटनेवाली है। स्वयं अविद्यामें है।

खुद मानते हैं कि हम बड़े भारी साधक हैं, सिद्ध हैं; मानते हैं कि हम बड़े विद्वान् हैं। अरे, वे तो कूटे जा रहे हैं, पीसे जा रहे हैं। मोहसे ग्रस्त हैं। कैसे ?

अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मुण्ड. १-२-८

अब देखो, स्वर्गका वर्णन, नरकका वर्णन, पुनर्जन्मका वर्णन, यज्ञमें स्वर्गादिकी प्राप्तिका वर्णन और श्रुति कहती है—'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।' श्रुतिने विद्याके दो रूप बता दिये—एक अज्ञानीके लिए विद्या और एक ज्ञानीके लिए विद्या। अज्ञानीविद्याकी परम्परामें ये गतियाँ हैं, ज्ञानी-विद्याकी परम्परामें ये गतियाँ नहीं हैं।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरणका पुनर्जन्म होता है कि द्रष्टाका ? अलग-अलग तो दोनोंका नहीं होता। अविवेकदशामें जो चिज्जडग्रन्थि है; जहाँ चेतन अपनेको जड़से विविक्त करके अनुभव नहीं करता, वहीं यह चिज्जडग्रन्थि है। वहीं नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म है। एक ऐसी गाँठ है, एक ऐसा रोग होता है न, जैसे 'कैन्सर' होता है जिसमें शिरा=नाड़ी कुत्सित हो जाय। अब विज्ञानमें पता लगा लिया गया कि क्रोधकी एक गाँठ होती है आदमीके अन्दर। उसमें शेरको इंजेक्शन लगा देते हैं। उसको डण्डा मारते रहो। वह मुँह खोलकर देखेगा, उसे गुस्सा नहीं आवेगा। कामग्रन्थिको बेकार कर दिया। यहाँतक कि एक आदमी जरा ज्यादा गड़बड़ करने लगा, पागलपन करने लगा, डॉक्टरने ऐसी दवा उसको दे दी कि वह सोता रहे। बोले कि अब चौबीस घण्टेमें सोलह घण्टे उसे सुलाओ। यही उसकी दवा है। वह होशमें भी आता है, खाता भी है, पीता भी है, सब काम भी करता है, लेकिन अर्धसुषुप्त अवस्था; क्योंकि पागलपनमें पड़ा उपद्रव करता था।

देखो, चेतनाको अभिभूत करनेवाली दवा होती है, वह कहाँ काम करती है ? शरीरमें जो ग्रन्थियाँ होती हैं, उनको प्रभावित करती हैं। कामग्रन्थि, लोभग्रन्थि, मोहग्रन्थि, संशयग्रन्थि, अविद्याग्रन्थि। संस्कृतभाषामें, उपनिषदोंमें ग्रन्थिके रूपमें इनका वर्णन है।

चेतन और जड़की एक ग्रन्थि पड़ती है। इस ग्रन्थिको 'विचारसागर'में और 'पंचदशी' में 'आभास' के नामसे कहा गया है। 'चिदाभास।' शब्द तो बड़ा मजेदार है। 'विवरण-प्रस्थान' में इसका नाम 'प्रतिबिम्ब' है। 'विवरण-प्रस्थान' माने भगवान् शंकराचार्यके भाष्यपर 'पंचपादिका' है उसपर 'विवरण' है और विवरणानुसारी जो प्रक्रिया है, उसको 'प्रतिबिम्बवाद' बोलते हैं। यह बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद है। प्रतिबिम्बको नरक-स्वर्गमें जाना पड़ता है, बिम्बको नहीं। आभासको

ही जन्म-मृत्युमें जाना पड़ता है, चेतनको नहीं। श्रीमद्भागवतमें इसके लिए 'वीर्य' शब्दका प्रयोग है।

भगवान्‌ने पहले बुद्धिमें महत्तत्त्वाकार प्रकृति-परिणाममें 'वीर्य'का आधान किया। वीर्यका नाम 'चिदाभास' हो गया। प्रश्न यह है कि असलमें यह ग्रन्थि कैसे बनी? आपको एक बात हम बताते हैं। स्वतन्त्र विचार करनेवाले लोग इसको नहीं समझ सकते। स्वतन्त्रविचारका यह विषय नहीं है। स्वतन्त्र विचार तो भटकनेके लिए होता है। वेदान्तानुसारी जो विचार है, उसीसे इस ग्रन्थिका भेदन होगा। क्या विलक्षण प्रक्रिया है! आपको कहीं एक जगह बैठना पड़ेगा।

आप अपने देहमें देहाभिमानी बनकर बैठो और यहाँसे विवेक करते हुए चलो—'अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश'—इस क्रमसे। तब ग्रन्थिरहित आत्मा तक आप पहुँच जाओगे। पहले आप ब्रह्मरूपसे ग्रन्थिरहित आत्माको जान लो, तो उसके बाद माया-अविद्या दोनों मिथ्या हो जायेंगी। माया-अविद्या दोनों मिथ्या हो जानेपर उसका यह सारा कार्यकारणभाव भी मिथ्या हो जायगा।

●

प्रवचन १५

एक प्रश्न यह उठाया कि अन्तःकरण है दृश्य और आत्मा है द्रष्टा।

नास्ति दृष्टरि दृश्यत्वं दृश्यस्य दृष्टता नहि।
दृश्यरूपस्य बुद्ध्यादेः दृष्टता नहि दृश्यते॥

जो दृश्य होता है वह द्रष्टा नहीं होता और जो द्रष्टा होता है, वह दृश्य नहीं होता। भीत कभी द्रष्टा नहीं हो सकती वह दिखेगी और आत्मा कभी दृश्य नहीं हो सकता, वह देखेगा। ये दोनों चीजें बिलकुल न्यारी-न्यारी हैं।

अलगाव धर्ममें भी जरूरी है, भक्तिमें भी जरूरी है, योगमें भी जरूरी है और ज्ञानमें भी जरूरी है। धर्ममें यदि देहसे आत्माको जुदा नहीं समझोगे, तो धर्मका फल मृत्युके बाद भी मिलता है और उपासनामें भी यदि देहसे आत्माको अलग नहीं समझोगे तो मृत्युके बाद हम बैकुण्ठ और गोलोकमें जायेंगे, इस बातको कैसे समझोगे? क्योंकि यह शरीर तो यहीं जल जायगा।

यदि योगमें भी शरीरसे अलग आत्माको नहीं समझोगे, तो 'मैं समाधिका द्रष्टा हूँ,' ऐसा अनुभव करके कैवल्य कैसे होगा?

वेदान्तमें भी यदि शरीरसे अलग आत्माको नहीं समझोगे, तो ब्रह्म किसको समझोगे? देहको ब्रह्म थोड़े ही समझा जाता है? देहसे अलग आत्मा है, उसको ब्रह्म समझा जाता है।

सभी सिद्धान्तोंके अनुसार आत्माको देहसे अलग समझना जरूरी है। अब यह बात आयी कि दृश्य है सो द्रष्टा नहीं और जो द्रष्टा है सो दृश्य नहीं। हमारे ये जो बाबूलोग हैं, ये लौकिक द्रष्टाको ही द्रष्टा समझते हैं। परमार्थमें द्रष्टाका क्या स्वरूप है, इसपर विचार नहीं करते हैं। वे द्रष्टाका अर्थ यह समझते हैं कि—'देहके भीतर बैठा हुआ, आँखसे देखनेवाला, कानसे सुननेवाला, त्वचासे छूनेवाला, जीभसे

चखनेवाला, नाकसे सूँघनेवाला, मनमें प्यार करनेवाला और बुद्धिसे विचार करनेवाला यह जो इन्द्रियोंसे और मनोवृत्तियोंसे युक्त मैं हूँ देखनेवाला, वही द्रष्टा हूँ।' इसको लौकिक द्रष्टा बोलते हैं। यह असली द्रष्टा नहीं है, यह नकली द्रष्टा है।

समझो, एक आदमीने अपनी आँखके सामने कभी लाल चश्मा लगाकर देखा, कभी काला चश्मा लगाकर देखा, कभी हरा चश्मा लगाकर देखा, तो चश्मेके रंग देखे उसने। असली चीज जो है, बिना चश्मेके क्या दीखता है, यह उसको मालूम नहीं है। इसी प्रकार बिना पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका चश्मा लगाये, बिना पाँच कर्मेन्द्रियोंसे कर्म किये, बिना मनसे रागद्वेष किये, बिना अहंकारसे अहंक्रिया किये, बिना बुद्धिसे विचार किये और बिना चित्तसे स्थिर रहे, अन्तःकरणकी चार वृत्तियोंके बिना ज्ञानेन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंके बिना, कर्मेन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंके बिना, देहके बिना तुम कैसे चेतन हो? क्या चेतन हो? यह विचार करना आवश्यक है। जब तक देहकी गोदमें चेतन बैठा हुआ है, तब तक वह चेतन नहीं, वह तो देहका बच्चा है। वह देहमें ही अन्न खानेसे पैदा हुआ है और देहमें ही रह रहा है। वही कर्मका कर्ता बना हुआ है, वही ज्ञानेन्द्रियोंसे देखने-सुननेवाला बना हुआ है और वही मनसे सोचने-विचारनेवाला बना हुआ है। यह सब अन्नका ही विस्तार है।

भांग पीनेसे जिसका मन दूसरे ढंगका हो जाता है, अफीम खानेसे मन दूसरे ढंगका हो जाता है; अफीम खानेसे एक पीनक चढती है, भांग खानेसे आदमीका मन उड़ता हैं, गाँजा पीनेसे मन सुस्त पड़ जाता है। ये नशे मन पर अलग-अलग काम करते हैं। इंजेक्शन मनपर अलग-अलग काम करते हैं, दवायें मनपर अलग-अलग काम करती हैं। कोई सुला देती हैं, कोई जगा देती हैं। इसका मतलब ही यह है कि हमारा मन बिलकुल जड़ वस्तुओंसे बना हुआ है। अन्तःकरण तो भीतकी तरह जड़ वस्तुओंसे बना हुआ है। यह देखनेवाला जो चेतन है, बिलकुल असंग और उदासीन है।

इस असंग और उदासीनको सांख्यकी दृष्टिसे 'विभु' माना जाता है और योगकी दृष्टिसे भी 'विभु' माना जाता है। वेदान्तकी दृष्टिसे तो इसको अद्वितीय ब्रह्म जाना जाता है। योग और सांख्यका जो द्रष्टा है, वह देहसे परिच्छिन्न नहीं है, 'विभु' है माने व्यापक है। नित्य भी मानते हैं।

विभु और नित्यमें क्या अंतर हैं, यह आपके ध्यानमें आना चाहिए। नित्य उसको कहते हैं, जिसको काल काट नहीं सकता। विभु उसको कहते हैं, जिसको पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, बाहर-भीतर काट नहीं सकते। व्यापकको विभु कहते हैं और अविनाशीको नित्य कहते हैं। तो योग और सांख्यमें द्रष्टाको विभु और नित्य

माना जाता है। माने पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर—ये सब द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। पहले और बाद, भूत-भविष्य-वर्तमान सब द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। लेकिन वह वस्तुसे अलग मानते हैं द्रष्टाको।

देखो, आपको एक विवेक सुनाते हैं—जड़ वस्तुसे अलग रहकर द्रष्टा वस्तुको देखता रहता है यह योग और सांख्यका सिद्धान्त है। वेदान्तका सिद्धान्त यह है कि द्रष्टा देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है। यह अद्वितीय ब्रह्म है। इसलिए वस्तुसे भी परिच्छिन्न नहीं है, अद्वय ब्रह्म है। वेदान्त और सांख्य-योगके द्रष्टामें जो अन्तर है, उसको आप समझना। देहके भीतर द्रष्टाको 'मैं' मानकर बैठना, यह तो द्रष्टाका कोई विवेक नहीं है। द्रष्टा न मूलाधारमें रहता है न स्वाधिष्ठानमें रहता है, न मणिपूरकमें रहता है न अनाहतमें रहता है, न विशुद्धमें रहता है न आज्ञाचक्रमें रहता है न सहस्रारमें रहता है।

देहके भीतर जो है सो किसी चक्रमें-षट्चक्रमें अथवा किसी चक्करदार जगहमें या किसी गाँठमें आत्मा फँसा हुआ है, ऐसा मानना तो एक कल्पित मान्यता है। सांख्य और योगमें इस बातको बिलकुल नहीं माना जाता। वे कहते हैं कि प्रत्येक दृष्टा विभु है और नित्य है। माने वह न कालमें पैदा हुआ, न मरता है और देशमें, न उसके पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और कुछ होता है।

पहलेवाली बात तो सबकी समझमें आयी होगी। बादवाली बात तो जो साधना करते हैं, जो विचार करते हैं जो श्रवण करते हैं उनकी समझमें आती है। अब देखो, यह घड़ी हमारे किस तरफ है? यह हमारे दक्षिण है? हमारे पूरब है, पश्चिम है, कि उत्तर है? यह घड़ी क्यों एक बार पूरब एक बार पश्चिम, एकबार दक्षिण, एकबार उत्तर हो जाती है? एक बच्चेने घड़ी निगल ली तो उसके भीतर हो गयी। इसलिए कि हम देह बनकर बैठे हुए हैं। अगर यह देह हमारा मैं-मेरा न होता तो क्या पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण हो सकता था?

कल्पना करो, आकाशमें 'मैं' होता तो मेरे ऊपर कुछ और होता? तो मेरे नीचे कुछ और होता? मेरे दाहिने कुछ और होता? मेरे बाएँ कुछ और होता? मेरे बाहर कुछ और होता? मेरे भीतर कुछ और होता? जब हम अपनेको परिच्छिन्न दशामें कर लेते हैं, तब पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणकी कल्पना होती है।

मान लो, मेरा जन्म और मरण दोनों न होता तो मेरे लिए भूत-भविष्य हो सकता था? एक अपेक्षासे माने जब हम अपनेको देह मानकर बैठ जाते हैं, तब हमारे लिए छहों दिशाएँ हमें घेरती हैं—ऊपर-नीचे, सामने-पीछे, दाहिने-बाएँ। एक परमाणु होता है, उसको छः ओरसे दिशाएँ घेरती हैं, क्योंकि वह परिच्छिन्न है।

परन्तु पूर्ण वस्तुमें दिशाएँ नहीं होती हैं और बाहर-भीतर नहीं होता। उसके भूत-भविष्य भी नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म-मरण भी नहीं हैं।

इसीसे यदि हम पूछें कि निराकार ईश्वरकी दृष्टिसे हम किस दिशामें बैठे हैं? आप विचार करके देखो कि यदि निराकार ईश्वर है तो उसके हम दाहिने हैं कि बाएँ हैं? सामने हैं कि पीछे हैं? ऊपर हैं कि नीचे हैं? बाहर हैं कि भीतर हैं? ध्यान करके देखना, निराकार ईश्वरमें 'मैं' की परिच्छिन्नता मिल नहीं सकती। 'मैं' परिच्छिन्न हूँ, इसलिए निराकार पूर्ण ईश्वर परिच्छिन्न अलग मालूम पड़ता है। अगर हमारी परिच्छिन्नता मिट जाय, तो निराकार, अद्वय, परिपूर्ण परमात्मासे हमारी एकता हो जाय! यह चेतन है।

जड़में पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग नहीं हो सकते और मरणोत्तर गति चेतनमें भी नहीं हो सकती। संसार माने आपके घरके ईंट-पत्थर नहीं। वेदान्तीलोग बोलते हैं कि—'यह संसार नहीं हैं।' आप लोग यह नहीं समझ बैठना कि आपकी तिजोरी नहीं है। आपकी तिजोरी है, वह सुरक्षित रहेगी। हम उसमें हाथ नहीं डालेंगे। उसकी चाभी आपके पास रहेगी। आपका मकान नहीं है—यह उसका मतलब नहीं होता है। 'संसार नहीं है' का यह मतलब होता है कि देशमें आना-जाना है और रुपान्तर होना है—अभी मनुष्य है, फिर पशु हो जायेंगे, पक्षी हो जायेंगे या देवता हो जायेंगे, दानव हो जायेंगे—यह रूपान्तरको प्राप्त होना संसार है। भावसे भावान्तरको प्राप्त होना संसार है। एक जगहसे दूसरी जगह जाना और आना, स्वर्गमें जाना और लौट आना, नरकमें जाना और लौट आना इसका नाम संसरण है।

लोक-परलोकमें आना-जाना, प्रत्येक योनिमें आना-जाना—योनियोंका बदलना, द्रव्यमें शकल-सूरतका बदल जाना योन्यन्तर है। स्थानमें यहाँसे स्वर्गमें जाना और स्वर्गसे यहाँ आना स्थानान्तरण है जब तुम अपनेको पूर्ण चेतन जानते हो, तो न तुम्हारा स्थानान्तरण है और न योन्यन्तर हैं। एक साहब होता है, तो एक जगहसे दूसरी जगह बदल दिया जाता है। एक वकील होता है तो दूसरी पोशाक, वाइस-चान्सलर होता है तो दूसरी पोशाक, सिपाही होता है तो दूसरी पोशाक! इस शरीररूप पोशाकका बदलना, कुर्सीका बदलना, जगहका बदलना, ओहदोंका बदलना जैसे योग्यताके अनुसार लोकमें होता है, वैसे कर्मके अनुसार जो बदलता है, वह परिच्छिन्न जीवका, कटे-पिटे जीवका बदलना है। यह जो बदलना है, उसीको संसार बोलते हैं।

वेदान्त क्या करता है? वह आपके घरकी ईंट नहीं तोड़ता, मकानकी बनावट नहीं बिगाड़ता, वह आपकी तिजोरी नहीं खोलता, वह पति-पत्नीको अलग-अलग

नहीं करता, वह देहको जवान या बुड्ढा नहीं बनाता। आपके अन्दर जो संसरणका भाव है, माने एक योनिसे दूसरी योनिमें जानेका, एक लोकसे दूसरे लोकमें जानेका, मरनेका, जीनेका—यह विनाशीपनेका भाव है आपके अन्दर। द्रव्यको अपनेमें माननेसे शकल-सूरत बदलती है, कालको अपनेमें माननेसे जन्मना-मरना होता है। देशको अपनेमें माननेसे आना-जाना होता है। परन्तु ये सब तो जड़ अन्तःकरणके साथ रहते हैं।

जहाँ परिच्छिन्नता है वहाँ जड़ता है। जो परिच्छिन्न है वह दृश्य है। जितने भी भेद होंगे वे दृश्य ही होंगे। भेद कभी द्रष्टा नहीं होता। जो दृश्य होगा वह जड़ होगा। जड़में यदि संसार है, तो उससे आपका कोई मतलब नहीं। द्रष्टा संसारी हो नहीं सकता। जो असंसारी होगा, वह असंग और उदासीन होगा। जो असंग और उदासीन होगा वही असंसारी होगा। अभिप्राय यह है कि न आत्मामें संसार न जड़में संसार! जब संसार ही नहीं है, तो इससे छुड़ानेके लिए वेदान्तकी जरूरत कहाँ रही? जब वेदान्तकी जरूरत नहीं रही तो मोक्ष कहाँ रहा? मोक्ष नामकी कोई चीज ही नहीं रही। न बन्धन रहा न मोक्ष रहा, न वेदान्त रहा!

फिर तो वेदान्तके पढ़ने-लिखनेकी कोई जरूरत ही नहीं रही? पूर्वपक्षकी बात मैंने इतने विस्तारसे समझायी। संसारी लोग-पशु वेदान्त कहाँ पढ़ते हैं? पक्षी वेदान्त कहाँ पढ़ते हैं? चिड़िया वेदान्त कहाँ पढ़ती हैं! वे साधन कहाँ करते हैं? तो तुम कहोगे कि हम भी साधन छोड़ दें! तुम साधन छोड़ दोगे तो जैसे पशु हैं, जैसे पक्षी हैं, वैसे तुम भी हो! जैसे संसारी हैं, वैसे तुम भी हो! साधकपना कहाँ-से आवेगा? नहीं, असलमें तुम खयाली पुलाव पकानेमें उड़ गये बाहर! द्रष्टा कैसा है, दृश्य कैसा है, यह तो आपने सोचा, पर मैं 'मैं' को कैसा अनुभव करता हूँ, इसके बारेमें तो सोचिये। कोई शराब पीकर पनालीमें पड़ा हो और सोचे कि स्वर्ग ऐसा है, ऐसी अप्सराएँ होती हैं, वहाँ ऐसा नन्दनवन होता है, ऐसे देवता होते हैं, ऐसा भोग-विलास होता है, तो?

आप स्वयं तो बैठे हैं हड्डी-मांस-चाम विष्ठाकी इस पुड़ियामें और बात सोचते हैं द्रष्टाकी-शुद्धकी। असलमें आप जहाँ बैठे हुए हैं, वहाँसे रास्ता बनेगा। एक जगह हम बैठे हुए थे। समझो, जोधपुरमें बैठे थे। हमने उनसे पूछा कि हरिद्वार जाना है। तो उन्होंने बताया कि अमुक गाड़ीमें बैठो, तो अमुक-अमुक जगहसे वह जाती है। वह गाड़ी तो दक्षिण जाती है, फिर पूरब जाती है, फिर उत्तर जाती है, तब जाकर अपने गन्तव्य पर पहुँचाती है।

बोले, नहीं हमको तो उत्तर जाना है। हम तो सीधे उत्तर ही जायेंगे। यह दक्षिण जानेवाली, पूरब जानेवाली गाड़ीमें हम नहीं बैठेंगे। तो ऐसे नहीं होता है। यह बात

आप ध्यानमें रखिये-जहाँ पहुँचना है, वहाँसे मार्ग प्रारम्भ नहीं होता, जहाँसे चलना है, वहाँसे मार्ग प्रारम्भ होता है। चूँकि तुम मिट्टीसे बने हुए शरीरको 'मैं' मानते हो, इसलिए तुम्हें यहाँसे उठ करके शुद्ध चेतन तककी यात्राा करनी पड़ेगी। इसके लिए आलम्बन लेना पड़ेगा, 'अन्नमय कोश'का।

देखो, यह हाथ है। यह 'अन्नमय कोश' है। हाथमें हड्डी-चाम-मांस है न? सारे शरीरमें हड्डी-चाम-मांस है। यह अन्नमय कोश है। इसको तुम 'मैं' मानते हो कि नहीं? मैं काला, मैं गोरा, मैं मोटा, मैं दुबला! तुम इसको 'मैं' मैं मानते हो कि नहीं? 'मैं' मानते हो न? तो तुम शुद्ध चेतन हो कि देहको 'मैं माननेवाले' हो? जिस देहको तुम 'मैं' मान रहे हो, यहाँसे तुमको उठना पड़ेगा।

मैं देह नहीं हूँ। मैं हाथको मोड़नेवाला और फैलानेवाला हूँ। मोड़नेकी ताकत मुर्देमें नहीं होती। अपने हाथको मुर्दा मनसे मोड़ नहीं सकता और फैला नहीं सकता। यह जो शक्ति है हाथमें, लकवा लगने पर यह शक्ति नहीं रहती। मनसे हाथको मोड़ नहीं सकते; मनसे पाँवको मोड़ नहीं सकते। लकवा लगने पर क्या चला जाता है? आपने ध्यान दिया? मन तो रहता ही है कि हम हाथ उठावें! हाथ भी रहता है। मन और हाथ-उनके बीचमें जो शक्ति है, वह नहीं रहती; उसी शक्तिको प्राण बोलते हैं। मन उसी प्राणके द्वारा हाथको उठाता और गिराता है।

जो हाथ है, वह तो पंचभूतसे बना है। प्राण शक्ति है और हाथ उठानेकी जो इच्छा है, यह 'मनोमयकोश' है। यह हाथकी बात नहीं है, यह समूचे शरीरकी बात बोल रहा हूँ।

जैसे लकवा लगे हुएका हाथ लटक रहा है। मन भी है कि हाथ उठावें। हमको तो बिना लकवा लगे ही ऐसा हो चुका है। एक बार नहीं, अनेक बार भजन करते समय ऐसा ही हो चुका है। हम बिलकुल होश-हवासमें बैठे हैं, हाथ उठाना चाहते हैं, नहीं उठता है। आँख खुली है, सिर झुकाना चाहते हैं, नहीं झुकता है; सिर हिलाना चाहते हैं, नहीं हिलता है। हाथ उठाना चाहते हैं, नहीं उठता है; पाँव फैलाना चाहते हैं, नहीं फैलता है। जीभसे बोलना चाहते हैं, आवाज नहीं उठती है। माने, मन है और प्राण-स्पंद बन्द हो गया।

अन्नमयकोश है शरीर, प्राणमयकोश है शक्ति और मनोमयकोश है इच्छा। आप विचार करके देखो कि आप कौन हैं? हड्डी-चाम-मांसके शरीर आप हो नहीं। शक्ति भी आपका हुकुम मानती है, जब मनसे आप शक्तिको प्रेरित करते हो। जीभमें बोलनेकी शक्तिको आप बोलनेके लिए प्रेरित करते हो। जीभ एक मांसका

लोथड़ा ही तो है। *'मुँहमें भलो न चाम'*। जो मांस खानके प्रेमी होते हैं, वे कई पशुओंकी जीभ खाते हैं; हमने ऐसा सुना है। मनमें होता है कि बोलें। जब शक्ति रहती है तब जीभ हिलकर जैसे घंटेकी 'टन्-टन्-टन्' वैसे छोटी-सी जीभ घंटेकी ललरीकी तरह आघात उत्पन्न करती है। मनमें इच्छा होती है और शक्ति जाग्रत् होकर कंठ-तालु आदिमें आघात उत्पन्न करती है, इससे आवाज निकलती है। तो तुम कौन हो?

तुम यह देह हो हड्डी-मांस-चामके बने हुए, कि शक्ति हो जो हाथको हिलाती-उठाती है, या तुम मन हो जो शक्तिको प्रेरणा देते हो? इच्छा भी तुम नहीं हो। तुम हो एक और इच्छा हजार होती है। सुननेकी इच्छा, देखनेकी इच्छा, छूनेकी इच्छा, बोलनेकी इच्छा, चलनेकी इच्छा, सूँघनेकी इच्छा, करनेकी इच्छा! इच्छा तो होती है हजारों और तुम एक हो; तो तुम इच्छा नहीं हो सकते हो!

जो एक तुम हो, जो इच्छा करते हो, शक्तिको प्रेरित करते हो, देहके चलनेको अपनेको चलनेवाला मानते हो, वह 'कर्त्ता' तुम हो। इसको 'विज्ञानमयकोश' बोलते हैं। कर्त्ता विज्ञानमयकोश है।

अनेक इच्छाओंमें हाथकी शक्ति अलग, पाँवकी शक्ति अलग, जीभकी शक्ति अलग; हाथ-पाँव-जीभ अलग माने अन्नमयकोश अलग, इनकी शक्तियाँ अलग। चाहे हम जब एक ही शक्तिको संचालित करते हैं। नाचनेवाली ऐसा अभ्यास कर लेती है कि पाँवका एक घुँघरू बोले, बाकी न बोले। आपने यह देखा होगा, तलवारकी धारपर नाच लेती है, तारपर नाच लेती है। यह अभ्यास है उनका। अपनी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके द्वारा शरीरको सधा लेती है।

द्रव्यका नाम है अन्नमयकोश और शक्तिका नाम है प्राणमयकोश, इच्छाका नाम है मनोमयकोश और कर्त्ताका नाम है विज्ञानमयकोश। उस समय हम विज्ञानमयके साथ एक होकर कर्त्ता बनते हैं कि अब यह इच्छा करके शक्तिको प्रेरित करें, यह उठावें।

कर्म करनेमें आपको मजा आता है कि नहीं? या तकलीफ होती है कि नहीं? जहाँ हम फलसे अपने आपको जोड़ते हैं, तब भोक्ता हो जाते हैं। भोक्तापना चेतन ही है। चेतन ही अन्नमयकोशमें होकर देह बना हुआ है; वही प्राणमयकी उपाधिसे प्राणमय बना हुआ है; वही मनकी उपाधिसे मनोमय बना हुआ है, विज्ञानमय-बुद्धिकी उपाधिसे कर्त्ता बना हुआ है, वही भोगकी उपाधिसे भोक्ता बना हुआ है, ये पाँचों पाँच हैं और इनमें जो चेतन है, यह इनसे जुदा है-न्यारा है; क्योंकि मजा भी हमेशा नहीं आता है। आप सुख भोगनेमें स्वतंत्र हो कि नहीं हो?

हम आपको वेदान्तका ककहरा सुना रहे हैं कि आप अपनेको देहसे विविक्त करो, जुदा करो, अलग करो। देहमें रह कर ब्रह्मानुभूति नहीं होती। देहसे विवेक करके, अपनेको अलग जान करके ब्रह्मानुभूति होती है।

तुम विश्व-विराट्से एक होओगे, तब पहला कदम तुम्हारा वेदान्तके मार्गमें उठेगा। देहाभिमान वेदान्तका कोई कदम नहीं है। वैश्वानर-विराट्के साथ एकताका जो अनुभव है, वह वेदान्तका प्रथम पाद है, जाग्रत् पाद है और सूक्ष्म-समष्टि हिरण्यगर्भसे जो एकता है, वह द्वितीय पाद है। कारण-समष्टि ईश्वर चैतन्यसे जो एकता है प्राज्ञ-ईश्वरसे, वह वेदान्तका तीसरा पाद है। अपनेको तुरीय जान करके तीन पादकी उपाधिका भंग हो जाना और तीनका तीन न होना, केवल तुरीय होना।

इसमें आपके ईंट-पत्थरपर कोई असर नहीं, तिजोरीपर कोई असर नहीं। आपका आत्मचैतन्य आपका आपा जो देहमें फँस गया है, वहाँसे इसको निकालनेकी यह युक्ति है। कल कोई पूछ रहे थे कि 'ग्रंथि कैसे पैदा हुई?'

ग्रंथि न पैदा हुई, न टूटती है। यह बमगोला देखो। तुम स्वयं अपनेको एक ग्रंथिमें आबद्ध मान रहे हो, यह तुम्हारी अज्ञानमूलक मान्यता ही ग्रंथि है। ग्रंथि नहीं है, तुम्हारी स्वीकृति ही ग्रंथि है। 'हम अज्ञ हैं'—यह भी ग्रंथि है। 'हम संशयवाले हैं'—यह भी ग्रंथि है। 'हम कामी है' यह भी ग्रंथि है। 'हम भोगी हैं'—यह भी ग्रन्थि है। 'हम लोभी हैं'—यह भी ग्रंथि है। 'हम मोही हैं'—यह भी ग्रन्थि है। 'हम मरने-जीनेवाले हैं'—यह भी ग्रंथि है। 'हम जाने-आनेवाले हैं'- यह भी ग्रन्थि है। 'हम किसीसे अलग हैं'—यह भी ग्रन्थि है।

यह ग्रन्थि क्या है? असलमें अपने स्वरूपका विवेक करके हम अपने देहसे नहीं निकालते हैं, यह देहाभिमानके आधारसे ही सारी ग्रंथियाँ रह रही हैं। माने, अविद्यादशामें ही ये ग्रंथियाँ सच्ची होती हैं। ज्ञानदशामें ये सारी-की-सारी ग्रंथियाँ मिथ्या हो जाती हैं। यह प्रश्न श्रीमद्भागवतमें ग्यारहवें स्कन्धमें उठाया गया—

अग्निवद् दारुवदचिद्वद्देहः कस्येह संसृतिः॥ (भागवत० ११-२८-११)

अग्निकी तरह आत्मा है और लकड़ीकी तरह देह है। न अग्निमें संसरण है, न लकड़ीमें संसरण है। संसरण=आना-जाना। फिर यह आना-जान क्या है? वहाँ कहा गया—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥

(भागवत० ११-२८-१२)

यह बात उपनिषदोंमें बार-बार आती है-देह, इन्द्रिय, मन और प्राण इनके साथ तुमने अपने आपको जोड़ लिया। एक नन्हें-से बच्चेके सामने उसकी माँको मारनेके लिए एक चपत उठाओ तो माँ तो नहीं रोवेगी, वह तो हँस देगी, लेकिन बच्चा रोने लगेगा। क्यों बच्चेको चपत देखकर दु:ख हुआ और माँ-को नहीं हुआ? माँ समझदार है और बच्चा नासमझ है। वह माँके साथ इतना घुलमिल गया है कि माँको चपत लगनेको वह अपनेको ही चपत लगना समझ रहा है। माँको वह बिलकुल अपनी समझता है। माँके साथ जो बच्चेका तादात्म्य है, वही बच्चेको दु:ख देता है।

कभी कुत्तेको मारेनेके लिए डंडा उठाओ। जरा बलवान होगा तब तो आपपर टूट पड़ेगा और भौंकने लगेगा, लेकिन कमजोर कुतिया हुई तो आपके हाथमें डंडा देखकर पूँछ दबावेगी और काँय-काँय बोलने लगेगी। डंडा लगा नहीं, आपने मारा नहीं, पर वह चिल्लायेगी बड़े जोरसे कि हमको डंडा लग गया है। ऐसे ही हम लोग दुनियामें दु:ख बनाते हैं।

आप मरनेके बाद रोते हैं कि मरनेके पहले? हम दूसरेकी बात नहीं करते हैं, खुदकी बात करते हैं। आप मरनेके पहले रोते हैं कि मरकर रोते हैं? मरनेके बाद तो किसीका रोना देखा नहीं गया है और मरनेके पहले यदि वह रोता है, तो उसके मनकी कमजोरीके सिवाय और क्या है? अभी मरा नहीं है और मरनेके डरसे रोता है। मरनेका डर तो कमजोरी है न मनकी? मरनेके एक सेकेन्ड पहले भी अगर आप डरते हैं, तो डर तो मनकी कमजोरी है, वह तो कोई ज्ञान नहीं है! वह तो कोई समझ नहीं है। अगर रोना है तो मरनेके बाद रो लेना कि 'हाय-हाय, मैं मर गया!' इसीका नाम भय है। असलमें तुम्हें मृत्युका अनुभव नहीं है, मृत्युका भय है।

दूसरेकी मृत्युका अनुभव है, दूसरेको तुमने मरते कहाँ देखा है? क्या देखा है मरते को? बिलकुल बराबर तौलकर मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमान जो शरीरमें रहता है, वह कोई नहीं मरता है। चेतनाको तो तुमने देखा ही नहीं है कि मरते देखो। जो दृश्य है सो मरा नहीं और चेतनको-द्रष्यको तो तुमने देखा ही नहीं! पहले भी नहीं देखा और अब भी नहीं देख रहे हो! तो दूसरेके मरनेका भी अनुभव नहीं है। दूसरेके शरीरमें जो चेतन है, वह तुम्हारा देखा हुआ ही नहीं है। जिसको जिन्दा ही नहीं देखा, उसको मुर्दा होनेपर क्या देखोगे? तो दूसरेकी मृत्युका तो तुम्हें अनुभव नहीं है और कहते हो कि हमें अपनी मृत्युका अनुभव है। जब तुम जिन्दा ही हो, तो मृत्यु किसी पड़ौसीकी हुई होगी? तुम्हारी तो हुई ही नहीं। अनुभव करनेवाले तुम तो जिन्दा ही हो, तो मृत्यु न तो दूसरेकी अनुभवमें आयी, और न अपने अनुभवमें आयी।

यह मनकी कमजोरी है कि—'यह जो हमारा पड़ौसी है, हाय-हाय, पड़ौसीका शरीर मुर्दा हुआ और जला दिया गया, तो हमारा शरीर भी मुर्दा होगा और जला दिया जायेगा। वह हमारी तिजोरी कहाँ जायेगी? मकान कहाँ जायेगा? बच्चेका क्या होगा? बहूका क्या होगा? हाय-हाय, जिसको मैं 'मैं' कहता हूँ उसको चिड़िया खा जायेगी? वह विष्ठा हो जायेगा? वह आगमें जल जायेगा? हमारी बनायी हुई-सँवारी हुई यह दुनिया बिगड़ जायेगी।' यह मनकी कमजोरी है।

मृत्युका भय बिलकुल मनकी कमजोरी है। कवि लोग तो कहते हैं कि मौत क्या है? एक मीठा सपना। रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि मृत्यु एक मधुर स्वप्न है। भक्त लोग कहते हैं, मरनेके बाद हम अपने प्यारेके गलेसे लग जायेंगे। अभी तो वह वैकुण्ठमें है, गोलोकमें है; हम उससे दूर हैं। हम तो उसके प्रेमी हैं, भक्ति करते हैं। हाय-हाय, हम तो पागल हो रहे हैं। मरनेके बाद हम उसके गलेसे चिपट जायेंगे।

ज्ञानी लोग कहते हैं, आना-जाना कहाँ है? कहीं न आना, न जाना! परिपूर्ण ब्रह्म हैं।

धर्मात्मा लोग कहते हैं, मरनेके बाद हम स्वर्गमें जायेंगे। वहाँ तो हमें बढ़िया पार्क मिलेगा टहलनेके लिए, अप्सराएँ मिलेंगी, एक नहीं, कई-कई! देवता सरीखा भोगकी शक्तिवाला हमारा शरीर होगा।

मरनेके बाद क्या होगा हमारा, उसकी चिन्ता किसको होती है? आप लोग उसमें अपनी गिनती न करो तो हम बता दें! आप लोग अपनेको बिलकुल अलग कर दो। तब हम बता दें, क्योंकि आप लोग वेदान्त सुनते हैं, धर्मात्मा हैं, सदाचारी हैं, ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करते हैं, आत्मा-अनात्माके भेदको जानते हैं।

मरनेका डर केवल देहात्मबुद्धिका जो पक्का दास है और पापी है—यह बात मैं धीरेसे बोलता हूँ—अगर कोई पापी हो तो सुने नहीं। पापीको ही यह डर होता है कि मरनेके बाद हम नरकमें जायेंगे। देहात्म=देहमें जिसका मोह है, उसको यह डर होता है कि हाय-हाय, यह सब हमारा बना-बनाया छूट जायेगा। बोलते हैं न, सोनेका-सा शरीर! दाँत टूट रहे हैं, बाल पक रहे हैं, झुर्रियाँ पड़ रही हैं और बोलते हैं कि हमारा यह सोनेका-सा शरीर नहीं रहेगा। यह अनात्मामें आत्मा होनेकी भ्रांति है। देहके साथ, इन्द्रियोंके साथ, मनके साथ, प्राणके साथ, कर्त्ताके साथ, भोक्ताके साथ 'मैं-पना' हमने जोड़ रखा है।

प्रकृति मरणोत्तर गति नहीं देती, ईश्वर भी मरणोत्तर गति नहीं देता, कर्म भी मरणोत्तर गति नहीं देते। हमने अपने आपको हड्डी-मांस-चामके साथ जोड़कर -

मैं करके अपनेको फँसा रखा है, यही संसरण है, यही संसारको देता है। इसीसे एक योनिसे दूसरी योनिमें जाना पड़ता है। एक जगहसे दूसरी जगह जाना पड़ता है, एक कुर्सीसे दूसरी कुर्सी सम्भालनी पड़ती है। यह सारी गड़बड़, यह सारा तबादला, यह तनज्जुली (=नीचे ढकेल दिया) है जिसमें आफिसका मालिक क्लर्क बन गया और क्लर्क था वह मालिक बन गया। यह क्यों हुआ? देहमें मैं करनेके कारण हुआ। यह ईश्वरकी सृष्टि नहीं है।

जन्म-मरण, शरीरोंका बदलना, आवागमन, आत्माके लिए यह न तो ईश्वरकी सृष्टि है, न प्रकृतिकी सृष्टि है; न कर्मकी सृष्टि है न चित्तकी सृष्टि है। यह केवल बुद्धिसे जाने-आनेवाली चीजको हमने 'मैं' समझ रखा है—ये सब-के-सब अविद्याके बच्चे-कच्चे हैं, केवल अविद्याकी परम्परामें हैं। इसलिए आत्मज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।

वर्तमानमें हमारा मोह कि-'यह न छूटे'; हमारा काम कि-'हमको भोगनेके लिए यह न मिले'; और लोभ कब होता है? जब अभिमानजन्य सुख चाहिए कि हमको 'यह भी मिले—यह भी मिले,' 'इतना मिला, और मिले।' एक आदमीको हमने खाते हुए रोते देखा है। आप लोग आश्चर्य नहीं करना। रोटी खा रहा था, बढ़िया भोजन उसके सामने रखा हुआ था और वह रो रहा था-'आज तो इतना बढ़िया भोजन खा रहा हूँ और कल मैं क्या खाऊँगा?' आप उसके लिए मत हँसो, अपने लिए हँसो। खाता जा रहा है और कलके लिए रो रहा है। माने वर्तमानके भोजनका उसको कुछ आनन्द नहीं है।

ईश्वरकी दी हुई जो वस्तु है, उसका आनन्द वह नहीं ले रहा है। यह सारा दुःख, यह सारा दारिद्र्य हमारी भूलमेंसे निकलता है। यह चित्तका विक्षेप नहीं है कि योगभ्याससे दूर हो जायेगा। यह भ्रांति है। भ्रांति दूर होगी समझदारीसे, श्रवणसे। समझदारी श्रवणसे आती है। वेदान्त एक प्रकारकी ऐसी समझदारी है जो तुम्हारे मरनेका भय, जन्मनेका भय, स्वर्ग-नर्कमें आने-जानेका भय, वैकुण्ठ-गोलोक जानेका लोभ, मोह, काम, क्रोध, अविद्या सबको मिटा दे। यह विद्या है।

यह आँख बन्द करके एकान्तमें बैठनेकी विद्या नहीं है। यह तो अनजानपनेके कारण जो दुःख आया है, उसको दूर करनेकी विद्या है। इसलिए, इसके लिए—

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो। यह इसकी विद्या है।

●

प्रवचन

१६

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ्कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी॥ ६॥

आपको यह बताया कि जड़का जन्म-पुनर्जन्म नहीं हो सकता। देह जड़ असलमें पैदा ही ऐसी जगहसे होता है, माने जड़का होना और जड़की उत्पत्ति हम ऐसी जगह रहकर मानते हैं, जहाँ अज्ञान-ही-अज्ञान है। चूँकि हम असली तत्त्वको नहीं जानते, इस जड़की उत्पत्ति और जड़का होना मानते हैं। अज्ञानदशामें ही ये दोनों चीजें मानी जाती हैं।

आजका विज्ञान भी यह कहता है कि जगत्के मूलमें जड़ है कि चेतन है, यह निर्णय करना कठिन है। क्यों? एक ही वस्तु देशके रूपमें फैलती हुई, कालके रूपमें निगलती हुई, वस्तुके रूपमें नानाकार होती हुई, चलती हुई, बदलती हुई, चमकती हुई एक ही चीज अनेक रूपमें मालूम पड़ती हैं। आजके नवीन विज्ञानने, आइन्सटीनने जो ऊर्जा-विद्युत-इलेक्ट्रानको मूल तत्त्व मानता है, उसीमें-से सब कुछ निकलता हुआ मालूम पड़ता है। वास्तवमें कुछ नहीं निकलता है। यह तो वेंदान्तियोंके लिए भी कोई माया ही है। सब कुछ दिख जाय और हो कुछ नहीं! इसलिए आइन्सटीनने हाथ जोड़ा कि—'इसके परे इसको प्रकाश देनेवाला ईश्वर हो सकता है। उसको ना मत बोलो, मैं उसको प्रणाम करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ।'

वर्तमान युगके बड़े-से-बड़े वैज्ञानिकने यह बात कही, किन्तु—'इसके परे परमेश्वर हो सकता है, हम उसको हाथ जोडते हैं'-यह बात विज्ञानकी है। यह जो जड़ मालूम पड़ता है, उसका पुनर्जन्म नहीं है और जो चेतन है, जो द्रष्टा है, एकरस है, अद्वितीय है, उसका भी पुनर्जन्म नहीं है। जब संसार है ही नहीं, तो उसकी निवृत्तिके लिए, नरक-स्वर्ग-पुनर्जन्मकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी क्या जरूरत है? जब ज्ञानकी जरूरत नहीं है, तो ज्ञान बतानेवाले वेदान्तकी भी क्या जरूरत है?

यह तुम बताओ कि-'द्रष्टा साक्षी ब्रह्म है'-वह शब्दके द्वारा बताया जा सकता है कि नहीं बताया जा सकता?

शब्दके द्वारा वह नहीं बताया जा सकता, शब्दके द्वारा तो उसमें जो झूठा आरोप है, उसका निषेध किया जाता है। अध्यारोपका अपवाद किया जाता है। वेदान्तका सिद्धान्त तो यह है कि परब्रह्म परमात्माका साक्षात् वर्णन कोई नहीं कर सकता, केवल अज्ञानके कारण जो अध्यारोप बन गये हैं, उनका अपवाद करनेके लिए नये-नये अध्यारोप करके उनका अपवाद कर दिया जाता है।

बर्तनमें मैल लगी हो तो उसको साबुन लगाकर धोते हैं, माटी लगाकर मलते हैं, कंकड-पत्थरसे मलते हैं। इससे पहलेके लगे हुए मैलको धोनेके लिए जब मैलमें मैल मिल जाती है तो मैल-से-मैल घुल जाती है; पानीसे दोनोंको धो देते हैं और बर्तन साफ। इसी प्रकार अविचारके कारण, अज्ञानके कारण अपने मनमें आत्माके सम्बन्धमें, परमात्माके सम्बन्धमें, सत्यके सम्बन्धमें, जगत्के सम्बन्धमें जो झूठी-झूठी मान्यताएँ बन गयी हैं; अज्ञानके कारण, भ्रांतिके कारण झूठे अध्यारोप जुड़ गये हैं। झूठी-झूठी स्वीकृतियाँ और मान्यताएँ जो बिलकुल हैं ही नहीं,उनको हमने स्वीकार कर लिया है। उनको मिटानेके लिए नयी-नयी मान्यताओंका आरोप करके उनको मिटाया जाता है।

जो सत्य है, वह तो ज्यों-का-त्यों है। उसका न आरोप होता है न अपवाद होता है। न उसको बनाते हैं, न बिगाड़ते हैं। वह तो एक झूठी बनायी हुई चीजको बिगाड़नेके लिए ऐसा अध्यारोप करना पड़ता है।

बोले-'इससे भी यही सिद्ध हुआ कि वेदान्त परमात्माका जब वर्णन नहीं करता है, तो कूटस्थ, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय आत्मतत्त्वका बोध कैसे करावेगा? वेदान्त ही निरर्थक हुआ।' ये सब पूर्वपक्षकी बातें हैं। ये सुननेमें मीठी लगती हैं, बच्चे लोग इनसे प्रभावित हो जाते हैं।

यह जो जड़ता मालूम पड़ती है, उसका एक सूक्ष्म अंश ऐसा है जो चेतनसे मिलता-जुलता है। वह इतना सूक्ष्म है, उसमें इतनी चमक है, इतना प्रकाश है कि उस जगहपर हम चेतन और जड़का विवेक नहीं कर पाते हैं। वहाँ चेतनता जड़तासे मिल गयी है। मानो, उस स्वच्छ जड़तामें जैसे चेतनकी छाया पड़ गयी हो और हम अपनेको चेतन न समझ करके वही छाया समझने लगे।

आप विचार करके देखो कि जब आप अपनेको दृश्यसे अलग करके द्रष्टाके रूपमें जानते हो, तो 'हम अपने आपको द्रष्टा जानते हैं', ऐसा ख्याल होता है कि नहीं? वहाँ तो थोड़ी-सी बुद्धि लगी हुई है। जो जाना गया सो तो द्रष्टा ही नहीं है।

'हम द्रष्टाका ध्यान करते हैं-' तो ध्यानका विषय होते ही द्रष्टामें जड़ता आगयी। जिसका ध्यान किया जाता है, उसमें तो थोड़ी दृश्यता लगी रहती है।

'हम द्रष्टामें स्थित होते हैं'-यह स्थिति भी दृश्य है कि नहीं है? स्थिति भी दृश्य है। द्रष्टा ध्येय है तो ध्येय दृश्य है कि नहीं है? यह जानना भी एक वृत्ति है। स्थिति भी एक व्यवहार है। ध्यान भी एक व्यवहार है। वृत्तिका व्यवहार है, मनका व्यवहार है, भीतरका व्यवहार है। यह भी दृश्य है और सच पूछो तो द्रष्टा और दृश्य है एक गणित। द्रष्टा और दृश्यका जो विवेक है, विश्लेषण है, पृथक्करण है। द्रष्टा और दृश्यको अलग-अलग जानना, यह वेदान्तशास्त्रका एक गणित है।

इसका नतीजा=फल=हल क्या है? संस्कृतमें 'फल' बोलते हैं। इस विवेकरूप गणितका फल क्या है? यह अलगाव=विश्लेषण=विवेक करनेसे आखिर इसका फल क्या निकलता है? इसका असली उत्तर क्या निकलता है?

असली उत्तर यह निकलता है इसका कि द्रष्टा और दृश्य दो नहीं हैं। यह बड़ी विचित्र बात है। आपने गणित किया दूसरी जगहसे शुरू। आपको पाँच रुपया किसीने दिया और बोले-'दो आदमियोंमें इसको बाँट दो।' आपने कहा कि दो आदमियोंमें पाँच रुपया है तो कैसे बँटेंगे? दो-दो रुपया आपने दो आदमियोंको दे दिया और एक रुपया अपने पास बचा लिया। क्या आपने गणितका ठीक-ठीक अनुसंधान किया? नहीं भाई, जब पाँचको दो हिस्सोंमें करोगे तो ढाई-ढाई बँट जायेगा, तुम्हारे पास क्या बचेगा? कुछ नहीं'

किसके पास कुछ नहीं बचा? जिसके पास कुछ नहीं बचा, वह तुम हो।

द्रष्टा-द्रष्टा एक है, द्रष्टा-स्रष्टा एक।
द्रष्टा-दृश्य विवेकका फल है दोनों एक॥

जैसे प्रेमी और प्रियतमका विवेक किया जाय कि यह प्रेमी है, यह प्रियतम है; तो प्रियतम ऐसा क्या पत्थर होगा जो जाने कि यह हमसे प्रेम करता है और वह उससे प्रेम न करे! तो प्रियतम प्रेमी हो जायेगा तो प्रेमी प्रियतम हो जायेगा कि नहीं? प्रेमी-प्रियतम एक है।

असलमें जिसको हम द्रष्टा-द्रष्टा सोचते हैं, क्या एक-एक शरीरमें अलग-अलग द्रष्टा है? यदि आपको ऐसा मालूम पड़ता है, देहके भेदसे द्रष्टामें भेद है, तो दृश्यमें जो भेद है, उसको आप अपने ऊपर ले रहे हैं, क्योंकि देह तो दृश्य है।

इन्द्रियोंमें जो भेद है, उसके भेदसे द्रष्टामें भेद है? इन्द्रियाँ तो दृश्य हैं उसके भेदको आप अपने ऊपर क्यों लेते हैं?

मन-मनमें भेद है? मन-मन तो उपाधि है, दृश्य है। दृश्यको आप अपनेमें क्यों ले रहे हैं?

शांति-बुद्धि वृत्ति-ज्ञान है। यह वृत्ति-ज्ञान तो दृश्य है! अलग-अलग है। उसको तुम अपने द्रष्टास्वरूपमें क्यों ले रहे हो? 'यह शान्ति है;' 'यह समाधि है'—आप देखो, 'मैं शांति और समाधिका द्रष्टा हूँ।' यह शांति और समाधि भी अलग-अलग अन्त:करणमें अलग-अलग है और वह भी दृश्य है। थोड़ी देर शांति रही, समाधि रही और थोड़ी देरके बाद चली गयी। आयी और गयी। यह तो मेहमान है, यह तुम कैसे हो? जैसे सोना आता है और जाता है, जैसे सपना आता है और जाता है, जैसे जाग्रत् आता है और जाता है, ऐसे समाधि भी आती है और जाती है। समाधि तो दृश्य-कोटिमें है, तुम द्रष्टा हो। फिर अपनेमें तुम भेद क्यों मानते हो कि द्रष्टा-द्रष्टा दो होते हैं? कहीं-न-कहीं परिच्छिन्नताकी पंख तुम्हारे साथ लगी हुई है। बस, उसीको तो ढूँढ़ निकालना है, जो भिन्नता है, जो परिच्छिन्नता है।

परिच्छिन्न माने टुकड़ा। जैसे हथौड़ेसे किसी चीजको मारेंगे, तो वह फूट जायेगी। तो हथौड़ेसे भेदन होगा। माने भिन्न हो जायेगी, चीज टुकड़े-टुकड़े-टुकड़े अलग हो जायेगी। तल्वारसे या कैंचीसे या चाकूसे किसी चीजको काट देंगे, तो उसका छेदन हो जायेगा। वह चीज परिच्छिन्न हो जायेगी। छेदन और भेदन, परिच्छिन्न और भिन्न, यह टुकड़े-टुकड़े होना, अनेक होना, यह दृश्यका लक्षण है, द्रष्टाका लक्षण नहीं है। यदि आप द्रष्टा-द्रष्टाका अलगाव देखते हो तो इस अलगावकी उपाधिसे द्रष्टा भी दृश्य हो गया। द्रष्टा दो नहीं होते हैं। द्रष्टा एक होता है और उसकी दृष्टिमें समग्र दृश्य होता है। तब द्रष्टा और स्रष्टा एक हो जाते हैं, जब द्रष्टा और स्रष्टा एक हो जाते हैं, तो अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता जो स्रष्टामें पहले थी, वह द्रष्टामें आ जाती है।

जो वेदान्तका विचार करते हैं, उनकी समझमें यह भाषा आवेगी। पहले हम जगत्के मूल कारणको—स्रष्टाको अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण समझते थे। वही बना और उसीने बनाया, वह खुद बन गया सृष्टिके रूपमें; दृश्यके रूपमें वही बना हुआ है। परन्तु जब द्रष्टा एक है यह ज्ञान हुआ, तब स्रष्टाके साथ हमारा अभेद हो गया। तब दृष्टि और सृष्टिका भी अभेद हो गया। जो दृष्टि है वही सृष्टि। जो सृष्टि है वही दृष्टि। द्रष्टा और स्रष्टाका अभेद होनेपर दृष्टि और सृष्टिमें भेद नहीं रह सकता। जब दृष्टि और सृष्टिका अभेद हो गया, तब देखना कि द्रष्टा बदलता हुआ दृष्टि बनता है कि एकरस रहता हुआ दृष्टि बनता है?

असलमें जो बदलता है, वह द्रष्टा ही नहीं है। बिना बदले ही बदलता हुआ-सा भासता है। इसलिए पहली बात यह है कि द्रष्टा-द्रष्टामें भेद नहीं है, क्योंकि द्रष्टा एक है। भेद दृश्यमें होता है, भेद देखा जाता है, भेद मालूम पड़ता है।

भेद दृश्यमें होता है, द्रष्टामें नहीं—यह विवेक करो। जो भिन्न है वह दृश्य है। जब द्रष्टामें भेद ही नहीं है, तो द्रष्टासे स्रष्टा भिन्न कैसे हो सकता है? जब द्रष्टा-स्रष्टा चेतन रूपमें एक हुए, तो दृष्टि-सृष्टि एक हो गयी। तब सृष्टि परिणाम नहीं रही, सृष्टि विवर्त हो गयी। विवर्त हो गयी-यही दृष्टि-सृष्टिका अभेद है कि सृष्टि बिना हुए ही अद्वितीय द्रष्टामें भास रही है। फिर द्रष्टासे विलक्षण न दृष्टि है न सृष्टि है; द्रष्टामें दृष्टि आरोपित है। दृष्टिकी अपेक्षासे द्रष्टाका द्रष्टापना भी आरोपित है।

एक अद्वितीय परम तत्त्व जिसको न द्रष्टा कह सकते हैं, न स्रष्टा कह सकते हैं, न दृश्य कह सकते हैं, न दृष्टि कह सकते हैं, न सृष्टि कह सकते हैं। ऐसा अवाङ्मनसगोचर जो आत्मतत्त्व है, वही अद्वितीय है, यह वेदान्तका सिद्धान्त निकलता है। द्रष्टा और दृश्यके विवेकका अभिप्राय परमात्माकी अद्वितीयताको समझानेमें हैं।

अन्तः बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः।

एक नारायणके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जब विवेक करना प्रारम्भ करते हैं, साधनके मार्गमें चलते हैं, तो एक स्थान ऐसा आता है जहाँ जड़ता इतनी सूक्ष्म होती है कि वहाँ चेतन और जड़का भेद नहीं मालूम पड़ता। उस जड़ताकी सूक्ष्म दशासे चेतनकी जो तादात्म्यता है—तादात्म्य=तदात्मनो भावः=दृश्यके साथ एक हो जाना; मृगमरीचिकाके साथ एक हो जाना; प्रतीतवस्तुके साथ एक हो जाना; यह चित् अपनी झूठी छायामें अविष्ट होकर छायाका घटना-बढ़ना-बदलना अपने ऊपर आरोपित कर लेती है तब बुद्धिमें अपना भान होता है। अर्थात् हम उस समय बुद्धिमान होके बैठते हैं। बुद्धिमान् होना भी हमारी एक व्यावहारिक स्थिति है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'आप महाराज, ज्ञानी हैं?' तो बोले—'ना भैया, हम ज्ञानी नहीं हैं।'

'तो आप कौन हैं?'

'हम तो ज्ञानस्वरूप हैं।' देखो, आरोप कर दिया।

हमारे अन्दर ज्ञानी और ज्ञानका भेद नहीं है जब हम बुद्धिमान् बनते हैं, तो जैसे चश्मेको आँखपर लगाकर हम चश्मावाले बनते हैं न! चश्माके द्वारा दिखता

तो बहुत दूर-दूर तक है। चश्माकी वजहसे, दूरबीनकी वजहसे बहुत दूर-दूर तक दिखता है। खुर्दबीनकी वजहसे महीन चीज दिखती है।

यह बुद्धि भी एक चश्मा है। बुद्धि मेहमान है। बुद्धि कभी रहती है, कभी नहीं रहती है और कभी तो बिलकुल उलटी हो जाती है। अपनी बुद्धि हित-अहितके विवेकमें कभी ऐसी उलटी हो जाती है कि वैद्य बताते हैं-'यह चीज तुमको नहीं खानी चाहिए'। हम देखते भी हैं कि उसके खानेपर हानि होती है। बड़ोंने तो शिक्षा दे रखी है कि यह चीज तुम्हारे लिए हानिकारक है। जानकारकी शिक्षा है; हमने अनुभव करके देख लिया कि जब हम यह चीज खाते हैं, तब हानि होती है। अन्वय-व्यतिरेकसे यह पता लग गया है। अन्वय-व्यतिरेक=जिस दिन वह चीज खायी, उस दिन हानि हुई। जिस दिन वह चीज नहीं खायी, उस दिन हानि नहीं हुई। तो उस चीजके खानेपर तकलीफ होती है; तकलीफमें उस चीजका अन्वय है। उस चीजके न खानेपर तकलीफ नहीं होती है—तकलीफसे न खानेका व्यतिरेक है। हमारी बुद्धि ठीक समझती है कि इस चीजका खाना हानिकारक है और इस चीजका न खाना हानिकारक नहीं है।

अमुक चीज खानेपर लाभ होता है। वैद्यने बताया कि अमुक चीज खाओगे तो लाभ होगा। वह खाया तो लाभ हुआ। देखा कि उस चीजके खानेमें लाभका अन्वय है और जब नहीं खाते हैं, तो लाभ नहीं होता, तो व्यतिरेक हो गया। हिताहितका विचार माने हित सम्बन्धी जो वस्तु है और अहित सम्बन्धी जो वस्तु है वह जानते हैं। अनुभवके साथ हम जानते हैं कि इसमें हितका अन्वय है और इसमें हितका व्यतिरेक है। यह खानेसे भला होता है और यह खानेसे भला नहीं होता है। फिर भी बुद्धि कभी-कभी ऐसा धोखा दे जाती है कि '**जानन्त एव स्वादार्थम्**'-यह जानते हुए भी कि इसमें अनर्थ है और बुद्धि प्रवृत्त कर देती है।

बुद्धि अगर अपनी होती तो ऐसा उल्टा काम करती? यह तो बिलकुल वेश्याका काम है कि अपनेसे प्रेम करनेवालेको ऐसी सलाह दे दे कि उसका नुकसान हो जाय, उसकी हानि हो जाय। यह जानते हुए भी कि इसमें अनर्थका अन्वय है और अर्थका व्यतिरेक है, कभी-कभी उस कर्ममें हमें प्रवृत्त कर देती है।

जब हम सो जाते हैं तब बुद्धि हमारा भला नहीं करती है। वह हमारे भलेका ख्याल छोडकर सो जाती है। यह कोई भली स्त्रीका काम है कि अपने पतिकी भलाईका ख्याल छोड़कर तान दुपट्टा सो जाय? सपनेमें ऐसा उल्टा दिखाती है! कभी शेर खड़ा कर देती है, कभी साँप खड़ा कर देती है, कभी मौत खड़ा कर देती है, कभी दुश्मन खड़ा कर देती है! होता कुछ नहीं, डरवाती है। यह भी अपनी बुद्धिका काम नहीं है।

इसी तरह जाग्रतमें यह बुद्धि कभी दोस्त-दुश्मन बनाकर बड़ी तकलीफ देती है। बुद्धि के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, यह भी विचारणीय है कि हम तो बने रहते हैं और बुद्धि कभी सो जाती है, कभी जागती है, कभी आती है, कभी जाती है और कभी उल्टी हो जाती है। अत: इस बुद्धिके बारेमें भी विचार विवेक करनेकी जरूरत है। इस बुद्धिके दो रूप हैं—

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ् कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी॥

हमारे बड़े-बड़े विद्वानोंने इसपर इतना विचार किया है, हमको कभी-कभी थोड़ा-बहुत आधुनिक मनोविज्ञान भी सुननेको मिलता है। कभी-कभी तो हँसी भी आती है। सीधी बात बताते हैं। ऐसी हँसी आती है इस बातपर कि जो लोग बताते हैं कि बुद्धिके मूलमें केवल काम-ही-काम है! कहो तो हम पहले यही बात बतावें कि हमारे शास्त्रोंमें भी इस बातपर बहुत चर्चा है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकने यह आविष्कार किया, नया नहीं किया । अपने पुराने शास्त्रोंसे ही उसने लिया। एक श्रुति है—

कामस्तदग्रे समवर्तत।

सृष्टिके प्रारंभमें काम ही था। यह ऋग्वेदका मंत्र है। दूसरा मंत्र आपको सुनाता हूँ--यह उपनिषद्का है।

सोऽकामयत।

उसने कामना की। ईश्वरने कामना की—

बहुस्यां प्रजायेय।

मैं बहुत हो जाऊँ, मैं पुत्रादिके रूपमें प्रकट हो जाऊँ। परमात्माने यह इच्छा की, माने इच्छासे ही सारी सृष्टि चली। विवाहके समय हमारे यहाँ एक मन्त्र पढ़ा जाता है। शास्त्रकी रीतिसे जब विवाह होता है, तब। शास्त्रकी रीतिसे विवाह बहुत मुश्किलसे होता है। क्योंकि पहले तो पण्डित लोग जानते नहीं। पण्डित लोग यदि जानते हैं तो दोनों ओरके पण्डित आपसमें ब्याह कर लेते हैं; वर-वधूको पता ही नहीं चलता है। उनका खुदका आपसमें ही ब्याह हो जाता है। एक मन्त्र आपको सुनाता हूँ—

कोऽदात् कस्मै अदात्? कामोदात्
कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते।

हमने पचासों-सैकड़ों व्याह कराये पण्डितकी हैसियतसे। मैं ब्रह्मण था, पण्डित था, तब मैंने व्याह करवाया था। पूछते हैं—'किसने दिया? किसको दिया?' उत्तर

देते हैं—'कामने दिया। कामको दिया।' काम ही दाता है और काम ही प्रतिगृहीता है। यहाँ तक कि 'महाभारत'में एक 'कामगीता' है। 'कामगीता'के नामसे शायद जल्दी न मिले। 'शांतिपर्व' के 'मोक्षधर्मपर्व' में 'मंकीगीता' नाम है। 'मंकी' शब्दसे तो आप लोग परिचित होंगे न? 'मंकी' माने 'वानर' होता है अंग्रेजीमें। जैसे 'भगवद्गीता' है, वैसे वह 'कामगीता' है। उसका एक श्लोक आपको सुना देता हूँ—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति॥

अरे ओ काम! मैं तेरी जड़ जानता हूँ। किसी चीजको अच्छी समझनेसे तू उसके बारेमें हो जाता है। हम किसी चीजको अच्छी समझते हैं, तब तू चाहके रूपमें पैदा हो जाता है। मैं किसी चीजको दुनियामें अच्छी समझूँगा ही नहीं। मैं सबको एकरस परमात्माके रूपमें देखूँगा। अच्छी-बुरीका भेद छोड़ दूँगा तो तू मेरे मनमें आवेगा कहाँसे? कामको ललकार दिया।

यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।
अकामस्य क्रिया काचित् वर्तते नेह कर्हिचित्॥

निष्काम पुरुषकी क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य जो-जो चेष्टा करता है, उसमें काम मिला है। मनुष्यकी एक-एक चेष्टाके मूलमें काम ही भरा हुआ है। इसलिए आपको यह बताया कि 'फ्रायड' का जो मनोविज्ञान है, वह हमारे शास्त्रकी एक शाखाका ही मनोविज्ञान है। उसके बाहर नहीं है।

अब दूसरी दिशामें देखो। यह तो मनका एक मामूली रूप है। इसके भीतर जैसे वेदान्तीलोग बोलते हैं, 'नाम और रूप।'

बौद्धोंका मनोविज्ञान अलग है, जैनोंका मनोविज्ञान अलग है, वैष्णवोंका मनोविज्ञान अलग है। उनके मनोविज्ञानकी रीतिसे विचार करनेपर उनका सम्प्रदाय बिलकुल ठीक-ठीक सिद्ध होता है कि उन्होंने जो साधना बनायी है, वह बिलकुल ठीक है। श्रीरामानुजसम्प्रदायके मनोविज्ञानका विचार दूसरे ढंगसे, शांकर सम्प्रदायमें दूसरे ढंगसे, योगदर्शनमें दूसरे ढंगसे, जैन और बौद्धोंका दूसरे ढंगसे।

जैसे हम लोग नाम और रूपका वर्णन करते हैं, बौद्ध लोग कहते हैं, 'एक तो है यह रूप।' रूप=शरीर। 'यह रूप-स्कंध है। आकारवाले शरीरको 'मैं' समझना, यह एक भूमि है। दूसरी भूमिका है नामस्कंध। उसके चार विभाग हैं—संज्ञास्कंध, वेदनास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध। मनके ये चार भेद हैं।' इसका मतलब हुआ कि शरीरके भीतर जो मन है, उसके चार भेद हैं। यह 'सौगत-सिद्धान्त' है।

ौद्धोंमें इसको 'अविधर्मशास्त्र' बोलते हैं। उसमें मनोवृत्तियोंको गिनकर बताया है कि तिहत्तर वर्गमें बाँट सकते हैं।

मैंने कभी पढ़ा था 'अविधर्मशास्त्र।' प्रायः मनकी सारी वृत्तियोंका वर्गीकरण तिहत्तर प्रकारसे हो जाता है। फिर तिहत्तर वर्गको चार वर्गमें ले लेते हैं, फिर चार वर्गको दो वर्गमें ले लेते हैं। यह काम करनेकी पद्धति है। ये सब बात तो जरा दूसरे ढंगकी है।

आप देखो, ' 'संज्ञास्कंध'—अलग-अलग नाम। हम जानते हैं कि इसका नाम 'औरत' है, इसका नाम 'मर्द' है, इसका नाम 'खंभा' है, इसका नाम 'मंगल' है, इसका नाम 'बुध' है, इसका नाम 'शुक्र' है। ये जो हम अलग-अलग नाम जानते हैं, नामोंकी जानकारीकी एक ढेर है हमारे हृदयमें। इसको 'संज्ञास्कंध' बोलते हैं।

एक है 'वेदना-स्कंध।' इसको छूनेसे हम जल जायेंगे, इसको छूनेसे हम ठंडे हो जायेंगे, इसको खानेसे हम मर जायेंगे, हाथमें दर्द हो रहा है, पाँवमें दर्द हो रहा है, सिरमें दर्द हो रहा है।

तीसरा ढेर है 'संस्कार-स्कंध।' तीस बरस पहलेकी देखी हुई चीज आज एकाएक याद आती है, तो यह कहाँ रखी हुई है? एक विद्यार्थी पूरे वर्षभर पढ़ता है और दस-बीस पुस्तकें याद करता है। उनमें कहाँ-कहाँ क्या चीज लिखी हुई है, वह उसको याद हो जाता है। जब परीक्षा देनेके लिए जाकर बैठता है बेंचपर, और मेजपर कॉपी आयी, प्रश्नप्रत्र आया। अब एक बरस तक पढ़ा हुआ जो ज्ञान है, उसकी कलमकी नोकपर आगया और बराबर प्रश्नोंका उत्तर देता जा रहा है। लिखता जा रहा है। इतने ज्ञानोंकी स्मृतियाँ कहाँ संचित हैं? पढ़-पढ़कर, देख-देखकर, अनुभव कर-करके उसने उनके संस्कार इकट्ठे कर लिये हैं। इस प्रकार संज्ञाके (नामके) संस्कार, वेदनाके संस्कार और अपने अध्ययन आदिके द्वारा स्मृतियोंके संस्कार।

एक होता है 'विज्ञान।' वह 'अहं-अहं-अहं-अहं' करता रहता है। इसके दो भेद होते हैं—एक 'आलय-विज्ञान' और एक 'प्रवृत्ति-विज्ञान।' 'आलय-विज्ञान' वह होता है जो एक ही मालूम पड़ता है, जिसमें एकताका भान होता है कि—'मैं जो कल था, जो आज हूँ; जो आज हूँ सो कल रहूँगा।' यह जो अपनेमें एकताका विज्ञान है,—'विज्ञान में क्षण-क्षण नष्ट होता रहता है—परन्तु एकताका सस्कार एकताका प्रत्यय छोड़ता जाता है। यह बौद्धोंका विज्ञान है।' मूलभूत जो 'विज्ञान' है, मूलभूत जो 'बुद्धि' है, वह तो अज्ञानात्मिका ही है। वह भी एक बुद्धि है और उसके बाद अहंका विज्ञान है। उसके बाद कामना-इच्छा-लोभ ये सब आते हैं। वेदनाएँ और संज्ञाएँ विराजमान रहती हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि मनके बारेमें हम लोगोंकी जो जानकारी है, वह बहुत करके उधार ली हुई है। अर्थात् हम खुद तो अपने मनके बारेमें कुछ सोचते नहीं। भिन्न-भिन्न देशमें, भिन्न-भिन्न जातिमें, भिन्न-भिन्न संप्रदायमें भिन्न-भिन्न संस्कारसे अभिभूत होकर लोगोंने जो नवीन-नवीन मनोविज्ञानकी रचना की है, उसको हम पढ़ते हैं, अनजानमें हम हो जाते हैं उनके चेले और समझते हैं कि हम बड़े भारी मनोवैज्ञानिक हैं और विचारवान् हैं। जबतक अपने दिलकी पोथी नहीं पढ़ोगे, अपने मनको जबतक नहीं जानोगे, तबतक मनोविज्ञानका पता क्या लगेगा?

बहुत मामूली चार बात बताता हूँ अपने वैदिक मनोविज्ञानकी। हमारा मन चार अवस्थाओंमें काम करता है—(१) निश्चयपूर्वक काम करता है वह जाग्रत् अवस्थामें इसी निश्चयकी प्रधानता रहती है। (२) स्वप्नावस्थामें बिना निश्चयके केवल संकल्पोंका बेतरतीव उत्थान होता है। यह संकल्पात्मक अवस्था होती है। (३) सुषुप्तिमें न बुद्धि होती है न संकल्प होता है, लेकिन एक अज्ञान मन वहाँ क्रियाशील रहता है। वहाँ भी क्रिया होती है। सुषुप्तिमें कैसे होती है? खून चलता है शरीरमें, नाड़ी चलती है न? आप सोते हुए आदमीकी नाड़ी देख लो। नाड़ी चलती हैं, साँस चलती है, पाचन होता है, खून चलता है, मल चलता है। पचता भी है और मल अपने स्थानको छोड़ करके चलता है। घाव कहीं हुआ, तो भर जाता है सुषुप्तिमें। बाल और नाखून बढ़नेका काम भी सोते समय होता है।

व्यवस्थापूर्वक मशीन चलती रहती है। सोते समय कोई गलती नहीं होती है मशीनकी क्रियामें। यह मनका एक व्यवस्थापक रूप है। निश्चयवाले मनको बुद्धि कहते हैं। संकल्पवाले मनको मन कहते हैं। व्यवस्थापक मनको अहंकार बोलते हैं। एक मन ऐसा होता है जो समाधिमें भी रहता है। सुषुप्तिमें और समाधिमें क्या फरक हुआ? समाधिमें साँस नहीं चलती है, समाधिमें बाल और नाखून नहीं बढ़ते हैं, समाधिमें पाचन नहीं होता है, समाधिमें रक्तकी गति भी बन्द हो जाती है और घाव भी नहीं भरता है—अच्छी समाधि लगने पर। माने व्यवस्थापक अहंकार सुषुप्तिमें जाग्रत् रहता है और समाधिमें व्यवस्थापक अहंकार शयन कर जाता है। वहाँ क्या रहता है? वहाँ चित्त रहता है। वहाँ चित्त तो रहता है, परन्तु चित्तकी वृत्ति नहीं रहती है। चित्तका व्यवहार नहीं रहता है।

समाधिमें चित्त रहता है, इसका क्या प्रमाण? समाधिसे उठनेके बाद फिर सारी यादें ताजी हो जाती हैं। समाधिके पहले जो माँ है, उसको पहचानते है समाधिके पहले जो मकान है उसको पहचानते हैं, जो भाई है, उसको पहचानते हैं, जो दस्तावेज लिखे हैं उनको पहचानते हैं, जो भाई है, इष्ट-मित्र हैं उनको पहचानते हैं। ये पहचान कहाँसे निकली? ये स्मृतियाँ कहाँसे निकली? समाधिकालमें भी

इनका एक ढेर उसको 'चित्-चित्-चित्' ऐसे बोलते हैं। चिति संज्ञाने चित् धातुका अर्थ है संज्ञा। संज्ञा माने अलग-अलग चीजोंकी जानकारी। इनकी जानकारियोंकी जो ढेर है, समाधिमें बैठी रहती है। समाधि टूटने पर फिर क्रियाशील हो जाती है।

देखो हमारे मनके बारेमें सोचनेका ढंग—संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान और आलयविज्ञान। निश्चय, संकल्प, व्यवस्था और राशि। माने राशिकृत संज्ञान। इनके द्वारा हमारा यह अन्त:करण बनता है।

बुद्धिमें 'अहं-अहं' और 'इदं-इदं' की स्फूर्ति होती है। एक ही चैतन्य बुद्धिमें बैठकर दो प्रकारसे फुरने लगता है—'अहं' इति और 'इदं' इति। चैतन्यकी प्रधानतासे 'अहं' की स्फूर्ति है। वह जड़ भी बुद्धि ही है। परन्तु जिस अंशमें चैतन्य प्रधान है, उसमें अहंकी स्फुरणा होती है और जिस अंशमें जड़की प्रधानता है उसमें जड़की स्फुरणा होती है। दोनोंकी स्फुरणा बुद्धिमें होती है, परन्तु वहाँ चेतन और जड़का विवेक नहीं रहता है। अज्ञानमूलक भ्रांति वहाँ विद्यमान रहती है। बुद्धिमें जो आभास है, आभास माने 'मैं' का होना; आभास माने और कुछ नहीं। यह नहीं समझना कि शीशेमें जैसे रोशनीका आभास पड़ता है, ऐसे चेतनका आभास पड़ता है। चेतन कोई छायादार चीज नहीं है। चेतनको आभासित होनेके लिए कोई शीशा भी नहीं है। यह तो एक ही वस्तुमें 'अहं' और 'इदं' की कल्पना है। उनका विवेक न कर सकने के कारण 'अहं' और 'इंद' में जो अद्वय तत्त्व है, उसका ज्ञान नहीं होता।

अद्वयतत्त्वका ज्ञान न होना और अहं-इदंका भेद हो जाना और फिर इदंतया प्रतीतमें अहंका आवेश हो जाना; इसी आवेशको बोलते हैं 'चिच्छाया।' इसी चिच्छायाके कारण जड़का जो धर्म है जन्म, उसको अपनेमें मानते हैं। जब जड़के धर्म इस जन्मको हम अपनेमें मानते हैं तब इसके मूलभूत जन्म और इसके कार्यभूत जन्म दोनोंकी कल्पना होकर जब हम इस शरीरको 'मैं' मानते हैं, तब इस शरीरका जो वर्तमान जन्म है, यह अपनेमें आरोपित हो जाता है।

जब इसका वर्तमान जन्म अपनेमें आरोपित हो जाता है, तब इसका पहले भी जन्म होगा और बादमें भी जन्म होगा, इस प्रकारकी भ्रांतिसे हम ग्रस्त हो जाते हैं। यदि इस देहमें मैं-पनेका उदय न हो तो यह देह स्थूल है, सूक्ष्म है, कारण है; बीजरूप है माने चेतनप्राय जहाँ जड़ है, वहाँ तक इस देहमें 'मैं' पना नहीं होगा। तो जन्म-पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग आदि सबकी कल्पना छूट जायगी। इसी कल्पनाको छुड़ानेके लिए वेदान्तविचारकी आवश्यकता पड़ती है।

●

प्रवचन १७

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ्कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी॥ ६॥

बहुत मामूली बात सुनाते हैं। छः बातपर विचार करें—(१) आपके मित्र कैसे हैं? वे आपको अच्छे रास्तेपर ले जाते हैं कि बुरे रास्तेपर ले जाते हैं? अच्छी सलाह देते हैं कि बुरी सलाह देते हैं? उनकी बात सुनकर आपके चित्तमें बेचैनी बढ़ती है कि सुख बढ़ता है?

(२) आपको रस कहाँ आता है? स्वाद कहाँ आता है? आपको संसारके भोग ज्यादा मिलें तब स्वाद-सुख बढ़ता है कि भोगोंकी निवृत्ति हो तब स्वाद-सुख मिलता है? माने, आपको भोग-वासनाकी पूर्तिमें सुख है, कि भोगवासनाकी निवृत्तिमें सुख है? आपकी बेचैनी दूर हो जायगी जब आप इसपर विचार करोगे। बेईमानीके पाँच रुपये आपके घरमें आते हैं तब आपको सुख मिलता है कि जब चोरी-बेईमानीसे बच निकलते हो तब वहाँ आपको स्वाद-सुख मिलता है?

(३) यह विचार करने योग्य है कि आप शिक्षा कहाँसे ग्रहण करते हैं? वासनावान्से शिक्षा ग्रहण करते हैं कि निर्वासनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं? एक गाँजा पीनेवाला साधु गाँवमें आता है तो गाँजापीनेवाले सौ व्यक्ति उसके पास इकट्ठे हो जाते हैं। हमारे गाँवमें ऐसा होता है, क्योंकि उस गँजेड़ी साधुके पास मुफ्तका गाँजा आता है; वहाँ आनेवालोंको मुफ्तमें गाँजा पीनेको मिलता है।

ऐसे कोई बहुत बड़ा सेठ होता है तो उसके पास बाजारभावके बारेमें जानकारी ज्यादा होती है। उसका अनुमान भी प्रायः सही निकलता है। कई सेठ तो ऐसे होते हैं जो बाजारभाव अपनी मुट्ठीमें रखते हैं। ज्यादा खरीद लें, ज्यादा बेंच दें तो बाजारभाव बढ़ जाय, बाजारभाव गिर जाय। आपको उनका संग अच्छा लगता है?

उनसे शिक्षा लेते हैं, कि आपको जो ईश्वरकी भक्ति बतावें, अन्तःकरणकी शुद्धि बतावें, सदाचार बतावें, आपको आत्माके स्वरूपका ज्ञान दें— आप शिक्षा कहाँसे ग्रहण करते हैं ? आपकी सोसायटी कैसी है ? और आपको मजा कहाँसे आता है और आपको शिक्षा कहाँसे मिलती है ?

(४) आप करते क्या हैं ? आप जो काम करते हैं, वह अच्छे करते हैं कि बुरे करते हैं ? आप बोलते क्या हैं ? दूसरेकी निन्दा करते हैं ? दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिए बोलते हैं कि दुःख पहुँचानेके लिए बोलते हैं ? आप करते हैं तो अपने स्वार्थके लिए करते हैं कि उसमें दूसरोंकी भलाई हो, ऐसा करते हैं ?

(५)आप दिनभरमें किसीको कुछ देते हैं ? किसीको सुख पहुँचाते हैं ? किसीकी भलाई करते हैं ? आप दिनभरमें कोई ऐसी बात बोलते हैं कि उसे सुनकर सुननेवालेका दिल खिल जाय ?

(६) आखिरी बात यह है कि आपके जीवनका उद्देश्य क्या है ? आप योजनापूर्वक कहीं जा रहे हैं कि ऐसे ही जंगलमें भटक रहे हैं—कभी यह, कभी वह।

यदि आपके मित्र बुरे हैं और आपका स्वाद बुरी जगहमें हैं; शिक्षा आप वासनावान्से, गंदी जगहसे लेते हैं और दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाला काम करते हैं ? दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाली बात बोलते हैं ? आपके जीवनका लक्ष्य पक्का नहीं है, ईश्वर नहीं है, आत्मसाक्षात्कार नहीं है, तो आपके जीवनमें अशान्ति बनी रहेगी। इन छहों बातोंको दूर करके तब आप वेदान्तका श्रवण कीजिये।

ये छहों बातें आपका यदि उलटी हुईं, तो आप बैठकर सुनेंगे वेदान्त और आपका मन दूसरी जगह पहुँच जायगा। जब मन दूसरी जगह पहुँच जायगा, तब बात समझमें आवेगी नहीं। वेदान्तविचार की रीति यह है कि हम जहाँ बैठे हैं, वहाँ से विचार प्रारम्भ करें। यहाँ तक कि यदि आप घरमें बैठे हैं, स्त्री-पुत्रादिमें बैठे हैं और धन-दौलतमें बैठे हैं, तो वहाँसे विचार प्रारम्भ करें कि—'मेरा क्या है ?' और, 'मैं क्या हूँ ?'

अगर तुम बैठोगे 'मैं' और 'मेरा' के घेरेमें, और सोचना प्रारम्भ कर दोगे सातवें आसमानमें, तो वह तुम्हारे जीवनमें जल्दी नहीं उतरेगा। जहाँ मनुष्य बैठा है, वहींसे विचार प्रारंभ करना चाहिए। अगर आपको नरीमाइन पोइन्ट, जाना हो या 'चौपाटी जाना हो, तो यात्रा तो यहीं से—'प्रेमकुटीर' से ही प्रारंभ करनी पड़ेगी न! क्योंकि आप यहाँ बैठे हैं। यदि आप क्रम-क्रमसे पीछे नहीं हटेंगे या क्रम-क्रमसे

आगे नहीं बढ़ेंगे; जैसे सीढ़ीपर पाँव रखे बिना कोई छतपर पहुँचनेकी कोशिश करे तो पहुँच भी सकता है और गिरनेका डर भी है। किवाड़ी खोले बिना भीतर घुसनेकी कोशिश करे तो धक्का खानेका डर भी है।

एकके घरमें हम ठहरे हुए थे। वहाँ शीशेकी बड़ी-बड़ी किवाड़ें लगी हुई थीं। कभी उनका ख्याल रहे, और कभी न रहे तो जाकर टकरा जायँ। अब पहले समझ लिया कि यहाँ शीशा है, यहाँ गड्ढा है, यहाँ दरवाजा है, यहाँ भीत है। रातको किसीके घरमें जाकर सोते हैं तो पहले पता लगा लेते हैं कि बाथरूम कहाँ है, शौचालय कहाँ है, पानी कहाँ है, रोशनीका स्वीच कहाँ है? तब रातको कोई कठिनाई नहीं होती है; और यदि हम बिना पता लगाये ही कमरेमें जाकर सो जाते हैं, तो रातको उठें, स्वीच नहीं मिला तो रोशनी कहाँसे होवे? किसीको फिर जगाना पड़ा कि—'भाई, बाथरूम कहाँ है? खुदको भी तकलीफ हुई और दूसरेको भी तकलीफ हुई।'

इसलिए जिस रास्तेसे आपको चलना है, आप जहाँ बैठे हैं, वहाँसे रास्ता ज्ञात होना चाहिए। वेदान्त जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्थाका विवेक करवाता है, वह इसीलिए कि आप जहाँ बैठे हैं, वहींसे विवेक प्रारंभ करें। अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश—ऐसे शुरू करनेका अर्थ ही यह है कि एकदम नीचेसे विचार शुरू करें और ऊपर तक पहुँच जायँ।

कई लोग कहते हैं कि—'क्या हम इतने छोटे अधिकारी हैं कि नीचेसे विचार प्रारम्भ करें? जो सबसे ऊँचा है, वहींसे विचार प्रारम्भ करेंगे।' होता यह है कि वह ऊँची बात समझमें आती नहीं है, क्योंकि उन्होंने क्रमसे बातको समझा नहीं है।

समुद्रमंथनके समयकी कथा पुराणोंमें आती है कि जब देवतालोगोंने जाकर वासुकिनागका सिर पकड़ा मंथनके लिए, तब दैत्योंने कहा कि—'हम उन लोगोंसे बड़े हैं। हम पूँछ कैसे पकड़ेंगे? हम तो सिर पकड़ेंगे।'

अपने अधिकारका अभिमान भी देवतापन का लक्षण नहीं है। अब तो देवतालोगोंने विष्णुभगवान्से पूछा कि—'महाराज! क्या करें?' तो बोले कि—'तुम लोगोंको अमृत निकालना है कि नहीं निकालना है?' 'निकालना है।' 'तब थोड़ा अपना सिर झुकाओ, पूँछ पकड़ो। इन लोगोंको पकड़ने दो सिर।'

दैत्योंने अभिमानवश सिर पकड़ा और देवताओंने पूँछ पकड़ी, इसका फल क्या हुआ, इसका भी वर्णन है। साँपके मुखमें-से जो विषैली साँस निकलती, वह दैत्योंके शरीरपर लगती थी; वे मूर्च्छित हो जाते थे और मर-मरकर गिरते थे।

वासुकिनागकी वहीं साँस जाकर आसमानमें पहाड़से टकराती थी, उसके बादल बन जाते थे और उसका पानी होके पूँछकी तरफ लगे देवताओंपर बरसता था। तब देवताओंको विश्राम मिलता था और शान्ति मिलती थी। अत: अपने अधिकारकी उच्चताका भी अभिमान नहीं करना चाहिए कि—'जो सबसे बड़ी चीज है, वही हमको मिलनी चाहिए। हम क्या सेरभरका बोझ उठावें? नहीं-नहीं, हमतो दो मनका वजन उठावेंगे।' तब तुम दब जाओगे। तुम्हारे उठाने लायक जितनी चीज है, उतना ही उठाओगे तब आगे बढ़ोगे।

जैसे ये बादल दीखते हैं, जैसे यह नीलिमा दीखती है, आकाशमें नीला-नीलापन; आप पहले ही यह मानकर मत सोचिये कि नीलिमा और आकाश ये दोनों एक हैं। पहले आप दोनोंको दो मान करके विचार कीजिये कि—'एक नीलिमा है और एक आकाश है।' यहाँसे विचार शुरू कीजिये और फिर देखिये कि नीलिमा पास मालूम पड़ती है, पर जब पास जाते हैं तो नहीं मिलती है। इतनी दूर यहाँसे है और वहाँ जायँ तो वहाँसे भी उतनी दूर लगेगी। आकाशमें कहीं भी ढूँढ डालो, नीलिमा दीखती तो है, पर मिलती नहीं है।

परन्तु इतने ही ज्ञानसे नीलिमाका मिथ्यापना निश्चित नहीं होता। आकाशमें वह नीलिमा मालूम पड़ रही है, वह निराकार है और वह व्यापक है। जब निराकार आकाशका ज्ञान होगा, और जब मालूम पड़ेगा कि निराकारमें रंग तो हो ही नहीं सकता, तो निराकार आकाशमें यह जो नीला रंग दीख रहा है, वह बाधित हो जायगा, प्रतिभासमात्र हो जायगा।

यदि तुम पहले ही नीलिमा और आकाशको एक मान बैठोगे, तो न तो आकाशका ज्ञान होगा और न तो नीलिमाकी निवृत्ति होगी। जैसा कि हम बचपनमें समझते थे कि अगर नीलिमामें हम घुसेंगे तो हमारे कपड़े रंग जायेंगे। बड़े होनेपर तो वह बुद्धि कट गई। हम समझते थे कि कड़ाहेकी तरह कोई चीज उलटकर धरतीपर रखी हुई है, वैसे धरतीपर कड़ाहा उलटकर रखा हुआ है। बड़ा भारी यह परमेश्वरका कड़ाहा है। यह सब समझ अधिष्ठानज्ञानसे बाधित होती है।

आपका यह जो जीवन है, इसमें तीन बात विचार करनेपर मालूम पड़ती है—(१) देह मालूम पड़ती है, (२) देहके भीतर आभास मालूम पड़ता है और (३) ज्ञानमें निर्लेपता मालूम पड़ती है—ये तीनों बात जीवनमें बिलकुल स्पष्ट मालूम पड़ती है।

जैन लोग इसका निरूपण इस प्रकार करते हैं कि शरीरमें द्रव्यमन रहता है, इसके ऊपर भावमन रहता है। द्रव्यमन देहका साथी है और भावमन आत्माका

साथी है। भावमन कभी आत्मासे एक होकर रहता है और कभी आत्मासे अलग होकर रहता है। आत्माके मनका नाम भावमन है और देहके मनका नाम द्रव्यमन है।

दिगंबर लोग कहते हैं कि जिनके शरीरमें द्रव्यमन होता है, उन्हींके शरीरमें भावमन होता है। श्वेताम्बर लोग कहते हैं कि जिनके द्रव्यमन नहीं होता, माने जिनके शरीर नहीं होता, उनके भी भावमन होता है। दिगम्बर-श्वेताम्बर जैनोंमें ऐसा मतभेद है।

बौद्धोंमें मनका वर्गीकरण कल सुनाया था—प्रवृत्तिविज्ञान, आलयविज्ञान और मूलविज्ञान। रूपस्कन्ध—यह शरीर है और संज्ञास्कंध—जिसमें नाम अलग-अलग होता है। वेदनास्कंध जिसमें सुख और पीड़ाका अनुभव होता है। जिसमें पुरानी स्मृतियोंका संचय होता है वह संस्कारस्कंध और क्षणिक-विज्ञानस्कंध। इन चारोंको ही वे मन बोलते हैं।

उनके मनमें आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है। विज्ञान मिटता जाता है, ज्ञान क्षणध्वंसी है और अपना संस्कार अगले विज्ञानके लिए छोड़ता जाता है। अगला विज्ञान भी अगले विज्ञानके लिए अपना संस्कार छोड़ता जाता है। संस्कारकी परम्परासे स्मृति होती है—प्रत्यभिज्ञा होती है और कोई अखण्ड ज्ञानस्वरूप नहीं है।

कोई कहते हैं कि मन अणु है और कोई कहते हैं कि मन देहमें व्यापक है। प्रारब्धके वेगसे अणु मन भी सारे देहमें दौड़ता रहता है और सब जगहसे ज्ञान प्राप्त करता है। समूचे शरीरमें मन रहता है।

योगियोंका मन ऐसा है कि मन असलमें सारी सृष्टिमें व्यापक रहता है, इसलिए अगर हम मनको शुद्ध करलें तो दूसरे देशकी बात, दूसरे कालकी बात, दूसरे शरीरकी बात शुद्ध ज्ञान अर्थात् शुद्ध मनके द्वारा जान सकते हैं।

वेदान्तियोंका कहना है कि जितना बड़ा स्थूल शरीर होता है, उतना ही बड़ा मन होता है। एक-एक रोममें मन होता है। एक-एक कणमें मन होता है। खूनके एक-एक कतरेमें मन होता है। समग्र शरीरमें मन व्याप्त होता है। जब यह बुद्धिरूपसे जागता है, तब जाग्रत् अवस्था होती है। जब कल्पनारूपसे जागता है तब स्वप्नावस्था होती है। जब यह केवल व्यवस्थापक रूपमें रहता है तब सुषुप्ति-अवस्था होती है। जब निर्व्यवहार, निर्वृत्तिक रहता है तब समाधि-अवस्था होती है। आत्मा जो साक्षी है, वह इनसे परे है। ऐसे अलग-अलग व्यवस्था करके वैष्णव-सिद्धान्तोंमें मनको अलग रूपमें नित्य मानते हैं और भगवदाकार होनेके योग्य मानते हैं।

जैनदर्शनमें मनको भिन्नाभिन्न अर्थात् त्यागभागकी रीतिसे—'आत्मासे भावमन शायद भिन्न है, शायद आत्मासे भिन्न नहीं है, शायद भिन्नाभिन्न दोनों है, शायद भिन्न

होकर व्यक्तव्य है'—ऐसा करके अनेकानेकरूपमें मनका प्रतिपादन करते हैं। उनका जो 'सप्तभंगी न्याय' है, उनकी दृष्टिसे आत्मा और मनके स्वरूपको समझाते हैं।

वेदान्तकी रीति इसके सम्बन्धमें बिलकुल निराली है।

छायाहङ्कारयोरैक्यं तप्ताय: पिण्डवन्मतम्।
तदहङ्कारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामगात् ॥ ७ ॥

बौद्धोंका मन, जैनोंका मन, नैयायिकोंका मन, मीमांसकोंका मन, शाक्तोंका मन, वैष्णवोंका मन—इनका सबका अलग-अलग विचार संस्कृत-साहित्यमें है। वेदान्तकी दृष्टि बड़ी प्रौढ़ और बड़ी ऊँची दृष्टि है। पाँचभौतिक जगत्का जैसे एक स्थूल स्तर होता है, वैसे उसका एक सूक्ष्म स्तर भी होता है। वह सूक्ष्म स्तर इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ चेतन और जड़का भेद करना शक्य नहीं होता। वहाँ चेतनके समान अनुपातमें जड़ता सूक्ष्म हो गयी है। देहकी जड़ता-पञ्चभूतकी जड़ता सूक्ष्म होते-होते अंतमें अत्यन्त सत्त्वमयी, सत्त्वगुणी, सात्त्विक तन्मात्रारूप हो जाती है।

आकाशकी सात्त्विक तन्मात्रा, वायुकी सात्त्विक तन्मात्रा, तेजकी सात्त्विक तन्मात्रा, जलकी सात्त्विक तन्मात्रा, पृथिवीकी सात्त्विक तन्मात्रा वहाँ बुद्धिप्राय: ज्ञानप्राय: हो गयी है। ऐसी हो गयी है कि जैसे वह ज्ञानसे बिलकुल मिल जाती है।

ज्ञानसे बिलकुल मिल जानेके कारण वहाँ आत्मा और मनका जो भेद है, वह बिलकुल स्पष्ट नहीं होता। मनकी स्वच्छतामें जो चेतनताका आभास है, उसको 'चिच्छाया' बोलते हैं। उस चिच्छायाके द्वाराही यह बुद्धि संसारके विषयको ग्रहण करती है। उस बुद्धिके दो रूप होते हैं—एक वृत्तिरूप, एक वृत्तिमान्‌रूप। वृत्तिरूपको अन्त:करण कहते हैं और वृत्तिमान्‌को अहंकार कहते हैं। वेदान्तमें मनस्तत्त्वका विचार इस ढंगसे है कि एक अहंवृत्ति होती है और एक इदंवृत्ति होती है। एक वृत्तिसे मुक्त अहं होता है। न वह वृत्ति है न वृत्तिमान् है। वृत्तिमान् न होनेपर भी वह अपनेको वृत्तिमान् मानता है।

वृत्तिमान् माने? अन्त:करणमें जिस समय जिस वृत्तिका उदय हो, उसीमें अहं'का तादात्म्य। अन्त:करणमें जब भयकी वृत्ति होती है; भयकी वृत्ति माने फिसली हुई वृत्ति। फिसली हुई वृत्ति क्या है? आप भूतको छोड़कर और वर्तमानको छोड़कर जरा भविष्यमें चले गये, तब भय लगता है। डर कब लगता है? जैसे आदमी चलता हो और उसका पाँव फिसल जाय, तो गिर पड़ता है। इसी प्रकार आदमीका मन जब जीवनमें जरा आगे फिसल जाता है तब वह डरता है। मृत्युसे डर क्या है? यह मनकी फिसलाहट है।

जैसे कोई खा रहा हो—भोजन तो कर रहा हो और डर रहा हो कि ईश्वर जाने, कल मिलेगा कि नहीं? हाय-हाय! कल नहीं मिलेगा तो क्या होगा? इस समय तो मिल रहा है; आज मिल रहा है, वैसे कल भी मिलेगा। कल नहीं मिलेगा, इसके लिए डर क्यों रहे हो? यह मनकी फिसलाहट है। जैसे रास्ते चलते-चलते पाँव फिसल जाता है, बिछल जाता है। इसीका नाम भय होता है। जब रास्तेमें चलते-चलते भयकी ओर मन जाता है, तो बिलकुल चित्त गिरते हैं। वह गिरानेवाली चीज है। वर्तमानके पाँवको न सम्हालना। जैसे आपके सामने नीची-ऊँची जमीन हो और उसको देखने लगे तो वहाँ पहुँचनेके पहले ही गिर जायेंगे। पाँवके नीचे देखते हुए चलना चाहिए न!

दूसरी बात क्या होती है? रास्तेमें चलते-चलते पाँव पीछेकी ओर फिसल जाय। पीछेको फिसल जाय, तब बिलकुल पट्ट गिरेंगे। यह क्यों गिरेंगे? औंधे होकर गिरेंगे। पाँवका पीछे फिसलना क्या है कि पहले जो मर गया, जो बिछुड़ गया, जो खो गया, उसके बारेमें ज्यादा सोचना। यह शोककी वृत्ति है। यह भी पाँवका फिसलना है। और आगेका जो सोचना है, वह भी पाँवका फिसलना है।

इसलिए ज्यादा नहीं सामान्य रूपसे आगे देखकरके पाँव रखना चाहिए। सामान्यरूपसे पीछेके अनुभव से फायदा उठाना चाहिए। पीछेके बीते हुए अनुभव जो हैं, वे तो फायदा उठानेके लिए हैं कि जिस-जिस कामसे हमको दु:ख हुआ है, सो-सो काम हम न करें। आगे हमें पाँव रखना है, उसके बारेमें सोच लिया! बहुत अधिक सोचनेसे पीछेके लिए,—पीछेकी जो अच्छी घटनाएँ हैं, उनको भी याद करनेसे दु:ख होता है और पीछेकी जो बुरी घटनाएँ हैं, उनको याद करनेसे भी दु:ख होता है।

आगे आनेवाली जो अच्छी चीजें और बुरी चीजें हैं—अच्छी चीजोंके बारेमें शंका हो जाती है कि पता नहीं, हो कि न हो! भय और शोककी ये वृत्तियाँ अन्त:करणमें इदं-वृत्तिके अन्तर्गत हैं।

दूसरी वृत्ति देखो—हम लोग गाँवके रहनेवाले हैं न, तो कभी-कभी कीचड़में-धरतीमें, आपको आश्चर्य होगा कि हमारा गाँव जहाँ हमारा जन्म हुआ है, उसके नौ मीलके नजदीक तो कोई रेलवेलाइन नहीं थी। बड़े-बूढ़ोंको अगर स्टेशन जाना होता, तो बैलगाड़ीपर जाया करते थे। न मोटर, न इक्का, रिक्शा तो उन दिनों था ही नहीं। इक्केवाले भी बहुत दूर थे। पानी पार करना पड़ता था, सड़क बनी हुई नहीं थी। कहीं मिट्टीमें पाँव पड़ता तो धँस जाता। उसको 'दलदल' बोलते हैं। उसमें पाँव पड़ता तो मालूम पड़ता कि सूखा है और पाँव पड़ता तो घुटनोंतक चला जाता, जाँघतक चला जाता। कभी दूसरेको आकर बचाना पड़ता, कभी पशु उसमें फँस

जाते तो रस्सी फेंककर उनको पकड़ना पड़ता था। उससे बचनेका उपाय बहुत बढ़िया था, हमको बड़ें-बूढ़ोंने बताया था कि—'कभी दलदलमें पाँव फँस जाय तो उसमेंसे पाँव खींचनेकी कोशिश नहीं करना। लोट जाना उसपर तो पूरा शरीर नहीं धँसेगा। पाँव लम्बा-लम्बा है तो धँस जाता है। लेट जाओगे-लोट जाओगे उसपर तो अपने-आप ही पाँव निकल आयेगा बाहर और उसमें-से तुम सरककर चले आओ।'

हमारा यह मन भी दलदलमें फँसता है। दलदलमें फँसना क्या है? जब यह वर्तमानको छोड़नेके लिए तैयार नहीं होता, तब यह मन दलदलमें फँस गया। माने मोह हो जाता है।

हमारे पास ऐसा मकान होना चाहिए ऐसी स्त्री होनी चाहिए, ऐसा पुरुष होना चाहिए, ऐसा पैसा होना चाहिए, ऐसी मोटर होनी चाहिए, ऐसी भोगकी सामग्री होनी चाहिए; इसमें-से कुछ रत्तीभर कम न होने पावे। यह क्या हुआ? यह मोह हो गया। मोह होना माने वर्तमानके दलदलमें तुम ऐसे फँस गये कि उसको छोड़ नहीं सकते। यह बड़ा दु:ख देगा तुमको; मृत्युपर्यंत ले जायगा। ये सब अन्त:करणकी वृत्तियाँ हैं। इदं-वृत्तिके अन्तर्गत इसको बोलते हैं—शोककी वृत्ति, मोहकी वृत्ति, भयकी वृत्ति।

दूसरोंका मन हमारे मनके मुताबिक हो; तब क्या होगा? दूसरे पर गुस्सा आने लगेगा कि—'यह हमारे मनके मुताबिक क्यों नहीं चलता है?'

बाहरकी वस्तुओंके लिए लोभ होता है और व्यक्तियोंके लिए काम होता है। माने स्त्रीके लिए, पुरुषके लिए काम होता है और सोनाके लिए, चाँदीके लिए, नोटके लिए लोभ होता है। ये सब अन्त:करणकी वृत्तियाँ हैं। एक तो है देह; दूसरा है अन्त:करणकी वृत्तियाँ और तीसरा है वृत्तिमान् अहं माने वृत्तिवाला अहंकार।

वृत्ति, वृत्तिवाला और देह, तीन विभाग अन्त:करणका पहले करलो। तीनों जगह अहंपना-मैं-पना भासता है। कैसा भासता है? देह जो पैदा हुआ है, वह कर्मजन्य है। यह बात भी जल्दी लोगोंकी समझमें नहीं आती है।

एक हमारे ज़ानकार व्यक्ति यहाँ हैं। उनकी अकल बहुत अच्छी है। वे कहते हैं—'सब एक ही हैं।' बड़ी अच्छी बात हुई कि सब एक ही हैं। यह खराब बात तो है नहीं। परन्तु इसकी उनके पास कोई संगति नहीं है कि आखिर वह एक अनेक कैसे भासता है? या वह एक अनेक कैसे हो जाता है? या कैसे बनाता है?

बनाना दूसरी चीज है। जैसे एक कुम्हार अनेक घड़ोंको बनाता है। एक अनेकको बनाता है या एक अनेक हो जाता है? जैसे एक सोना अनेक जेवर हो

गया, तो एकने अनेकको बनाया कैसे? यह प्रश्न है। एक अनेक बना कैसे? यह प्रश्न है।

एक ही है, लेकिन अनेक भासता है; तो अनेक भासता कैसे है? एकसे अनेक बनाया गया? या एक स्वयं अनेक बन गया? या एक अनेक बना नहीं, अनेकके रूपमें भास रहा है? इन तीनों बातोंको वेदान्तमें क्या बोलते हैं? एकको अनेक बनानेको वेदान्तकी भाषामें 'आरम्भवाद' बोलते हैं। एकका अनेक होना, इसको वेदान्तकी भाषामें बोलते हैं—'परिणामवाद' और एकका अनेक हुए बिना अनेक भासना, इसको वेदान्तकी रीतिसे बोलते हैं—'**विवर्तवाद**'।

अब देखो, आपने कभी सब्जीमें नमककी जगह फिटकिरी डाल दी, तो क्या हुआ? फिटकरी में नमकका भ्रम हुआ। क्यों हुआ? दोनोंमें श्वेतिमारूप सादृश्य है। अरे, अध्यासकी सामग्री है और फिटकिरीके स्वरूपका अज्ञान है। आपने फिटकिरीको पहचाना नहीं और सादृश्यके कारण फिटकिरीमें नमकका भ्रम हो गया। फिटकिरीमें नमकका अध्यास हो गया। जिस फिटकरीमें नमकका अध्यास हुआ है, वह फिटकिरी अधिष्ठान है और उसमें नमक अध्यस्त है। आप फिटकिरीको ठीक-ठीक समझ जायेंगे तो न तो आप उसको नमक समझेंगे और न तो चूना आदि कोई दूसरा पदार्थ समझेंगे। इसी बातको अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्तका बाध माना जाता है। चीज मिटती नहीं है, ज्यों-की-त्यों रहती है। आपको प्रसंगवश यह बात सुनाई।

एक है देह। इदं वृत्ति माने 'यह-यह' और एक होता है—'अहं-अहं' माने, यह और मैं। बिना 'मैं' के 'यह' नहीं होता, यह आपको मालूम होगा। जैसे, बिना शीशा हुए आपकी परछाईं नहीं दिखेगी न! पहले शीशा होगा, फिर परछाईं दिखेगी। इसी प्रकार पहले आपका 'मैं' होगा, बादमें 'यह' मालूम पड़ेगा। एक जगह ऐसी है, जहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों एक हो गये हैं। 'मैं' तो बिलकुल जाहिर है, लेकिन 'मैं' है क्या? आपने कभी जाहिर 'मैं' के बारेमें सोच-विचार किया कि नहीं किया? कभी कुछ उधेड़बुन की कि नहीं की?

आपके पास ईश्वरकृपासे प्रमाण मिले हुए हैं। आप प्रमाता हैं। मैं आपको यह बात सुना रहा था कि एक प्रमाता होता है, फिर साक्षी होता है, फिर साक्षीकी ब्रह्मता होती है। उसमें भी साक्षी नित्यप्राप्त है, परन्तु उसकी ब्रह्मता अज्ञात है। उस अज्ञात ब्रह्मताके ज्ञापनके लिए वेदान्तकी जरूरत होती है। यह जगत् नित्यप्राप्त है, परन्तु उसके अत्यंताभावसे उपलक्षित उसका जो विवर्ती उपादान है, वह अज्ञात है। इस जगत्को देखकरके जगत्के मूलतत्त्वको पहचानना—मूल कारणको नहीं, मूलकारण

दूसरी चीज है; वह तो जगत्‌की आदिमें कभी तुम्हारी बुद्धि पहुँच सके, तब उसको पहचान सकोगे। परन्तु जगत्‌की आदिमें कभी तुम्हारी बुद्धि पहुँच सकेगी ही नहीं, क्योंकि अतीत अनादि होता है, भूत अनादि होता है। भूत कबसे शुरू हुआ, यह आप बता ही नहीं सकते। 'उसके पहले'-'उसके पहले'-'उसके पहले'-'उसके पहले'-भूतकी आदि आप नहीं बता सकते।

इसलिए जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्व क्या था, वहाँ आपकी बुद्धि नहीं पहुँच सकती। जगत्‌के अन्तमें क्या रहेगा? जगत्‌का अन्त कब होगा? 'उसके बाद'-'उसके बाद'-'उसके बाद'-'उसके बाद'-अन्ततो कभी होता ही नहीं है। जिसको तुम कहोगे कि-'वह सबसे आखिरमें है,' फिर सवाल उठेगा कि-'उसके बाद क्या?' विश्राम नहीं मिलेगा-यदि आप जगत्‌की आदि ढूँढेंगे, तब भी आपकी बुद्धिको विश्राम नहीं मिलेगा। यदि आप जगत्‌का अन्त ढूँढेंगे, तब भी आपकी बुद्धिको विश्राम नहीं मिलेगा।

इस समय यह जगत् क्या है? यदि आप इसको जान लें; जगत्‌का मूलतत्त्व क्या है? जगत्‌के तात्त्विक मूलको पहचानना दूसरी चीज है, और जगत्‌के आदि-अन्तरूपको पहचानना दूसरी चीज है। जेवर किस क्षणमें बना, इसका पता लगाना मुश्किल है। यह कब टूट जायगा, इसका पता लगाना भी मुश्किल है। लेकिन 'जेवर' है क्या? इसका पता लगाना आसान है।

यह वेदान्त जगत्‌की शुरूआत किससे हुई, यह नहीं बताता; जगत्‌का अन्त कब होगा, यह नहीं बताता; वह कहता है कि—'देखो, यह जगत् क्या है?' यदि हम जगत्‌को पहचान जायेंगे तो जगत्‌की शुरूआत हुई कि नहीं, यह भी पहचान जायेंगे और जगत्‌का अन्त होगा कि नहीं, यह भी पहचान जायेंगे। 'जगत्‌का पूर्वरूप क्या है'—यह भी मालूम हो जायगा और 'उत्तररूप क्या है'—यह भी मालूम हो जायगा। जेवरका आदि रूप सोना है और जेवरका अन्तिम रूप सोना है। इसलिए यदि जेवरको पहचान लोगे तो सोनेको पहचान लोगे। वेदान्तका विचार यह है कि अहं और इदंके रूपमें जो कुछ मालूम पड़ रहा है, उसका तात्त्विक रूप क्या है?

यदि इदंके तात्त्विक रूपको नहीं समझोगे, तब भी अज्ञान शेष रहेगा और यदि अहंके तात्त्विक रूपको नहीं समझोगे तब भी अज्ञान शेष रहेगा। यदि अज्ञान तुमको दुःख नहीं देता है, अज्ञान होनेकी वेदना तुम्हारे मनमें नहीं है कि—'हाय-हाय, मैं अंधेरेमें भटक रहा हूँ, मैं अज्ञानी हूँ और यदि विश्राम पा करके ही तुम अपनेको कृत्य-कृत्य समझ रहे हो, तो यह कहना पड़ेगा कि अभी तुम्हारे अन्दर जिज्ञासाका उदय नहीं हुआ। विश्राम तो सुषुप्ति अवस्थामें मिलता है। वह प्राकृत समाधि है।

प्रकृति सुषुप्ति देकर विश्राम देती है और अभ्यास करके जो समाधि लगायी जाती है, वह कृत्रिम विश्राम है। बनावटी विश्रामका नाम समाधि है और स्वाभाविक विश्रामका नाम सुषुप्ति है।'

यदि तुम विश्रामसे ही सन्तुष्ट हो, तो यह हुआ कि चलो, अन्धेरे घरमें ही खा लें, दिया जलानेकी कोशिश कौन करे? आप प्रकाशके दुश्मन हो, आप ज्ञानके दुश्मन हो, क्योंकि आप जिज्ञासासे परहेज करते हो।

अहंके रूपमें और इदंके रूपमें 'यह चीज क्या है'—यह मालूम करना पड़ता है। जहाँ इदंसे मिला हुआ अहं होता है, उस अहंमें जो चेतन बुद्धि है, माने उस अहंको आत्मा समझते हैं। जिस अहंके साथ इदं मिला हुआ है, उसको बोलते हैं—'चिच्छाया'। अहं जो जड़में है परिच्छिन्नमें है और वह इदं जो अहंसे भासता है, इसका विवेक करना पड़ेगा। वह विवेक वेदान्तकी रीतिसे होता है।

वेदान्तमें पहली बात यह है कि हम अपनेको तो जानते हैं कि—'हम हैं'। अपने स्वत्वको तो हम जानते हैं और 'हम जानते हैं'— इसको भी हम जानते हैं। परन्तु 'हम परिपूर्ण, परमानन्द स्वरूप अद्वितीय, अविनाशी ब्रह्म हैं'—इसको नहीं जानते हैं। अज्ञानने हमारी ब्रह्मतापर पर्दा डाल दिया है।

हम यह तो जानते हैं कि यह मिट्टी है, यह पानी है, यह आग है। आप इस रुमालको देख रहे हो? आप रुमालको नहीं देख रहे हो, आप सिर्फ रुमालकी सफेदी आँखसे देख रहे हो। सफेद रंग देख रहे हो। क्या सफेद रंगका नाम रुमाल है? इसमें गंध है, यह बात आपको आँखसे दिखती है? इसको मुँहमें डालनेपर कोई स्वाद आवेगा, यह बात आपको मालूम पड़ती है, आँखसे देखकर? इसके भीतर सूत कौन-सा है, यह बात आपको दूरसे देखकर मालूम पड़ जाता है? इसमें जो आवाज होती है हिलनेपर, वह आवाज क्या आपको आँखसे मालूम पड़ती है? असलमें आप तृणके रूपको देखते हैं, तृणकी गन्धको भी सूँघ सकते हैं, परन्तु जिस चीजमें गन्ध रहती है, उस चीजको आप नहीं देख पाते हैं, उसका नाम धरती है। धरती आँखसे नहीं दिखती है। आपको जीभसे स्वाद मालूम पड़ता है, पर जिसका स्वाद है, वह आपको जीभसे नहीं मालूम पड़ता। आँखसे रूप दिखता है, परन्तु जिसका गुण रूप है, वह तेज आपको आँखसे नहीं दिखता है।

आप आधार वस्तुको देखते ही कहाँ हैं? आप तो ऐन्द्रियक वस्तुओंको इन्द्रियोंसे जितना मालूम पड़ता है, उतना ही देखते हैं। आप कानसे शब्द सुनते हैं, आकाशको कहाँ देखते हैं? कहनेको अभिप्राय यह है कि दुनिया जो हम देख रहे हैं, कामचलाऊ ढंगसे तो देख रहे हैं, परन्तु उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है, उसको हम नहीं देख रहे हैं। जैसे कोई दुकान पर सोना खरीदने जाय और जेवरकी

डिजाइनको देख ले, उसकी चमकको देख ले कि 'भाई, चमक तो बिलकुल सोने सरीखी है, उसकी बनावट कितनी अच्छी है!' लेकिन कसौटीपर सोनेकी जाँच नहीं करें, तो उसने क्या पहचाना कि धातु क्या है?

इसी प्रकार यह दुनिया जिस चीजमें दिख रही है उसको न पहचाननेके कारण ही आप दुःखी हैं। आप बहुत छोटी-छोटी चीजोंको पहचानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं और अपने अहंको आप जानते हैं, परन्तु इतने छोटे रूपमें आप उसको पहचानते हैं कि जैसे कोई वह पानीकी बुँद हो, जैसे वह कोई आगकी चिन्गारी हो; और वह आपके कलेजेमें रखी हुई हो। आप जो, अपने 'मैं' को जानते हैं, वह बिलकुल गलत जानते हैं। वह कठौतीमें रखी हुई कोई पानीकी बूँद नहीं है, वह आगकी चिन्गारी नहीं है, वह हवाका झोंका नहीं है, वह कोई करेलेका स्वाद याअंगूरका स्वाद नहीं है। वह कोई राग-रागिनी नहीं है, वह कोई शब्द नहीं है, वह कोई आवाज नहीं है।

वह एक धातु है और उस धातुके रूपमें आप उसको पहचानेंगे, तो आप देखेंगे कि दुनियाकी सारी धातुएँ आत्मधातुसे ही प्रतीत हो रही हैं। आत्मधातुमें ही देशकी लंबाई-चौड़ाई फट जाती है, कालकी लम्बाई आत्माधातुमें फट जाती है। वस्तुका अस्तित्व आत्मधातुमें फट जाता है।

अहंमें साक्षीपनेका भ्रम है; यह परिच्छिन्न अहंकार है। देहसे कटा हुआ अहंकार साक्षीके अंतःकारणवाला अहंकार है। साक्षीको न जानकर हम अपनी साक्षिताको अहंकारमें डाल देते हैं। और अहंकारकी परिच्छिन्नताको अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं।

अब देखो, तीन स्थिति इसकी है। कर्मजनित देहमें 'मैं' होना, अहंकारको साक्षी रूपसे—भ्रान्तिके कारण परिच्छिन्न अहंकारको आत्मासाक्षी समझ लेना और चिच्छाया माने चेतनकी छाया—आभास जो बुद्धिसे मिल गया है उसको 'मैं' समझना। चिच्छाया और आभासकी जो एकता है, वह सहज है। साक्षी और अहंकारकी जो एकता है, वह भ्रान्तिजन्य है। देह और साक्षीकी जो एकता है, वह कर्मजन्य है। जब अज्ञान मिट जाता है, तब भ्रान्ति तो तत्काल अभात हो जाती है। साक्षी और अहंकी जो एकताकी भ्रांति है, वह भ्रांति अविद्याके निवृत्त होनेपर तत्काल निवृत्त हो जाती है आभास और अहंकी जो एकता है, वह एकता बाधित हो जाती है, प्रतिभासिक हो जाती है। देह और अहंकी जो एकता है, वह कर्मजन्य देह जबतक रहता है, तबतक चलती रहती है। कर्मज भ्रांति शरीर पर्यन्त रहती है और सहज भ्रान्ति प्रातिभासिक हो जाती है। अविद्याजन्य भ्रान्ति तत्त्वज्ञान होनेपर तत्काल निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानीका व्यवहार भी होता रहता है। उसको वैकुण्ठ जानेकी जरूरत नहीं रहती है। देश-विशेषमें जाना वैकुण्ठमें जाना है।

एक काल-विशेष के लिए समाधिस्थ हो जाना, यह समाधिमें जाना है। शरीरसे तादात्म्य हो करके धर्म करना, कर्म करना, यह कर्मकी एक अवस्था है। देहमें बैठकर धर्म होता है, देशांतरमें जा करके बैकुण्ठकी प्राप्ति होती है और एक काल-विशेषके लिए अन्तर्मुख हो जानेसे समाधिकी प्राप्ति होती है।

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसको देहमें धर्म होता है, लेकिन वह धर्मका अभिमानी नहीं होता है। उसके अंत:करणमें वृत्तियोंका उदय होता रहता है, समाधि लगती रहती है, परन्तु वह समाधिका और वृत्तियोंका अभिमानी नहीं होता। वह चाहे तो अपनेको मर्त्यलोकमें देख ले, चाहे तो अपनेको वैकुण्ठमें देख ले! इतना स्वातन्त्र्य उसको होता है कि वह इन्द्रके रूपमें अपनेको स्वर्गमें देख सकता है, बादशाहके रूपमें मर्त्यलोकमें देख सकता है और उसके अनन्त अखण्ड अविनाशी ज्ञानसे सब-का-सब बाधित होता है।

ज्ञानसे बाधित होनेका अभिप्राय केवल यह होता है कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। धर्म और धर्माचरण करनेवाला देह भी वही है। जिन पंचभूतोंसे देह पैदा हुए, वह पंचभूत भी वही है। जिस उपासनासे वैकुण्ठ आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है, वह उपासना और वैकुण्ठादि भी वही है। जिन योगोंसे, योगाभ्यासोंसे समाधिकी प्राप्ति होती है, वह योगाभ्यास और समाधि भी वही है। सर्व देश वह है, सर्व काल वह है, सर्व वस्तु वह है सबसे निराला वह है और उसमें दूसरी कोई वस्तु नहीं होती है।

इस अपने 'मैं'को वेदान्त-वचनके द्वारा अपरिच्छिन्न ब्रह्म जानो। वेदान्त-वचनकी इसमें बहुत जरूरत है; विचार जो होता है वह तो अन्वय और व्यतिरेकको दृष्टिसे लौकिक होता है। जो लौकिक विचार होते हैं, वे केवल लौकिक वस्तुका ही ज्ञान करा सकते हैं, अलौकिक वस्तुका ज्ञान नहीं करा सकते। त्यागके द्वारा, निषेधके द्वारा अपने आपमें बैठना होता है, परन्तु अपनेमें जो परिच्छिन्नताका भ्रम है और सद्वितीयताका भ्रम है, वह भ्रम अपनी ब्रह्मताके ज्ञानसे निवृत्त होता है।

ब्रह्मताका ज्ञान अश्रुत वेदान्तको नहीं होता, श्रुत वेदान्तको ही अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा मनन करनेपर और निदिध्यासन द्वारा विपर्यय निवृत्त करनेपर संपुष्ट करता है। विपर्यय न हो तो निदिध्यासनकी जरूरत नहीं है और संशय न हो तो मननकी भी जरूरत नहीं; श्रवण-मात्रसे ही-श्रवण माने वेदान्तके तात्पर्यका ज्ञान-केवल वेदान्तके तात्पर्यके समझने-मात्रसे ही अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति निवृत्त होती है। इसके लिए वेदान्त-विचारकी आवश्यकता होती है।

प्रमाणगत और प्रमेयगत संशयको निवृत्त करनेके लिए उच्छृंखल विचारकी नहीं, वेदान्तानुगामी विचारकी आवश्यकता पड़ती है—अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए, अपने स्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिए। ●

प्रवचन

१८

मनुष्य सुखसे तो स्वाभाविक प्रेम करता है। भीतरसे चाहता भी है हमेशाके लिए. लेकिन जब वह अनित्य वस्तुओंसे सुख चाहने लगता है, तो उसका सुख भी अनित्य हो जाता है। चाहे कि सुख नित्य रहे, हम यह तो चाहें कि सुख नित्य रहे और अनित्य वस्तुओंसे सुख पानेकी कोशिश करें तो वह हमेशा नहीं रहेगा।

हम सुख चाहते हैं, यह तो बहुत जल्दी समझमें आ जाता है; बल्कि समझमें आया ही हुआ है कि हम सुख चाहते हैं। परन्तु हमें नित्य सुख चाहिए, यह विवेक बहुत देरसे आता है। इसके लिए नित्य और अनित्यका विवेक होना जरूरी है।

विवेक=पृथक्करण, अलगाव। नित्यको अलग समझो, अनित्यको अलग समझो। चाहते हो नित्य सुख और उसको अनित्य सम्बन्धसे चाहते हो। पहली बात यह समझो कि जिसके साथ हम मिलते हैं, वह तो आज मिलें और कल बिछुड़ जायेंगे। हम बिछुड़ेंगे या वह बिछुड़ेगा। दुनियामें जितने सम्बन्ध रिश्ते-नाते हैं, वे सब अनित्य ही होते हैं, क्योंकि वे एक दिन पैदा होते हैं और एक दिन मिट जाते हैं।

आत्मा है नित्य और संसारकी वस्तुएँ हैं अनित्य। अपनी देह भी अनित्य है। तो नित्यका जो अनित्यके साथ सम्बन्ध है, वह नित्य नहीं हो सकता, अनित्य ही हो सकता है, क्योंकि हम तो बने रहेंगे और हमारे जीवनमें जो आनेवाले हैं वे बदलते रहेंगे। यह देह भी बदलता रहेगा। यदि हम नित्य आत्माके लिए अनित्य वस्तुके सम्बन्धसे सुख चाहेंगे, तो अनित्य वस्तु ही नहीं रहेगी, फिर उसके साथ सम्बन्ध कहाँ रहेगा? सम्बन्ध नहीं रहेगा तो दुःख तो होगा ही; क्योंकि तुमने अपना सुख उसमें रख दिया।

एक सज्जन थे, बेचारे गरीब थे। उनके पास छह सौ रुपये कहींसे आये। छह सौ रुपये उसके लिए बहुत बड़ी चीज थी। स्त्रियाँ बाजार करने जाती हैं तो छह

हजारका कपड़ा खरीदकर ले आती है। उन्होंने कहा कि रखा रहेगा घरमें तो कभी काम आवेगा। लोहेके मामूली डिब्बेमें रुपया रखकर उन्होंने डिब्बेको धरतीमें गाड़ दिया। धरती तो गीली थी। दो-चार महीने धरतीमें रहे फिर उन्होंने धरतीमें-से डिब्बेको निकाला, तो उसमें-से तो पानी-ही-पानी निकला। नोट तो निकला ही नहीं, वह तो गल गया था। छह सौ रुपया पानी हो गया। यह सच्ची बात है, यह कल्पना करके नहीं बताता हूँ। तो ये नोट हमेशा कैसे रह सकते हैं?

ऐसे, भोजन बनाते हैं दिनमें तो कहते हैं, थोड़ा रखते हैं कि रातको खायेंगे। वह बासी हो जाता है और दूसरे दिन तक तो वह खाने योग्य नहीं रहता है। इसी अन्नसे यह शरीर बना है। वह अन्न ही सुबहका बना शामको बिगड़ जाता है और शामका बना सुबहको बिगड़ जाता है। उसी अन्नसे बना हुआ यह शरीर हमेशा बना रहेगा, यह ख्याल करना बिलकुल गलत है। जब हम लोग यहाँसे जाते हैं, तो लोग कोई सब्जी बनाकर हमारे साथ रख देते हैं। दूसरे दिन जब 'कोटा' (स्टेशन) में-भोजन करनेके लिए निकालते हैं, तो उसमें लस्सी-लस आ जाती है और सूत निकलने लग जाते हैं; माने वह खाने लायक नहीं रहता है। आलू बिगड़ जाते हैं। लौका बिगड़ जाता है, परवल बिगड़ जाता है। उसीको खाकर तो हमारा यह शरीर बनता है, हमारे रिश्तेदार, नातेदार बनते हैं। उनको यदि हमेशा बनाये रखाना चाहोगे, तो कैसे बनेंगे?

अनित्य वस्तुका सम्बन्ध नित्य वस्तुके साथ नित्य नहीं हो सकता। अनित्यके साथ भी अनित्य होता है और नित्यके साथ भी अनित्य होता है। सच पूछो तो नित्य और अनित्यका सम्बन्ध अनित्य ही होता है। सम्बन्ध तो अनित्य ही होता है। सम्बन्ध तो पैदा हुआ है। जिनको वेदान्तके मार्गमें चलना होता है, वे पहले नित्यानित्य वस्तुका विवेक करते हैं—'सृष्टिमें कौन-सी वस्तु नित्य है?'

अगर तुम्हारी नित्यमें रुचि नहीं होती है, अनित्यमें रुचि होती है, तो समझो कि जहाँ तुम्हें मजा आवेगा वहाँ फँस जाओगे। जिसमें मजा आवेगा वही खाने-पीने लगोगे और यदि नित्यकी खोज जारी रखोगे तो अनित्यमें नहीं फँसोगे।

अतः मनुष्यके जीवनमें पहले नित्य और अनित्यका विवेक आना चाहिए। वेदान्तके ज्ञानके लिए यह जरूरी है कि वह नित्यसे प्रेम करे, अनित्यसे प्रेम न करे।

संतो, आवे-जाव सो माया।

हे साधु! हे सन्त! जो चीज आती है और जाती है, वह जादूका खेल है; वह सच्ची नहीं है। बचपनमें हमको भर्तृहरिका श्लोक याद था। हम जोर-जोरसे बोलते थे—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥ वैराग्यशतक १६

तुम्हारे पास ये जो चीजें इकट्ठी हो रही हैं, भोजन-कपड़ा-मकान-पैसा-प्रसाधनकी सामग्री है, वह एक दिन जरूर चली जायेगी। दस दिन ज्यादा रहे, दस दिन कम रहे, परन्तु ये छूटेंगी जरूर; छूटेंगी जरूर तो मनुष्य उनको छोड़ क्यों नहीं देता?

यदि ये तुमको छोड़कर जायेंगे, तो तुमको बड़ा दुःख होगा। यदि तुम स्वयं जानबूझकर इनको छोड़ दोगे, तो बड़ी भारी शान्ति मिलेगी तुमको। अपने हाथसे पाँच हजार रुपया निकालकर दे दें, तो खुशी होती है कि आज हमने एक अच्छा काम किया। अनजानमें पाँच रुपया-पैसा जेबसे गिर जाता है तो पछतावा होता है कि 'गिर गया'। जब छूटना ही है इनको तो छूटनेका मजा जैसे आवे, ऐसा अपना मन बनाना चाहिए। छूटने पर दुःखी हो जाय, ऐसा अपना मन बनाना नहीं चाहिए। जब विवेक करके रखोगे, अपने जीवनमें, तो अनित्य वस्तुके वियोगसे, अनित्य वस्तुकी मृत्युसे, अनित्य सम्बन्धके त्यागसे तुमको दुःख नहीं होगा। दुःख मिटानेकी दवा विवेक सरीखी दूसरी कोई नहीं है।

नासमझी दुःख है, समझदारी सुख है; क्योंकि जो दुःख है, वह नासमझी है। जो आनन्द है सो समझदारी है; जो चित् है सो आनन्द है; जो आनन्द है सो चित् है। जो अचित् है सो दुःख है, जो दुःख है सो अचित् है। नासमझी और दुःख एक है; समझदारी और सुख एक है। समझदारीमें सुख-ही-सुख होता है और नासमझीमें दुःख-ही-दुःख होता है। हमारे पुराने महात्माओंने कहा है—

प्रज्ञापराध एव एषः दुःखमिति यत्।

मनुष्य जीवनमें यह अनुभव करता है कि-'मैं बहुत दुःखी हूँ'-'मैं बहुत दुःखी हूँ'। इसमें किसका कसूर है? यह विचार किया है? बोले कि-'मेरे पड़ौसीका कसूर है; तो वह क्या तुम्हारे प्रारब्धका मालिक है? पड़ौसीका कसूर कैसे हो सकता है?'

बोले-'अच्छा, प्रकृतिका कसूर है'। प्रकृतिको क्या तुमसे कोई दुश्मनी है? 'अच्छा, तो ईश्वरका कसूर है'। ईश्वर तो तुम्हारा प्राणप्यारा आत्मा है; उसका कसूर कैसे हो सकता है?

दु:ख जहाँ पैदा होता है, वहाँ दु:ख बननेका मसाला रहता है। दु:ख दिलमें होता है; दु:ख आँखमें नहीं होता, दु:ख हाथमें नहीं होता, दु:ख पाँवमें नहीं होता। हमारे दिलमें पहलेसे दु:खी बननेका ऐसा मसाला भरा रहता है, जो समय-समय पर भभक उठता है। जैसे हींग डिब्बेमें बन्द रखी है; डिब्बा खुला और उसकी गंध फैल गयी। वैसे, तुम्हारे दिलके डिब्बेमें दु:ख बन्द पड़ा है। जरा डिब्बा खुला कि तुरन्त नस-नसमें, रग-रगमें फैल गया। दु:खकी दुर्गंध पहलेसे तुम्हारे दिलमें भरी हुई है। दु:खका खारा पानी-आँसू कहाँसे निकलते हैं? तुम्हारा दुश्मन तुम्हारे दिलमें खारा पानी डाल जाता है तब आँसू निकलते हैं? नहीं, तुम्हारे शरीरमें यह खारा पानी भरा हुआ है, तब समय पर निकलता है।

दिलमें आग कहाँसे लगती है? कोई चिन्गारी बाहरसे डाल जाता है? अरे नहीं, भीतर आग है; कभी-कभी जल उठती है।

यह साँस तेज कैसे चलती है? कोई बाहरसे तुम्हारी मशीन चलाकर उसको तेज करता है? नहीं, तुम्हारी मशीन ही तेज हो जाती है। और यह जो अनाप-शनाप बोलने लगते हो, तो कोई क्या बैठकर सिखाता है कि ऐसा बोलो? या बाहरसे भीतर कुछ जाता है? सब भीतरसे ही मसाला निकलता है?

जैसा खाते हैं, वैसी कै करते हैं। खाये हुएकी कै (=वमन) होती है। जो कुछ हमारे शरीरमें-से निकलता है, वह हमारे दिलमें भरा हुआ है। हमारे जीवनमें जो दु:ख आता है, वह हमारे दिलमें भरा हुआ होता है। भला दु:ख कोई भरकर रखेगा? नहीं दु:ख नासमझीमें-से निकलता है।

तुम या तो आत्माको नहीं समझते हो या तो तुम ईश्वरको नहीं समझते हो; या दोनोंकी एकताको नहीं समझते हो। प्रकृतिको नहीं समझते हो, मायाको नहीं समझते हो, धर्मको नहीं समझते हो, प्रारब्धको नहीं समझते हो, अपने दिल-दिमागको नहीं समझते हो।

वेदान्तविद्याका कहना है कि-'आओ, हम तुम्हारा सब दु:ख मिटा देते हैं।' तुम्हारे जीवनमें दु:ख नामकी चीज नहीं रहेगी। तुमने समेट-समेटकर, इकट्ठा करके अपना दु:ख बढ़ाया है। जैसे पागल लोग रास्तेमें चलते हैं तो सड़क परकी गन्दगी इकट्ठी करके अपने झोलेमें और अपनी जेबमें डालते जाते हैं, सिरपर लगाते जाते हैं। दुनियाभरकी गन्दगी वे इकट्ठी करते हैं। यह जो नासमझी है, दु:ख है, जितना कूड़ा है, वह बाहरसे इकट्ठा किया हुआ है। संस्कारके रूपमें यह दिलमें भरा हुआ है नासमझीके कारण। इस नासमझीको छोड़ना माने नित्य और अनित्यका

विवेक करके दु:खसे मुक्त होना और सुखके मार्गमें चलना। हमारे जीवनको सुखी करनेका यह तरीका है, जिसको 'वेदान्त' कहते हैं, क्योंकि यह नासमझीको मिटा देता है।

इस समझदारीके आनेका फल क्या होता है? हमारे अन्दर रागद्वेषकी कमी हो जाती है। यह सत्संगीका लक्षण है। सत्संगीकी यही पहचान है। यदि दुनियामें तुम्हारी दोस्ती और दुश्मनी बढ़ती हो, तो समझना कि सत्संगका असर तुम्हारे ऊपर कम पड़ता है।

समझो, कि एक आदमी ऐसा है कि सत्संगमें आता ही इसलिए है कि लोगोंसे हमारी दोस्ती बढ़े, जान-पहचान बढ़े, तो हमें कुछ माँगनेका-कुछ फायदा उठानेका मौका मिलेगा। जो सत्संगमें आकर, दोस्ती जोड़कर पैसेका फायदा उठाना चाहता है, उसके मनमें सत्संगकी रति, सत्संगकी रुचि नहीं है। एक ब्राह्मण है, एक वैद्य है; वृन्दावनमें तो हमें बहुत लोग मिलते रहते हैं। एक डॉक्टर है, उसकी डॉक्टरी नहीं चलती है, तो वह यह सोचकर सत्संगमें आया कि सत्संगमें लोगोंसे जान-पहचान होगी तो हमारी डॉक्टरी चल निकलेगी। ठीक है, सत्संग तो कल्पवृक्ष है। वह पाठशालाको चन्दा भी दिलवायेगा, वह वैद्यको रोगी भी मिलायेगा, वह पैसा चाहनेवालोंको पैसा भी देगा। सत्संगमें कोई दोष नहीं है, सत्संग तो करना ही चाहिए। लेकिन तत्काल ईश्वरके मार्गमें उसकी उन्नति नहीं होगी। पहले उसको दुनियाकी चीज मिलेगी और बादमें अगर उसकी श्रद्धा हो जाये, कि देखो, सत्संगने तो हमें दुनियाकी चीज दे दी, तो जो दुनियासे परे है, वह चीज भी दे सकता है।

वैराग्य विवेकका फल है, रागद्वेषके चक्करमें न पड़ना। एक सज्जन थे, पहले साधु लोगोंका बहुत विरोध करते थे-'वह तो राधाकृष्ण हो गये, वह तो गौरीशंकर हो गये, वह तो अपनेको पुजवाने लग गये।' सत्संगमें जाकर इस बातकी सावधानी रखना कि कहीं राग न होने पावे, कहीं द्वेष न होने पावे। राग तुम्हारे दिलमें एक ऐसा रंग चढ़ा देगा कि सत्य समझमें नहीं आवेगा और द्वेष तुम्हारे दिलमें एक ऐसा रंग चढ़ा देगा कि आग जलती रहेगी; जो सुनोगे वह समझमें नहीं आवेगा। रागद्वेषको पहले बाहर रख देना और बादमें वेदान्त-श्रवण करना तो विवेक और वैराग्य होगा।

वैराग्यकी छह पहचान हैं—

(१) मनमें काम-क्रोध-लोभका वेग कम हो जाना।

(२) इन्द्रियोंमें विषयभोगके लिए तेजी न रहना।

(३) कोई दुःख आवे तो उसको सह लेना।

(४) फालतू के कामधन्धे बढ़ाकर उसमें अपने मनको विक्षिप्त कर देना—यह वैराग्यकी पहचान नहीं है। जितना जरूरी हो, उतनी ही काम करना और जो फालतू विस्तार है, उससे बचना।

(५) अपनेमें कोई अभिमान न आने पावे। अपनी विद्याका, बुद्धिका, धनका, सुन्दरताका, जवानीका, कुलका, जातिका अभिमान न हो। अपनेसे अधिक बुद्धिमान्के प्रति झुक जाओ, श्रद्धा करो; जो तुमको अच्छी सलाह दे, उसकी सलाह मानो। हम बड़े ऊँचे अधिकारी हैं, हम बड़े ऊँचे समझदार हैं, हम बड़े ऊँचे विद्वान् हैं,—इस अभिमानके कारण मनुष्य अनेक अच्छाइयोंसे वंचित रह जाता है, ठगा जाता है।

(६) अपने मनको अपने विषयमें एकाग्र करो। भटकनेसे अपने मनको बचाना और अपने लक्ष्यकी ओर मनको ले चलना।

जिसके जीवनमें वैराग्य आता है, उसके जीवनमें ये छह चिह्न प्रकट होते हैं।

एक बात और है। जब मनुष्य देखता है कि यह शरीर तो बुड्ढा हुए बिना मानता नहीं है, बाल पके बिना मानते नहीं हैं, मौतके घरसे रोज-रोज खबर आ रही है, कान कमजोर हो रहे हैं, आँख कमजोर हो रही है, पाँवमें दर्द होता है, कमर दुःखती है, खाँसी आती है, फेफड़े खराब होते हैं, साँस बढ़ती है, लीवर खराब होता है; रोज-रोज खबर आती है कि देखो, यह मशीन तुम्हारी नयी नहीं है। इसके कल-पुर्जे पुराने होने लगे हैं, बिगड़ने लगे हैं। चलनेकी घड़ी पास आ रही है। मनकी ऐसी हालत होती है कि शरीर तो होता है बुड्ढा और तृष्णा होती है तरुण—

तृष्णैका तरुणायते जीर्यन्ति जीर्ण केशाः।
दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।

आदमी बुड्ढा होता है तो उसके बाल कालेसे सफेद होने लगते हैं, बाल बुड्ढे होते हैं और दाँत भी बुड्ढे होते हैं, मर जाते हैं, लेकिन एक तृष्णा नामकी चीज ऐसी है, लालच-विषयभोगकी प्यास, कि वह तरुणी होती जाती है। उसको और भोग चाहिए। कुछ ऐसा उपाय किया जाय कि यह तृष्णासहित जो मनीराम हैं उन्हींको कहीं पटक दिया जाय। उनको ईश्वरमें पटक दो, उनके चरणोंमें डाल दो। उनको मायामें पटक दो, कि झूठा खेल है। उनको प्रकृतिमें पटक दो कि मैं इनसे असंग हूँ। उनको कर्मोंके प्रवाहमें डाल दो और स्वयं इस अंतःकरणके सम्बन्ध और सत्तासे ही बच निकलो।

अन्त:करणको सच्चा समझना, अन्त:करणको 'मेरा' समझना और अन्त:करणको 'मैं' समझना-यह पूरा संसार है'।

अन्त:करणको 'मैं' न समझना, अन्त:करणको 'मेरा' न समझना, अन्त:करणको सच्चा न समझना, अपने आत्मदेवको अखंड परमात्मासे एक जानकर इससे मुक्त हो जाना यह बात जीवनमें आती है, विवेक और वैराग्यसे-पहली बात—नित्य-अनित्यका विवेक करके हम नित्यको चाहें, अनित्यको न चाहें। जब अनित्यका त्याग होता है, अनित्यसे वैराग्य होता है, अनित्यसे वैराग्य होनेपर छह बातें जीवनमें आती हैं। अन्तमें मनको भी छोड़नेकी इच्छा होती है। वैराग्य होनेपर जब मनको छोड़नेकी इच्छा होती है, तब अपने असंग स्वरूपका ज्ञान होता है।

वेदान्तके मार्गमें चलनेके लिए क्रम-क्रमसे जब चढ़ते हैं, तब पहली सीढ़ी है श्रवण। वेदान्तका श्रवण करो। 'श्रवण' शब्द लोगोंको बड़े भ्रममें डालता है। वेदान्तमें श्रवणका अर्थ यह नहीं है कि मैं मुँहसे बोलूँ और आप कानसे सुनें। इसका नाम श्रवण नहीं है वेदान्तमें।

मैं तो विचार करूँ, मनन करूँ, और उसका हल आप अपने लिए मान लें, यह भी वेदान्तका विचार नहीं है। सारी उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें है—यह बात उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन छह साधनोंके द्वारा सम्पूर्ण वेद-वेदान्तका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानमें है। इस बातको बिलकुल निश्चित कर लेना, इस निश्चयपर पहुँच जाना-इस बातको 'श्रवण' बोलते हैं, वेदान्तमें संशय न रहे, तब तो इतनेसे ही कृतार्थ हो जायेगा। फिर भी कोई संशय रह जाय, तो मनन करना चाहिए। इसके बाद भी यदि शरीरमें अहं भावका उदय होता हो, माने विपर्यय हो तो उसको निदिध्यासनसे दूर करना चाहिए। संशय-विपर्यय न हो, तो केवल तात्पर्य-निश्चयसे ही आत्माकी ब्रह्मताका बोध हो जाय। तब मनन-निदिध्यासन की भी जरूरत नहीं रहती है। केवल श्रवणसे ही काम बन जाता है।'

जब आपको ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है, तो श्रवण पहली सीढ़ी है, मनन दूसरी सीढ़ी है और निदिध्यासन तीसरी सीढ़ी है। लेकिन जब आत्मा-ब्रह्मकी एकताका ज्ञान हो जाता है, तो निदिध्यासन पहली सीढ़ी है, मनन दूसरी सीढ़ी है और श्रवण तीसरी सीढ़ी हो जाती है। इसका वर्णन वेदान्तके ग्रन्थोंमें है।

हमलोग तो वेदान्तके प्रौढ़ ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं, जो सामान्य लोगोंकी समझमें नहीं आता है। जो लोग उन ग्रन्थोंमें वेदान्तका कैसा निरूपण है, यह नहीं

पढ़ते हैं और बड़े-बड़े महापुरुषोंने वेदान्तका कैसा अनुभव किया है, यह नहीं जानते हैं, उनकी समझमें वेदान्त नहीं आता है।

जैसे छतपर चढ़ना हो, तो पहली सीढ़ी, दूसरी सीढ़ी, तीसरी सीढ़ी; लेकिन जब चढ़ गये और उतरना हुआ, तो जो पहले तीसरी सीढ़ी थी वह पहली हो गयी, दूसरी जहाँ-की-तहाँ बनी रही और पहली तीसरी हो गयी। श्रुतिकी प्रधानता होती है जिज्ञासुके लिए। वह श्रुतिके द्वारा चढ़ता है। यदि वेद-वेदान्तका विश्वास छोड़ दोगे, तो आगे बढ़नेकी तुम्हारी गति बन्द हो जायगी। तुम जहाँ हो वहीं रहोगे—आओगे-जाओगे।

जब तुम्हें अनुभव हो जाय कि आत्मा अद्वितीय है (अद्वितीय माने आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है) इसमें कोई व्यवहार छूटता नहीं है। यदि कहो कि ज्ञानीके सब व्यवहार छूट जाते हैं, तो ज्ञानीके मरनेका व्यवहार छूट जाता है कि नहीं? आखिर ज्ञानीका शरीर मरता तो है न? भिक्षाका व्यवहार छूट जाता है क्या? आखिर खाता तो है न? पानी पीता है न? ज्ञानी आँखसे ही देखता है, पाँवसे ही चलता है, हाथसे ही करता है और मुँहसे ही बोलता है। जिज्ञासुओंके प्रश्नका उत्तर देता है कि नहीं? वह अपने निदिध्यासनकी प्रधानतासे सारे व्यवहार करता है। श्रुत-वेदान्त मननकी प्रधानतासे सारा व्यवहार करता है और जिज्ञासु श्रवणकी प्रधानता से सारे व्यवहार करता है।

यह बहुत शुरू-शुरूकी बात आप लोगोंको मैं इसलिए सुनाता हूँ कि कई लोग तो पुराने वेदान्ती होते हैं; उनमें भी कई तो सच्चे होते हैं और कई ठठेरेकी बिल्ली होते हैं। जो सच्चे होते हैं उनका तो द्वैतका भ्रम मिट ही जाता है। जो सच्चे नहीं होते हैं वे ठठेरेकी बिल्ली! ये बर्तन बनानेवाले कसेरे, ठठेरे होते हैं। उनके घरमें हर समय हथौड़ा चलता रहता है। कुछ-न-कुछ ठक्-ठ्क-ठ्क होती रहती है। आपके घरमें बिल्ली आवे दूध पीनेके लिए, और ठक्-ठक् होती हो तो सुनकर बिल्ली डरकर भाग जायगी। लेकिन वह ठठेरेके घरमें जब जाती है और ठ्क-ठ्क खट्-खट् सुनती है, तो कहती है कि यहाँ तो हर समय ठक्-ठक् होती रहती है; समझ जाती है कि यहाँ तो कोई डरकी बात नहीं है। ठक्-ठक् होती रहती है और वह दूध पीती रहती है। तो ठठेरेकी बिल्ली कहनेका क्या अर्थ है? कि वे वेदान्त सुनते रहते हैं और माया चरती रहती है। माने माया उनको ठगती रहती है। और वे ठक्-ठक् करते रहते हैं।

जो लोग सच्चे वेदान्ती हैं, उनको तो वेदान्तके श्रवणसे बड़ा भारी लाभ हुआ है। और जो ठक्-ठक् करनेवाले हैं, उनके बारेमें हम आशा कर सकते हैं, कि

उनके जीवनमें कभी-न-कभी वेदान्त अपना जादू-अपना असर दिखावेगा। लेकिन जो शुरू-शुरूमें आते हैं, उनको यदि शुरू-शुरूकी बातें न मालूम हों, सारी-की-सारी बातें बादकी ही मालूम हों, यदि जो योग्यता चाहिए, वह प्राप्त न करें, जो बुद्धि, सद्भाव, सदाचार और सद्गुण चाहिए वह प्राप्त न करें, तो सुनी हुई बात जीवनमें प्रवेश नहीं करती है। इसके लिए, वेदान्तका विचार करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम नित्यमें अपनी रुचि बढ़ावें और अनित्यमें जो रुचि है, उसका परित्याग करें। आपके सामने खीर भी रखी है और रोटी भी रखी है खानेके लिए। जो जीभका प्रेमी है वह खीरकी मिठासको ज्यादा पसन्द करेगा। लेकिन जो पेटको ठीक रखना चाहता है, वह खीरको पसन्द न करके रोटीको ज्यादा पसन्द करेगा। आप खीर मिलनेसे खुश होते हैं कि रोटी मिलनेसे खुश होते हैं? जो खीर मिलनेसे खुश होता है, उसका स्वाद भोगमें है, उसका रस प्रवृत्तिमें है। जो रोटीसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसका स्वाद, उसका रस-निवृत्तिमें है। जीवननिर्वाहको दृष्टिमें रखकर आगे बढ़ना चाहिए। संसारमें सुख और स्वाद लेनेकी दृष्टिसे आगे नहीं बढ़ना चाहिए।

●

प्रवचन
११

अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात्॥ ८॥

उपनिषद्में यह बात कही गयी है कि एक तो मनुष्य जो सुने, उसको अनुभव करनेकी कोशिश करे, उसको पहचाने। जैसे, कोई नाम सुन लिया कि—'यह कंगन है,' 'यह कड़ा है,' 'यह सोना है,' 'यह चाँदी है,' 'औरत है,' 'मर्द है'— तो शब्द तो कानसे सुना हुआ हो, पर व्यवहारमें उसको न पहचानता हो, तो उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। इसलिए नाम तो मालूम होना ही चाहिए, उस नामका जो अर्थ है, उसकी पहचान होनी चाहिए।

यस्तु विज्ञानवान् भवति।

देखो—'घड़ी-घड़ी-घड़ी-घड़ी' शब्द कहाँ है? 'घड़ी' शब्द मुँहमें है और 'घड़ी' वस्तु हाथमें है 'घड़ी' शब्द मुँहमें है, वह कानमें पड़ता है। 'घड़ी' शब्दका जो अर्थ है, वह हाथमें है।

बच्चेके हाथमें घड़ी दे दो। उसको 'घड़ी' शब्द भी मालूम हो और उसके हाथमें घड़ी हो, परन्तु मुँहमें जो शब्द है 'घड़ी', उसका अर्थ यही है, यह यदि बोध न हो तो वह बेकार जायगा। तो चीजका नाम जानो, चीजका अर्थ देखो और यह नाम और अर्थवाली चीज जिसका नाम मुँहमें है, वही वस्तु हाथमें है—इस तरह उसको पहचानो।

विज्ञान माने केवल बात सुनी-सुनाई न रह जाय, वह हमारे अनुभवमें—अपने विज्ञानमें आ जाय। यह बात परमेश्वरके मार्गमें चलनेमें होती है।

ये जो बहुत-से शब्द हम सुनते हैं और उनके अर्थोंको हम पहचानते नहीं हैं। हमको ऐसा बड़े-बड़े विद्वानोंने बताया है कि कुछ शब्द ऐसे हैं संस्कृतमें, जिनका

अर्थ दूसरी भाषामें नहीं बताया जा सकता। जैसे, 'धर्म' शब्द है। संस्कृतमें 'धर्म' शब्द है, उसका पर्यायवाची शब्द संसारकी किसी भाषामें नहीं है। धर्म माने मजहब नहीं। तो वस्तुका ज्ञान—'धर्म' शब्द जो हम बोलते हैं, उसके अर्थका साक्षात्कार हमारे हृदयमें होना चाहिए। यदि शब्द और अर्थ दोनोंका ज्ञान अर्थात् पहचान न हो तो बात उलटी हो जायगी।

दूसरी बात—जिस वस्तुपर विचार करना है, उसपर मन एकाग्र होना चाहिए। यदि मन नुकीला नहीं होगा और तुम्हारे काबूमें नहीं होगा तो जहाँ लगाना चाहो वहाँ लगेगा नहीं। तुम कहो कि आमके बारेमें सोचो—'हे मन! तुम आमके बारेमें सोचो' और मन कहेगा कि 'हम नीमके बारेमें सोचेंगे' तो आमका ज्ञान कैसे होगा?'

मन तो एक नौकर है। यह हमारा करण है, औजार है। कैसा? जब हम हाथसे कहते हैं कि 'हे हाथ, छातीपर आओ।' तब वह छातीपर आता है। जब हम कहें कि—'यहाँ रहो।' तब वह वहाँ रहता है। जैसा औजार यह तुम्हारा हाथ है, ऐसा ही भीतरका औजार, एक करण, काम करनेका एक बसीला है। जैसे सडाँसीसे हम तवेको, बटलोईको उठा लेते हैं। तो सडाँसी है, हाथ है, भीतर मन है। वह भी करण है। बटलोई उठानेके लिए तुम्हारे हाथमें सडाँसी है वैसे दुनियाकी चीजोंको उठानेके लिए हाथ है। इसी तरह परमार्थकी वस्तुको पकड़नेके लिए मन है।

जैसे हम हाथको जहाँ लगाते हैं वहाँ लगता है, वैसे मनको हम जहाँ लगाना चाहें वहाँ लग जाय। मनको मारना नहीं है। मनका वशीकरण चाहिए। नौकरसे काम लिया जाता है, उसको मारा नहीं जाता है। यह मन हमारा नौकर है, हम उसके मालिक हैं। हम जहाँ उसको लगावें, वहाँ उसको लगना चाहिए। तब परमेश्वरमें जब मनको लगाओगे, लग जायगा। परमेश्वरके बारेमें विचार करोगे तो मन लगेगा।

तीसरी बात है—वेदान्त इसको बोलते हैं। उपनिषद्‌में यह बात आयी हुई है। जिस चीजको हम पवित्र समझते हैं, वह हमारे अन्दर होनी चाहिए। माने तुम अपने बारेमें खुद यह सोचो कि कभी तुमको यह ख्याल होता है कि—'मैं अपवित्र हूँ, गन्दा हूँ? जब हमारे मनमें बेईमानीकी बात आती है, तब कुछ गन्दगी मालूम पड़ती है कि नहीं? जब हम किसी दूसरेकी चीज चुपचाप हड़प लेते हैं या दूसरेको सताते हैं या जो चीज हमारे हककी नहीं है, वह चीज हम लेना चाहते हैं, तो हमारे मनमें थोड़ी-सी गन्दगीका अनुभव होता है कि नहीं?'

हम तत्त्वज्ञानियोंकी चर्चा नहीं करते हैं, साधककी चर्चा करते हैं, जो ईश्वरके मार्गमें बढ़ना चाहते हैं। बोले कि हम तो चाहे चोरी कर लें, चाहे बेईमानी करलें,

चाहे दूसरेको दुःख पहुँचावें और चाहे जो अनाचार-व्यभिचार करलें हमको तो यह मालूम ही नहीं पड़ता कि हमारा मन गन्दा हो गया या मैं गन्दा हो गया।

यदि भाई, ऐसी बात है, तुम्हारी बुद्धि इतनी सुधरी हुई है कि शरीरकी गन्दगी गन्दगी नहीं मालूम पड़ती, कामकी गन्दगी गन्दगी नहीं मालूम पड़ती, भोगकी गन्दगी गन्दगी नहीं मालूम पड़ती, मनकी गन्दगी गन्दगी नहीं मालूम पड़ती, तो तुम असलमें अभी परमेश्वरके मार्गमें चल नहीं रहे हो, तुम्हारा चलना शुरू नहीं हुआ है।

आप जब भगवान्का ध्यान करनेके लिए बैठो, तब यह सोचकर बैठो कि— 'मैं पवित्र हूँ, शुद्ध हूँ।' शुद्ध-ही-शुद्धके साथ जुड़ता है, अशुद्ध शुद्धके साथ नहीं जुड़ता। एकबार अपने मनकी गन्दगीको उठाकर बाहर फेंकना जरूरी है। पवित्र होकर पवित्रसे मिलो। सदा शुचिः।

यस्तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते।

उसको परमेश्वरके उस पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे लौटना नहीं होता। हम यह नहीं कहते कि तुम स्नान करो कि मत करो। लेकिन यदि तुम्हारे मनमें यह ख्याल है कि—'मेरा शरीर गन्दा है, मेरा कपड़ा गन्दा है,' तो कपड़ा बदलना चाहिए। शरीर अशुद्ध है, तो स्नान करना चाहिए। जैसी अपवित्रता मालूम पड़ती है शरीरमें, उस अपवित्रताको दूर करनेका प्रयास करना चाहिए। मनमें यदि काम-क्रोध-लोभ है, तो उसको दूर करनेकी कोशिश करो। मनमें यदि चंचलता है, तो उसको भी मिटानेकी कोशिश करो। मन यदि बुरी जगह जा कर लगता है, तो वहाँसे भी उसको हटाओ।

साधनके मार्गपर यदि चलना है तो गन्दगीकी ओरसे मनको हटाना और अच्छाई की ओर ले चलना जरूरी है। अगर तुम्हें दुराचारसे सुख मिलता हो और सदाचारसे भी सुख मिलता हो तो सदाचार करना चाहिए। दुराचार क्यों करना चाहिए? सदाचारमें दुःख भी मिलता हो, थोड़ा दुःख उठाकर, परिश्रम करके भी दुराचारके मार्गमें नहीं जाना चाहिए।

यस्मात् भूयो न जायते।

जहाँसे फिर लौटना नहीं होता, उस स्थानपर यदि तुम्हें पहुँचना है, उस वस्तुका यदि अनुभव करना है, उस परमात्मासे मिलना है तो ये तीन बातें जरूरी हैं—

(१) केवल शब्दोंके ही चक्करमें मत पड़ो। उसके अर्थका साक्षात्कार करो।

(२) अपने मनके अनुसार मत चलो। अपने अनुसार मनको चलाओ। मनमें और तुममें फरक है। जहाँ तुम नहीं चाहते हो, वहाँ भी तुम्हारा मन चला जाता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥ गीता. 2-67

आँखने कहा, यह साड़ी बहुत अच्छी है, यह कपड़ा बहुत अच्छा है, सुन्दर है। बुद्धिने कहा कि प्राप्त करो। बोले—ईमानदारीसे तो नहीं मिलती है, तो बेईमानीसे ले लो। इससे क्या होगा? यह जो तुम्हारी मनके पीछे चलनेवाली बुद्धि है, यह तुमको ले जाकर गड्ढेमें डाल देगी। बुद्धिसे देख लो, तुमको किस चीजकी जरूरत है और किस चीजकी जरूरत नहीं है। जिस चीजकी जरूरत हो, उसको ईमानदारीसे प्राप्त करना—यह सच्चाईका मार्ग है। ईश्वर एक सच्ची चीज है। इसलिए जो झूठी चीजसे प्रेम करता है, झूठी चीजकी ओर चलता है और झूठी चीजमें फँस जाता है, ईश्वर उसकी उपेक्षा कर देता है।

वह बोलते हैं कि जब यह घर-घरौंदोंसे ही खेल रहा है, जब यह झूठी चीजमें ही लगा हुआ है, तो इसके सामने प्रगट होनेकी क्या जरूरत है? इसलिए अपने मनको अपने हाथमें रखो। शब्दके अर्थको समझो और हमेशा पवित्र रहनेकी कोशिश करो।

सम्बन्धिनोस्सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु।
कर्मक्षयात्प्रवोधाच्च निवर्त्तेते क्रमादुभे॥ ९॥

अब आगे तीन बात बताते हैं—(१) कर्म जन्य है शरीर। किसी भी तत्त्वमें शक्ल-सूरत बनती ही तब है जब कोई कर्म होता है, क्रिया होती है। जैसे, पानीमें तरंग उठती है। कब उठती है? जब हवा चलती है। गति तो बिना वायुके होती ही नहीं। जो बड़े-बड़े टीले बन जाते हैं राजस्थानमें बालूके, उनपर धाराएँ=तरंगें बन जाती हैं। वह कैसे बनती हैं? वायुके धक्केसे बनती हैं। तो किसी भी चीजमें—सोनेमें जेवर कैसे बनता है? सोनेको गलाकर साँचेमें डालना पड़ता है या हथौड़ीसे पीटना पड़ता है। बिना कर्मके कोई शकल नहीं बनती है। यह कर्म दो प्रकारसे बनता है—(१) विकारयुक्त कर्म और (२) कर्तृत्वपूर्वक कर्म।

विकारसे-विकृतिसे जो चीज बनती है—पहले चीज रखी है, फिर सड़ गयी। पहले वह चीज बंद थी स्वाद दूसरा था, शकल देखनेमें दूसरी थी और अपने-आप सड़ गयी। इसको विकार-विक्रिया बोलते हैं। बनानेसे वस्तु जो है, बनती है।

यह जो मनुष्य शरीर है, यह कोई चैतन्यका विकार नहीं है, यह प्रकृतिका विकार नहीं है, यह कर्मके अनुसार बनाया हुआ बड़ा व्यवस्थित है। इसमें हाथ-पाँव-आँख-कान-नाक-मुँह, एक-एक नस-नाड़ी ये सब-के-सब विक्रिया जन्य नहीं हैं, ये क्रिया जन्य हैं, इनमें कर्म है।

किसी भी एक वस्तुमें, एक धातुमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी शक्ल-सूरत बनती है। तो या तो उसके अंतरंग विकारसे बने या तो सुनार, लुहार-बढ़ई उसे काट-काटकर बनावे या ढालकर बनावे।

यह हमारा जो शरीर बना है, इसे या तो जड़तत्त्वमें मानो या चेतनतत्त्वमें मानो, बिना कर्मके यह शरीर उत्पन्न नहीं हो सकता। यह कर्मजन्य है, यह व्यवस्थित है। सुषुप्तिकालमें जब कर्मसंस्कार विलीन हो जाते हैं, तब यह पड़ा रहता है। न तो यह अव्यवस्थित बोलता है—हम बोलते हैं, यह कर्म है, विकार नहीं है।

विकार कैसे होगा? कि जब अण्ट-सण्ट जो मनमें आवे सो बोलते जायेंगे। हमारा बोलनेका कर्तृत्व नहीं रहा; बस, मनमें जो आया सो चिल्लाना शुरू कर दिया। बस मनमें जो आया सो चिल्लाना शुरू कर दिया। आवाज होने लग गयी। इसको क्या बोलेंगे? दिमागमें विकार हो गया, मनमें विकार हो गया। यह पागल हो गया। जैसे हमारे बोलनेमें पागलपना आजाय और हम जो चाहते हैं वह बोलते हैं, जो नहीं चाहते हैं वह नहीं बोलते हैं। तो कर्मसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है और जब आदमी नशेमें चिल्लाने लगता है, तब उसको पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। तो हमारा यह जो शरीर है, कर्मसे बना है। बिना कर्मके पंचभूतमें ऐसा शरीर, ऐसा अन्तःकरण, ऐसी रहनी बन नहीं सकती।

अब दूसरी बात—हम स्वयं ज्ञान स्वरूप साक्षी हैं और इस शरीरको 'मैं' समझते हैं। यह भ्रान्ति है। अपने स्वरूपको ठीक-ठीक न समझकर इस शरीरको 'मैं' समझना यह भ्रान्ति है यह भ्रान्ति भी बुद्धिमें हुई और अन्तःकरणें जो संस्कार है, उन्हींसे तो वासनाएँ उठती हैं। वहाँ जड़ताके अत्यन्त स्वच्छ स्तरपर, जहाँ जड़ता और चेतनताका भेद नहीं मालूम पड़ता, वहाँ तो चिच्छाया पड़ी हुई है। वह आभास है। समष्टिमें वही ईश्वरके नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कभी भ्रम नहीं होता, अज्ञान नहीं होता; वह कभी अपनेको जड़ नहीं समझता, विकारी नहीं समझता।

परन्तु यह जो व्यष्टिमें अन्तःकरणका स्वच्छ स्थल है, यहाँ जो छाया पड़ी है, वह चिच्छाया चूँकि व्यष्टिबुद्धिसे सम्बन्ध रखती है, इसलिए यहाँ भ्रान्ति हो जाती है। भ्रान्ति=भटकना, भूल बोलते हैं न,—'सबेरे आप कहाँ जाते हैं?'

बोले—'भ्रमण करने जाते हैं।'

नरीमाइन-पोइण्टपर जाते हैं न, तो प्रात:कालीन भ्रमणके लिए जाते हैं। यह जो हमारे भीतर बैठा हुआ ज्ञान है, यह भ्रमण करनेके लिए निकलता है, वह नाकमें आता है, गन्धका मजा लेता है, गन्धाकार हो जाता है; जिह्वामें आता है तो स्वादका मजा लेता है; आँखमें आता है तो रूपका मजा लेता है; त्वचामें है तो स्पर्शका मजा लेता है, कानमें है तो शब्दका मजा लेता है, दिलमें है तो प्यारका मजा लेता है, दिमागमें है तो विचारका मजा लेता है। जैसे लोग हवा खानेके लिए जाते हैं, तो वैसे जब हमारी बुद्धि हवा खानेके लिए निकलती है—'**भ्रमणं भ्रमः**'। आत्मदेव तो परिपूर्ण हैं। समग्र शरीर भी, समग्र समष्टि भी ज्ञानके अन्दर मालूम पड़ती है। उनमें आनाजाना कहाँ है? न तो देशान्तरमें जाते हैं, न तो कालान्तरकी इन्तजार करते हैं, न द्रव्यान्तर बनते हैं। न वह दूसरे कुछ होते हैं, न कहीं जाते हैं, न कभी उनका इन्तजार करना पड़ता है। तो यह भ्रम क्या है?

मन घूमता है भीतर-ही-भीतर और हम समझते हैं कि हम घूम रहे हैं। अक्कल घूमती है और हम समझते हैं, हम घूम रहे हैं, ये पाँव चलते हुए मालूम पड़ते हैं और मालूम पड़ता है कि हम चल रहे हैं। जीभ बोलती हुई मालूम पड़ती है और हम समझते हैं कि हम बोल रहे हैं। जो चीज हम नहीं हैं उसको 'हम मान बैठना'—यह है भ्रान्ति।

यह भ्रान्ति क्यों होती है? क्योंकि अपना जो सच्चा स्वरूप है उसको हम नहीं जानते हैं। अपना सच्चा स्वरूप आकाशसे भी बड़ा है, क्योंकि आकाश तो हमारे ज्ञानमें है, कालसे भी ज्यादा लम्बी उमर है इसकी। कालकी उमर जितनी होती है न, उससे ज्यादा उमर है आत्माकी। आप कभी इस बातपर विचार करना। कालकी आदि नहीं है और अंत नहीं है। यह बात आप सोचकर देख लेना।

सबसे पहले क्या था? यदि हम बता दें कि सबसे पहले कोई 'राम-रहीम' नहीं था तो आपको ख्याल होगा कि 'उसके पहले क्या था?' 'उसके पहले क्या था?' 'उसके पहले क्या था' माने कालकी आदिपर आपकी बुद्धि नहीं टिकेगी। यदि हम बता दें कि सबके अन्तमें क्या रहेगा? तो आप पूछेंगे कि उसके बाद क्या रहेगा? कालके अन्तपर भी आपकी बुद्धि नहीं टिकेगी। इसलिए कालकी आदि भी नहीं है अनादि है और कालका अन्त भी नहीं है—अनन्त है। उस कालका ख्याल आपकी बुद्धिकी दृष्टिके कालमें है। जितना विराट् काल है जिसमें सृष्टि-स्थिति-प्रलय होते रहते हैं, वह काल कहाँ है? वह आपकी दृष्टिमें है। आप

कालसे भी परे हैं। कालसे भी बड़ी उम्र है आपकी। माने काल आपको काट नहीं सकता, मार नहीं सकता।

आप अपनेको मरनेवाला तो तब समझते हैं, जब आप कालके बच्चे शरीरको 'मैं' समझते हैं। शरीरको 'मैं' किया और मर गये। मौत आपको बिलकुल छू नहीं सकती। मरनेका डर छोड़ो। निर्भय होकर रहो। भय मनकी कमजोरी है। न जन्म आपके आत्मामें है न मृत्यु आपके आत्मामें है।

पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण ये भी आपकी आत्मामें बिलकुल नहीं हैं। हम तख्तेपर बैठे हैं तो हमारे उत्तर हो गया, दक्षिण हो गया, पूरब हो गया, पश्चिम हो गया; ऊपर हो गया; नीचे हो गया। यदि हम देह अपनेको न मानें, परिच्छिन्न झूठमूठ अपनेको न मानें; कभी-कभी कल्पना करके देखोगे तो आप, जैसे गणितमें कल्पनाका बड़ा भारी उपयोग है न—अध्यारोप कर लो, कल्पना कर लो कि आप परिच्छिन्न नहीं हो। माने आप टुकड़े नहीं हो, आप जुज नहीं हो। फिर आप देखना कि पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे सब गायब हो जायगा। इस कल्पनाको अपने अन्दर आने दो।

तुम अपने को परिच्छिन्न करते हो, तो दाँये-बाँये होता है। जो बाँयें होगा वह दुश्मन हो जायगा और जो दाहिने होगा वह दोस्त हो जायगा। जो दाहिने होगा वह दक्षिण हो जायगा, जो बाँये होगा वह उत्तर हो जायगा। जो सामने होगा वह पूरब हो जायगा। सबेरे संध्यावंदन करते हैं न, उसको मुख्य मानते हैं। प्रकाशकी ओर मुँह है तो आप ठीक देख रहे हो।

लेकिन प्रकाशसे अपनेको अलग जो मान रहे हो, जब अपनेको परिच्छिन्नरूपमें देख रहे हो। जब अपनेको अपरिच्छिन्नरूपमें देखते हैं, परिच्छिन्नताको काट देते हैं तब दिशा अपनी दृष्टिके पेटमें आ जाती है, भूत-भविष्य-वर्तमान अपनी दृष्टिके पेटमें आजाते हैं और मैं-तू-यह-वह सब अपनी दृष्टिके पेटमें आ जाते हैं।

असलमें अपने स्वरूपको न जानकर अपनेको देह मान लिया गया है, तो अपने स्वरूप को न जानना अज्ञान है और अपनेको देह जानना भ्रान्ति है। अज्ञान और भ्रान्ति। भ्रान्ति वृत्ति है, भ्रान्ति कार्य है और अज्ञान कारण है।

आप रस्सीको नहीं जानते, यह अज्ञान है और उसको साँप समझते हैं, यह भ्रान्ति है। भ्रान्तिके अनेक रूप होते हैं-आप उस रस्सीको डंडा भी समझ सकते हैं। वह भी भ्रान्ति है। आप उसको फूलमाला समझ सकते हैं। वह भी भ्रान्ति है। आप उसको दरार समझ सकते हैं। वह भी भ्रान्ति है। परन्तु इन भ्रान्तियोंका कारण

क्या है? रस्सीको न पहचानना। इसलिए अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्मके रूपमें न पहचानना—यह है अज्ञान। अपनेको न पहचानना—यह आत्माका अज्ञान है। न पहचानना = अज्ञान।

अपनेको जाने-आनेवाला जीव मान लेना, अपनेको पैदा होनेवाला, मरनेवाला देह मान लेना, भ्रान्ति है। चित् और छाया, चेतन और चेतनकी परछाईं क्या है? कई लोगोंको, जिनको अभ्यास है वेदान्तका, उनके लिए तो बहुत आसान है। सरल से सरल बात समझा रहा हूँ। और जिनको वेदान्तका स्वाध्याय-अभ्यास नहीं है, उनको समझनेमें थोड़ी कठिनाई पड़ती है।

जैसे शीशेमें परछाईं दिखती है, तो देखनेमें साफ मालूम पड़ेगा कि – 'शीशा यह है' और परछाईं यह है'। शीशा और अपनी परछाईं जो मालूम पड़ती है, वे दोनों अलग-अलग मालूम पड़ते हैं कि नहीं, मालूम पड़ते हैं? शीशेमें अपना मुँह देखेगा तो कभी मुँह दिखता है, कभी मुँह नहीं दिखता है। कभी उसमें घड़ी दिखती है, कभी नहीं दिखती है। जैसे शीशेमें गाँव दिखता है, वैसे ज्ञानमें यह विश्व दिख रहा है।

विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं।

चिच्छाया क्या है? यहाँ दर्पण क्या है? दर्पण है निज आत्मा—

विश्वं तुल्यं निजान्तर्गतम्।

निज=आत्मा। स्व=ज्ञानस्वरूप। ज्ञानस्वरूप तो है दर्पण और सारी दुनिया उस ज्ञानस्वरूप अखंड आत्मा ब्रह्ममें दिख रही है। तो यह कैसी दिख रही है? शीशेमें परछाईं नामकी कोई चीज घुसी हुई नहीं है। घुसा कुछ नहीं है, पर दिखता है। ऐसे ज्ञानमें यह विश्व घुसा नहीं है और ज्ञानमें यह सम्पूर्ण विश्व दिख रहा है। अब उस परछाईंके साथ अपनेको कर लें एक। कैसे एक कर लें?

शीशेमें अपनी तस्वीर दिख रही हो और किसीको आ जाय गुस्सा। एक घूँसा उस (तस्वीर) पर जड़ दें कि-'हम तुमको मार दें,' तो अपमान मालूम पड़ेगा। शीशेकी परछाईंपर कोई मारेगा और अपमान मालूम पड़ेगा अपना। ये सब शरीर जो दिख रहे हैं, यह-वह, मैं-तुम जो दिखाई पड़ रहा है, असलमें शीशेमें दिखनेवाली परछाईं हैं। ये सब शरीर शीशेमें दिखनेवाली परछाईंकी तरह दिख रहे हैं और असलमें सब शीशा है।

अब यह मत पूछो कि परछाईं कहाँसे आगयी? पहले यह अनुभव करो कि परछाईं वस्तु नहीं है, शीशा ही वस्तु है। ज्ञान ही वस्तु है। ज्ञानमें जो आकार दिखाई

पड़ते हैं, वह वस्तु नहीं है। कोई भी आकार, कोई भी नाम, कोई भी रूप अलग-अलग दिखाई पड़ता है, परन्तु अनन्त, अखण्ड, अविनाशी, परिपूर्ण, एकरस, अद्वितीय आत्मारूपी दर्पणमें यह सम्पूर्ण विश्व बिना हुए ही दिख रहा है—

विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं।

इसीको चिच्छाया बोलते हैं। तो, यह जाननेके बाद भी, कि-'मैं ज्ञानस्वरूप दर्पण हूँ', मुझमें जो प्रतिच्छाया दिख रही है, वह वस्तु नहीं है, केवल दिख रही है। ज्ञान होनेके बाद भी वह प्रतिच्छाया और दर्पण दोनों एक ही रहते हैं और दिखता भी रहता है। उसको 'चिच्छाया' बोलते हैं। बड़ी विलक्षण बात है।

पुराने जमानेकी बात है-एक अफ्रीकाके कोई सज्जन थे, वे यूरोपमें गये। यूरोपमें तो शीशा बनता था और अफ्रीकामें नहीं बनता था। बहुत दिन तक वे रहे यूरोपमें, नौकरी की; यूरोपियन रहन-सहन उनकी हो गयी। जब वे अफ्रीका लौटे, तब एक शीशा अपने साथ लेकर आये। घरमें स्त्री थी उनकी। वह तो जानती नहीं थी कि-'यूरोपमें शीशा होता है। उसमें अपनी शकल दिखती है।' अज्ञानी थी।

उसने एक दिन अपने पतिकी सब सामग्री देखी; उसने सम्हाला। सम्हालनेमें वह शीशा सामने आ गया। उसमें अपनी तस्वीर दिख गयी। तस्वीरका तो उसको ख्याल नहीं था। उसने समझा-'हमारे ये पतिदेव जो हैं, अपने पास किसीका चित्र रखते हैं। किसी स्त्रीमें फँसे हुए हैं ये, जो यूरोपमें है।' बादमें पतिसे उसकी बड़ी भारी लड़ाई हो गयी कि—'तुम अच्छे नहीं हो।' लड़ाई करके यह दिखानेके लिए वह मायकेमें गयी कि—'देखो, यह तस्वीर है।' वह शीशेको चुराकर ले गयी। वहाँ जाकर वह अपने पतिपर नाराज होवे।

वे लोग कहें कि-'तुम अपने घर जाओ,' तो नहीं जाय। एक दिन उसके पिताकी नजर पड़ गयी कि इसके पास कोई चीज है और शीशा लेकर देखा, तो उसमें उसकी अपनी तस्वीर दीखी। बोला-'हो-न-हो, यह लड़की बिगड़ गयी है। देखो, इसने दूसरे पुरुषकी तस्वीर रखी है।' अब वह अपनी पत्नीको दिखानेके लिए कि हमारी लड़की बिगड़ गयी है, उसने अपने सामानमें वह शीशा रख दिया।

उसकी पत्नी थी, उसने एक दिन देखा कि हमारे पतिदेव यह क्या रखते हैं; वह भी लड़ने लगी। लड़ाईकी परम्परा चल गयी। यूरोपसे जो लौटा हुआ था, वह एक दिन वहाँ आया अपनी पत्नीको मनानेके लिए; तो उसने देखा कि सब आपसमें लड़ रहे थे। सास-ससुर आपसमें लड़ें, ससुर और बेटी आपसमें लड़ें और बेटीकी उससे लड़ाई! बात उसकी समझमें जब आ गयी, तो उसने सबके सामने कर

करके दिखा दिया कि-'देखो, इसमें है कुछ नहीं। जो देखता है, वही इसमें दिखता है।'

तुम अपने 'मैं'को, 'मेरा' को और दुनियाको पहले एक हालतमें बना लेते हो, और बनानेके बाद फिर अपने ज्ञानमें उसको देखते हो। असलमें जिन चीजोंमें हम फँस जाते हैं, उनसे एक हो जाते हैं। आपको मालूम हो-न-हो, जो लोग विदेशमें आते-जाते हैं। अफ्रीकाके लोग अपनेको कम सुन्दर नहीं समझते हैं। सभी स्त्रियाँ अपनेको कम सुन्दर नहीं समझती हैं। पुरुष भी अपनेको कम सुन्दर नहीं समझते हैं। वहाँ भी आपसमें प्रेम होता है, गड़बड़ी होती है 'चीन' में होती है, 'नागालैंड' में भी होती है।

सुन्दरता तो अपने आपमें है। अपने शुद्ध ज्ञानमें सौन्दर्यका निवास है। अपनेको कोई कुरूप नहीं समझता।

हमने सुना है लोगोंसे, जिसका चेहरा काला है, वह कहता है-'हमारी आँख कितनी अच्छी है!' जिनकी आँख भी खराब है, वे कहते हैं-'हमारे दाँत कैसे चमकते हैं!' जिनके दाँत, खराब हैं, वे कहते हैं—'हमारे होठ कैसे चमकते हैं!' कोई कहते हैं—'हमारा गला बड़ा मधुर है।' अपनेको असुन्दर कोई नहीं समझता है, क्योंकि आत्माके सौन्दर्यका जो आरोप है, वह परछाईंमें हो गया। शीशेकी सुन्दरता आकारमें मालूम पड़ने लग गयी। यही 'चितिच्छायैक्यमागता'। चिति=चेतन। यही चेतनकी छायासे एकता है।

अब हम अपनेको शीशा नहीं समझते हैं, वह परछाईं समझते हैं। असलमें दिखनेवाली परछाईं तुम नहीं हो। तुम वह ज्ञान-दर्पण हो, जिसमें तुम्हीं नहीं, तुम्हारा दुश्मन, तुम्हारा दोस्त, तुम्हारा अपना, तुम्हारा पराया—वह परछाईंके रूपमें दिख रहा है। तुम बिलकुल ज्ञानस्वरूप हो। कर्म समाप्त होनेपर, प्रारब्ध समाप्त होनेपर यह शरीर तो छूटता है।

आभास और अज्ञान। अज्ञान जो है, वह वेदान्तके द्वारा अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर मिट जाता है। सचमुच हम दृश्यका विचार करते हैं, परन्तु हम दृश्यके द्रष्टा हैं, इस रूपमें विचार करते हैं। इसमें एक फरक है। एक विद्यार्थी है वह लायब्रेरीमें बैठ करके कल्पना करता है कि एक दृश्य है, एक द्रष्टा है। दोनोंके नीचे लिखता गया-'दृश्यमें ये-ये चीजें होती हैं' और 'द्रष्टामें ये-ये चीजें होती हैं'। 'द्रष्टा ऐसा होता है' और 'दृश्य ऐसा होता है'। तो उसको द्रष्टा-दृश्यका ज्ञान होगा? बोले-

'नहीं होगा।' क्यों नहीं होगा? क्योंकि वह तो द्रष्टाको भी दृश्य बनाकर सोच रहा है। इसलिए लायब्रेरीमें बैठ करके स्टडी करनेसे या घरमें बैठ करके किताब पढ़नेसे यह बात समझमें नहीं आवेगी। यह कैसे आवेगी?

इसमें एक वर्ग दूसरा है और एक मैं खुद हूँ। इसमें अपनेको शामिल करके विचार करना पड़ेगा। अगर तुम ऐसे सोचो कि-'एक दृश्य है और एक दुनियाका द्रष्टा है'—तो ऐसे यह समस्या हल नहीं होगी। असलमें जो यह वर्णन है, यह तुम्हारा है, तुम्हारे जीवनका है, तुम्हारी असलियतका है। अपने आपको बिलकुल इस वर्गीकरणमें सम्मिलित करके तब विचार करना पड़ेगा कि एक दृश्य है और एक उसको देखनेवाला मैं द्रष्टा हूँ। तो दृश्य देखो। दृश्य अन्य है और 'मैं स्व' हूँ। दृश्य बदलता रहता है और 'मैं' नहीं बदलता हूँ। दृश्य अनित्य है और 'मैं' नित्य हूँ। अन्य जो है, वह विषय है, दृश्य है और आत्मा जो है, वह विषयी है, माने विषयको जाननेवाला है। जो विषय है वह अनित्य है, विषयी नित्य है और बिना विषयीके विषय प्रतीत नहीं हो सकता। द्रष्टाके दृश्यकी प्रतीति नहीं हो सकती। दृश्य पराधीन है और द्रष्टा स्वाधीन है।

द्रष्टा देश-काल-वस्तु सबका द्रष्टा है इसलिए द्रष्टा देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है। अपरिच्छिन्न होकर द्रष्टा अपनी दृष्टिसे देश-काल-वस्तु सबको देखता है। असलमें द्रष्टाकी दृष्टिमें ही सम्पूर्ण दृश्य है। दृष्टि द्रष्टासे जुदा नहीं है। तो द्रष्टाके परिपूर्ण, अविनाशी, अखण्ड, अद्वितीय स्वरूपमें जो कल्पित दृष्टि है, उस कल्पित दृष्टिमें समग्र दृश्यका भान हो रहा है।

अविद्याकी निवृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी और प्रारब्धकी निवृत्तिसे देहकी निवृत्ति होगी। जो चिच्छाया है, वह माया है। जब हम परिच्छिन्नमें बैठ करके विचार करेंगे, तो वह सच्ची मालूम पड़ेगी। और, जब हम अपने स्वरूपमें बैठ करके देखेंगे तो वह झूठी मालूम पड़ेगी।

अनन्त ब्रह्ममें छायाका होना सम्भव नहीं है और शरीरकी दृष्टिसे बिना छायाके हुए यह विश्व दिखायी नहीं पड़ सकता। तो यदि हम परिच्छिन्न दृष्टिसे उसे 'असती' कहें कि—'मैं भी नहीं' और ब्रह्मकी दृष्टिसे यदि कहें कि—'है,' तो 'है' नहीं कह सकते।

ब्रह्मकी दृष्टिसे वह है नहीं, भास रही है। परिच्छिन्नताकी दृष्टिसे वह है, परन्तु वह सिद्ध नहीं की जा सकती। इसलिए इस छायाको, इस मायाको अनिर्वचनीय कहते हैं।

अहंकारके लय होनेपर—

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः।
अहंकारविकासार्द्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः॥ १०॥

सुषुप्तिकालमें जब यह देहाहंकार लीन हो जाता है, तब देह जड़के समान हो जाता है। अहंकारका आधा विकास स्वप्न है और अहंकारका पूरा विकास जाग्रत् है। जाग्रत् माने एक वृत्ति और एक वृत्तिमान्। ऐसा दो विभाग करके वृत्तिरूप अंत:करण है और वृत्तिमान्‌रूप अहंकार है; और ये दोनों जिस द्रव्यमें भास रहे हैं वह चिच्छाया है, वह माया है। अखंड परब्रह्म परमात्मामें ये तीनों न होकर भास रहे हैं।

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता।
वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधऽक्षेर्विषयान्बहिः॥ ११॥

यह अन्त:करणवृत्ति चितिच्छायासे एक होकर परछाईंसे एक हो जाती है, फिर वासनाकी कल्पना करती है स्वप्नमें। स्वप्नमें जो कुछ भासता है; आप स्वप्नपर एक दृष्टि डालें—

करणं कर्म कर्त्ता च क्रिया स्वप्ने फलञ्च धीः।
आत्मन्येवं यतो द्रष्टा —

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि स्वप्नावस्थामें हाथ दिखता है कि नहीं? दिखता है—करणं, कर्म होता है कि नहीं? कर्म भी होता है। यज्ञ भी होता है स्वप्नमें, कीर्तन भी होता है स्वप्नमें और गोहत्या भी होती है स्वप्नमें, तो वहाँ करण भी होता है स्वप्नमें और कर्म भी होता है स्वपन्में। पापी पुण्यात्माका भेद भी होता है स्वप्नमें। मालूम पड़ता है कि यह पापी है,यह पुण्यात्मा है। वहाँ दु:ख भी मिलता है और दु:खसे बचनेकी बुद्धि भी मिलती है। स्वप्नमें सब चीजें होती हैं, ठीक वैसी ही, जैसी जाग्रत्‌में होती हैं। यह क्या लीला है?

सपना रोज नहीं आता है, इसलिए हम उसको छोड़ते चलते हैं। सगुनशास्त्रकी बात दूसरी है, माने कैसा सपना आवेगा तो सच्चा होगा और कैसा सपना आवेगा तो झूठा होगा। यह सब ख्याल दूसरा है। विलायतमें दूसरे ढंगका होता है और हिन्दुस्तानमें दूसरे ढंगका होता है। हाथकी रेखाएँ हिन्दुस्तानमें दूसरे ढंगकी होती हैं और विलायतमें दूसरे ढंगकी होती हैं। ये जो कुण्डली बनाते हैं, बड़ी विचित्र! जिनको देशान्तर नहीं मालूम है; जिनको अक्षान्तर नहीं मालूम है; जिनको सूर्य-

चन्द्रमाकी गति, ग्रहकी गति, दो हजार वर्ष पहलेवाली मालूम है, आज वे जानते ही नहीं हैं कि आज चन्द्रमा अपनी कक्षामें-से हटकर कितनी दूर हो गया।

हमारे तो बाप-दादा-परदादा ज्योतिषविद्यामें बड़े माहिर थे। 'वराहमिहिर' की 'वाराहीसंहिता' तो हमने बचपनमें पढ़ी थी। कितनी छोटी उमरमें पढ़ी थी, जो ज्योतिषका उच्च कोटिका ग्रंथ माना जाता है। मैंने 'वाराहसार होराशास्त्र' भी पढ़ा था, मैंने 'जैमिनीय आयुर्दा' पढ़ा था, मैंने 'वृहत् जातक' पढ़ा था, 'जातकका—लंकार' पढ़ा था बचपनमें, अपने पिता-पितामहके साथ रहकर। हमको तो इसके बारेमें बहुत मालूम है।

कौन ग्रह कहाँसे कितना हटेगा यह दो हजार वर्ष पहले शोधन किया था भारतीय ज्योतिषियोंने। दो हजार वर्षमें कौन ग्रह कहाँसे कितना हट गया यह आज लोगोंको मालूम नहीं है। जन्म किस देशान्तरमें हुआ है, बम्बई और बनारसमें क्या फरक है, यह मालूम नहीं है। जिनका जन्म हुआ हो सिन्धमें और बम्बईके हिसाबसे ज्योतिष देखते हैं, उनका गलत है और बम्बई और बनारसके हिसाबसे ज्योतिष देखते हैं, उनका भी गलत है। देशान्तर पर अक्षान्तर पर बिना सारिणी निकाले, बिना ग्रहके चारको समझे और बिना ठीक समयका गणित समझे ज्योतिष देखना गलत है।

हमारी कुण्डली एक ज्योतिषीने बनायी। उसमें बारह सेकण्डका फरक पड़ता है। बारह सेकण्ड पहले हुआ हो, तो दूसरी राशि और बारह सेकंड बाद हुआ हो तो दूसरी राशि। गाँवमें पता लगाया कि असलमें यह बारह सेकण्डका पता लग सकता है? तो हमारी माँने और हमारी दादीने यह बताया कि-'जिस दिन तुम्हारा जनम हुआ, सूर्य पश्चिमकी ओर चला गया था और परछाईं जो है घरकी, यहाँ तक आयी थी तो यह लकीर खींच दी गयी है।' घड़ी थी ही नहीं, तो उसमें-से बारह सेकण्डका फरक कहाँसे निकालें?

कहनेका अभिप्राय यह है कि लोगोंके मनमें तरह-तरहका वहम बैठ जाता है। कोई सपनेका वहम होता है, कोई ज्योतिषका वहम होता है, कोई कुण्डलीका वहम होता है। यह बात तो हम समझते हैं भला, कि ब्राह्मणको, गरीबको, ज्योतिषीको अगर कोई कुछ अनुष्ठान कराता है, किसीको देता है, किसी गरीबकी जीविका चलती है, तो हमको बड़ी प्रसन्नता होती है। लेकिन आदमी वहममें पड़कर जो दुःखी होता है न, उसका दुःखी होना हमको बिलकुल ही नापसंद है। किसी गरीबको कुछ मिले, इससे तो खुशी होती है। और, गरीबको कुछ दिया जाय,

इसके सिवाय इसका तो और कोई प्रयोजन भी नहीं है।

इसी तरह सपने भी बहुत विलक्षण-विलक्षण आते हैं। ऐसे विलक्षण सपने आते हैं कि आप घोड़ेके धड़पर हाथीका सिर देख सकते हैं और आदमीके धड़पर घोड़ेका सिर देख सकते हैं। बोले कि-'हाय-हाय, यह क्या हो गया?'

अरे बाबा! तुम्हारे मनमें जो बातें देखी हुई हैं, सुनी हुई हैं, उनका संस्कार है, वासना है, वह कभी दिख जाती है। सगुन-अगुन जोड़ते रहो जो तुम्हारे मनमें होय सो! कारण ढूँढते रहो जो तुम्हारे मन में होय सो! मौज हो सो कारण ढूँढ़ लो। ऐसे भी कारण होते हैं कि रातको उड़दकी दाल खायी थी, इसलिए सपना आया। मुँह जूठा रह गया था, इसलिए यह सपना आया। छातीपर हाथ पड़ गया था, इसलिए यह सपना आया। तो ये सब कारण हैं। तो कारण चाहे कुछ भी जोड़ लो और उसका फल चाहे जो जोड़ लो; लेकिन जिस समय सपना अपने कलेजेके भीतर दिखता है, सूक्ष्म नाड़ियोंमें जिस समय अहंकारका आधा विकास और अवचेतन मन जिस समय अपना काम करता है, उस समय न हाथी है, न घोड़ा है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।

वहाँ न तो मोटर है न सड़क है, न तो उसको चलानेवाला कोई ड्राइवर है और न तो विक्टोरिया है, न घोड़ा है, न गाड़ी है। उस समय तुम्हारे भीतर कुछ है नहीं; सब-का-सब तुम्हारे मनकी फुरना ही मालूम पड़ती है।

वेदान्त न तो यह बताता है कि सपना आनेका कारण क्या है और न तो यह बताना चाहता है कि उसका फल क्या होगा। वह तो तत्त्वका निश्चय करता है। सचमुच वहाँ कोई शक्ल पैदा हो गयी थी कि तुम्हारा संस्काररूप ज्ञान ही उन-उन शकलोंमें भास रहा था? सब चीज—हाथ,पाँव,डंडा, तलवार भी भास रही थी, बन्दूक भी भास रही थी और बन्दूक चल भी रही थी। लड़ाईके दिनोंमें तो लड़ाईके सपने आते थे। तो, वहाँके करण, वहाँके कर्म, वहाँका कर्त्ता, वहाँ की क्रिया, वहाँका फल माने सुख-दुःख और वहाँकी तदाकार बुद्धि—वहाँ ये बिना हुए ही भासती हैं।

इसी प्रकार आप इस सम्भावनापर विचार तो करो कि इस समय आपको जो वक्ता भास रहा है, पोथी भास रही है, मकान भास रहा है, ये स्त्री-पुरुष भास रहे हैं, इनका क्या वैसा होना शक्य है? यदि कहीं भी सम्भावना निकल आवे कि वैसा होना शक्य है; क्योंकि सपनेमें सपना भी जाग्रत् सरीखा ही लगता है, बिलकुल सच्चा लगता है।

एक आदमी दिनभर मजदूरी करे और रातको बादशाह हो जाय-रोज यदि बादशाह हो जाय तो वह यही चाहे कि कब रात हो जाय और मैं बादशाह हो जाऊँ। यह तो रोज नहीं आता है, आकर फिर चला जाता है। इसलिए मनुष्य उसको तुच्छ समझता है। नहीं तो कई बार जब किसी देवताका सपना आता है, अपने प्यारेका सपना आ जाता है, मरे हुए का सपना आ जाता है या अपने गुरुका सपना आ जाता है, तो आदमी चाहता है कि यह बार-बार आवे। उसमें प्रेम होनेसे उसको बार-बार देखनेकी इच्छा होती है। लेकिन यह प्रेमकी महिमा है। यह नहीं समझना कि उस समय कुछ होता है।

जिस दुनियाको हम लोग चाहते हैं, उस दुनियामें हम दुश्मनकी शकल नहीं देखना चाहते, आँखमें जलन होती है कि दुश्मन आ गये। वह तो किसीका बहुत प्यारा भी हो सकता है।

जिस प्यारेको देख करके तुम्हारे दिलमें अमृतकी धारा बहने लगती है, वह किसीका दुश्मन भी हो सकता है। उसको देखकर किसीके दिलमें आग लग जाती है। यह जो दिलमें आग लगती है और यह जो दिलमें अमृत आता है, वह तुम्हारे प्रेमका और तुम्हारी दुश्मनीका नतीजा है। उस चीजमें तो ऐसा कुछ है नहीं।

यह जो दुनिया बड़ी प्यारी लगती है और यह ख्याल होता है कि यह बनी रहे; यह बिलकुल सपनेकी दुनिया प्रेम हो जानेके कारण और ऐसा लगनेके कारण कि यह हजारों-लाखों बरससे चली आ रही है और हजारों लाखों बरस तक रहेगी; अभी हम २०-२५-५०-१०० बरस तक जिन्दा रहकर इसका उपभोग करेंगे—यह जो वासना है, इसमें फँसाती है।

फिर आखिरमें कहता हूँ कि आप चार बातका ध्यान रखो—

(१) काम-क्रोधके वशमें अपने मनको मत होने दो। भगवान्-परमात्मा-सत्यके मार्गमें चलनेके लिए पहली बात यह है।

(२) अपने जीवनमें दुश्चरित्र मत आने दो।

(३) सिद्धियोंके पीछे मत पड़ो। यह दुनियाकी जो सिद्धियाँ हैं, ये बिलकुल झूठी हैं। ये इन्द्रजाल हैं, ये जादूके खेल हैं, ये बेवकूफ लोगोंको दुनियामें भटकानेके लिए होते हैं। ये जादूके खेलकी कोई कीमत नहीं है।

(४) अपने मनको चंचल मत होने दो। अपने मनको एकाग्र करके अपने लक्ष्यमें लगाओ और करो भगवान्का भजन। भगवान्का भजन करनेसे ऐसा आनन्द आवेगा और तुमको सत्यका ऐसा साक्षात्कार होगा कि ये जो राग-द्वेष तुमको दुःख देते हैं, ये बिलकुल दुःख नहीं देंगे। ●

प्रवचन
२०

अंतःकरणवृत्तिश्च - - बोधेऽक्षेर्विषयान्बहिः ॥ ११ ॥
मनोऽहङ्कृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम्।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥ १२ ॥
शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत ॥ १३ ॥
सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा ॥ १४ ॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥ १५ ॥
साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम्।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥ १६ ॥
अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृत्तौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥ १७ ॥

अन्तमें दो तरहसे विचार किया जाता है। एक जिस वस्तुका हम साक्षात्कार करना चाहते हैं, उस वस्तुका क्या स्वरूप है? दो-हम अपनेको कैसी अवस्थामें करेंगे, तब उसका साक्षात्कार होगा? माने, हमारे अन्तःकरणकी किस दशामें, हमारा अन्तःकरण कैसा होनेपर उसका साक्षात्कार होगा? एक विचार यह और एक विचार यह है कि जो है वह कैसा है?

असलमें 'वह कैसा है,' इसको समझते-समझते हमारी समझ भी वैसी ही बन जाती है। समझमें आकार वही आता है जिसको हम समझते हैं। जैसे, आप बाहर किसी चीजको देखकर आँख बन्द कर लो, तो भीतर भी वही दिखेगा। तो बुद्धिसे पहले वस्तुको समझ लो, तो बुद्धि तदाकार भासने लगेगी। इसलिए समझना भी

पहले जरूरी है। बिना समझे पहले अन्दर देखेंगे तो जैसा समझा हुआ है संसार, वैसा ही भीतर मालूम पड़ने लगेगा।

एक पेड़को देखकर, एक पौधाको देखकर, जलती हुई आगको देखकर, मकानको देखकर, आँख बन्दकर लेते हैं। स्त्रीको देखकर, पुरुषको देखकर आँख बन्द कर लेते हैं। आँख तो बन्द हो जाती है, लेकिन वह चीज भीतर दिखती है। तो पहले समझना चाहिए कि परमेश्वर कैसा है? उसके बाद आँख बन्द करके बैठो, तो तुम्हारी बुद्धि-तुम्हारी समझ वैसा ही आकार ग्रहण कर लेगी।

दूसरी बात यह है कि अपने अंत:करणको शुद्ध करो। जैसे, कोई बर्तन जूठा है, तो शुद्ध करते हैं न! ऐसे ही अपना जो अंत:करण है, वह दुनियाकी गन्दी-गन्दी वस्तुओंकी याद करके गन्दी शकलका हो गया, तो उसकी गन्दगी मिटानी चाहिए। आप यह नहीं समझना कि हम गन्दे अन्त:करणसे ही परमात्माको पकड़ लेंगे। अपने अन्त:करणको शुद्ध करो—

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

(मुण्डकोपनिषत्) ३-१-५

मुण्डक उपनिषद्का कहना है कि 'झूठसे जो तुम्हारी प्रीति है, उसको छोड़ो।' भला, झूठकी प्रीति छोड़नेसे और ईश्वरकी प्राप्तिके साथ क्या सम्बन्ध है? आप थोड़ा-सा ध्यान दो। परमात्मा है परम-सत्यवस्तु और झूठका परित्याग करनेपर ही सत्यका साक्षात्कार होगा। तो, सत्यसे होना चाहिए प्रेम और असत्यका होना चाहिए त्याग।

तुम्हारी नजरमें जो-जो असत्य है, उसको छोड़ते जाओ और जो-जो सत्य है उसको पकड़ते जाओ। अगर तुम दुनियाकी कोई असत्य वस्तु पकड़कर रख लोगे, उससे प्रेम करोगे तो परमात्मा सोचता है कि—'भाई, इसका जब असत्यसे ही काम चल रहा है, तो इसको सत्यकी प्राप्तिकी क्या जरूरत है? तो हमारी बुद्धिका पक्षपात, हमारे प्रेमका पक्षपात असत्यसे नहीं होना चाहिए।

जो यह समझते हैं कि असत्यसे हमारा दु:ख मिट जायेगा, असत्यसे हमको सुख मिल जायेगा, असत्यसे हमारा अज्ञान मिट जायेगा, असत्यसे हमको ज्ञान हो जायेगा, असत्यसे हमारी समाधि लग जायेगी-ऐसा जो सोचते हैं, वे बिलकुल गलत सोचते हैं। पहले बोलनेमें असत्यका त्याग करो, फिर भोगनेमें असत्यका त्याग करो, फिर करनेमें असत्यका त्याग करो, फिर सोचनेमें असत्यका त्याग करो, तो फिर देखो कि जो रह जायेगा, वह सत्य है।

एक महात्मा ऐसे बोलते हैं कि-'दूसरेकी नजर काममें लेनेकी जरूरत नहीं है। तुम्हें तुम्हारी नजरमें ही जो असत्य मालूम पड़ता है, उसको छोड़ो दूसरेकी नजर तो हर बखत उधार नहीं मिल सकती। तो तुम अपने ही विवेकके प्रकाशमें यह देखो कि क्या सत्य है और क्या असत्य है? तुम्हें अपने विवेकके प्रकाशमें जो असत्य मालूम पडे, उसको छोड़ो।

तब परमात्मा कहेगा कि-'भाई, यह असत्यका प्रेमी नहीं है, यह सत्यका प्रेमी है। आओ, हम उसको मिल जायँ।'

दूसरी बात क्या है कि थोड़ा कष्ट चाहिए।

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा।

एक आदमीने नियम लिया कि हम दूसरेकी बनायी रोटी नहीं खायेंगे। ईश्वर कृपासे एक दिन ऐसा प्रसंग पड़ा कि अपने बनानेका डौल नहीं बैठा। तो उसने कहा कि चलो, आज हम अपना नियम तोड़ देते हैं। तो करना क्या चाहिए? उस दिन उसको जल पीकर, फल खाकर, दूध पीकर वह दिन बिता देना चाहिए। जो थोड़ा-सा कष्ट सहनेके लिए तैयार नहीं है, वह निष्ठावान् नहीं है। अपने नियमको पूरा करनेके लिए, अपने व्रतको पूरा करनेके लिए कष्टसहनकी क्षमता मनुष्यके जीवनमें होनी चाहिए।

'सत्य क्या है?' इसके ज्ञानके लिए हमेशा प्रयत्न रखना चाहिए। हम सत्यको ही स्वीकृति देंगे, जो कुछ चेष्टा करते हैं, परमात्माकी प्राप्तिके लिए करते हैं। सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य। परमात्मा कहीं दूर नहीं है। 'अन्तःशरीरे'— तुम्हारे शरीरके भीतर परमात्मा बैठा है। जैसे घड़ेके भीतर पोल होती है। वैसे यह शरीर भी तो घड़ेकी तरह है। ऊपर जैसे घड़ेका मुँह होता है गलेके ऊपर और यह नीचे जैसे घड़ेका पेट होता है, वैसे ही तो बैठा हुआ है यह शरीर। घड़ेके भीतर जैसे आकाश होता है, वैसे इस शरीर रूप घड़ेके भीतर एक अवकाश है और वह इतना चमचम चमकता है भीतरका वह आकाश सूर्यकी तरह—

विशोका वा ज्योतिष्मतीम्।

उसमें कोई दुःख नहीं है, उसमें कोई शोक नहीं है, उसमें कोई जड़ता नहीं है, उसमें बुढ़ापा नहीं है, उसमें मृत्यु नहीं है—

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

दोषरहित होकर महात्मालोग अपने अन्दर उसका दर्शन करते हैं। जब तुम यह सोचते हो कि—'मैं साक्षी हूँ', तो 'मैं साक्षी हूँ'—इस वृत्तिको तुम देखते हो कि

नहीं ? 'मैं साक्षी हूँ'—ऐसा अनुभव होता है कि नहीं ? असलमें वह तो दृश्य ही है। वृत्तिके रूपमें दृश्य है, द्रष्टाके रूपमें भी दृश्य ही है, क्योंकि आरोपित जो होता है, वह दृश्य ही होता है।

अनन्त, अन्तःशून्य, बहिःशून्य, अन्तःपूर्ण, बहिःपूर्ण, परमात्मामें द्रष्टा और दृश्यका भाव भी आरोपित है।

यत् आरोपित तद् दृश्यते।

जो आरोपित होता है, वह दृश्य होता है।

अन्तःशून्य बहिःशून्य मध्यशून्य।
अन्तःपूर्ण बहिःपूर्ण मध्यपूर्ण।

परिपूर्णतम परमात्मामें जो द्रष्टा और दृश्यका भाव है कि—'इस दृश्यका मैं द्रष्टा हूँ'—यह भाव जो आरोपित है, या 'मैं द्रष्टा हूँ'—यह जो वृत्ति है, 'मैं द्रष्टा हूँ'—यह जो अभिमान है, 'मैं द्रष्टा हूँ'—यह जो अनुभव है, यह भी बुद्धिवृत्तिके द्वारा आरोपित ही है। इस बातको कच्चे वेदान्ती नहीं जानते हैं, इस बातको बहुत पक्के वेदान्ती ही जानते हैं। आरोपित होनेसे ही वह दृश्य होता है।

स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज यहाँ विराजते थे। मैंने एक दिन उनको एक बात सुनायी—'कुम्भके मेलेमें एक महात्माके पीछे-पीछे मैं चला। सत्संगकी चर्चा चली। आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है; उन्होंने द्रष्टाकी बात बतायी, साक्षीकी बात बतायी।'

'मैंने कहा कि बिना दृश्य हुए या बिना अन्य हुए साक्षी किसका होगा ? द्रष्टा तो द्वैतका ही होगा; साक्षी तो, द्वैतका ही साक्षी होगा। यह अद्वैत क्या हुआ ?'

यह बात बहुत पुरानी है। चलते-चलते बैठ गये वहाँ बालूमें। बोले—'सुनो पण्डितजी!' उस समय मैं पण्डितजी था। संन्यासी हुए तो अभी छब्बीस बरस हुए न! साधुओंके चक्करमें तो हम पहलेसे ही हैं। तो बैठ गये। बोले—'पण्डितजी! सुनो-सुनो! बस, जो बात तुम कहते हो, वह प्रश्न नहीं है, यह सिद्धान्त है। और इसका कोई उत्तर नहीं है। बिना द्वैतभावके सम्पूर्ण बाधके द्रष्टा-साक्षीका जो आरोपितत्त्व है, वह बुद्धिमें आरोपित नहीं हो सकता। सच पूछो तो न कोई कर्मका बोझ है, न कोई भोगका बोझ है। न वृत्तिके निरोधका बोझ है न वृत्तिकी तदाकारताका बोझ है। अपने ऊपर कोई बोझ ही नहीं है।'

यह वेदान्त ऐसी वस्तु है जो मनुष्यके सारे बोझको उतारकर फेंक देता है। 'यह कर्तव्य है'—इसका भी बोझ नहीं है। 'यह प्राप्तव्य है'—इसका भी बोझ नहीं है।

'यह त्यक्तव्य है'—इसका भी बोझ नहीं है। 'यह ज्ञातव्य है'—इसका भी बोझ नहीं है। सम्पूर्ण बोझोंसे मुक्त, ऐसा हल्का-फुल्का, जिसमें दूसरा कोई है ही नहीं; न देश, न काल, न वस्तु! ऐसा अद्वय तत्त्व यह अपना स्वरूप है।

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

जब यति क्षीणदोष होता है, उसके सारे दोष जब भंग हो जाते हैं, मलदोष-विक्षेपदोष-आवरणदोष, सारे दोष भंग हो जाते हैं तब महात्मा लोग इसका दर्शन करते हैं—

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

इसका विचार करनेके लिए यहाँ यह बात कही कि—

वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षेर्विषयान्बहिः ॥

इस चितिच्छायासे एकतासे प्राप्त जो हैं हम! यह चितिच्छाया क्या है? जैसे दर्पणमें कोई वस्तु दिखती है, (दृष्टान्त एकांगी होता है, समझानेके लिए।) इसमें यह पूछनेकी जरूरत नहीं है कि शीशा कौन है, परछाईं किसकी है? दर्पण क्या है? दर्पणमें बाहरसे किसी चीजकी परछाईं पड़ती है, यह समझाना नहीं है। दर्पण परछाईंको समझाना थोड़े है? अखण्ड, अविनाशी, परिपूर्ण अद्वितीय जो आत्मदेव हैं, उनके बारेमें समझाना है, उनसे बाहर कुछ है ही नहीं। तब इसमें छाया कहाँसे आयी? बहुत मजेदार प्रसंग है। यह भी साधारणरूपसे वेदान्तियोंकी समझमें नहीं आता। अपनेको ब्रह्म माननेवाले सौमें-से निन्यानबे वेदान्ती केवल मान्यतावाले होते हैं, समझदार नहीं होते हैं। केवल वे मानते हैं कि—'हाँ, ऐसा है, ऐसा है।'

यह चितिच्छाया कहाँसे आयी? आपको उसकी एक उपपत्ति बताता हूँ। उपपत्ति=युक्ति, समझनेकी बुद्धि। एक अनन्त, अखण्ड, अविनाशी, परिपूर्ण परमात्मा स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश होनेसे यह किसीको प्रकाशित करना चाहता है। दूसरा कोई है ही नहीं, जिसको यह प्रकाशित करे। तो अपने-आपमें ही, अपना आप ही प्रकाश्य और प्रकाशक होकर दो रूपमें भासता है। जो अपना प्रकाश्य अंश है, उसको 'छाया' बोलते हैं। जो प्रकाशक अंश है, उसको 'चित्' बोलते हैं।

हम देखे बिना रह नहीं सकते और दूसरा कोई है नहीं! तब क्या करेंगे? अपने आपको ही देखेंगे। यह जो अनन्त चैतन्य परमात्मतत्त्व है,

सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ गीता-१३.१५

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥ गीता-१३.१६

यह परमात्मा अपने आपको ही देख रहा है। दूसरा कोई देखनेके लिए है नहीं। देखना आत्माका स्वभाव है। देश-काल-वस्तु है नहीं। और दीखना आत्माका स्वरूप है नहीं। तो अपने आपको ही प्रपंचके रूपमें स्वयं देख रहा है, स्वयं दीख रहा है।

देख रहा है और दीख रहा है—यह भेद जबतक हम देहमें बैठे हैं, तबतक इसकी कल्पना करनी पड़ती है। चित् और छाया-यह देहकी अपेक्षासे है। यदि देहकी अपेक्षा न हो तो चित् और छायाका भेद भी न हो चित्-छायाकी कल्पना ही करनी पड़ती है देहभावकी निवृत्तिके लिए।

देहमें दो बात होती है—एक, देहके भीतरकी कल्पना और एक देहके बाहरकी कल्पना। हम आपको वेदान्तकी खास बात बताते हैं। हमको यह शिष्टाचार मालूम है कि किसीको यह नहीं कहना चाहिए कि—'हम तुमको बताते हैं।' ऐसा कहना चाहिए कि—'आपको तो मालूम ही है, हम आपको याद दिलाते हैं?'

जड़ क्या है और चेतन क्या है? आजकल समझो, कि आप इसको अंग्रेजी ढंगसे पढ़कर आओ तो जड़-चेतनकी परिभाषा-उसका लक्षण, उसकी पहचान आपको यह बतायी जायगी कि चेतन वह है जो देख सकता है, बोल सकता है, छू सकता है, सूँघ सकता है। वह तो हुआ चेतन।

जो देख नहीं सकता, बोल नहीं सकता, सुन नहीं सकता, सूँघ नहीं सकता, जो सोच नहीं सकता उसका नाम हुआ जड़।

वेदान्तमें जड़ और चेतनकी यह परिभाषा नहीं है। आप पहचान सीखोगे विलायतसे और समझना चाहोगे भारतीय ग्रन्थको, भारतीय शास्त्रको, भारतीय विद्याको तो मुश्किल पड़ेगी। इसको यहींसे समझना पड़ेगा। हमारे ऐसे बोलते हैं—'जो देखा जाय सो जड़ और जो देखे सो चेतन।' तो बोले कि—'आप हमको देख रहे हैं, तो क्या हम जड़ हैं?' पहली गाली आयी—'क्या हम जड़ हैं?'

'नहीं, हम आपको जितना देख रहे हैं, केवल जड़ता ही देख रहे हैं। आपकी कोई चेतनता हमको नहीं दीख रही है, हड्डी-मांस-चाम शरीर। जो चेतनता है वह कहाँ देखी जा रही है? और आप भी जितना हमको देख रहे हैं, उतना केवल जड़ता ही देख रहे हैं।'

जाहिर करनेके लिए जिसको प्रकाशकी जरूरत पड़े, ज्ञानकी जरूरत पड़े, उसको जड़ बोलते हैं और जो दूसरेको भी जाने और अपनेको भी जाने, उसको चेतन बोलते हैं। अपनेको जानना और दूसरेको जानना यह चेतनका लक्षण है। जाना जाना, यह जड़का लक्षण है।

आपको यह बात ध्यानमें रखने लायक है कि जितना इस शरीरमें जाना जाता है और जितना उस शरीरमें जाना जाता है सो जड़। इस दुनियामें जितना जाना जाता है सो जड़ और जाननेवाला चेतन।

बोले—अरे बाबा! हम तो जानते हैं। तुम जानते हो?' नहीं जानते हैं। तुम्हारा जानना और न जानना, हमारा न जानना और तुम्हारा जानना, दोनों जाना जाता है। इसलिए चेतन नहीं है। इससे हम बिलकुल अलग हैं।

चन्द्रलोकके ऊपर क्या है? बताओ।

बोले—'इस शरीरसे थोड़े ही हम चन्द्रलोकके ऊपरकी चीज देखते हैं?'

असलमें चन्द्रलोकका उस पार, चन्द्रलोकका इस पार, यह शरीर, इसकी मनोवृत्ति और इस मनोवृत्तिमें ईश्वराकार, जीवाकार, देशाकार, कालाकार, द्रव्याकार, अनेकाकार, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति जो कुछ इसमें भासती हैं और कहीं भी भासती हैं, यह जानी जाती हैं। जानाजानेवाला जो है, वह तो सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे शून्य, देश-काल-वस्तुकी कल्पनासे शून्य बिलकुल अद्वितीय अखण्ड है। जब देहमें बैठते हैं तब देहके बाहर और भीतरका कर लेते हैं भेद। देहके भीतर यदि हमें नदी दिखे तो?

हमारी माताजी एकबार किसीसे कोई साधन सीखकर आयीं। बनारसमें एक योगिनी मिल गयीं उनको। ऐसा साधन बताया उसने कि वह तो दो-दो तीन-तीन घण्टे बैठी रहतीं और उठती नहीं।

अब देखो एक चमत्कार मैं बताता हूँ! जानबूझकर नहीं हुआ, अनजानमें हुआ। एक दिन हम साथ-साथ भोजन करने बैठे तो मैंने कहा—'माताजी! आजकल तो तुम सिनेमा देखती हो!' तो उन्होंने आँख उठायीं; बोलीं कि—'तुमको कैसे मालूम?'

मैंने कहा—'बताओ, तुम्हें दिखता है?' वह तो भोली-भाली! बताने लग गयीं—'एक नदी बहती है, उसके किनारे-किनारे चलती हूँ और बड़े-बड़े हरे-भरे पहाड़ हैं, मन्दिर हैं, ऊपरसे सन्तलोग उतरते हैं; फिर ऐसा लोक दिखता है, फिर ऐसा लोक दिखता है, फिर ऐसा लोक दिखता है! मैं यहाँ तक पहुँच गयी हूँ।' सब बताया उन्होंने, तो मैंने बोल दिया कि—'तुम इस मन्त्रका जप करती हो न!'

बोलीं कि—'हाँ, मैं तो इसी मन्त्रका जप करती हूँ। हमको योगिनी माताजीने यह मन्त्र बताया है।'

मैंने कहा—'माताजी! यह तो परमार्थ नहीं है। यह तो जादूका खेल जैसे होता है, वैसे भीतर यह सिनेमा देखना परमार्थ थोड़े होता है? जैसे बाहर देख लिया तो,

भीतर देख लिया तो, ये नदी पहाड़ देखनेमें क्या रखा है? यह तुम क्या भीतर तमाशा देखती हो?'

उन्होंने कहा—'यह सब तो बात होगी पीछे! पहले तुम हमको बताओ कि तुमको हमारा यह मन्त्र कैसे मालूम हो गया? हमको गुरुजीने बताया था कि यह मन्त्र किसीको बताना नहीं और किसी दूसरेको मालूम नहीं है, तो तुमको मंत्र मालूम कैसे हो गया?'

हमको भी मंत्र कैसे भी मालूम नहीं हुआ। उस समय जीभसे न जाने क्यों न जाने कैसे बोला ही गया। वह मंत्र हमको किसीने बताया नहीं था। वह लिखा हुआ देखा नहीं था। माताजीने हमको बताया नहीं था। उस समय जीभसे अपने आप वह बोला गया।

यह जो भीतर बहुत सारे पदार्थ दीखते हैं, वह दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ—यह भी भीतर ही दीखता है। जैसे, गंगाजीके किनारे-किनारे मनमें आप चलो, तो गंगाजी तो दीखती हैं और किनारे-किनारे चलकर आप देख रहे हैं, यह भी मनकी कल्पना है; क्योंकि यदि आप कल्पना छोड़ दो, तो वह नहीं दिखेगा।

आप बैठकर कल्पना न करो, तो न गंगाजी दिखेगी, न पहाड़ दिखेगा, न रास्ता दिखेगा, न सन्त दिखेंगे, न मन्दिर दिखेगा न सिर दिखेगा, कुछ नहीं दिखेगा। यह विलक्षण बात! भीतर जैसे अपनी वासनासे मन देखता है, वैसे कुछ शब्दकी शक्ति है, कुछ ध्यानकी शक्ति है, कुछ कर्तृत्वकी शक्ति है, कुछ वासना है! सब मिल करके दिखता है। वैसे ही—

वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान्बहिः॥

जब जागते हैं तब इन्द्रियोंके रास्तेसे हम बाहर देखते हैं और जब हम आँख बन्द कर लेते हैं, इन्द्रियोंको बन्द कर लेते हैं, तब भीतर देखते हैं। देखता मन ही है; माने देखता चश्मा है कि आँख देखती है? आँख देखती है। कभी चश्मा लगाकर देखती है, कभी बिना चश्मा लगाये देखती है। इसी प्रकार यह आँख भी एक चश्मा ही है। कभी इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं और कभी बिना इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं। जब इन्द्रियोंके द्वारा बाहर देखते हैं, तो यह फैली हुई दुनिया दिखाई पड़ती है। इसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

बोधे=जागरे, जाग्रत अवस्थायाम्। अक्षैः=इन्द्रियैः बहिर्विषयान् पश्यन्=विषयोंको देखते हैं।

जाग्रत् अवस्थामें बाहर इन्द्रियाँ देखती हैं। वासना कल्पयेत्स्वप्ने=स्वप्नावस्थामें

अपनी वासनाओंको देखता है। जैसे स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंके बन्द रहनेपर भीतर अपनी वासना दिखती है, वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें खुली इन्द्रियोंसे बाहर अपनी वासनाएँ दिखती हैं। ये वासनाओंके दिखनेमें कोई अन्तर नहीं है। 'करणं कर्म कर्ता'—वहाँ भी मालूम पड़ता है कि—'मैं देख रहा हूँ' और यहाँ भी मालूम पड़ता है कि 'मैं देख रहा हूँ।'

स्वप्नमें क्या आपको हाथ नहीं मालूम पड़ता? स्वप्नमें भी हाथ होता है जिससे हम खाते हैं। सपनेमें आप दान करते हैं, तो क्या आप कर्म नहीं करते हैं? 'मैं दान कर रहा हूँ—सपनेमें आप क्या कर्ता नहीं बनते हैं? क्या सपनेमें आपको सुख-दुःख नहीं होता है?'

जैसे सपनेमें होता है इन्द्रियोंका दरवाजा बन्द रहनेपर, वैसे ही जाग्रत्में होता है इन्द्रियोंका दरवाजा खुला रहने पर। यह वासनाका ही खेल है। जैसा स्वप्न वैसा जाग्रत्। अब गये सुषुप्तिमें। श्रीशंकराचार्यजीने अपने भाष्यमें कहा—

इन्द्रियैः अर्थोपलब्धिर्जागरितम्।

इन्द्रियोंसे संसारका मिलना, इसका नाम जाग्रत् है। और—

करणेषु उपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः।

करणोंके=इन्द्रियोंके बन्द हो जानेपर जाग्रत्की संस्कारजन्य सविषय जो वृत्तियाँ हैं, उनको स्वप्न कहते हैं।

सर्वप्रकार ज्ञानोपसंहारो बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।

सब प्रकारके ज्ञानका उपसंहार हो जाना और बुद्धिका कारणरूपसे बैठ जाना, उसका नाम सुषुप्ति है। परन्तु चाहे जाग्रत् हो, चाहे स्वप्न हो, चाहें सुषुप्ति हो—

सपने ह्वै ह्वै मिट गये रह्यो सारको सारा।
निराकार साकार रूप धरि आयो कई एक वारा॥ सपने

कई बार साकार सामने आया, कई बार निराकार सामने आया, कई बार सपना आया। हम लोग वृन्दावनमें रहते हैं, तो हमारे सामने कितने लड़के राधा-कृष्ण बनते हैं। अब हम यदि याद करें न, 'बोहरेजी'के जमानेसे हमने रासलीला देखी, जो वर्तमान रासलीलाके आदि-प्रवर्तक हैं। ऐसा रास दिखाते थे! दस बजे रातको जो उनके घरमें आ जाय सो आ जाय, नहीं तो किवाड़ी बन्द कर देते थे। बाहरके लोगोंको नहीं दिखाते थे। बोले कि—'ठाकुरजीके सिंहासनपर बैठनेके पहले आना हो, तो आ जाओ। अगर बादमें आओ तो वह तो अशिष्टता है। मालिक आकर बैठ

गया और तुम बादमें आते हो ?'

यह रासलीलाकी याद आपको दिलायी। क्यों दिलायी ? हम आते थे गोरखपुरसे। सन् २६ में पहले-पहल आया था वृन्दावन। तब गोरखपुरसे नहीं आया था, घरसे आया था। तबतक मैं गोरखपुर गया नहीं था।

बड़े होनेपर 'बोहरेजी'से पूछा—'आगे इन बच्चोंका क्या होगा ?' वे बच्चोंको पढ़ाते नहीं थे।

बोले कि—'भगवान् जो करेंगे सो होगा।'

मैंने पूछा कि—'इनका सदाचार कैसा है ?' आप लोगोंको बुरा न लगे।

बोलेकि—'देखो पण्डितजी! एक लड़केको दाहिने और एकको बाँये सुलाकर हम बीचमें सोते हैं कि ये ब्रह्मचर्यसे रहें। लेकिन हम लंगोटी पकड़कर तो किसीको ब्रह्मचारी नहीं बना सकते न ? मैंने हाथ जोड़ लिया। भगवान्की जो इच्छा हो सो होय! जो उसकी लीला हो सो होय!'

सन् २६ में जो स्वरूप बनते थे, वे आज क्या होंगे ? बूढ़े हो गये। सन् २६ में पन्द्रहके हों तो आज पचपन-छप्पन-सा हो गया। उसके लड़के स्वरूप बने, फिर उसके लड़के भी स्वरूप बने और बिगड़ गये। कितनी पद्धति है, कितने रूप प्रकट करते हैं ?

'निराकार साकार रूप धरि आयो कई एक बारा।' स्वरूप बनकर नाचते देखा, गुण्डे बनते देखा, मण्डलीका मालिक बनते देखा, निरक्षर भट्टाचार्यसे डाकू बनते देखा, क्या-क्या रूप भगवान् बदलते हैं, प्रकट करते हैं ? कोई समझ नहीं सकता है, नारायण!

यह दुनिया किस-किस रूपमें प्रकट हो रही है ? कभी हृदयमें निराकार भासता है, कभी साकार भासता है; कभी सपना भासता है, कभी जाग्रत् भासता है—

सपने ह्वै ह्वै मिट गये, रह्यो सारको सारा।

लेकिन, जरा उस आत्माकी ओर देखो! वह स्वप्न होनेपर स्वप्नको देखता रहता है, जाग्रत् होनेपर जाग्रत्को देखता रहता है, सुषुप्ति होनेपर, सबके सो जानेपर सुषुप्तिको देखता रहता है। उस परमात्माको देखो।

दुनिया कैसे बदल रही है ? बिलकुल जैसे कुम्हारका चाक घूमता है। बारह महीने—ये चैत्र-वैशाख-जेठ- कितनी बार आया और गया! शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष बारह-बारह बार दोनों वर्षभरमें आकर चले जाते हैं। ये अठवारे-सप्ताह! ये सोमवार-

ये मंगलवार-ये बुधवार कितनी बार आता और जाता है! आप समझते हैं कि ये प्राकृत हैं ? प्रकृतिमें कुछ सोमवार-मंगलवारका भेद होता होगा ?

आप समझते हैं कि घड़ीमें घंटे अलग-अलग हैं तो कालमें भी भेद होता होगा ? घड़ीमें घंटे अलग-अलग होनेसे कालमें कोई भेद नहीं होता। रात-दिन होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता। चौबीस पक्ष होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता। बारह महीने होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता। साठ संवत्सर होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता। और, सत्‌युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता। ये कल्पनाएँ आती हैं और जाती हैं। मन्वंतर-पर-मन्वंतर, युग पर युग, कल्प पर कल्प, महाकल्प पर महाकल्प! ब्रह्मा-विष्णु-महेश पैदा होते हैं और मर जाते हैं। परन्तु-

रह्यौ सारको सारा!

जो द्रष्टा है, जो साक्षी है, जो चैतन्य है, जो आत्मदेव हैं, वह सार-का-सार है। वही रहता है। सुषुप्तिमें क्या रहता है ? कभी आपने विचार किया ? स्वामी रामतीर्थने बड़ा जोर देकर यह बात लिखी है। वे कहते हैं कि—'तुम सत्यपर तो विचार करते हो और अपने जीवनमें आनेवाली जाग्रत् अवस्थाको तो तुम सत्य मानते हो; स्वप्नको भी यथा कथंचित् सत्य मानते हो— सगुन-अगुनके रूपमें तो सत्य मानते ही हो। सारी दुनियामें सगुन-असगुन माना जाता है, लेकिन पिछड़े हुए लोगोंमें माना जाता है। उच्च कोटिके सुशिक्षित लोगोंमें कभी भी नहीं माना जाता है और न भारतीय-दर्शनमें माना जाता है।'

जैसे भूत-प्रेतकी पूजा, कहो कि अमेरिकामें भी होती है! बोले—'भाई, कब्रकी पूजा तो रूसमें भी होती है'। लन्दनमें भी होती है, अमेरिकामें भी होती है, फ्रांसमें भी होती है। पूजा होती है, परन्तु वहाँके पिछड़े हुए, लोगोंमें होती है। जो प्रबुद्ध लोग हैं, जो जाग्रत् लोग हैं, जो विज्ञान और दर्शनको जानते हैं, उन लोगोंमें नहीं होती है। ये अंधविश्वास जो अपने जीवनमें बहुत सारे भरे हुए हैं, जिनके कारण हम बात-बात में, बात-बातमें दुःखी होते रहते हैं, यह कोई वैज्ञानिक लोगोंका, शिक्षित लोगोंका काम नहीं है।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—'आप जाग्रत् अवस्थाको सच्ची मानते हो, तो स्पप्नपर विचार क्यों नहीं करते ? कौन-सी ऐसी विलक्षणता है कि स्वप्नको तो झूठा मानते हो और जाग्रत्‌को सच्चा मानते हो ? कौन-सा ऐसा अन्तर है ? क्या सपनेमें पाप-पुण्य, पुण्य-पाप मालूम नहीं पड़ता ? क्या सपनेमें मरना-मरना मालूम नहीं

पड़ता ? क्या सपनेमें सुख-दुःख, सुख-दुःख मालूम नहीं पड़ता ? क्या सपनेमें स्त्री-पुरुषका संभोग मालूम नहीं पड़ता ? और क्या वहाँ उस समय वह सच्चा नहीं मालूम पड़ता ? वहाँ उस समय क्या वह जाग्रत् मालूम नहीं पड़ता ? उस समय भी तो वह जाग्रत् मालूम पड़ता है।'

जैसे इस समय तुम्हें दुनिया सच्ची मालूम पड़ रही है, वैसे उस समयकी दुनिया भी सच्ची मालूम पड़ती है। कहाँ फँसे हो ? जो सुषुप्तिमें नहीं हैं, वह कहीं नहीं है। सुषुप्ति अवस्थामें जो मिट जाता है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। सुषुप्तिको किसने देखा ?

मनोऽहङ्कृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम्।

मन है वृत्ति और अहंकार है वृत्तिमान् माने अहंकारवाला। मन है करण, औजार और अहंकार है कर्ता। परन्तु ये दोनों वृत्ति हैं। वृत्ति=व्यवहार, बर्तन, बर्ताव, 'अहं अस्मि' मैं हूँ—यह भी वृत्ति है और 'यह है'—यह भी वृत्ति है। एक-दूसरेके प्रति जो व्यवहार-बर्तन है, उसीको असलमें 'वृत्ति' कहते हैं।

वृतु बर्तने संस्कृतकी धातु है। वृतु वर्तने वर्तनम् वृत्तिः, व्यवहार—शारीरिक और मानसिक ये दोनों व्यवहार हैं, इनको 'वृत्ति' बोलते हैं। व्यवहारका जो करण है, उसको 'अन्तःकरण' बोलते हैं। अन्तःकरण, बहिःकरण और व्यवहारमें जो कर्ता है, उसको बोलते हैं 'अहंकार' माने 'मैं हूँ।' 'मैं नहीं हूँ।'

'मैं नहीं हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको नहीं होता है। 'यह नहीं है'—ऐसा तो हो सकता है 'यह है' ऐसा भी हो सकता है। आकाशकी नीलिमा दिखती हुई भी नहीं है। खरगोशका सिंग मालूम पड़ता हुआ भी नहीं है। रस्सीमें साँप मालूम पड़ता हुआ भी नहीं है। 'यह तो है, परन्तु साँप नहीं है। इदंता है, परन्तु साँप नहीं है। लेकिन 'मैं नहीं हूँ'—यह कभी न बोल सकते हैं, न सोच सकते हैं। 'मैं' के हुए बिना 'यह' पैदा ही नहीं होता।

जिस ज्ञानके पेटमें 'यह' है, उसको 'वृत्ति' बोलते हैं। उस वृत्तिको जो मेरी समझता है, उसको 'अहं' बोलते हैं। यह 'मैं-पना' और 'मेरा-पना' वृत्ति-वृत्तिमद्भाव, वृत्तिका अन्तःकरण में होना और अपनेको वृत्तिमान् मानना—ये दोनों सुषुप्तिकालमें लुप्त हो जाते हैं। परन्तु उनका बीज रहता है। इस बीजको ही अविद्या मानते हैं—'जडात्मकम्'।

यही वृत्ति और वृत्तिमान्, मन और अहंकार दोनोंका वह बीज है माने मूल कारण है, एक लिंग है। एक है साक्षी और एक है अज्ञानात्मक-जड़ात्मक जिसमें अहंकार और इदंकार सोता-जागता है, वह है जड़ लिंग शरीर।

आत्माको तीनों अवस्था मालूम पड़ती है। तीनोंमें ही यह जड़ शरीर भी अज्ञातरूपसे अन्वित होता रहता है।

'महाराज ! हम तो यह समझते थे कि तीनों अवस्थाओंमें आत्मा ही जाता-आता है। जाग्रत्में भी आत्मा ही जाग्रत्को देख रहा है, स्वप्नमें आत्मा ही स्वप्न देख रहा है और जाग्रत्-स्वप्न दोनों जब बीज अवस्थामें पहुँच गये, तो वहाँ उस अज्ञानदशाको भी आत्मा देख रहा है। देखनेवाला आत्मा है, यह जो सार-सार है। आत्मा तीनों अवस्थाओंमें जाता है।

बोले—'नहीं, एक चीज और है जो तीनों अवस्थाओंमें जाती है। यह सुषुप्ति मेरी है, यह स्वप्न मेरा है, यह जाग्रत् मेरा है'—यह जो 'मेरापना' है न, सब दुःखोंका मूल है और यह जो 'मैं'-पना है—'मैं धनी हूँ', 'मैं गरीब हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ'—यह मैं-पना है। इन दोनोंका बीज है, वह सुषुप्तिमें न होनेसे नहीं भासता है सो बात नहीं, रहता है, भासता नहीं। एक तो—'नहीं है और भासता नहीं' और 'एक है और भासता नहीं।'

जबतक यह अज्ञान बना रहेगा, मनुष्य जन्म-मरणसे नहीं छूटेगा। इस अज्ञानको मिटाना जरूरी है। इसीके लिए द्रष्टा-दृश्यका विवेक कर रहे हैं।

यह शरीर बदलता है तब जड-बीजात्मक तो अज्ञान है, जिसमें स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनोंक बीज संनिहित है, वह बीज रह जाता है। सो जानेपर, जब सोकर उठते हैं, तब कलकी माँ याद आती है कि नहीं ? कलका बाप भी याद आता है। यह नहीं कि नया बाप हो गया, नयी माँ हो गयी, सो बात नही। कलका पैसा भी याद आता है। रजिस्टरमें वह मिलता है, बैंकमें वह मिलता है। उनकी जो स्मृतियाँ हैं, सुषुप्तिकालमें वह कहाँ रहती है ?

जैसे कोई जादूका बीज हो, वह एक समयमें तो फैल कर दीखे। इसमें ये तने हैं, ये फूल हैं, ये पत्ते हैं, ये फल हैं। एक समय वह सिमटकर बीज हो जाय। तो सुषुप्तिके समय यह जादूका जो बीज है, वह बिना फलका, बिना फूलका, बिना डालीका, बिना अंकुरका अपने आपमें सिमटकर बैठा रहता है। जाग्रत् और स्वप्नके समय यह फैल जाता है। यह जादूका ऐसा बीज है, जादूका बनाया हुआ, मायाका बनाया हुआ बीज! यह ऐसा विचित्र बीज है कि सुषुप्तिकालमें यह अपने आप ही सिमट जाता है और—

तत्र माता अमाता भवति।

सुषुप्तिकालमें माँ-माँ नहीं रहती, बाप-बाप नहीं रहता, देवता-देवता नहीं रहते, वेद-वेद नहीं रहते, धर्म-धर्म नहीं रहता, ब्राह्मण-ब्राह्मण नहीं रहता, संन्यासी-संन्यासी नहीं रहता। जब सो जाता है, तब न तो अपने आपमें कोई आरोप भासता है और न तो अपने प्यारे ही भासते हैं। बच्चेको गोद लेकर सोते हैं। जब नींद आती है तो बच्चा खाट परसे नीचे गिर पड़ता है। 'कैसे गिर पड़ा?' 'भाई, हमको तो कुछ मालूम नहीं पड़ा।'

'कुछ मालूम नहीं पड़ा'—यह भी मालूम पड़ता है। यह किससे मालूम पड़ा? हमको तो बहुत आरामकी नींद आयी! कोई तकलीफ नहीं हुई और कुछ मालूम नहीं पड़ा। आराम मालूम पड़ा, अज्ञान मालूम पड़ा। ये दोनों आराम और अज्ञान कहाँ थे?

आराम था अपने आपमें। अज्ञान था शरीरमें। अज्ञानात्मक है लिंग शरीर और आराम है आत्माका स्वरूप। उस समय कोई प्रतिबन्धक न होनेके कारण वह आराम भास गया।

अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा।

आपको एक आश्चर्य बतावें। आप जब जागते हैं तो अपने सपनेकी याद आती है? जरूर आती होगी। कुछकी आती है, कुछकी नहीं आती है। लेकिन एक बारका भी बताओ, सपनेमें आपको अपने जाग्रत्की याद आती है? नहीं आती है। जाग्रत्को जाग्रत्में छोड़कर ही सपनेमें जाना पड़ता है।

जैसे मर्त्यलोकमें रहकर तो हम लोग स्वर्गकी याद करते हैं। स्वर्गमें जानेपर तो मर्त्यलोकके रिश्तेदार कोई काम आवेंगे वहाँ? स्वप्न तो स्वर्गके और नरकके समान है और जाग्रत् है यह ठोस दुनिया, ऐसा लोग मानते हैं। पर मैं इससे ठीक उलटी बात आपको बताऊँ? बात क्या है? जाग्रत्में सपनेकी याद आती है, तो सपना कुछ है तब न सपनेकी याद आती है? माने सपनेकी दृष्टिसे तो यह जाग्रत् कुछ नहीं है।

जब सुषुप्तिमें जाते हैं तब? देखो, स्वप्नमें भी सोनेकी याद आती है कि मैं सो जाऊँ या मैं सोकर उठा हूँ। सपनेमें ऐसा भी हो सकता है कि अब मैं खाटपर सो जाऊँगा। जाग्रत्में तो खाट पर सोते ही हैं, उठते ही हैं। लेकिन क्या सुषुप्तिमें भी कभी जाग्रत्-स्वप्नकी याद आती है? आप बहुत गहराईमें पहुँच जाते हैं। जाग्रत्की याद स्वप्नमें नहीं आती और जाग्रत्-स्वप्न दोनोंकी याद सुषुप्तिमें नहीं आती।

जाग्रत् तो बड़ी हल्की-फुल्की अवस्था है। स्वप्न भी बड़ी हल्की-फुल्की अवस्था है। सुषुप्ति बड़ी गाढ़ी अवस्था है। लेकिन एक बात है। चाहे जाग्रत् बदल जाय, चाहे स्वप्न बदल जाय, चाहे सुषुप्ति बदल जाय, आप नहीं बदलते।

जायते-म्रियते—जैसे जादूगर कपड़ेसे ढँककर एक बीज रख दे और उसमें-से अंकुर निकल आवे, डाली निकल आवे, पत्ते निकल आवें, फूल आजायें, फल लग जायें और एक फल उसमें-से टपककर गिरे, आप उसको खा भी लें और बादमें झट् उस पेड़को कपड़ेसे ढँका और आपने आँख उधर करी तो वहाँ कोई पेड़ ही नहीं है! जैसे जादूगरका खेल होता है, उस तरह इस दुनियाका खेल हो रहा है। यह बात बड़ी स्पष्ट रूपसे बतायी जानेवाली है। समाधि लगानेकी विधि है आगे—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥ १३॥
सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा॥ १४॥

'**शक्तिद्वयं हि मायाया**'—मायाकी दो शक्ति हैं। लो! जब माया ही कल्पित है, दो की जगह चार शक्ति कल्पित कर लो, तब भी चल सकता है और चारकी जगह दो शक्ति कल्पित कर लो तब भी चल सकता है।

बताते हैं, विक्षेपशक्ति परमात्मामें जगत्को दिखाती है और आवरणशक्ति जीवको अपना जीवका स्वरूप ढँककर उस विक्षेपमें 'मैं-मेरा' दिखाती है। एक है विक्षेपशक्ति और एक है आवरणशक्ति। एक अद्वय अखण्ड परमात्मामें यह सृष्टिको दिखाना—परमात्मामें आवरण नहीं है, केवल विक्षेपशक्ति विक्षिप्त होकर माने चंचल होकर, फुरकर जगत्को दिखाती है, अर्थात् परमात्मा ही फुरनाके रूपमें जगत् दिखायी पड़ रहा है। उन्हें फुरनाके कारणको यह मैं-मेरा! बह गयी दुनिया। तुमने एक बूँदको 'मैं' मान लिया। समुद्रमें एक तरंग उठी, उस तरंगमें-से कुछ बूँद छिटकी और उस बूँदमें-से एक फुहिया निकली। उस फुहियाको तुमने कहा—'मैं' और 'मेरा'। अब वह फुहिया कबतक टिकेगी? रोनेका उपाय कर लिया मनुष्यने।

जैसे दो सज्जन रेलगाड़ीमें यात्रा कर रहे थे। सज्जन हो या सजनी हो, उसमें कोई फरक नहीं। दोनोंमें मेलजोल हो गया, प्रेम हो गया! उनको जाना था कहीं और उनको जाना था कहीं। अब दोनोंमें प्रेम हो गया। जब उतरनेवाला स्टेशन

आया, तो दोनों गले लगकर रोने लग गये—'हाय-हाय, तुमसे हमारा वियोग हो रहा है!' संसारमें जो वियोग होना है, वह ऐसा ही है, यही है।

यह पृथिवी भी तो एक वायुयान है, विमान है। एक हवाई जहाज है धरती। हम उसपर चढ़े हुए हैं। किसीको कब उतरना हो, किसीको कब उतरना हो और उसमें अपना रिश्तेदार माना, नातेदार माना। उसमें परिचारिका होती है 'गगनसुन्दरी'! उनको अपनी प्रेमिका मान लिया। अब उतरोगे, घर जाओगे तो याद कर-करके रोओगे। यह धरती एकवायुयान है। उसपर हम लोग यात्रीकी तरह चढ़े हुए हैं। इसमें न मेरी कोई सम्पत्ति है और न 'मैं' नामकी कोई चीज है।

यह जो द्रष्टा है, साक्षी है, इस यात्रामें जैसे कोई एक तरंगकी बूँदकी फुहिया-सीकर हो, उसको 'मैं' मान ले और रोनेका सामान तैयार कर ले! दुनियामें जितना दुःख है, जितना रोना है, वह केवल मैं और मेरा माननेके कारण है। जो मरा सो तुम्हारा नहीं था, जो बिछुड़ा सो तुम्हारा नहीं था, जो गया सो तुम्हारा नहीं था, जो आया सो तुम्हारा नहीं था।

समझो कि एक आदमीके घरमें ब्लेकका पैसा आया। बड़ा खुश हुआ, किसीको बताया नहीं, चुपचाप रख लिया। एक दिन सरकारी आदमी आया। पता लग गया, पकड़ लिया और उठाकर ले गये। अब रो रहे हैं कि—"हाय-हाय! हमारा तो सब कुछ लुट गया। क्योंकि रोना तुमको उसदिन चाहिए था न, जिसदिन ब्लेकके पैसे जो तुम्हारे हकका नहीं था, उसको तुमने अपना समझा। रोनेका सरंजाम तो उसदिन किया न, कि जो चीज तुम्हारी नहीं थी, उसको तुमने 'मैं' माना और उसको 'मेरा' माना। उसवाला 'मैं'को माना। अब वह जाती है तो रोते हो?

इस तरह इस दुनियाकी जितनी चीजें मैं-मेरी मानी जाती हैं, वह सब ब्लेककी ही हैं। अपनी नहीं हैं बिलकुल! ईश्वर पकड़ता है कि यह चीज तुम्हारी नहीं रहने देंगे। तुमको इससे अलगकर देंगे। उसीदिन रोते हो! रोना तो पहले दिन चाहिए था जिसदिन चोरी की थी, जिसदिन बेईमानी की थी, जिसदिन बेवकूफीसे उसको अपना माना था।

अब हम लोग शाश्वत रहेंगे, मरेंगे तो सब एक साथ कुएँमें गिरकर मरेंगे, नरकमें जायेंगे तो एक साथ नरकमें जायेंगे, स्वर्गमें जायेंगे तो एक साथ स्वर्गमें जायेंगे। जिसदिन मैं-मेरा माना था, नासमझी तो उसदिन हुई थी। बिछुड़ना—यह तो ईश्वरकी प्रकृतिका, सृष्टिका नियम है। ईश्वरने तुम्हारे सामने एक सिनेमा=विक्षेपशक्तिका खेल=चंचलता, जिसमें प्रकाश चंचल है, जिसमें वासनाएँ चंचल हैं, जिसमें आकार चंचल हैं, जिसमें रूप चंचल हैं, ईश्वरने एक सिनेमा

प्रकट कर दिया है। बल्कि सिनेमाके रूपमें अपने आपको ही तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है।

कितने लोग सिनेमा देखते हैं और धड़कते दिलसे निकलते हैं। बोले—'अब हमारा ब्याह नहीं होगा उससे, तो हमारा हार्टफेल हो जायगा।' तो कर लो हार्टफेल। यह सृष्टि ऐसी है। जो इसमें 'मैं-मेरा' मानकर फँसेगा उसको तकलीफ होना निश्चित है। ये नामरूप बहते जा रहे हैं।

विक्षेपशक्ति सिनेमा दिखाती है। आवरणशक्ति उसको मैं और मेरा बनाती है। आवरणशक्ति केवल जीवमें होती है और ईश्वरमें आवरणशक्ति नहीं होती। जीवमें आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति दोनों होती है।

जो परमात्माका असली रूप है, उसमें न आवरणशक्ति है न विक्षेपशक्ति है। उसमें माया नामकी कोई चीज ही नहीं है।

प्रवचन २१

श्रुति कहती है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

बलहीन पुरुषको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। बल क्या है? पहला बल यह होता है कि वह अपने देहपर चले, अपनी इन्द्रियोंपर चले, अपने मनपर चले, अपनी बुद्धिपर चले तब तो बल है; नहीं तो फिर 'निर्बल के बल राम।'

'*निर्बल के बल राम*'का अर्थ है कि विश्वासका बल हो। कमजोर आदमी कहीं टिक नहीं सकता। उसपर दुनियामें कोई विश्वास नहीं करेगा। आज कुछ, कल कुछ, परसों कुछ! न उसको कोई मालिक मिलेगा कि नौकर रख ले।

एक नौकर गया किसीके पास कि 'हमको कोई नौकरी चाहिए।' बोले— 'टिकाऊ तो हो न?' चरित्रबलमें दृढ़ता होनेपर ही लक्ष्यमें टिक पाना सम्भव है। जो नियममें नहीं टिकेगा, मन्त्रमें नहीं टिकेगा, इष्टमें नहीं टिकेगा, उस चंचल मनके अन्दर तो कहीं टिकनेकी ताकत नहीं है। तो उसको संसारमें भी चार दिन यह व्यापार करो, चार दिन यह व्यापार करो, चार दिन खेती करो; वहाँ भी विश्वासका बल चाहिए। यही सत्ता है।

सद्वस्तु शक्तिके रूपमें हमारे जीवनमें प्रकट होती है। एक स्त्री-एक पुरुष अगर चरित्रकी दृष्टिसे आपसमें नहीं टिकते हैं, एक स्त्रीका अनेक पुरुषके साथ सम्बन्ध हो गया, एक पुरुषका अनेक स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध हो गया तो उसमें चरित्रबल कहाँ रहा? वह अपने कर्ममें दृढ़ कहाँ तक रह पाया?

अगर क्या खाना-क्या नहीं खाना यह नियम है, तो सामने आयी हुई चीजको तुम छोड़ दोगे न! बढ़िया-से-बढ़िया वस्तु तुम्हारे सामने आयी और तुमने छोड़ दिया—'नहीं, यह हमारे नियमके विपरीत है।' अपने नियममें टिकनेसे मनुष्यके जीवनमें आत्मबलका उदय होता है। चरित्रबल इसको बोलते हैं।

चरित्रबल हो. इन्द्रियबल हो, मनोबल हो, विचारबल हो—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

आत्माका परमात्माके रूपमें जो साक्षात्कार है, यह जिनके अन्दर दृढ़ता नहीं है और समझदारी नहीं है, माने प्रकाश नहीं है और सन्तुष्ट नहीं है अपने साधनमें—जो साधन तुम करते हो, उसमें दृढ़ता होनी चाहिए-एक, उसमें प्रकाश होना चाहिए-दो और उसमें सन्तुष्टि होनी चाहिए—तीन।

दृढ़ता सत्से निकलती है। समझदारी चित्से निकलती है। सन्तुष्टि आनन्दसे निकलती है। फिर अपने साधनके साथ ऐसे एक हो जाना चाहिए 'अद्वय' कि हम साधन करते हैं यह मालूम ही न पड़े। सहज स्वभावसे ही होने लग जाय! तो साधनमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति=जाहिर होना। इसीका नाम आत्मबल है।

दृढ़ता अविनाशी सत् है। प्रकाश है तो आलस्य नहीं, प्रमाद नहीं, अज्ञान नहीं। सन्तुष्टि सुख है। सुख और ज्ञान दोनों सत्त्वगुणका लक्षण है। स्थिरता भी सत्त्वगुणका लक्षण है। सहज स्वभाव हो जाना यह भी सत्त्वगुणका लक्षण है।

अभयं ह वै ब्रह्म।

निर्भयताका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म-साक्षात्कारका फल यह है कि मनुष्यके जीवनमें निर्भयता आ जाय। किससे भय खाते हो? कहीं दुश्मन बना लोगे तब भय होगा। हम लोग जिसको अत्यन्त तुच्छ समझते हैं, वह इतना भय उपस्थित कर सकता है कि हम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। 'अरे, यह हमारा क्या करेगा?'

एक दिन हाथीने समझा कि चींटी क्या होती है? अब वह हाथीकी सुंडके सिरेमें घुस गयी और वह जाकर काटे। तो हाथी अपना सुंड पटके इधर-से-उधर, उधरसे इधर। अन्तमें सुंड पटकते-पटकते वह जो नाकमें भीतर घुस गयी न, तो हाथी मर गया। चींटी भी हाथीको मार सकती है। हम दूसरोंके बारेमें सोचते हैं कि—'यह तुच्छ है,' यह हमारी नासमझी है। दुश्मन बनाओगे तो उससे डरना पड़ेगा।

दोस्त बनाओगे तो उससे भी डरना पड़ेगा। क्योंकि उसका नुकसान न हो जाय, उसकी हानि न हो जाय—दोस्तसे भी डर होता है। दुश्मनसे भी डर होता है।

दुनियामें कोई चीज बनाये रखना चाहोगे, तब भी डर होगा और मिटाना चाहोगे तब भी डर होगा। यथास्थितिको स्वीकार करो। मनुष्यका दिमाग पुरानेको पकड़ लेता है। वह कहता है कि नया होना ही नहीं चाहिए। वह मनुष्यके मनकी

कमजोरी है। वह जब कहता है कि—'जो पुराना है वही ठीक है, नया बिलकुल गलत है'—तो वह एक ऐसी जगहपर फँस जाता है, बँध जाता है, कि जैसे, वह कुएँमें गिर गया हो, गड्ढेमें गिर गया हो और वहाँसे निकल न सकता हो।

जो नया-नया होता जाय उसको भी स्वीकार करते चलो निर्भय रहो। भविष्य तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता है। यह निर्भयता किसके जीवनमें आती है? जो बलवान् होता है उसके जीवनमें आती है।

अभयं ह वै ब्रह्म। तद् विजिज्ञासस्व।

ब्रह्म अभय पद है और साधन भी अभय पद है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दैवी सम्पत्तिमें पहली वस्तु है निर्भयता। भगवान्‌के मार्गमें बढ़ना है तो आत्मबल और निर्भयता चाहिए। ईश्वर तुम्हारा मददगार है, कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

कल एक आदमीसे बात हुई। मैंने उससे पूछा—'तुम्हारी उमर कितनी है, यह बात क्या तुमको याद रहती है? चौबीस घंटेमें यदि याद आती हो तो कितनी देरतक याद आती है?'

उसने कहा—'कभी-कभी ख्याल आ जाता है; कभी-कभी कई दिनोंतक ख्याल नहीं आता है। तो देखो, उमर अपनी सपनेकी तरह याद आती है कि नहीं? जैसे सपना आता है और मिट जाता है। कि नहीं? अपनी लम्बाई कितनी देरतक याद रहती है? मैं पाँच फुटका हूँ कि छः फुटका हूँ। 'मैं हूँ,' यह नहीं; आप हो, यह तो ठीक है। पर आपको याद कितनी देर तक आती है?

आपका घेरा आपको कितनी देरतक याद रहता है? किसीका चौबीस है, किसीका पच्चीस है, किसीका पैंतीस है, किसीका पचास भी है। आपका वजन आपको कितनी देरतक याद रहता है? यह बात है!

आपको अपने सम्बन्धमें देशकी याद नहीं रहती है कि मैं कितनी जगह घेरता हूँ। आपको अपने कालके सम्बन्धमें भी याद नहीं रहती है कि किस तारीखको, किस वक्त मेरा जन्म हुआ और मेरी उमर कितनी हो गयी? आपका वजन-यह द्रव्यसम्बन्धी स्मरण भी नहीं रहता है। सपनेकी तरह स्मरण आता है।

आपको अपनी श्रीमती और अपने श्रीमान् कितनी देर याद रहते हैं? झूठ बोलना हो तो घरमें झूठ बोल लेना, सत्संगमें झूठकी बात मत करो। हमारे पास किसी-किसीकी चिट्ठी आती थी कि—'महाराज! हम आपको चौबीसों घण्टे याद रखते हैं।' हम समझते थे कि जरा नासमझ है, भावुक है। चौबीस घण्टे तो कोई

अपनेको भी याद नहीं रख सकता। दूसरेको कहाँसे याद रखेगा? सपनेकी तरह कभी-कभी याद आ जाती है।

आप बम्बईमें रहते हैं, यह आपको चौबीस घण्टेमें कितनी देर तक याद रहता है? हमको तो कई-कई दिनतक याद नहीं आती है कि मैं बम्बईमें हूँ, कि वृन्दावनमें हूँ, कि हरद्वारमें हूँ। जब कोई आ कर चर्चा करता है, तब याद आती है। दिन है कि रात है, यह आपको कितनी देर याद रहती है? इसका मतलब यह है कि दुनियाका जो ख्याल है, वह बिलकुल कभी-कभी स्वप्नकी तरह चमक जाता है।

आपकी उमर, आपकी लम्बाई-चौड़ाई आपका वजन, आपके रिश्तेदार-नातेदार, आपके रहनेका गाँव, आपका दिन, आपकी रात—ये तो कभी-कभी मनमें सपनेकी तरह चमक जाता है। आप सोचते हैं कि चौबीसों घण्टे हम इसीमें पड़े रहते हैं, यह भी नहीं है। यह भी एक ख्याल आता है और चला जाता है।

आप तो ऐसे मस्त हैं! आपकी मस्ती बड़ी विलक्षण है!! आप या तो अपने स्वरूपमें बैठे हुए हैं, या तो समाधिमें बैठे हुए हैं, या तो सुषुप्तिमें बैठे हुए हैं। कभी-कभी सपनेकी तरह यह दुनिया चमकती है और फिर लुप्त हो जाती है।

देखो, अनित्य और अनित्यका सम्बन्ध अनित्य होगा कि नहीं? दोनों चीज बदल रही है, तो अनित्य और अनित्यका सम्बन्ध अनित्य होगा, यह तो मालूम पड़ता है साफ!

अच्छा, एक नित्य है और एक अनित्य है, तब क्या होगा? वह सम्बन्ध भी अनित्य होगा, क्योंकि एक जो अनित्य है, वह तो चला ही जायगा! वह तो रहेगा ही नहीं। जैसे आत्मा और शरीरका सम्बन्ध है, तो शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है। यह सम्बन्ध भी नित्य नहीं हो सकता।

अच्छा, नित्य और नित्यका सम्बन्ध? यदि सम्बन्ध अनित्य नहीं होगा तो दोनों दो होंगे ही नहीं। एक परमाणु दूसरे परमाणुसे अगर मिल सकता है, दोनों नित्य हैं, समझो; परन्तु यदि दोनों आपसमें मिलेंगे तो दोनों बिछुड़ेंगे; मिलेंगे तो अलग किये जा सकेंगे। नित्य और नित्यका सम्बन्ध भी अनित्य ही होता है। यहाँतक कि जाकर कभी भगवान्‌से मिल जायँ। आत्मा भी नित्य, भगवान् भी नित्य! बोले—'आओ, हम दोनोंका मिलना तो नित्य रहेगा न?'

हाँ, नित्य तो रहेगा, पर जबतक भगवान् नहीं चाहेंगे, तभी तक! भगवान् चाहेंगे कि—'यह हमसे मिला हुआ जीव जरा हमसे बिछुड़ जाय!' सारे वैष्णव-शैव-शाक्त-सौर्य-गाणपत्य यह मानते हैं कि सायुज्यभावको प्राप्त जो जीव है, भगवान्‌से मिला हुआ जो जीव है, उसको भी यदि भगवान् चाहें कि—'इसको एक

बार निकालकर संसारमें भेज दें,' तो भगवान् भेज सकते हैं।

'जय-विजय'को जो बैकुण्ठसे आना पड़ा, वह सालोक्यमुक्तिसे ही तो आना पड़ा। बैकुण्ठ नित्य है, भगवान् नित्य हैं, परन्तु यहाँ भी भगवान्‌की अधीनता, पराधीनता होनेके कारण सम्बन्ध अनित्य हो जाता है। जहाँ भी सम्बन्ध होगा, अनित्य होगा, क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओंका होता है, दो व्यक्तियोंका होता है।

एक अपने जो आत्मदेव होते हैं, अपनेका अपने साथ सम्बन्ध नहीं होता, अपना तो स्वरूप ही होता है। आपको यह बात सुनाते हैं कि सम्बन्ध ही अनित्य है।

साधो! आवे जाय सो माया।

यदि हम याद करके आपको बतावें, तो बता नहीं सकते हैं कि हमारे जीवनमें कितने दोस्त आये हैं और कितने चले गये हैं; कितने दुश्मन आये हैं और चले गये हैं। और, जो दोस्त था वही दुश्मन हो गया, दुश्मन था वही दोस्त हो गया।

कितने जनोंके बारेमें यह धारणा हुई कि हम लोगोंका सम्बन्ध शाश्वत होगा, कम-से-कम जिन्दगीभर तो रहेगा। परन्तु वह तो दो-चार बरस भी नहीं टिका। जिस समय हुआ उस समय भ्रम होता था कि यह हमेशा रहे। यह सृष्टिकी स्थिति है। कोई भी चीज, यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारे दिमागमें बस गयी है और सब समय होती है, तो 'बस गयी है'—यह भ्रम है।

हम किसी चीजको चौबीस घण्टे यह याद रखते हैं, तो यह भी भ्रम है। यह तो ख्याल 'चमकता है और जाता है'—'चमकता है और जाता है।'

आपको यह बात हम सुनाना चाहते हैं कि साधनके बारेमें भी हम लोग उलट-पलटकर सब तरहका करते हैं। यदि साकारका साधन हो सकता है, तो निराकारका भी हो सकता है। साकार-निराकार दोनों छोड़ करके भी साधन हो सकता है। एकमें दोनोंको पकड़कर भी हो सकता है। एक ही साकार और वही निराकार, और वही साकार। मनको एकाग्र करके भी साधन होता है और मनको चंचल करके भी साधन होता है।

कभी कोई एक सौसे अधिक सम्प्रदायोंमें साधनाकी रीति क्या है, यह हमने रटकर रखा था। भारतवर्षका धार्मिक इतिवृत्त-कौन सम्प्रदाय पैदा हुआ, कब किस आचार्यने चलाया, उसका मूल वेदमें है कि नहीं मूलभूत श्रुति भी। वह किस ढंगका साधन करते हैं, उनका मन्त्र क्या होता है, उनका इष्टदेव क्या होता है—सौसे ज्यादा सम्प्रदायोंकी बात हमको याद थी। वह पुस्तक मैंने रटी थी। उसमें एक ऐसा भी है—

क्वचित् न प्रतिष्ठितं चित्तं उत्पादनीयम्।

अपने मनको ऐसा बनाओ जो संसारके किसी दृश्यमें अटक न जाय। बड़ा विलक्षण है वेदान्त! उसकी रूपरेखा समझना लोगोंके लिए बहुत मुश्किल है। कहीं चित्त अटके नहीं।

आपको एक बात बताते हैं—मनको बाहरसे भीतर कर लो। भीतर क्या हुआ? बस, उसको भीतर अटकाओ। अब यह भीतर अटका तो कहाँ अटका? ब्रह्ममें अटका?

यह चामके घेरेमें और यह पानके पत्तेके बराबर एक कमल है। एक कमलकी पंखड़ीपर भौंरेकी तरह जाकर तुम्हारा काला-काला मन बैठ गया। गुंजार करना छोड़ दिया। तो यह जो भीतर बैठा तुम्हारा मन, क्या ब्रह्ममें बैठा? अन्तर्देशका नाम ब्रह्म है? उस समय तुम्हारा मन देशोपरक्त है। माने देशके रंगमें रंगा हुआ वहाँ प्रमाता है। प्रमाता कहो, इष्ट कहो, साक्षी कहो। जो तुम्हें भीतर चीज दिखायी देती है, उसमें देशका संस्कार मौजूद है।

अच्छा, तो छोड़ो। बाहर देखें। ब्रह्म फैला हुआ है आकाशके समान। अब हम उसके साक्षी हैं, तो क्या हुआ? यह भी देशोपरक्त है। फैलाव और सिकुड़ाव, संकोच और विस्तार दिक् है; यह ब्रह्म नहीं है। भीतर बैठा तो भी ब्रह्म नहीं है और बाहर बैठा तो भी ब्रह्म नहीं है। एक बात जरूर है कि अगर तुम ब्रह्मको जान जाओ तो भीतर बैठो तो भी ब्रह्म है और बाहर बैठो तो भी ब्रह्म है।

अच्छा भाई, पाँच मिनटके लिए हमारा मन बिलकुल शान्त, साक्षीके रूपमें रहा। कितनी देर साक्षी रहा? पाँच मिनट साक्षी और बाकी तेईस घण्टे पचपन मिनट? तो वह पाँच मिनटका जो साक्षी है वह साक्षी नहीं है, वह दृश्य है। अभावरूप दृश्यसे उपरक्त, माने अभावरूप रंगसे रंगा हुआ वह साक्षी है। यदि तुम ब्रह्मको पहचान लो, तो वह पाँच मिनट भी ब्रह्मरूपता है और तेईस घण्टे पचपन मिनट भी ब्रह्मरूपता है। चौबीस घण्टे ब्रह्मरूपता है। यदि तुम ब्रह्मको पहचान लो तो उसमें याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती। इसका नाम साक्षिता है।

अब बोलो—'सम्पूर्ण भेदरूप दृश्यके हम द्रष्टा हैं।' तो भेद एक वस्तु हुई और तुम एक वस्तु हुए। भेदके रंगमें रँगा हुआ, दृश्यके रंगमें रंगा हुआ द्रष्टा! तो दृश्यके रंगमें रँगा हुआ द्रष्टा छोटा या बड़ा होता है और कालके रंगमें रँगा हुआ द्रष्टा पाँच मिनट रहता है या पच्चीस मिनट रहता है। द्रव्यके रंगमें रँगा हुआ द्रष्टा भेदसे, दृश्यसे अपनेको जुदा समझता है।

समाधिमें बैठा हुआ द्रष्टा कालसे आबद्ध है। बैकुण्ठमें बैठा हुआ द्रष्टा दे

आबद्ध है और अमुक आकारमें बैठा हुआ, भावाभावमें बैठा हुआ द्रष्टा भेदसे आबद्ध है। यह थोड़ी देर रहे और थोड़ी देर जाय—

साधो! आवे जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहीं जाके,
ना कछु गया न आया,
साधो! आवे जाय सो माया।
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

दृश्यके निषेधका बल जिसमें नहीं है, चरित्रबल नहीं है, मनोबल नहीं है, विचारबल नहीं है, निवृत्त होनेका बल नहीं है, निषेधका बल नहीं है उसको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता।

बिना बलके दृश्य-प्रपंचका, भेद-भ्रान्तिका निषेध नहीं होता। निषेधके लिए बल चाहिए। यह बल, यह शक्ति साधनसे पैदा होती है। कुछ छोड़ दो, कुछ करो, कुछ भोगो, जो मनमें आवे सो बोल दो, यह बल नहीं है। किसीको यदि घरमें-से निकालना है, तो उसकी गरदनपर हाथ लगाकर उसको गलहस्तित करनेका बल होना चाहिए।

कमजोर होओगे और उसको निकालने जाओगे—भेदभ्रमको—तो वह तुम्हारे ऊपर चढ़ बैठेगा। साधन बलका हेतु है। इसलिए शास्त्रमें यह बात कही गयी है कि—

शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितः।
श्रद्धावित्तो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्॥

तुम अपने आपको अपने आपमें देखो। परन्तु तुम्हारे पास बल चाहिए। शान्तिका बल चाहिए। कहीं काम-क्रोध तुम्हें दुश्मनके घर न भेज दें। इन्द्रियाँ बलात् न खींचकर ले जायँ। कर्म करनेका और कर्मत्यागका स्वातन्त्र्य चाहिए। जो कष्ट आवे, उसकी सहनशक्ति चाहिए। मनमें एकाग्रता चाहिए। अपने साध्यपर, अपने साधनपर, बतानेवालेपर श्रद्धा चाहिए।

यदि तुम्हारा ख्याल है कि तुम्हारे बतानेवालेको ही परमात्मा नहीं मिला है, तो तुमको परमात्मा नहीं मिल सकता। दुनियामें यदि किसीको नहीं मिला है, तो तुमको नहीं मिल सकता। इस समय दुनियामें जितने लोग हैं, उनमें-से किसीको नहीं मिला है, तो तुमको भी नहीं मिल सकता। यह तो तुम्हारे मनका खोखलापन है, जो तुम केवल अपने अहंकारके आश्रित होकर चाहते हो कि यह खाली हो जाय! पकड़ते हो अहंकारको, और दिलको करना चाहते हो खाली?

माया दो रूप धारण करती है—एक तो अपनेको ठगकर अपना नाम पहले 'अहं' बनाती है, और फिर मनुष्य बनाती है। एक-दूसरेको परायेको, जगत्को विक्षिप्त कर देती है, देश-काल-वस्तुके बारेमें। स्वप्नमें भी दुनिया बहुत बड़ी होती है. विक्षिप्त होती है, वह चित्तका विक्षेप है। हमारे आचार्योंने एक जगह चुनौती दी है. चैलेंज दिया है।

जब आर्यसमाज और धर्मसमाजका शास्त्रार्थ होता है, तो इस शब्दका प्रयोग 'कालूराम शास्त्री' बहुत करते थे, अखिलानन्दजी बहुत करते थे, गिरधर शर्मा बहुत करते थे; माधवाचार्य बहुत करते थे! 'चैलेंज देते हैं, चैलेंज!'

हमारे आचार्योंने एक चैलेंज दिया—बोले—'मन तो न हो तुम्हारा; शान्त मनमें प्रपंच दिखा दो हमको!' आजतक किसी भी माईके लालने मनकी शान्त दशामें दुनियाको· देखा हो, ऐसा बता दो। जब मन शान्त होगा तो दुनिया नहीं दिखेगी।

अच्छा? तब तो दुनिया तब दिखती है जब मन चंचल होता है। जब फिल्मकी मशीन चालू कर देते हैं, तब दृश्य दिखता है। फिल्मकी मशीन बन्द हो जाती है, तब दृश्य नहीं दिखता है। तो दृश्य कहाँ है? पर्देपर है कि फिल्ममें है? जिसके चालू होनेपर तो दृश्य दिखे और चालू न होनेपर दृश्य न दिखे। तो दृश्य पर्देपर है कि दृश्य फिल्ममें है? भलेमानुस! बाहर यह कुछ नहीं है। यह तो शिवजीका महास्मशान चेत रहा है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टि महास्मशान है।

यह भी साधनकी एक अवस्था है। जैसे स्मशान जगाते समय ऐसी कहावत आती है—एक आदमी मुर्देपर बैठकर स्मशान जगाता है तो मुर्दा चेत गया। लोहेका चना बनाकर रखते हैं। जब मुर्दा मुँह खोलता है, तब उसके मुँहमें डाल देते हैं। महास्मशान चेतानेवाले लोग ऐसा कहते हैं।

जब मुर्देके ऊपर बैठते हैं, तब ऐसा दिखता है कि बाजे बज रहे हैं, बरात आरही है, गेसकी लालटेनें आ रही है, पुरुष आ रहे हैं, स्त्रियाँ आ रही हैं, पालकी आ रही हैं, बाजा आ रहा है, गाजा आ रहा है!

(मुर्देपर बैठनेवाला सोचता है—) 'अरे! हम मुर्देपर बैठे हैं। ये लोग देख लेंगे, तो क्या होगा?' यदि उसको सच्चा समझके डर जाओ, तो वह मुर्दा हँसने लगता है। एक मुट्ठी डालो लोहेका चना उसके मुँहमें! उसका मुँह बन्द हुआ! बन्द हुआ तो कुछ नहीं! न बरात है, न रोशनी है, न स्त्री है, न पुरुष है। यह सब क्या है? बोले कि स्मशान चेत रहा है। ऐसी पुरानी बात है।

ये मनीराम जब अपना मुँह खोलते हैं, तो सारी दुनिया दिखती है। सारी दुनिया

मनकी चंचलतामें ही दिखती है। मनकी शान्तिमें दुनिया नहीं दिखती है। इसलिए, मनमें जो फिल्म भरा हुआ है, वही दिखता है।

अहं और मन! मनकी फिल्म है विक्षेपरूपमें। पहले आवृत्ति है। आवृत्ति है माने पहले अपने ब्रह्मपनेका हो गया आवरण। आवरण होनेके बाद 'मैं' और 'यह' बना। 'मैं' तो है अहंकार और 'यह' है मन। मन जब अपना मुँह खोलता है, तब यह सारा दृश्य स्वप्नमें जैसे दिखायी पड़ता है, इसी प्रकार यह सारा दृश्य दिखायी पड़ता है। ये दो मायाकी शक्तियाँ हैं।

माया माने जादूका खेल। जैसे कोई जादूगर जादूमें अपनेको कुछ बनाकर दिखा दे और नयी दुनिया बनाकर दिखा दे, इसी प्रकार विक्षेपशक्ति और आवरण-शक्ति है—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥

लिङ्ग शरीरसे लेकरके समस्त ब्रह्माण्ड कहाँ दिख रहा है? यह अविद्यासे आवृत अपने स्वरूपमें भासमान् जो मन है, वह स्वप्नवत् इस सृष्टिको दिखा रहा है। पर्दे भी हम हैं और प्रकाश भी हम हैं। फिल्म भरे हुए संस्कारका है।

आत्मा ही स्वयंप्रकाश और अधिष्ठान है। अधि=अधिक। ष्ठान=स्थान। जो दिखनेवाले दृश्यसे अधिक देरतक ठहरे, उसका नाम 'अधिष्ठान।' यह अध्यस्त प्रपंच जिसमें दिखता है और नहीं दिखता है; और वह एकरस रहता है। उसका नाम अधिष्ठान। नाटक दिखे और न दिखे, जो नाटकका होना, न होना दोनों दिखावे, उसका नाम दीपक, प्रकाश; रोशनी वह है जो होते हुए नाटकको भी दिखाती है और नाटक जब बन्द हो गया, तब उसको भी दिखाती है। रोशनी और अधिष्ठान, रोशनी और पर्दा इस अखण्ड विश्वमें दो नहीं हैं। तो प्रश्न उठा कि—'सृष्टि क्या है?'—

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा॥ १४॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ १५॥

किं नाम सृष्टिः? सृष्टि क्या है? सृष्टि=सर्जना। हम पहले बनारसमें निकलते थे 'नीचीवाग'से, तो वहाँ एक मकानपर लिखा हुआ था—'ईश्वर सर्जनहार है।' ईसाईलोग ऐसा बोलते हैं। वे सृष्टिका निमित्तकारण ही केवल ईश्वरको मानते हैं। वे ईश्वरको उपादानकारण नहीं मानते हैं। मुसलमान भी केवल निमित्तकारण मानते हैं,

उपादानकारण नहीं मानते हैं। दोनों मानते हैं कि उपादानकारणको भी ईश्वर बनाता ही है। उपादान और निमित्तका भेद आप समझ लो। जैसे, घड़ा बना या कुम्हारने घड़ा बनाया। ऐसे ईसाई और मुसलमानमें माने बाइबिल और कुरानमें यह बात मानी जाती है कि ईश्वरने यह सृष्टि बनायी, तो अपने मनसे बनायी। अनादिकालसे प्रकृतिसे बनायी, यह बात आर्यसमाजी मानते हैं। कोई प्रकृतिरूप मेटर हमेशा रहता है, उससे ईश्वरने सृष्टि बनायी—यह बात वेदके आधारपर आर्यसमाजी मानते हैं। तो उनके उपादान-कारण हैं और उससे ईश्वरने बनायी। ईश्वर केवल निमित्तकारण है। उनके मतमें जीव भी हमेशा रहते हैं।

जहाँतक ईश्वरकी निराकारताका सम्बन्ध है, ईसाई, मुसलमान और आर्यसमाजी तीनों ईरश्वरको निराकार मानते हैं। और ये तीनों ईश्वरको सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मानुसार फलदाता, स्वतन्त्र और परम ऐश्वर्यशाली मानते हैं। जीवोंको कर्मानुसार शरीर देनेका काम ईश्वर करता है—

फलमतः उपपत्तेः।

यह देखो, इस सम्बन्धमें मतभेद। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर्य, गाणपत्य—वे ईश्वरको साकार मानते हैं और जगत्का निमित्तकारण मानते हैं। कोई मानते हैं, प्रकृतिसे ईश्वरने सृष्टि बनायी, कोई मानते हैं, परमाणुसे ईश्वरने सृष्टि बनायी, कोई मानते हैं कि सृष्टि हमेशा है ही ऐसी, परन्तु वह ईश्वरको सृष्टिका बनानेवाला मानते हैं।

न्यायमें भी मानते हैं कि ईश्वरने परमाणुओंसे सृष्टि बनायी। सांख्य-योगमें मानते हैं कि प्रकृतिसे सृष्टि बन गयी। योगी मानते हैं कि ईश्वर तटस्थ है। सांख्यवादी तो द्रष्टाके सिवाय दूसरे ईश्वरकी चर्चा नहीं करते हैं। पूर्वमीमांसामें कर्मके अनुसार सृष्टि मानी जाती है।

चार्वाक् ऐसा मानता है कि निमित्तकारण ही नहीं है, माने कोई बनानेवाला नहीं है, उपादान तो है। उपादानकारणसे सृष्टि बनती रहती है। बनानेवाला कोई ईश्वर नहीं है।

कम्यूनिस्ट भी चार्वाक्की कोटिमें-कक्षामें हैं। ये चार भूतसे सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं, एक जड़ तत्त्वसे मानते हैं। मार्क्सवादकी यह विशेषता है। विकासवादी डार्विन-हैकले आदि नास्तिक वैज्ञानिक हैं ये सब चार्वाक्की कोटिमें आते हैं, क्योंकि ये निमित्त कारणको नहीं मानते हैं। माटीसे हाँडा खुद बन गया ऐसा मानते हैं। इनमें भी बड़े-बड़े तिचार हैं, लेकिन ये सब विचार सामान्य कोटिके लोगोंकी जानकारी के लिए नहीं हैं।

वेदान्तका विचार बहुत विलक्षण है। ये पहले एक आरोप करते हैं, फिर उसका निषेध करते हैं। जैसे कोई अज्ञात संख्या निकालनेके लिए संख्याका आरोप करके गणित करते हैं, फिर उसका अपवाद कर देते हैं। इसी प्रकार सत्य वस्तुको जाननेके लिए—खास करके उस वस्तुको, जहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है। अनन्तको, अद्वितीयको इन्द्रियाँ विषय नहीं कर सकती—खास करके वहाँ, जहाँ मनकी पहुँच नहीं है। खास करके वहाँ, जहाँ बुद्धिकी पहुँच नहीं है। खास करके वहाँ जहाँ साक्षी भी नहीं देखता है। साक्षी दूसरेको ही देखता है।

तुम जब ज्ञानी बनकर बैठते हो, तब शान्ति दृश्य होती है और साक्षी उसका द्रष्टा होता है। अभाव दृश्य होता है और साक्षी उसका द्रष्टा होता है। 'कुछ नहीं' दृश्य होता है और साक्षी उसका द्रष्टा होता है। साक्षी दूसरेको ही देखता है, अपने आपको नहीं देख सकता। तब उस साक्षीको जनानेकी, साक्षीको मालूम करानेकी, साक्षीको ज्ञान करानेकी पद्धति क्या है?

आरोपितं निषिध्यते।

पहले अध्यारोप करो, फिर उसका निषेध कर दो। तो जो आरोप करनेके पहलेसे है और जो निषेध कर देनेके बाद भी रह जाता है, उसका नाम अद्वितीय साक्षी होता है। अध्यारोप और अपवादका साक्षी। तो आओ, इस सृष्टिकी संगति तो लगानी पड़ेगी।

बोले—'देखो भाई, हम लोगोंके देखनेमें ऐसा आता है; जादूके खेलमें जब कोई झाँकी दिखायी जाती है, कोई दृश्य दिखाया जाता है, तो ऐसा होता है कि वहाँ होता कुछ नहीं। जादूगर अपनी अचिन्त्य रचनाशक्तिसे अपने आपमें भी और बाहर भी बहुत-सी चीजें दिखा देता है। तो कहीं अद्वितीय परमात्माने अपने आपमें यह सारा पसारा तो नहीं रच रखा है? खुद बनानेवाला और खुद बननेवाला जैसे नट ही अपनेको हजारों रूपमें दिखावे, वैसे कहीं अद्वितीय परमात्मा ही अपनेको हजारों रूपमें देखनेवाला भी और दिखानेवाला भी वही! कहीं ऐसा तो नहीं है!!

आप ही अमृत आप अमृतघट आप ही पीवनहारी।
आप ही ढूँढे, आप ढूँढावे, आप ही ढूँढनहारी।
आपन खेल आप करि देखे खेल संकोचे तब नानक एके।

जैसे सपनेमें आप करते हैं, वह तो ईश्वरका छोटा नमूना ही है न! जीवात्मा। देहमें बैठ करके अपनी वासनाओंका विस्तार करके बनारस बनाता है मन। उसमें दोपहरी बनाता है मन। उसमें दोस्तसे मिलना बनाता है मन।

आपको पहले सुनाया—आपने अपनी उमर बनायी है। कभी-कभी चमक

जाती है सपनेकी तरह। सच्ची हो, तो आप चौबीसों घंटे याद करके बता दो कि 'हमारी इतनी उमर है।' कोई माईका लाल अपनी सच्ची उमरको चौबीसों घण्टे याद करके दिखा दे! अरे! यह तो जब ख्याल आता है तभी उमर मालूम पड़ती है। और एक बात यह है कि आज आप मान लें—'हम पचास वर्ष एक महीना एक दिनके हो गये! तो क्या दिनभर आपकी एक ही उमर रहती है? कैसे ख्याल करोगे बाबू? आपने अपनी उमर जो मानी है, आपकी उमर खयाली है। आपका वजन खयाली है, आपकी लम्बाई-चौड़ाई खयाली है।'

आपके रिश्ते-नाते चौबीस घण्टे याद करके बता दो! बिलकुल खयाली है! 'आपन खेल, आप करि देखे!' इसमें मरना-जीना-बिछुड़ना-आना-जाना, यह क्या है? यह जादूका खेल है। एक जादूगर है, वह अपने आपमें ही सारी सृष्टिको दिखा रहा है। सृष्टि क्या है?

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा॥

जैसे समुद्रमें फेन मालूम पड़ता है, अलग! ऐसा अलग होता है फेन! हम कभी-कभी 'धनुषकोटि' जाते हैं, तो वहाँसे फेन उठाकर ले आते हैं। वह फेन सूखकर जम जाता है, बिलकुल पत्थर जितना कठोर होता है। अहमदावादवाले 'स्वामी विद्यानन्दजी' महाराज पहले-पहले ले आये उठाकर, तो एक कुण्ड बनाकर उसमें डाल दिया। लोग दर्शन करने आते, तो गाइड बताता कि यह क्या है, कि 'यह वही पत्थर है जिससे नल-नीलने सेतु बनाया था।' वह पानीमें डूबता नहीं था। 'देखो, वही पत्थर यह मैं ले आया हूँ।'

'स्वामी शुकदेवानन्दजी' गये हमारे साथ! अरे, वहाँसे बहुत-सारे उठाके ले आये। जब-जब गये, तब-तब ले आये। वह पत्थर नहीं होता है, वह फेन जमके बिलकुल पत्थर सरीखा हो जाता है। हलका रहता है और पानी पर तैरता है।

फेन है, वह समुद्र है; पानीके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। कभी विचार करेंगे, तो जिस धरतीपर हम रह रहे हैं न, यह धरती भी पानीके सिवाय और कुछ नहीं है। धरती भी जमा हुआ पानी है।

जैसे हमारे शरीरमें पसीना निकलता है और जम जाता है तो क्या होता है? माटी हो जाता है। साबुनसे धोना पड़ता है उसको, तो विराट्‌के शरीरमें जो पसीनेकी बूँदें हैं, वही जमकर धरती बन जाती है। जैसे—

रोमकूपेषु समन्ततो अनन्तानि ब्रह्माण्डानि प्रज्वलन्ति।

विराट्‌के एक-एक रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। तो, जैसे समुद्रमें होते हैं फेन-तरंग-बुलबुला इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपमें यह सृष्टि है।

यह सृष्टि कैसी है? तरंग-फेन-बुलबुला-ब्रह्मका नामरूप ऐसा है, माने ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब एक प्रश्न उठता है—कोई भी जड़वस्तु हो, अवकाशवाली हो और उमरवाली हो, तो उसमें ये फेन-तरंग-बुलबुले हो सकते हैं? समुद्र है जल। इसपर जब हवा चलती है न, या भीतरका दबाव होता है; भीतरके दबावसे ज्वार आता है। हवा लगनेसे तरंग उठती है। पानी आपसमें टकरा करके मैलको ऊपर कर देता है, तब फेन होता है। तो, केवल पानीसे यह सब कुछ नहीं होता है। हवा चाहिए और पानीसे ऊपर जगह चाहिए, फेन बननेके लिए, बुलबुला बननेके लिए, तरंग उठनेके लिए। तो क्या परब्रह्म परमात्मामें भी ज्वार लानेवाला, तरंग उठानेवाला, फेन लानेवाला कोई वायु है? क्या वहाँ भी कोई मैल है? यह कैसे?

परमात्मामें एक ब्रह्माण्ड नहीं, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड—विराट्, विराट् नहीं-हिरण्यगर्भ, हिरण्यगर्भ नहीं-प्रकृति-माया; यह अद्वितीय परब्रह्म परमात्मामें कहाँसे आयी?

दूसरी बात—जड़वस्तुमें परिवर्तन होगा न! तो एक अवस्था, दूसरी अवस्था, तीसरी अवस्था। वहाँ तो काल लगा हुआ है। तो क्या परब्रह्म परमात्मामें भी काल लगा हुआ है? अवकाशमें नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे होता है। तो क्या परब्रह्म परमात्मामें भी नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे होता है?

परब्रह्म परमात्मा भी क्या एक परिणामशील बदलनेवाला पदार्थ है? द्रव्य है? यह बात हमने दिनोंतक, महीनोंतक एकान्तमें बैठकर ब्रह्मके बारेमें सोची है, विचार किया है इसका। आप निश्चित रूपसे समझो कि जो चीज बदलनेवाली होगी, रूपान्तरित होनेवाली होगी, वह चेतन नहीं हो सकती।

चेतन=बदलनेका साक्षी जो होता है, बदलना ज्ञात जिसको होता है, वह चेतन होता है। जो बदलता है सो चेतन नहीं। जो उठता और बैठता है सो चेतन नहीं। वह तो देशमें उठता और बैठता है। जो उठता-बैठता दिखता है, वह जल है, वह जड़ है, वह चेतन नहीं। तो अखण्ड अद्वितीय चेतनमें यह क्या है?

बोले—'बस, अपने ऊपर पर्दा पड़ा हुआ है। तुम अपनेको नहीं पहचानते हो! उस न पहचाननेका यह विलास है। अविद्याका यह विलास है। अविद्या माने कोई काली-पीली-नीली चीज नहीं होती। अविद्या कब पैदा हुई और कबतक रहेगी? वह कोई उमरवाली चीज नहीं होती। अविद्यासे उमरकी कल्पना होती है। अविद्या

कितनी लम्बी-चौड़ी है? अविद्या लम्बी-चौड़ी नहीं होती। अविद्यासे लम्बाई-चौड़ाईकी कल्पना होती है। अविद्याका कितना वजन? अविद्यामें वजन नहीं होता है। अविद्यासे वजनकी कल्पना होती है। तो किसकी अविद्या?'

बोले कि—'ब्रह्मकी अविद्या।' ब्रह्म कैसा? अपने आपसे जुदा या अपना आपा? जो अपने आपसे जुदा होगा, वह ब्रह्म कैसे होगा? खाक होगा? अपना आत्मा ही ब्रह्मसे अलग पैदा हुआ है या अपने आत्मासे ब्रह्म अलग बैठा हुआ है?

ब्रह्म वह होता है, जो अपने आत्मासे जुदा हो नहीं सकता। अपना आप होनेसे उसकी चेतनशीलता स्वतःसिद्ध है। तब वह परिवर्तनशील नहीं है, परिवर्तन उसमें भास रहा है। तो यह परिवर्तन क्यों भास रहा है? किसको न जाननेसे भास रहा है?

अपने आपकी जो अद्वितीयता है; अपने आपको न जानना नहीं है। ऐसा दुनियामें कोई नहीं है, जो अपने आपको न जानता हो! लेकिन अपने आपको ऐसे जानते हैं कि—'मैं मनुष्य हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ।' कोई-न-कोई उपाधि लगाकर अपनेको जानते हैं।

जानी हुई जितनी उपाधियाँ हैं, उनको जरा छोड़कर अपने आपको देखो। तभी आत्मा है ब्रह्म, ठसाठस! पहले एक महात्माके पास हम लोग जाते थे। हम पूछते—'महाराज, ब्रह्म कैसा है?'

वे बोलते—'भैया, ठसाठस है।' ऐसा बोलते थे—'ऐसा ठोस है कि न हिलता है न डोलता है। न उठता है न बैठता है, न बदलता है। बिलकुल ठसाठस ठोस है।'

'नहीं, बाबा! अभी समझमें नहीं आयी। जरा दिखाओ इसको।'

'दिखाएँ क्या इसको? तुम्हीं तो हो!'

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

भीतर तो द्रष्टा-दृश्यका भेद बना देती है; यह इसीकी करतूत है। अपनेको अद्वितीय ब्रह्म न जानना—यह न जानना ही द्रष्टा-दृश्यके भेदकी कल्पना भीतर कर देता है। और बाहर? बाहर यह सृष्टि दिख रही है। इसके भीतर कहीं ब्रह्म छिपा होगा?

सृष्टिके भीतर ब्रह्म छिपा हुआ नहीं है। ब्रह्मके सिवाय तो सृष्टि कुछ है ही नहीं। इतना बड़ा कौन-सा पर्दा है जो ब्रह्मको ढँक दे? बाहर मालूम पड़ता है कि प्रपंच दूसरा और ब्रह्म दूसरा। यह विवेकके लिए साधन-दशामें ऐसा मालूम पड़ता है। यह अन्तिम सत्य नहीं है।

भीतर ? यह द्रष्टा और यह दृश्य ! हृदयमें भेद हुआ द्रष्टा और दृश्यका; बाहर भेद हुआ अधिष्ठान और अध्यस्तका। ये दोनों तरहके भेद दोनों जगह कहाँसे आये ?

बोले—'तुमने अपने आपको नहीं समझा।' नहीं समझा माने अविद्या नामकी कोई चीज नहीं। अविद्या=नासमझी। नासमझीसे जो चीज मालूम पड़ती है, वह होती नहीं है और नासमझी मिटनेसे जो चीज मिलती है, वह पहलेसे मिली हुई होती है। तो नासमझी मिटनेसे मिलती है। नासमझीसे जो चीज खोई हुई होती है, वह दरअसल खोई हुई नहीं होती है।

तुम्हारी जेबमें कोई चीज हो और खोई हुई मालूम पड़ती हो, अज्ञानके कारण खोई हुई मालूम पड़ती हो, तो क्या वह खो गयी है ? जानकारी होते ही मिल गयी तो क्या कहींसे आयी ? वह तो पहले ही तुम्हारे पास थी।

यह जो आत्मा है; आत्माका होना—हैपना भी सबको ज्ञात है। आत्मा जाननेवाला है, यह भी सबको ज्ञात है। आत्मा प्यारा है, यह भी सबको ज्ञात है। आत्माकी सच्चिदानन्दरूपता विचारवान् पुरुषको अपने आप ज्ञात है। परन्तु यह सच्चिदानन्द आत्मा अद्वय है, यह सबको ज्ञात नहीं है।

प्रपंच सबको दिखता है, परन्तु यह प्रपंच ब्रह्म है, ऐसा सबको नहीं दिखता है। दुनिया सबको मालूम पड़ती है, परन्तु यह दुनिया ब्रह्म है, यह सबको मालूम नहीं है। वेदान्त यह बताता है कि ब्रह्मसे अलग करके तुम दुनियाको मानते हो, यह तुम्हारा मानना झूठा है।

ज्ञानदृष्टिसे ब्रह्मके सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। तुम मानते हो, जानते हो, समझते हो कि 'मैं एक टुकड़ा हूँ, एक जुज हूँ, कुलका एक हिस्सा हूँ—ऐसा जो तुम अपनेको जानते हो, यह गलत है। अद्वितीय ब्रह्मता—अद्वितीय सत्य है उसमें होश-हवास बनाये रखना जरूरी नहीं है कि हर समय 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा मालूम पड़े। इस स्मृतिने तो बंटाढार कर दिया।

स्मृति और कल्पना—दिन-रात बीती हुई बातोंको याद कर करके मर गये। मर गया था दूसरा और उसकी याद कर करके मर गये तुम। और, जो कल्पनामें है, आगे, जो अभी पैदा ही नहीं हुआ है; कोई मरा तो है नहीं और तुम सोचते हो कि मर जायगा। ये स्मृति और कल्पना दुःख देती है। अपने आत्माके प्रकाशमें समग्र सृष्टिको देखो तो इसमें न जन्म है न मृत्यु है; काल नहीं है। योन्यंतर नहीं है।

हम आपको ज्ञानका सार बताते हैं। इस शरीरका जन्मना-मरना नहीं है। यह न

पैदा हुआ है, न मरेगा। 'क्या पूछो साधो, उमर हमारी हो! साधो! तुम हमारी उमर क्या पूछते हो?'

एक गेहूँका दाना है, वह थालीमें है तो दूसरा है वह सूपमें है तो दूसरा है, आटा पीसा गया तो दूसरा है, रोटी बननेके बाद भी दूसरा है और जब मुँहमें गया, तो तुम उसको 'मैं' बोलते हो, जब पेटमें होता है। और, जब विष्ठा होकर निकल गया, तब? फिर 'यह' बोलते हो। क्या 'मैं' और 'यह' का भेद करते हो?

क्या फूछो साधो, उमर हमारि होओ!
कोटिक कलप ब्रह्मा भये, दस कोटि कन्हाई हो!
छप्पन कोटि यादव भये, मेरी एक पलाई हो!
क्या पूछो साधो उमर हमारी हो!

पलाई=पल। तुम तो एक जगहसे काटकर अपनी उमर बनाते हो।

आपको मालूम हो कि न हो, ज्योतिषी लोग कुण्डली कितनी तरहसे बनाते हैं! कौन-सी कुण्डली तुम्हारी ठीक है? जिस समय पैदा होता है न बच्चा, उसकी बनाते हैं और यदि गर्भाधानका ठीक समय बता दिया जाय, तो उससे भी कुण्डली बना लेते हैं। यदि दोनों न हों तो कैसे बनाते हैं? प्रश्नके समयसे बना लेते हैं। प्रश्नके समय ज्योतिषी न हो तो क्या? चिट्ठी लिखनेका समय उनको लिखकर भेज दो, तो उससे भी बना लेते हैं। तुम बताओ, तुम्हारी कौन-सी कुण्डली ठीक है? माँके पेटमें आनेवाली कुण्डली? कि माँके पेटसे धरतीके पेटमें आनेवाली कुण्डली? प्रश्न करनेवाली कुण्डली? चिट्ठी लिखनेवाली कुण्डली? कौन-सी कुण्डली तुम्हारी ठीक है? न देशमें भेद बनता है, न कालमें भेद बनता है, न अपनी उमरमें भेद बनता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्माको कुण्डलीमें लपेटो मत। यह अजर है, अमर है, अभय है। यह अद्वितीय है। इसको अखण्ड रहने दो, इसको खण्डमें मत लाओ।

●

प्रवचन २२

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा॥ १४॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ १५॥

पहले एक बात सुनाता हूँ—'श्रीरामानुजाचार्यजी' कहते हैं—'अपने लक्ष्यको कभी दुर्लभ मत समझना। जिसको तुम पाना चाहते हो उसको पाना बहुत मुश्किल है उसका ध्यान अपने मनमें मत बनाओ' क्योंकि निराकार हो जायगी यदि तुम यह समझोगे कि बहुत मुश्किलसे मिलेगा, बहुत परिश्रम करके मिलेगा। अरे बाबा, कौन पड़े इस झगड़ेमें? एक बात यह और दूसरे, ऐसा मान बैठोगे कि—'वह तो बिलकुल मिला ही हुआ है, वह तो मैं ही हूँ', तो? मिला तो है नहीं और झूठे मान बैठोगे।

अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान तो हुआ नहीं, अनुभव तो हुआ नहीं और मान बैठोगे कि मिला ही हुआ है। तो क्या हुआ? जो प्रयत्न, जो साधना, जो अभ्यास तुमको करना चाहिए, वह छूट जायगा। बिना अनुभवके 'वह मैं ही हूँ', ऐसा भी मत मानो और इतना दुर्लभ, इतना मुश्किल मत मानो कि निराशा हो जाय! थोड़ी अपनी कोशिश और थोड़ी उसकी मेहरबानी। माने अपना प्रयत्न, अपना अभ्यास, अपनी साधना और उसकी कृपा, उसका अनुग्रह! ये जब दोनों मिलते हैं, तब लक्ष्यकी प्राप्ति होती है।

यह श्रद्धा और अनुग्रह—इनके ब्याहका नाम 'दीक्षा' है। बोलते हैं न, गुरुदीक्षा! गुरुदीक्षा क्या है? गुरुका तो अनुग्रह है। अनुग्रह=कृपा, दया, वात्सल्य, स्नेह और शिष्यकी श्रद्धा हो। गुरुका स्नेह और शिष्यकी श्रद्धा—दोनोंका जो 'प्रेम-विवाह' (Love-marriage) है—'लव-मैरेज' में रजिस्ट्री नहीं होती किसी ऑफिसमें

और उसमें कोई कर्मकाण्ड करानेकी भी जरूरत नहीं पड़ती। गुरुका स्नेह और शिष्यकी श्रद्धा दोनों जहाँ मिल जाते हैं वहाँ 'दीक्षा' हो जाती है।

अब दूसरी बात देखो—तुम्हारा मन कहाँ घूमता रहता है? अगर दूसरेके दोषके आसपास तुम्हारा मन घूमता रहता है, तो तुममें संसारीपन है और अपने दोषके आसपास मन घूमता है, तब भी तुम दीनहीन हो।

'श्रीरामानुजाचार्य' ने यह कहा कि—'अपने मनको न दूसरेके देशमें जाने दो, न अपने देशमें जाने दो!' तो उसको कहाँ जाने दें? उसको भगवान्‌के गुणमें जाने दो—'वह कितने कृपालु हैं? कितने सुन्दर हैं? कितने मधुर हैं!' ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करो—'कैसा बढ़िया सूर्य बनाया है! कैसा बढ़िया चन्द्रमा बनाया है! कैसा बढ़िया दिल-दिमाग बनाया है? क्या आनन्द दिया है?' बस, ईश्वरके सद्‌गुणोंका चिन्तन करो। उससे तुम्हारी वृत्ति ईश्वराकार होगी। अपने या दूसरोंके दोषोंका चिन्तन करोगे तो तुम्हारी वृत्ति दोषाकार होगी। जब वृत्ति दोषाकार होगी, तो तुमको बड़ा दुःख होगा! यह दुःखका पूर्वरूप है।

कहते हैं न, कि 'आज हमारी बायीं आँख फड़क गयी।' तो 'क्या तुम्हें कोई तकलीफ है?' 'तकलीफ तो नहीं है, परन्तु बड़ा डर लग रहा है कि क्या होगा? तो जैसे संसारी लोग, सगुनिया लोग—पुरुषकी बायीं आँख फड़की कि स्त्रीकी, दाहिनी आँख फड़की तो वहमी लोग समझते हैं कि यह हमारे दुःखका पूर्वरूप है; बहुत दुःख आनेवाला है।'

ऐसे समझ लो कि जब तुम्हारी नजर किसीके दोषपर जाने लगती है, तब तुमको अशांति होनेवाली है। तब तुमको दुःख होनेवाला है। जो बीत गया सो लौट नहीं सकता, जो आनेवाला है, वह तुम्हारे हाथमें नहीं है। तो दोनोंकी फिकर छोड़ दो। जो बीत गया है उसको बीत जाने दो और जो आनेवाला है, उसको ईश्वरके भरोसेपर छोड़ दो। अपने मनको परमात्मामें लगाओ। तन्मय होकर रहो, आनन्दमें रहो, सुखमें रहो। दुःखी होकर जीना बेवकूफीका लक्षण है।

किसी भी कारणसे तुमको दुःखी नहीं होना चाहिए। कोई छींक गया, कोई मर गया, कोई बिछुड़ गया, कोई आ गया, कोई चला गया, तब भी दुःखी नहीं होना चाहिए। आगे क्या होगा, इसका झूठा खयाल करके, इसका बनावटी खयाल करके, इसकी कल्पना करके वर्तमान समयमें दुःखी नहीं होना चाहिए। वर्तमान समयको ईश्वरके चिन्तनसे भर दो। ईश्वर ही है—सबसे सुन्दर, सबसे मधुर, सबसे कृपालु। तीसरी बात यह है कि कुल अपने अभिमानपर सारी जिम्मेवारी मत लो कि हम यह करेंगे तो यह होगा। तुम्हारा अभिमान बहुत छोटा है। तुम यह समझते हो

कि हम यह उलट देंगे, यह कर देंगे, यह बाजी मार लेंगे। सच पूछो तो सब अदृष्टके हाथमें है यह कर्मकाण्डी बोलते हैं। सब ईश्वरके हाथमें है—यह भक्त बोलते हैं। मायामें क्या होना क्या नहीं होना? वेदान्ती लोग दो तरहसे आरोप करते हैं।

तो तीसरी बात यह है कि सारी जिम्मेवारी अपने अभिमानपर मत ओढ़ो। कुछ जो होना है, उसको ईश्वरपर छोड़ दो। होनीको अपनी मुट्ठीमें लेनेकी कोशिश मत करो। मनको भजनमें लगाओ। अब जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि 'सामनेवाला पतित है,' वह विषयी है। जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि—'मैं पतित हूँ,' और 'दुनियामें सब पतित हैं'—वह पामर है। जो यह समझता है कि—'मैं श्रेष्ठ हूँ और सब पतित हैं,' वह विषयी है। जो समझता है कि—'सब अच्छे हैं, मैं ही बुरा हूँ'—पतित हूँ'—वह है साधक। वह ईश्वरकी ओर चलेगा। जो यह समझता है कि—'मैं भी अच्छा और सारी दुनिया अच्छी'—वह सिद्ध। जिसको सारी सृष्टिआत्मा-परमात्मा सब ब्रह्मरूप दिखायी पड़ता है, वह तत्त्वज्ञानी महात्मा है। अपने रूपमें भास रहा है सो भी; तुम्हारे रूपमें भास रहा है सो भी और जगत्‌के रूपमें भास रहा है सो भी। ये सब परमात्माका ही स्वरूप है।

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा॥

ब्रह्म सच्चिदानन्द है। है भी वही, भासता भी है वही और प्यारा भी है वही। उसमें यह सृष्टि क्या है? जैसे समुद्रमें फेन-तरंग-बुलबुला-बूँद-फुहिया दिखायी पड़ते हैं, वैसे चिन्मात्र वस्तु ही सारी सृष्टिके रूपमें प्रतीत हो रही है।

कटुक वचन मत बोल रे, तोहे पिवु मिलेंगे।

इसीके लिए अपने दिलको कड़वा मत करो, कड़वा मत बोलो। तब तुम्हें परमेश्वरकी प्राप्ति होगी।

एक आदमी कहता है कि आत्म-साक्षात्कार करना चाहिए और एक आदमी कहता है कि ईश्वरका दर्शन करना चाहिए। एक कहता है, समाधि लगानी चाहिए और एक कहता है, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। चारोंमें लड़ाई हो गयी।

आत्माका ज्ञान प्राप्त करना कि ईश्वरकी भक्ति करना? समाधि लगाना कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना? इन बातोंमें जो लड़ाई होती है, वह चारों मूर्खोंकी लड़ाई है। क्यों? इन्होंने शब्दको सच्चा मान करके पकड़ा।

इसको आत्मा कहो, समाधि कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्म कहो; यह जो परम अविनाशी परिपूर्ण लक्ष्य है, वह लक्ष्य तो एक ही है। यह तो जैसे कोई कहे पानी

चाहिए, कोई कहे वॉटर (Water) चाहिए और दोनोंमें लड़ाई हो जाय, ऐसी लड़ाई है। असलमें ब्रह्मका ही नाम समाधि है और समाधिका ही नाम ब्रह्म है। समाधि और ब्रह्मका ही नाम ईश्वर है, और ईश्वरका ही नाम समाधि और ब्रह्म है। इसीका नाम आत्मा है। हमारे जीवनका परम लक्ष्य है न, परम ज्ञानस्वरूप, परम अविनाशीस्वरूप, परमानन्दस्वरूप लक्ष्य है न, इसीको कोई कैवल्य कहते हैं, कोई आत्मज्ञान कहते हैं, कोई ब्रह्मज्ञान कहते हैं, कोई ईश्वरप्राप्ति कहते हैं, कोई समाधि कहते हैं। इसमें झगड़ा करनेवाला नामरूपका प्रेमी है। वह नामरूपमें आग्रह करके बैठा है। उसको यथार्थका ज्ञान नहीं है। अपने लक्ष्यपर ध्यान रखना चाहिए कि हमें अपने लक्ष्यकी ओर चलना है।

इसका नाम क्या है? इसको कोई मुसलमान 'खुदा' कहे। देखो न, अविनाशी तत्त्वको वह 'खुदा' कहता है कि नहीं? ईसाई उसको 'गॉड' कहे तो अविनाशी तत्त्वको ही वह 'गॉड' कहता है कि नहीं? जब अविनाशी तत्त्वकी पहचान एक है तो, उसका नाम अलग-अलग होनेसे तत्त्व अलग-अलग नहीं हो जाता।

एक सरफके यहाँ सोना लेने गये, तो सोनेकी सिल्लियाँ मोटी-मोटी रखी हुई थीं। दूसरे सरफके यहाँ गये तो पतली-पतली पत्तियाँ सोनेकी रखी हुई थीं। है तो दोनों सोना ही, चाहे वह सिल्लीकी शकलमें हो, चाहे पत्तीकी शकलमें हो। तो नामरूपका आग्रह करके जो लोग झगड़ते हैं, वे बिलकुल अज्ञानी हैं।

आपको अपना साधन ठीक करना चाहिए, नामरूपके झगड़ेको लेकरके अपने अभ्यासमें, अपने साधनमें, अपने प्रयत्नमें यदि मूर्खता की, तो लक्ष्य छूट जायगा। जो आदमी ईश्वर नामसे द्वेष करता है और ब्रह्म नामसे प्रेम करता है, तो हम समझते हैं कि वह मूर्ख है। क्योंकि वस्तुको समझनेके लिए नामरूप का व्यवहार होता है।

कोई 'ब्रह्म' नाम व्यवहार करता है, कोई 'ईश्वर' नाम व्यवहार करता है। इसमें क्या झगड़ेकी बात है? जबतक यह लड़ाई हो, तबतक यह समझना कि ज्ञान नहीं है। नामरूपमें जो आग्रह है—'सर्वनामरूपप्रसारणा' सब नाम और सब रूप एकका ही पसारा है।

कपड़ा चाहे सोलह गिरह अरजका हो, या दस गिरह अरजका हो, सूत ही से बना हुआ है। वह चाहे गोल हो, चाहे लम्बा हो, चाहे चौड़ा हो, वह सूत ही है। 'नामरूपप्रसारणा'। इसी प्रकार वस्तुका पसारा सारा-का-सारा है।

'तुम' कहो, 'यह' कहो, 'वह' कहो, 'मैं' कहो; वस्तु तो एक ही है। नाम जुदा-जुदा रखा हुआ है, बोले-'भाई, यह ज्ञान सबको क्यों नहीं होता है?'

एक आवरणशक्ति है, माने पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दा देखनेवालेकी आँखपर होता है। जैसे, जब कभी बादल आ जाते हैं, तो सूर्य ढँक जाता है। तो वह बादल सूर्यपर आता है कि हमारी आँखपर आता है? आप लोगोंने ख्याल किया होगा, वह बादल सूर्यपर नहीं आता है। सूर्य तो हजारों जगहसे हजारों मीलमें दिखता रहता है। वह केवल हमारी आँखके सामने छोटा-सा बादल आ गया और सूर्यका दिखना बन्द हो गया। यह आवरणशक्ति देखनेवालेकी आँखको बाँध देती है' आवरण=ढक्कन, उपधान।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हिरण्मय=सोना। सोनेके बर्तनसे सत्यका मुँह ढँक दिया गया है। हे ज्ञानके देवता! हे गुरुदेव! हे सूर्य! इस पर्देको हटा दो, जिससे हमको आँख मिल जायँ! हम सत्यका, धर्मका साक्षात्कार कर सकें। रोज तो आप यह मन्त्र बोलते हैं।

हिरण्मयेन-हिरण्मय पात्र-हिरण्यगर्भमें अधिष्ठित सूक्ष्म समष्टि। इस सूक्ष्म शरीरका जो ढक्कन है, उसने सत्यको ढँक दिया है। माने, हमारे सूक्ष्म शरीरकी कल्पनाएँ जो हैं वे सत्यको ढँक देती हैं।

'**तत्त्वं पूषन्नपावृणु**'—हे पोष्टा! हे पोषण करनेवाले! हे पूषा देवता! अपनी सत्तासे अन्तःकरणको सत्तावान् बनानेवाले आत्मदेव! पूषन्! इस पर्देको फाड़ दो जिससे हमें आँख मिले और सत्यका साक्षात्कार हो! तो आवरण कहाँसे आता है? यह आवरण गाढ़ा क्यों है? आवरण गाढ़ा होनेका कारण बतानेवाले एक ही मन्त्रमें '**श्रीशंकराचार्य**' और 'श्रीरामानुजाचार्य दोनों आचार्य उपनिषद्को माननेवाले, उपनिषद्की व्याख्या करनेवाले, वेदान्तके प्रकाण्ड विद्वान् दोनोंका समन्वय है। एक विधिमुखसे परमेश्वरका वर्णन करते हैं और एक निषेधमुखसे परमेश्वरका वर्णन करते हैं। इतना ही अन्तर है।'

विधिमुखसे परमेश्वरका वर्णन करना माने सबको लेकर है। निषेधमुखसे परमेश्वरका वर्णन करना माने सबसे रहित परमेश्वर है। एक कहता है कि कंगन, हार, कुण्डल ये सब सोनेमें विशेषण हैं। एक कहता है, यह विशेषण नहीं सोना ही है। बोलनेका ढंग है। यह कैसे आया? दोनों आचार्य एक ही बात करते हैं कि तुम्हारा भोजन अशुद्ध हो गया है, यही आवरण गाढ़ा होनेका कारण है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।

जैसे, आज निर्जला है। निर्जला=निर्जड़ा माने आज जड़का चिन्तन मत करो। आज मनको रसीले पदार्थोंसे तृप्त मत करो। कभी-कभी शरीरके लिए रूखा-सूखा

होनेकी जरूरत है। रोज-रोज तेल लगानेकी आदत मत डालो। रोज-रोज दूध-घी खानेकी आदत मत डालो। कभी-कभी रूखा-सूखा भी खाओ। तुम अपनेको आदतोंमें बाँधते जा रहे हो, इससे छुड़ानेके लिए एकादशी आती है निर्जला-निर्जड़ा। दस इन्द्रियाँ और एक मन-ग्यारहोंको पवित्र रखनेका नाम एकादशी है। दसों इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन मत करो और मनसे विषयोंका चिन्तन मत करो। इसीका नाम एकादशी है।

आहारकी शुद्धि क्या? आहारकी पवित्रता क्या? आहार=भोजन। हम जो बाहरसे अपने भीतर लेते हैं, उसका नाम आहार है। कानसे हम क्या सुनते हैं? भोजनमें तो आप ख्याल रखते हैं न, कि जो बढ़िया हो सो भोजन।

लोग भोजनकी बड़ी तारीफ करते हैं कि हमारे घरमें बहुत बढ़िया भोजन बनता है। दूसरी तारीफ क्या है? कि हमारे घरमें बड़ी पवित्रतासे भोजन बनता है। तीसरी तारीफ कि हमारे घरमें ईमानदारीकी कमायी खायी जाती है। आप ख्याल करो। स्थान पवित्र, बर्तन पवित्र, बनानेवाला पवित्र और बड़ी पवित्र वस्तुएँ बनायी जाती हैं—शास्त्रोक्त। हाँ, ठीक है, भोजन=खानपानके बारेमें तो ख्याल रखते हो।

परन्तु सुननेके बारेमें ख्याल रखते हो कि नहीं? हम क्या-क्या सुनते हैं? बोले कि—'हम बहुत बढ़िया सुनते हैं, हम बहुत पवित्र सुनते हैं, हम बड़ी ईमानदारीकी सच्ची बातें सुनते हैं'—यह आप बोलो। बोलनेमें कोई हिचक मालूम पड़ती है आपको क्या?

आप कहो कि हम आँखसे बहुत बढ़िया वस्तु देखते हैं। बड़ी पवित्र वस्तु देखते हैं और सत्यसे, ईमानदारीसे देखते हैं। हम किसीको क्रूर दृष्टिसे नहीं देखते हैं राग-द्वेषकी दृष्टिसे नहीं। ऐसा सोचो न! इसीका नाम है—'आहारशुद्धि।'

हम जीभसे बोलते हैं। बड़ी बढ़िया बात बोलते हैं। बड़ी पवित्र बात बोलते हैं, सच्ची बात बोलते हैं। इसका नाम है-'आहारशुद्धि।' जब मनुष्यका नाकका आहार, जीभका आहार, त्वचाका आहार, आँखका आहार, कानका आहार, हाथका आहार, पाँवका आहार—यह सब जब पवित्र हो जाता है, तब हृदय शुद्ध हो जाता है।

जब अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, तब हमारे हृदयमें अच्छी-अच्छी स्फुरणाएँ होने लगती हैं; और जब अच्छी-अच्छी स्फुरणाएँ होने लगती हैं, तब दुनियाकी सब गाँठें खुल जाती हैं। और जब दुनियाकी सब गाँठें खुल जाती हैं, तब परमेश्वरका, ब्रह्मका, परमात्माका, आत्माका साक्षात्कार हो जाता है।

एक पर्दा पड़ गया है अपनी अकलपर। पर्दा दूसरेपर नहीं है। आप जादूका

खेल देखो। जादू करनेवालेकी अकलपर कोई पर्दा नहीं होता है। देखनेवालेकी अकलपर होता है। अज्ञानका स्वरूप यह है कि जिसमें होता है उसको ढँक देता है। जादू=माया। जादूका खेल जो देखता है, उसको बुद्धू बनाता है, करनेवालेको नहीं।

जादूका खेल करनेवालेको बेवकूफ नहीं बनाता, ईश्वरको बेवकूफ नहीं बनाता। जो देखनेवाला है, वह इसमें बेवकूफ बनता है। बेवकूफी जिसमें रहती है उसीको बुद्धू बनाती है। माया जिसमें रहती है उसको बेवकूफ नहीं बनाती, देखनेवाले को बेवकूफ बनाती है।

अविद्या=अज्ञान। अज्ञान आश्रयव्यामोहक होता है और वह देखनेवालेको बेवकूफ बनाता है। दो तरहकी बेवकूफी आयी इस आवरणपर, इस पर्देपर। असत्त्वापादक आवरण और अभानापादक आवरण—यह आवरण दो बात बना लेता है। वह क्या?

एक तो भीतर जो द्रष्टा और दृश्यकी विलक्षणता है; दृश्यसे द्रष्टा विलक्षण है। जैसे दिखनेवाली रूमालसे देखनेवाला न्यारा है। इसको विलक्षण बोलते हैं। यहाँ 'भेद' शब्दका अर्थ विलक्षण होता है। 'भेद' शब्दका अर्थ यहाँ अन्य नहीं होता है। जैसे, कंगनसे हार जुदा है और हारसे कंगन जुदा है, लेकिन दोनों सोना है। तो सोनामें जहाँ हारका लक्षण है, वहाँ हार है और जहाँ कंगनका लक्षण है वहाँ कंगन है। कंगन हाथमें पहना जाता है, हार गलेमें पहना जाता है। कंगन दूसरे ढंगका है, हार दूसरे ढंगका है। लक्षण तो दो है, लेकिन दोनों सोना है। दोनोंमें केवल लक्षणका भेद है, तत्त्वका भेद नहीं है, वस्तुका भेद नहीं है।

द्रष्टा और दृश्य तत्त्वत: एक है, परन्तु दोनोंमें लक्षणका भेद है—एक देखा जाता है और एक देखता है। एक दृञ् मात्र ब्रह्मवस्तु है। वही दीख रही है और वही देख रहा है। परन्तु उस ब्रह्मवस्तुको समझनेके लिए उस देखनेवाली वस्तुसे दीखनेवाली वस्तुकी विलक्षणताका ज्ञान होना चाहिए और वही ढँक गया है।

मालूम तो पड़ता है कि द्रष्टा है, तब तो मालूम पड़ता है कि-'मैं देख रहा हूँ'। लेकिन 'मैं देख रहा हूँ'—यह नहीं मालूम पड़ता। इसके साथ और कुछ मालूम पड़ता है। मैं करनेवाला पापी-पुण्यात्मा, मैं भोगनेवाला सुखी-दु:खी, मैं शरीरवाला हूँ। तुम्हारा द्रष्टापना तो दब गया, आवृत्त हो गया। माने तुम कर्मके साथ, भोगके साथ, देहके साथ और बुद्धिवृत्तिके साथ एक हो गये। अपना द्रष्टापना—गाँवमें गाते हैं—

मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें।

मेरा जो हीरा था, वह कचरे में खो गया। हड्डी-मांस-चाममें, पाप-पुण्यमें, सुख-दुःखमें आत्मवस्तु जो जगमग-जगमग उज्ज्वल हीरा है, वह खो गया है।

मेरा झुमका गिरल हो बरेलीके बाजारमें।

यह जो बरेलीका बाजार है, कालबादेवी है, उसमें क्या हुआ? हमने वेद-वेदान्तमें, शास्त्रसे जो श्रवण किया था, जो हमारे कानोंका वास्तविक आभूषण था, यह कालबादेवीके बाजारमें खो गया।

अजहूँ तर्यो नाहीं रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यो, रही मुक्तनके संग।

महात्मा लोग ऐसे बोला करते थे। पुरानी बोली तो आजकलके लोगोंकी समझमें ही नहीं आती। एक बात तो यह ढँक गयी और दूसरी बात यह हो गयी कि मिट्टी-पानी-आग-हवा-आकाश तो सबको दिखता है, पर ये जिसमें हैं, यह नहीं दिखता है।

कंगन दिख गया, हार दिख गया, कुंडल दिख गया, लेकिन सोना नहीं दिखा। आकार दूसरी चीज होती है और रूप दूसरी चीज होती है, यह तो आपको मालूम ही होगा। जैसे घड़ा है। उसे कभी लाल रंगमें रँग देते हैं, कभी काले रंगमें रँग देते हैं, कभी पीले रंगमें रँग देते हैं और रूप उसका? गोलमटोल पेट, पतला-सा गला और उसके ऊपर उसका जो मुँह है यह उसका आकार है '**पृथुवदनोदराकार**।' घड़ेका रूप-रंग और घड़ेका आकार माने सूरत और शकल। नाम और रूप-आकार और रूप।

नाम और रूप चढ़ बैठा हमारी बुद्धिमें और उसे हम देखने लगे। लेकिन जो उसमें असली चीज है, उसको देखना भूल गये। हम तो पहले कम्बलको काला ही समझते थे। आजकल जैसे रंगबिरंगे देखनेमें नहीं आते थे। हमारी भेंड़ें काली थीं या सफेद थीं। उनके बाल काटकर जैसे गाँवमें कम्बल बनाया जाता था; अरे, चार रुपयेमें वे कम्बल आते थे! बीस बरस ओढ़ो। छः रुपयेकी तो राल आती थी। हम लोग रातको ओढ़ नहीं सकते थे। बड़ी गरम, बड़ी गाढ़ी! हम बहुत छोटे बच्चे थे। दूरसे देखा—कम्बल काली ओढ़कर बिलकुल पशुकी तरह चलकर कोई आरहा था। हमने देखा बचपनमें, भालू नचानेवाले आते थे न! जैसे भालू हो!! देखकर तबीयत डर गयी। रोने लग गया। हमको बहुत छोटेपनकी याद आती है। हमारे पास कोई बैठे थे, वे बोले-'डरते क्यों हो?' मैं बोला—'देखो, यह क्या आ रहा

रहा है?' उन्होंने बताया—'वह और कोई नहीं है, वह तो तुम्हारा चाचा है न, डरानेके लिए कम्बल ओढ़कर आ रहे हैं। यह तो चाचा हैं।' फिर तो क्या है? दौड़कर पीठपर चढ़ गये।

यह दुनिया दिखती है न! यह तो न पहचाना हुआ भालू है, यह तो कम्बल ओढ़े हुए चाचा हैं। यह तो आत्मरूप कम्बल ओढ़े हुए ब्रह्मचाचा हैं बिलकुल। यह कम्बल यह आवरणशक्ति है!

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।

आवृणोत्यपराशक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ १५॥

यह जो आवरणशक्ति है, भीतर ज्ञानमात्र आत्माको बना देती है सुखी-दुःखी, भोक्ता, माने अपनी ब्रह्मता आवृत हो गयी। अपनी ज्ञानमात्रता आवृत हो गयी। अपनेको बना दिया कर्मी-पापी-पुण्यात्मा। अपनेको बना दिया देह और इधर बाहर नामरूपको तो दिखाती है और इधर ब्रह्मको ढँक दिया। सत्यका दर्शन नहीं हो रहा है। सत्यकी पहचान नहीं हो रही है।

कोई नरक नहीं बना, कोई स्वर्ग नहीं बना, कोई शैतान नहीं बना, कोई खुदा नहीं बना। एक ही तत्त्व है। उसका नाम 'परमात्मा' रख लो 'ब्रह्म रख लो,' 'आत्मा' रख लो, 'समाधि' रख लो। बिलकुल एक ही चीज है, लेकिन ये बर्गलाते हैं न! अरे, क्या ईश्वर!

हम अमृतसर गये। स्त्रियाँ आयीं। मेरे हाथमें माला थी, तो बोली-'स्वामीजी, अभी आप मालामें ही अटके हुए हैं? इससे निकले नहीं?' और 'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' पढ़ें और 'वृत्तिप्रभाकर'से तो प्रश्नोत्तर करें! और बोलें— 'स्वामीजी, अभी आप मालामें ही अटके हुए हैं?' बड़ा भारी वेदान्त था उस समय। अब तो स्वामी गंगेश्वरानन्दजीने वहाँ भक्तिका वातावरण बना दिया। अब तो बड़े-बड़े भक्त लोग वहाँ जाते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, कीर्तन होता है। मैं वहाँ बैठता घाटपर, बस! तो बिलकुल वेदमन्त्रका विचार होता—

एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।

एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ।

मृत्तिकेत्येव सत्यम्। केवल मिट्टी है, तो ये जो बर्गलाते हैं न, 'अरे, तुम ईश्वर-ईश्वर करते हो? ब्रह्म तो बड़ी ऊँची चीज है। ईश्वर तो छोटी चीज है।'

एक कहता है—अरे, क्या तुम ब्रह्म-ब्रह्म करते हो! ब्रह्म तो कुछ है ही नहीं! ईश्वर ही सब कुछ है। तो ये जो भेद बतलाते हैं न, ब्रह्म और ईश्वरमें किसीको

'ब्रह्म-ब्रह्म' करते देखते हैं तो कहते हैं—'ये ब्रह्मवालेके चेला बन गये हैं। उनको छोड़कर हमारे ईश्वरवालेके चेला बनो।'

'ईश्वर-ईश्वर' करते देखते हैं किसीको, तो ये कहते हैं—'हमारे ब्रह्मवालेके चेला हो जायँ'। सिर्फ ये गुरु बदलवा करके मार्गभ्रष्ट करनेके सिवाय कोई बात नहीं करते हैं।

ईश्वर और ब्रह्ममें, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान ईश्वरकी प्राप्ति और समाधिमें कोई फरक नहीं है। एक ऐसी जग़ह है, जहाँ सब एक हो जाते हैं, दूसरा होता ही नहीं है। हम एक बार अपनेको दृश्यसे अलग करके नहीं देख लेते, और एकबार ब्रह्मको नामरूपात्मक जगत्से अलग करके नहीं देख लेते, क्योंकि आवरण होगया है कि ब्रह्म नहीं है, संसार ही है—यह असत्वापादक आवरण ही है।

बोले—'होगा ब्रह्म! भाई, ब्रह्म होगा! लेकिन हमको मालूम नहीं पड़ता। यह अभानात्मक आवरण है। मालूम न पड़ता अभान है। न होना, न मानना असत्त्व। ये आवरण ही हमारी बुद्धिको दोनों ओरसे ढँक देते हैं।'

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम्।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः॥ १६॥
अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत्॥ १७॥

एक तो है यह देह और देहके भीतर है लिङ्ग शरीर। लिङ्ग शरीर साक्षीके सामने भास रहा है। इस चेतन-साक्षीकी परछाईं माने आभास पड़ा लिङ्ग शरीरमें। स्थूल शरीर, लिङ्ग शरीर, चेतन और उसकी छाया—इन चार चीजोंको मिला करके व्यावहारिक जीव होता है। व्यवहारमें इसीको 'जीव' कहते हैं। वह विवेक खो जानेके कारण शुद्ध चेतन; चिदाभास, लिङ्ग शरीर और देह-इन चार चीजोंसे युक्त हो जानेसे अपनेको जीव मानता है।

लेकिन इस बातको उधर बैठकर मत सोचो। ऐसे मत सोचो कि ब्रह्ममें आभास कहाँसे आया? लिङ्ग शरीर कहाँसे आया कि उसमें आभास पड़ा?

बोले-'फिर लिङ्ग शरीरसे यह शरीर कहाँसे बन गया?' ऐसे मत सोचो। यह सोचनेका तरीका नहीं है। सम्प्रदायहीन होनेसे लोग भटक जाते हैं।

देखो, तुम इस समय देह बनके बैठे हो। तो यहाँसे देखो—इस स्थूल शरीरमें एक सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीरमें शुद्ध चेतनका जो आभास पड़ रहा है, उससे जीवत्व बन रहा है। शुद्ध चेतन इससे न्यारा है। शुद्ध-चेतनमें न देश है, न काल है,

न वस्तु है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

मैं तो यह छाया चैतन्य नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ। अपनेको शुद्ध चैतन्यके रूपमें बैठा दो। तो देखोगे कि तुम्हारी परछाईं नहीं पड़ती है। लिङ्ग शरीर बिना हुए भास रहा है। देह बिना हुए भास रहा है। जगत् बिना हुए भास रहा है। तुम्हारा साक्षीस्वरूप तो साक्षात् ब्रह्म है। आरोपित जीवत्व साक्षीमें ही भास रहा है।

कबतक साक्षी भी अपनेको जीव ही समझता है? साक्षी समझनेका क्या लक्षण है, कि 'मैं मरता हूँ, मैं जीता हूँ, मैं जाता-आता हूँ, मैं पापी पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी-दु:खी हूँ।' जब आवरण नष्ट हो जाता है और बिलकुल विवेक हो जाता है कि—'द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता। दृश्यसे द्रष्टा बिलकुल न्यारा है।'—तो जीवत्वकी बिलकुल निवृत्ति हो जाती है। जीवत्व भी नहीं रहता है।

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते॥ १८॥
अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयो:।
भेदस्तयोर्विकारं स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित्॥ १९॥

यही आवरणशक्ति जो देह और आत्माको भेदसे ढँक देती है वही संसार और ब्रह्मके भेदको-वैलक्षण्यको भी ढँक देती है। अधिष्ठान और अध्यस्त—इनकी विलक्षणताको भी ढँक देती है। तो अध्यस्तसे अधिष्ठानके भेद समझो और जब अध्यस्त अधिष्ठानका भेद समझमें नहीं आता है, तब यह आवरणशक्ति अपना काम करती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म ही संसार बन रहा है, ब्रह्म ही सुखी हो रहा है, ब्रह्म ही दु:खी हो रहा है। ब्रह्म ही जड़ बन रहा है, ब्रह्म ही चेतन बन रहा है, ब्रह्म ही हिन्दू-मुसलमान बन रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है, क्योंकि यह भेद तो है दृश्यमें, प्रपंचमें और कल्पित हो जाता है परमात्मामें। ये विकृतियाँ कल्पित हो जाती हैं।

यहाँ भी जब आवरणका नाश हो जाता है, जो अध्यस्त है उससे विलक्षण ब्रह्म है, अधिष्ठान है, यह बात मालूम पड़ जाती है। जितने भी विकार होते हैं, अपनेमें नहीं होते। वे सब-के-सब दृश्यमें होते हैं। विवेक होनेपर क्या होता है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ २०॥

यह विवेककी प्रणाली बताते हैं। देखो, आप धरतीके हिसाबसे अपना वजन बता सकते हैं कि धरतीके हिसाबसे आपका वजन कितना है। लेकिन आकाशके

हिसाबसे अपना वजन नहीं बता सकते। धरतीके हिसाबसे आप अपनी लम्बाई-चौड़ाई बता सकते हैं, लेकिन आकाशके हिसाबसे नहीं बता सकते।

जल्दी आपका ध्यान नहीं जायेगा इस तरफ। यदि आपका पचासगुना आकाश होता, तो आपकी लम्बाई-चौड़ाई आकाशके पचासवें गुनेमें होती। लेकिन आपका और आकाशका जब कोई गणित ही नहीं है कि कितना गुना है, तो उसमें आपकी लम्बाई-चौड़ाईकी कोई कीमत कहाँ है?

ब्रह्मका अगर वजन मालूम होता, तो उसका अरबवाँ-अरब आपका भी वजन होता। लेकिन ब्रह्ममें कोई वजन ही नहीं है, तो शरीरका वजन उसमें कहाँसे आवेगा? उसमें काल ही नहीं है, तो उसमें आपकी उमर कहाँसे होगी?

यह सब अविवेकी दृष्टिसे, परिच्छिन्न दृष्टिसे देखनेपर मालूम पड़ता है। अनन्तमें अंश नहीं होता। 'कुल' बोलते हैं न! कुल=कई चीजोंका मेल। सर्व=बहुत चीजोंका मेल। सब लोग=बहुत लोगोंके मेलको हम 'सब' बोलते हैं। लेकिन परमात्मा अद्वय है। सब नहीं है। माने सबके जोड़का नाम परमात्मा नहीं है। सबका अधिष्ठान भी है, सबका प्रकाशक भी है। उसके एक कल्पित अंशमें सब भास रहा है, ये नाम और रूप!

अब हिसाब लगाओ! अनन्तमें अंश होता है कि नहीं? पहले यह विचार कर लेना। हमको बचपनमें किसीने सुनाया था कि यह जो धरती दिखती है, उसका तेरह लाखगुना सूर्य है। माने सूर्य जितना बड़ा है, उसका तेरहलाखवाँ हिस्सा यह धरती है। अरे भाई, विज्ञानमें यह बात बदल गयी हो, तो जिस हिसाबपर यह बात पहुँच गयी हो, उस हिसाबसे यहाँ बना देना। 'धरतीसे इतना गुना सूर्य है, तो सूर्यके अमुक हिस्सेके बराबर यह धरती है'—यह हो सकता है।

लेकिन अनन्तमें जिसकी कोई नाप-तौल नहीं है, उसमें यह धरती कहाँ? अनन्तको न जाननेके कारण हमको धरतीका नाप मालूम पड़ता है। हम देहकी नजरसे देखते हैं तो धरती बड़ी लगती है। कहाँ बैठकर सोचते हो? इसका बड़ा भारी विचार है कि आप अपने 'मैं' को कहाँ मानकर बैठते हो? कहाँ मानकर सोचते हो?

ये नापनेवाले पट्टे क्या करते हैं? ये यह तो अन्दाज लगाते हैं कि जिस चीजको हम देख रहे हैं, वह काँप रही है, लेकिन मशीन काँप रही है, इसका ख्याल भूल जाता है और मेरी आँख काँप रही है, इसका ख्याल भूल जाता है। हिसाब लगा भी लेते हैं, तो मेरा मन काँप रहा है, इसका ख्याल भूल जाता है।

अनन्तमें यह धरती कितनी देरतक है ? अनन्तकी घड़ीमें धरतीकी आयु दो मिनट ? अनन्तके विस्तारमें धरतीकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी ? और अनन्तके वजनमें धरतीका वजन कितना ? आप हिसाब लगाकर बताओ। आप समझते हो कि सब कुछ शरीरकी ओरसे ही देखा जाता है ?

देहकी ओरसे देखते हैं तो सारे भेद-विभेद मालूम पड़ते हैं और जब अनन्तकी ओरसे देखते हैं तो सारे भेद-विभेद मिट जाते हैं। जब अपनेको अनंतसे तादात्म्यपन्न करके, एक करके देखते हैं तो दूसरी कोई चीज दिखती ही नहीं है। यह उसकी महिमा है। इसकी दो प्रणालियाँ हैं असलमें। एकको 'लय-प्रक्रिया' बोलते हैं और एकको 'बाध-प्रक्रिया' बोलते हैं। वेदान्तोंमें इसके ये दो नाम हैं।

यह शरीर पंचभूतसे एक है। पंचभूत सूक्ष्मपंचभूतसे एक है। सूक्ष्म पंचभूत अहंकारसे एक है। अहंकार बुद्धिसे एक है। बुद्धि शान्तिसे एक है। शान्ति अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मसे एक है। अब ब्रह्मरूप हो करके बैठ जाओ। 'लयप्रक्रिया' इसको बोलते हैं।

महावाक्यसे पहले बोध हुआ कि-'**आत्मा अनन्त ब्रह्म है।**' 'है।' अनन्त ब्रह्ममें माया कहाँ ? माया नहीं तो चिदाभास कहाँ ? माया नहीं तो महत्तत्त्व कहाँ ? महत्तत्त्व नहीं तो अहंकार कहाँ ? अहंकार नहीं तो पंचभूत कहाँ ? पञ्चतन्मात्रा नहीं तो पञ्चभूत कहाँ ? पंचभूत नहीं तो देह कहाँ ?

एक तो '**तत्त्वमस्यादि**' महावाक्यसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप जान करके अपनेमें प्रपंचका होना वाधित कर देते हैं। अपना स्वरूप ही है सब। और एक ऐसे होते हैं कि देहको पंचभूतमें पंचभूतको पंचतन्मात्रामें, पंचतन्मात्राको अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वको प्रकृतिमें, प्रकृतिको मायामें, मायाको ईश्वरमें, अपने अखण्ड आत्मस्वरूपमें, ब्रह्ममें—सम्पूर्ण विशेषण-विशेष्यको विलीन करके ब्रह्मरूपमें स्थित होते हैं। ब्रह्मरूपका साक्षात्कार होते ही सब बाधित हो जाता है।

अपनेको देह मानकर ब्रह्मतक पहुँचना और अपनेको ब्रह्म मानकर सबको मिटा देना—ये दो प्रक्रिया हैं। एक इधरसे शुरू होती है और एक उधरसे शुरू होती है। एक बीचमें-से भी शुरू होती है। महात्मा लोग सब ओरसे सोचते हैं। दर्शनशास्त्रका यह नियम है। जैसे विज्ञान-साइन्स जिसको बोलते हैं न, उसमें यह सम्भावना रहती है कि यहाँतक इसकी खोज हो गयी, आगे और खोज होगी। और भी कोई चीज निकल सकती है—ऐसी सम्भावनाएँ होती हैं न ? वैसे दार्शनिक लोग ऐसी सम्भावनाको छोड़ते नहीं हैं, क्योंकि जो भौतिक सम्भावनाएँ होती हैं, वे आगेके

बारेमें अकल्पित भी होती हैं। परन्तु जो बौद्धिक सम्भावनाएँ होती हैं, जो आत्मिक सम्भवनाएँ होती हैं, उसको प्रत्येक दर्शन पहले गणित कर लेता है।

(१) एक द्वैत है एक अद्वैत है। (३) अद्वैत गौण द्वैत मुख्य है, (४) द्वैत और अद्वैत दोनों बराबर हैं, और (५) द्वैत और अद्वैत दोनों एक हैं, (६) द्वैत और अद्वैत दोनों नहीं हैं। यह द्वैत-अद्वैतके झगड़ेकी गणित है।

द्वैताद्वैतविवर्जितम्।

फिर भी, 'आत्मा नहीं है'—यह कहनेकी हिम्मत नहीं है। अबतक क्या क्या हो चुका है और आगे क्या-क्या हो सकता है, इन सबकी गणित जोड़ करके, लगा करके, तब दर्शन यह निर्णय करते हैं कि असलमें जगत्का स्वरूप क्या है?

एककी अनेक रूपमें व्याख्या करना—इसका नाम विज्ञान है। अनेकको एकमें मिला देना-इसका नाम दर्शन है। अनेकोन्मुख एक साइन्समें सम्भावना रहती है कि इससे क्या-क्या बन सकता है। एकमें अनेककी सम्भावनाको लेकर विज्ञान चलता है।

अनेकको एकमें मिलाकर अद्वितीय, राग-द्वेषरहित शान्त आत्माके रूपमें अनुभवस्वरूप अपनेको जानना, अनुभव करना-यह दर्शनकी सम्भावना है।

अनेकोन्मुख एकका नाम विज्ञान है।

एकोन्मुख अनेकका नाम दर्शन है।

ये दोनों पृथक् पृथक् रीतिसे चलते हैं।

●

प्रवचन २३

आओ, आज आपकी तारीफकी बात सुनायें। प्रातःकाल सोना अच्छा है कि सत्संग करना? आपके विवेकने कहा—**'सत्संग करना अच्छा है।'**

यदि सोनेमें और सत्संग करनेमें विवेक करके आप सत्संगको अच्छा नहीं समझते, तो कैसे आते? तो आपके अन्दर विवेक है। अब देखो, घरमें रहते, तो कोई काम करते। उस कामको छोड़कर इस समय सत्संगमें आये, तो आपके अन्दर वैराग्य भी है। यहाँ बैठकर कोई काम-क्रोधकी बात तो सोचते नहीं हैं। तो आपके अन्दर शम भी है और इन्द्रियाँ भी आपकी चञ्चल नहीं हैं तो आपके अन्दर दम भी है। इस समय कोई कामधन्धा नहीं कर रहे हैं, तो आपके अन्दर उपरति भी है। आप यहाँ धरतीमें बैठे हैं, धरती गड़ती भी है, गरम भी है। यह तितिक्षा करके सुनते हैं तो तितिक्षा भी है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा नीचे बैठते हैं तो यह श्रद्धाका लक्षण है। मनको एकाग्र करके सुनते हैं, तो यह समाधानका लक्षण है।

वेदान्तशास्त्रमें जिस साधन-चतुष्टयका वर्णन आता है, विवेक-वैराग्य-समाधि-षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा, इस समय आप साधन-चतुष्टयसम्पन्न होकर बैठते हैं। मुमुक्षा माने संसारके दुःखोंसे, अनिष्टोंसे, अनर्थोंसे बच करके परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा।

अब रही बात आगेकी। इनको बहिरंग साधन बोलते हैं। भले किसीकी समाधि लग जाय! कोई बड़ा-से-बड़ा दुःख सह ले, कामधन्धा छोड़ दे, शत्रु-मित्र छोड़ दे, भोग-विलास छोड़ दे, विवेक-वैराग्यवान् हो जाय, बहिरंग साधन अनिवार्य है। वेदान्तमें इसको बहिरंग-साधन बोलते हैं।

बहिरंग साधनका अर्थ क्या है? कि यह वस्तुकी सफाई नहीं है, यह औजारकी सफाई है। जैसे, आप अपना चश्मा साफ कर लें, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि

वस्तु आपने पहचान ली। चश्मेपर जो गन्दगी थी, सो दूर कर दी। आपने अपना दूरबीन ठीक कर लिया या आपने अपना खुर्दबीन ठीक कर लिया, इसका अर्थ यह नहीं है कि आपको जो देखना था, सो आप देख चुके।

साधन-चतुष्टय मशीनकी सफाई है। यह श्रुतिमें सर्वत्र आया है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद माया।

मुण्डक० १-२-१२

नित्य-अनित्यका, सत्य-असत्यका विवेक करके जो वैराग्य धारण करे—

शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितः।
श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्॥
मुमुक्षुः वै शरणं अहं प्रपद्ये। सुबालो० ९-१४

मैं मुमुक्षु हूँ। भगवान्‌की शरण ग्रहण करता हूँ। ये सब बहिरंग साधन हैं। बहिरंग=ये औजारको साफ करते हैं। जिस वस्तुको हम पहचानना चाहते हैं, उसको साफ नहीं करते हैं। अन्तःकरणको साफ करते हैं।

वस्तुको साफ करके दिखानेवाला साधन क्या है? उसको बोलते हैं—'श्रवण'। श्रवण अन्तःकरणको शुद्ध करने-मात्रके लिए नहीं है। हम जिस वस्तुको पाना चाहते हैं, उस वस्तुको स्वच्छ करके, निर्मल करके दिखा देनेवाली वस्तु है 'श्रवण'। आपने अपनी कसौटी ठीक कर ली, यह ठीक है; परन्तु सोनेको उसपर घिसकर पहचानना यह दूसरी चीज है। आपकी कसौटी ठीक हो जाना दूसरी चीज है।

हीरा देखनेका अपना औजार आपने ठीक कर लिया, यह ठीक है; परन्तु अभी हीरेको पहचाना कि नहीं पहचाना? यह बात दूसरी है।

आत्मा और परमात्माको पहचानना, अनुभव करना दूसरी चीज है और उसका अनुभव करनेके लिए अपने औजारको बिलकुल ठीक कर लेना, यह दूसरी चीज है।

आपने अपनी बन्दूकको स्वच्छ कर लिया, परन्तु अभी निशाना लगाकर लक्ष्यका वेध नहीं किया। लक्ष्यका वेध कैसे होता है? पहले लक्ष्यकी पहचान होती है कि लक्ष्य क्या है?

जिसको अपने अन्तःकरणको सुषुप्तिके समान बन्द करके केवल बाहरका दुःख या बाहरका भान मिटा देना ही पर्याप्त हो, कि हमको बाहरकी दुनिया मालूम न पड़े या बाहरका दुःख मालूम न पड़े, तो उसकी वेदान्ततक गति नहीं होती है। माने वह तो वेदान्तका अधिकारी नहीं होता है। जो अज्ञानका पर्दा हटाकर सत्यका

साक्षात्कार करना चाहता है, केवल दुःखसे बच जाना या मौतसे बच जाना, या जड़से अलग हो जाना, या चित्तका शान्त हो जाना—इतना ही जीवनका लक्ष्य नहीं है, ऐसा जानता है, वह वेदान्तका अधिकारी है।

जीवनका लक्ष्य उस वस्तुको प्राप्त करना है जहाँ द्वैतकी गन्ध नहीं रह जाती और जहाँ अपना आत्मा परिपूर्ण ब्रह्मके रूपमें होता है जहाँ जन्म नहीं, मरण नहीं, जड़ता नहीं, दुःख नहीं, जहाँ आना-जाना नहीं, जहाँ कालकी गति नहीं, जहाँ देशका निर्देश नहीं, जहाँ हव्य-कव्यादि द्रव्य नहीं, ऐसी जो अद्वितीय आत्मवस्तु है, उस अद्वितीयताका, आत्मवस्तुका साक्षात्कार एक जिज्ञासुका लक्ष्य होता है। उसको अद्वितीय आत्मबोध कहते हैं।

लोग कहते हैं, 'हमारा दुःख मिट गया, हमारी अशान्ति मिट गयी।' हम आपको ऐसी दवा बता सकते हैं, जिससे आपका दुःख मिट जाय, आपकी अशान्ति मिट जाय। जितनी देरतक आप ध्यानमें रहते हो, उतनी देरतक आपकी अशान्ति नहीं रहती है, आपका दुःख नहीं रहता है।

आपको दुःख, अशान्ति और बेचैनी मालूम न पड़े, ऐसी दवाका असर चला जायगा, तब फिर दुःख, अशान्ति, बेचैनी आ जायगी। केवल दुःख, अशान्ति और बेचैनी मिटाना ही जीवनका लक्ष्य नहीं होता है। जीवनका लक्ष्य है एक, अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय आत्माका बोध।

अविनाशी=कालसे अनकटा। परिपूर्ण=देशसे अनकटा। अद्वितीय=वस्तुसे अनकटा। जिसमें दूसरी वस्तु है ही नहीं, उसको बोलते हैं अद्वितीय। आत्माका बोध वेदान्तका प्रतिपाद्य है। लक्ष्य-लक्षणका समन्वय होना चाहिए।

आवरण और विक्षेपमें क्या फरक है? आवरण उसको कहते हैं, जिसमें वस्तुकी मूल एकता आवृत हो जाती है। जो सच्चा स्वरूप है, वह ढँक जाता है।

विक्षेप उसको कहते हैं जिसमें नानात्वबुद्धि होती है। जैसे, रस्सीको न पहचानना एक बात है; रस्सी पर पर्दा पड़ गया और उसको माला-डंडा-दरार-साँप या ऐसा कुछ समझना विक्षेप है। एकको न पहचानना और अनेकको देखना—ये दो चीज है।

एकको न पहचानना कारण है और अनेकको देखना कार्य है। वेदान्तमें अज्ञान और भ्रान्ति-इन दोनों शब्दोंका अलग-अलग प्रयोग होता है। अज्ञानकी प्रधानतासे आवरण होता है और भ्रान्तिकी प्रधानतासे विक्षेप होता है। ये दोनों होते हैं जीवमें और वह कल्पना करता है ईश्वरमें।

असलमें जीव-ईश्वर जहाँ दो नहीं हैं, साक्षी-ब्रह्म है। साक्षीका आवृत हो जाना और अपनेको कर्ता-भोक्ता-संसारी-पापी-पुण्यात्मा मान करके भटकना; परब्रह्म परमात्माका एकत्व दब जाना और उसको नाना संसार मान करके उसमें राग-द्वेष करना—यह विक्षेप है, भ्रान्ति है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, आना-जाना यह सब विक्षेप है।

अपने-आपका ढँक जाना, आवृत हो जाना, यह आवरण है। सम्पूर्ण जगत्के अधिष्ठानकी दृष्टिसे अधिष्ठानका जो एकत्व है, उसका छिप जाना और उसमें नानात्वकी प्रतीति होना, नानात्वको सच्चा मानना। विक्षेप है नानात्वकी भ्रान्ति, नानात्वकी बुद्धि, नानात्वकी मान्यता। एकत्वका अज्ञान ही एकत्वपर आवरण होकर भासता है। इसी एकको न पहचानना और अनेकको सच्चा मानना अज्ञानीका लक्षण है।

एककी पहचान हो जानेपर भी नानात्वकी प्रतीति होती है, परन्तु वह सच्चा नहीं भासता है। विक्षेप कबतक रहेगा? जबतक आँख-कान नाक, दिल-दिमाग, यह शरीरका चश्मा लगाकर जबतक देखते रहेंगे, तबतक नानात्व भासता रहेगा। परन्तु नानात्वमें जो सत्य-बुद्धि है, वह बुद्धि एकत्वके, अद्वितीयके ज्ञानसे मिट जाती है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषके जीवनमें आवरण नहीं रहता है, परन्तु विक्षेप रह सकता है। अज्ञानी पुरुषके जीवनमें आवरण और विक्षेप दोनों रहते हैं।

वस्तुतः तत्त्वमें न तो आवरण है न विक्षेप है, न ज्ञान है न अज्ञान है। यहाँतक कि चित्तका उपराग ही ब्रह्मको साक्षीके रूपमें दिखाता है। चित्तका उपराग=दृश्य, साक्ष्य, अन्यका भान। अन्यका जो भान है, वह भानगत अन्यता ही चेतनमें साक्ष्यत्वका अध्यारोप करवाती है। नहीं तो चेतनमें द्रष्टा और दृश्यका, साक्षी और साक्ष्यका, जीव और ईश्वरका, अद्वितीयता और सद्वितीयताका भेद नहीं है, विभाग नहीं है। वस्तुतः इनका भी अस्तित्व नहीं है। ऐसा होता है तत्त्व, ऐसा होता है ब्रह्म।

पहले विवेक करनेकी, इसको समझनेकी जो प्रक्रिया माने प्रकार है, वह बताते हैं—

अत्राप्यावृत्तिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः।
भेदस्तयोर्विकारं स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित्॥ १९॥

घड़ा काला भी होता है और लाल भी होता है। उसमें पानी भरकर या कोई दूसरी चीज भरकर कहीं ले भी जा सकते हैं। उसमें शराब भरें तो वह अपवित्र हो गया, गन्दा पानी भरें तो अपवित्र हो गया और गङ्गाजल भरें तो पवित्र हो गया।

परन्तु घड़ा? गन्दी चीज भरनेसे गन्दा, पवित्र चीज भरनेसे पवित्र, स्वच्छ चीज भरनेसे स्वच्छ, अस्वच्छ चीज भरनेसे अस्वच्छ। घड़ा पानी लेकर आता-जाता है। परन्तु माटीकी दृष्टिसे यदि देखो, तो घड़ेमें जितनी बातें कही गयीं, वह माटीमें बिलकुल नहीं हैं।

घड़ेको फोड़ देनेके बाद जब माटीमें मिल गया, तो न उसमें शराब न गंगाजल, न पवित्रता न अपवित्रता, न गन्दगी न स्वच्छता और न उसमें कोई संस्कार लेकर जाना न आना। घड़ा फूट जानेपर मिट्टीका जो स्वरूप होता है, घड़ा रहनेपर भी, घड़ेमें रहनेवाली मिट्टीका भी दरअसल वही स्वरूप है।

ऐसा नहीं है कि जेवर तोड़कर सोना होता है। जेवर, जेवर रहते हुए सोना होता है। लेकिन सोनेकी पहचान होनी चाहिए। मिट्टीकी पहचान होनी चाहिए। मिट्टी सच्ची है।

सचाई और झुठाईकी परिभाषा भी वेदान्तियोंकी बिलकुल न्यारी है। वह किसी चीजका मालूम पड़ना और होना—ये दोनों चीज अलग-अलग मानते हैं। कोई चीज मालूम पड़ती है, होती नहीं; और कोई चीज होती है, लेकिन मालूम नहीं पड़ती है।

अनन्तमें सान्त वस्तु, अनादिमें सादि वस्तु, अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्न वस्तु, अद्वितीयमें सद्वितीय वस्तु है नहीं, परन्तु भासती है। ब्रह्म है, परन्तु भासता नहीं। वस्तुएँ नहीं हैं, परन्तु भासती हैं। इसीको माया बोलते हैं। माया माने जो है वह तो मालूम न पड़े। जैसे जादूका खेल।

जादूगर मौजूद चीजको लुप्त कर देते हैं और जो नहीं मौजूद है, नहीं विद्यमान है वह भासती है। इसीको माया बोलते हैं। न कुछ पैदा हुआ, न मरा, न कुछ आया न कुछ गया। ऐसा जादूका खेल दिखाते हैं कि वह मर गया, यह बिछुड़ गया, यह आसमानमें उड़ गया! परन्तु वहाँ न कुछ आता है न जाता है। तो यह जो अद्वितीय दृष्टि है, तात्त्विक दृष्टि है, उसको प्राप्त करनेके लिए श्रवणकी आवश्यकता पड़ती है। श्रवण किस प्रकारसे करना, यह बताते हैं—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ २०॥

आओ, ब्रह्मका विवेक करें। दुनियामें जहाँ भी कोई चीज भासती है, व्यवहार होता है, वहाँ पाँच बातें जरूर होती हैं। बिना पाँच बातोंके व्यवहार नहीं होता। ये पाँच बातें क्या हैं?

पहले तो वह चीज होनी चाहिए, मालूम पड़नी चाहिए, प्रिय होनी चाहिए; और उसका रूप और नाम होना चाहिए। इन पाँच अंशोंको मिलाकर ही संसारमें कोई भी व्यवहार होता है। कोई रूप देखें, तो उसका एक नम्बरका रूप, दो नम्बरका रूप, तीन नम्बरका रूप या 'अ', 'ब', 'स' उसमें बना लेते हैं, उसके नाम रखे जाते हैं।

जब भेद दीखेगा तो टेढ़ी लकीर, आड़ी लकीर, सीधी लकीर बना देंगे। 'एक' सीधी लकीरके रूपमें लिखते हैं न? उसमें एक पूँछ बना लेते हैं तो 'र' हो जाता है। यह सब 'एक' ही का विस्तार है। एक लकीर और एक बिन्दु—इन दोसे सारी संख्याएँ बनती हैं। जैसे 'र' बनाना होता है तो जरा-सी टेढ़ी लकीर खींचकर बीचमें बिन्दु लगाकर दूसरी सीधी लकीर बना देते हैं। माने वह 'एक' और बिन्दु=दो लकीर और बिन्दु। नीचे बिन्दु ऊपर लकीर--'चार'। देखो, हिन्दी भाषामें। हिन्दी क्या, किसी भी भाषामें जो अंक होंगे, वह शून्य (०) की बिन्दु और एक लकीरसे बनते हैं।

हम लोग जो 'ॐ' लिखते हैं न, ॐमेंसे चाहे जो संख्या निकाल सकते हैं। 'ॐ'के कई हिस्से कर दिये जाते हैं और ऐसे ढंगसे लिखते हैं, उन टुकड़ोंको ऐसा बैठाते हैं कि सब संख्याएं उसमेंसे निकल आती हैं। सारे अक्षर भी उसीमेंसे निकल आते हैं। उसमें 'उ'कार सरीखी टेढ़ी लकीर भी होती है, बिन्दु भी होता है, चन्द्रबिन्दु भी होता है, उसमें सीधी लकीर भी होती है। 'ॐ'में सब संख्याएँ और सब अक्षर समाये हुए हैं।

जैसे घड़ा है, घड़ा मालूम पड़ता है, घड़ा एक कामकी चीज है, घड़ेकी एक शकल है और 'घड़ा' एक नाम है। तब घड़ा व्यवहारके योग्य है।

कपड़ा 'है', कपड़ा 'मालूम पड़ता है'=ज्ञान है और कपड़ा 'प्यारा है'। यह आकार, यह रूप है और 'कपड़ा' नाम है। तब कपड़ेका व्यवहार होगा। बिना इन पाँच हिस्सोंके वस्तुके साथ संसारमें व्यवहार नहीं होता।

अस्ति-भाति-प्रिय है। रूप्यते, नम्यते। नमयति=नाम एकको दूसरेसे अलग करनेके लिए झुका देता है, वह चीजको छोटी बनाता है। यह घड़ी है, यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह मकान है—एक चीजको दूसरी चीजसे अलग समझनेके लिए नाम होता है और अलग दिखानेके लिए रूप होता है। नाम और रूप ही चीजोंको अलग-अलग दिखाते हैं।

होना, भासना, प्रिय होना प्रत्येक वस्तुमें स्वाभाविक होता है। दार्शनिकोंमें इस बातको लेकर इतने मतभेद हैं! उसको भी गणितसे सुलझा देते हैं। देखो, पहले चीज है, तब मालूम पड़ी—यह एक सिद्धान्त हुआ।

पहले चीज मालूम पड़ी, फिर है—यह दूसरा सिद्धान्त है। माने जड़से चेतनकी उत्पत्ति हुई, यह पहला सिद्धान्त हुआ। यह प्रकाशित हुई, खुदाके पहले भी एक सत्ता थी, उसमें खुदा जाहिर नहीं हुआ था। उसका नाम है 'अस्ति'। खुदा पहले था और उसने 'अस्ति'को बनाया—यह दूसरा सिद्धान्त हुआ। चेतनसे जडकी उत्पत्ति हुई कि जड़ेसे चेतनकी उत्पत्ति हुई?

मार्क्स-हैकले आदि पाश्चात्य नास्तिक दार्शनिक-वैज्ञानिक जो हैं, ये सब मानते हैं कि जड़ सत्ता पहले है, उसमें चेतनता बादमें पैदा हुई।

जो मजहबी लोग हैं, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि जितने मजहब हैं—ये सब मानते हैं कि पहले चेतन था, उसने जड सृष्टिको बनाया। देखो, दो बात आ गयी।

तीसरा सिद्धान्त है—उसमें न जड़ने चेतनको बनाया, न चेतनने जड़को बनाया। दोनों हमेशासे हैं। इसको 'द्वैत'-सिद्धान्त बोलते हैं।

नैयायिक, सांख्य, योग, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, जैन—ये सब ऐसा मानते हैं कि जड़ और चेतनकी धारा हमेशासे रही है। न जड़ने चेतनको बनाया, न चेतनने जड़को बनाया।

बौद्ध लोग मानते हैं कि न जड़ है, न चेतन है। शून्यमें ये दोनों भासरूप ही हैं। न कोई जड़तत्त्व है न चेतनतत्त्व है। जड़ता और चेतनता दोनों शून्यमें बिना हुए ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद्य' है इनका—ये केवल परस्पर सापेक्षरूपसे भासते हैं। असलमें शून्य भी सापेक्ष ही है।

चार सिद्धान्त हो गये। अब पाँचवाँ देखो। पाँचवाँ क्या है? जड़-चेतन दोनों दो नहीं हैं; एक है। इनमें जो दो-पना है, यह तो भासता है, मिथ्या है और इसकी जो अद्वितीयता—एकता है, वह सत्य है। तो जहाँ इनकी अद्वितीयता है, जड़ और चेतन जहाँ दो नहीं हैं'—

सदेव सौम्य इदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

छान्दोग्य० ६/१-१

जैसा पहले था, वैसा ही अब है। एक अद्वितीय सत्ता ही परिपूर्ण है। जड़ता और चेतनता दो नहीं है। जड़का मन्थन करें तो चेतन निकल आता है और चेतनका मन्थन करें तो जड़ निकल आता है। जड और चेतनमें द्वैत नहीं है, भेद नहीं है। दूसरी कोई सत्ता नहीं है।

जहाँ निराकार सत्ता है, वहाँ चेतनसे जुदा नहीं है; जहाँ निराकार चेतन है, वहाँ सत्तासे जुदा नहीं है। नाम-रूपसे रहित सत्ता चेतन-आत्मासे जुदा नहीं है और नामरूपसे रहित चेतन केवल सन्मात्र है। नामरूपसे रहित चेतन निष्क्रिय है, निराकार है, निर्विकार है, निर्धर्मक है और ब्रह्म है। नामरूपसे रहित सत्ता आत्मासे भिन्न नहीं है और नामरूपसे रहित चेतन आत्मा सन्मात्र है। इसलिए जो सन्मात्र है, वह चिन्मात्र है और जो चिन्मात्र है, वह सन्मात्र है। सन्मात्र और चिन्मात्रमें भेद नहीं है।

'जगद्रूपं ततो द्वयम्।'

ये जितने भेद नाम और रूपके हैं, नामरूपका अपवाद करके, उनको बट्टेखातेमें डालकर, उनको उचंत खातेमें लिखकर देखो, जो सन्मात्र है वह चिन्मात्र है, जो चिन्मात्र है वह सन्मात्र है। सन्मात्र और चिन्मात्रमें भेद नहीं है।

'जगद्रूपं ततो द्वयम्'—ये जितने भेद हैं, नाम और रूपके; नाम और रूपका अपवाद करके, इनको बट्टेखातेमें डालकर, इनको उचंत खातेमें लिखकर इन नाम और रूप दो चीजको बिलकुल अलग कर दो।

अस्ति-भाति-प्रिय ये जुदा-जुदा नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा जुदा-जुदा नहीं है। जड़ और चेतन जुदा-जुदा नहीं हैं। भूत और भविष्य जुदा-जुदा नहीं हैं। बीचमें वर्तमानकी विभाजक रेखा ही नहीं है। दूर और निकट भी दूर नहीं हैं, क्योंकि बीचमें पोल नहीं है और मैं तुम भी जुदा-जुदा नहीं हैं। केवल नाम और रूपपर ख्याल होनेसे ही यह चेतन और जड अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, भूत और भविष्य अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, नरक और वैकुण्ठ अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। नहीं तो व्यापी वैकुण्ठ तो नरकमें भी ज्यों-का-त्यों है। निराकार ईश्वर, अधिष्ठान ब्रह्म, व्यापक वैकुण्ठ, सबका नियन्ता परमेश्वर जैसा प्रलयमें है, वैसा सृष्टिमें है। स्वर्गको वह अपने हाथसे सञ्चालित करता है, तो नरकको क्या दूसरे हाथसे सञ्चालित करता है? इसलिए भक्तोंको—

सरग नरक अपवर्ग समाना।
जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना॥ रामचरितमानस

भक्तको सब जगह ईश्वर दीखता है। ब्रह्मवादीको सब जगह ब्रह्म दीखता है। आत्मवादीको सब जगह आत्मा दीखता है। कहनेका अभिप्राय क्या है? केवल नाम-रूपवाले बनकर तो हम बैठ गये और नाम-रूपवाली चीजको हम देखते हैं। अपना नाम-रूप छोड़ें और जगत्के नाम-रूपको न देखें, तो मालूम पड़ जायगा

कि सब एक है। और यह नहीं कि हमें ऐसा एक मालूम पड़ता है। यह तो एक तराजू है, तौल लिया।

अपने कंगनको क्या आप चौबीस घण्टे कसौटीपर कसते रहेंगे? घिसते रहेंगे कि यह सोना है? अरे!

हीरा पाया गाँठ गठियाया, बार-बार वाको क्यों खोले?

एक बार कस लिया कि एक अद्वय वस्तु जो आत्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि आत्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं हो सकती। यह बात आप ध्यानमें रख लो। ज्ञाता जब होगा, प्रमाता जब होगा, ज्ञानस्वरूप आत्मा जब होगा, तभी किसी वस्तुकी सिद्धि हो सकती है। इसलिए अद्वितीय जो ब्रह्म है, वह आत्मासे भिन्न नहीं है।

आत्मचैतन्यसे सत्ता भिन्न नहीं है, इसलिए सन्मात्र यह आत्मचैतन्य ही है। इसलिए निराकार, निर्विकार, एकरस, निर्धर्मक, निर्गुण, निष्क्रिय, निरञ्जन, शान्त, अद्वय—यह परमात्माका स्वरूप है। एक बार इस बातको जान लो, इसपरसे आवरण भंग हो जाय। इस पर्देको फाड़ दो और उसके बाद यदि विक्षेपशक्ति काम करती है, यदि इस एक अद्वय वस्तुको अनेक नाम और अनेक रूपमें दिखाती है, तो नाम और रूपका भेद होनेपर भी वस्तुतः दीखनेपर भी, भासनेपर भी नाम और रूपके भेदकी किञ्चित् भी सत्ता नहीं है। केवल सन्मात्र चिन्मात्र आनन्दमात्र अपनी आत्मा ब्रह्म है।

हमारा नाम-रूपवाला होना और ब्रह्मका नामरूपवाला होना—ये दोनों, ज़हाँपर हम बैठे हैं, वहाँसे दीखता है, यह बात देखनेमें आती है।

एक महात्मा है। उसको कोई पूछता है कि 'महाराज, यह चीज हमको ऐसी दीखती है।'

बोले—'हाँ बाबा, तुम जिस जगहपर बैठे हो, वहाँसे वैसा ही दीखता है।' माने, चीज दीखनेमें, फोटो लेनेमें, हम कहाँ बैठके कैसे देखते हैं, हमारे कैमरेका कोण क्या है, यह भी तो काम देता है न! जब हम नाम-रूप अपनेमें धारण करके बैठ जाते हैं, अपनेको पर्देमें कर लेते हैं, हम पर्दानशीन बन जाते हैं, तो बाहरकी चीज भी पर्देसे ढँकी हुई दीखती है। जब हम पर्देको फाड़ देते हैं, तब बाहरकी चीज भी बेपरद दीखती है। नाम और रूपका ख्याल हटाके पर्देको देखो।

'कपड़ा' नाम अलग है और 'घड़ा' नाम अलग है। कपड़ेका रूप अलग है और घड़ेका रूप अलग है। दोनोंका रूप अलग है, परन्तु दोनोंका नाम-रूप अलग

करके देखोगे तो दोनों असलमें मिट्टी है। कपड़ा भी मिट्टी है और घड़ा भी मिट्टी है। घड़ी तुमको हाथमें बाँधनी है, और कपड़ा पहनना है। इस व्यवहारकी जरूरतके कारण दो नाम हैं और दो रूप हैं। नहीं तो, घड़ा भी मिट्टी, घड़ी भी मिट्टी और कपड़ा भी मिट्टी। अपने प्रयोजनके कारण हमने उसको अलग-अलग कर लिया है। उड़द भी मिट्टी, मूँग भी मिट्टी, चावल भी मिट्टी, गेहूँ भी मिट्टी। खानेमें सब अलग-अलग हैं। नाम सबका अलग-अलग है, रूप सबका अलग-अलग है। लेकिन नाम और रूपको अलग-अलग कर दो, तो दोनों एक हैं, सब एक हैं।

इसी प्रकार जिसको परमात्माकी पहचान करनी है, उसको एक बार नाम और रूपको अलग करके असलियतको पहचानना पड़ता है। यह मत देखो कि सोना कुण्डल है, कंगन है कि हार है। पहनना हो तो देख लेना। पहननेके समय हार गलेमें पहनना, कंगन हाथमें पहनना, कुंडल कानमें पहनना। परन्तु जब सोनेकी जाँच करनी है, तो कुंडलका कुंडलपना, माने उसका नामरूप, —हारका हारपना माने उसका नामरूप, कंगनका कंगनपना माने उसका नामरूप छोड़कर मात्र शुद्ध सोनाकी परीक्षा करो। तो इस सम्पूर्ण विश्वमें एकमात्र शुद्ध सोना है माने इसका नाम 'प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म' है।

खंवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी॥ २१॥
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथवा बहिः॥ २२॥

बाहर जो चीजें दिखायी पड़ती हैं, ये देखनेमें तो आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वी, इनके नाम अलग हैं और रूप अलग हैं। देहकी दृष्टिसे देखो तो देवता-पशु-पक्षी-मनुष्य आदिके नाम अलग-अलग हैं और रूप अलग-अलग हैं। लेकिन अस्ति-भाति-प्रिय जो है, जो नामरूपसे रहित सत्ता है, वह पंचभूतमें भी वही है और प्राणियोंके शरीरमें भी वही है। अस्ति-भाति- प्रिय एक ही है। केवल नामरूपका भेद होता है, अस्ति-भाति-प्रियका भेद नहीं होता।

अब समाधिका प्रसंग प्रारम्भ करते हैं, कि मनुष्यको समाधि लगानी हो तो कैसे लगावें? '**उपेक्ष्य नामरूपे द्वे**'।

अलग-अलग नाम और अलग-अलग रूप—इनमें दोष मत देखो, इनसे घृणा मत करो; इनकी केवल उपेक्षा कर दो। इनका नाम अगर यदि अलग-अलग है तो रहने दो। इनका नाम यूरोपमें दूसरा है, अमेरिकामें दूसरा है, आस्ट्रेलियामें दूसरा है, अफ्रीकामें दूसरा है, एशियामें दूसरा है तो ये नाम और रूप रहने दो।

रूप कहीं काला होता है, कहीं पीला होता है, कहीं हरा होता है; कहीं बड़ा होता है तो कहीं छोटा होता है। इस बातको छोड़ दो। अंगूर तो एक ही है न! अंगूर तो अंगूर ही है। पानीका नाम यूरोपमें दूसरा है, अमेरिकामें दूसरा है, अफ्रीकामें दूसरा है, आस्ट्रेलियामें दूसरा है, एशियामें दूसरा है; एशियामें भी जापानमें दूसरा है, अरबमें दूसरा है, हिन्दुस्तानमें दूसरा है। नाम अलग-अलग होनेसे क्या पानी अलग-अलग हो जाता है?

पानी कहीं नीला दिखता है और कहीं सफेद दिखता है। तो नीला-सफेद होनेसे क्या पानी अलग-अलग हो जाता है?

यह सूर्य ही कैसे-कैसे दिखता है? परन्तु सूर्य अलग-अलग हो जाता है? नाम और रूपके कारण जो भेद होता है, उस भेदको तो अपनी बुद्धिसे हटा दो और उस नामरूपसे रहित जो सत् है, ज्ञान है और आनन्द है, जो अस्ति-भाति-प्रिय है, उसके परायण हो जाओ।

अब समाधि तुम्हें देखना हो, तो देख लो समाधिका मजा!

समाधिं सर्वदा कुर्य्याद्धृदये वाऽथवा बहिः ॥

हमारे कितने वर्ष इस बातपर चर्चा करते हुए बीते हैं कि तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिए समाधिकी जरूरत है भी कि नहीं? बड़ी विचित्र बात है। हम लोगोंका यह कहना था क़ि दुनियामें अगर कोई अनजानी चीज रह जायगी तो? 'एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है'—यह है वेदान्तकी प्रतिज्ञा।

चाहे घड़ा छोटा हो, चाहे बड़ा हो; चाहे विलायतमें बना हो चाहे हिन्दुस्तानमें बना हो; लेकिन माटीकी पहचान तभी होगी, जब सब नामरूप का निषेध होगा, बाध होगा । रूपको हटाकर माटी की पहचान होगी। वह गोल पिण्ड है माटीका कि लम्बा पिण्ड है माटीका, कि भुरभुरी है माटी, इससे मतलब नहीं। माटीकी पहचान होनी चाहिए। नामरूप हटाने पड़ेंगे, तब एकका होगा बोध।

ब्रह्मज्ञानीको समाधिका बोध होता है कि नहीं होता है? घटाकार वृत्ति होनेसे घटका बोध हाता है और समाध्याकारवृत्ति होनेसे समाधिका बोध होता है। जिस समय समाध्याकारवृत्ति होती है, उस समय दुनिया छूट जाती है। प्रेमसे भी समाधि लग जाती है, विचारसे भी समाधि लग जाती है। जब तुम्हारी चित्तवृत्ति किसी एक वस्तुपर विचार करनेके लिए अखण्डित रूपसे उस वस्तुको विषय बनावेगी, तो समाधि लग जायगी। इसलिए यह कहना कि तत्त्वज्ञानी कोई ऐसा होता है कि जिसको यह पता ही नहीं होता है कि 'समाधि क्या होती है' तो यह बात बिलकुल गलत है।

समाधि तो तत्त्वज्ञानीके मनके एक कोनेमें वैसे ही पड़ी रहती है, जैसे तुम्हारे घरके एक कोनेमें कोई कचरा। तत्त्वज्ञानीके विशाल मनमें, अनन्त मनमें अद्वितीय मनमें, सारी सृष्टिको अपनी गोदमें रखनेवाले मनमें समाधि ऐसे पड़ी रहती है, जैसे आकाशके एक कोनेमें जरा-सा एक तृण पड़ा हुआ हो महाकाशमें, ऐसी समाधि होती है तत्त्वज्ञानीके चित्तमें। तो, समाधि अज्ञात नहीं होती है।

प्रश्न यह है कि समाधि क्या साक्षात् अज्ञानका नाश करती है? वेदान्तीलोग तो समाधिका खण्डन करते हैं, वहाँ सवाल दूसरा है। यहाँ सवाल यह है कि क्या समाधिमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह अज्ञानको निवृत्त कर सके?

वेदान्तीलोग यह कहते हैं कि समाधि लगाकर तुम यह देख लोगे कि दुनिया कभी भासती है और कभी नहीं भासती है। अभी तो तुम्हें दुनिया भासती ही भासती है, ऐसा मालूम पड़ रहा है। परन्तु समाधि लगाके देख लोगे तो तुमको मालूम पड़ जायगा कि संसार तुमको कभी भासता है और कभी नहीं भासता है। तब समाधिसे उठनेपर तुम विचार करोगे कि यह दुनिया तो कभी हममें होती है और कभी नहीं होती है। कभी भासती है और कभी नहीं भासती है।

इस प्रज्ञाके द्वारा कि 'संसार अध्यस्त है; कभी भासता है, कभी नहीं और हमारी आत्मा अखण्ड अधिष्ठान है'-यह ज्ञान होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अज्ञान-निवर्तक 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यजन्य प्रज्ञाकी परिपुष्टिमें, उसकी मदद करनेमें समाधि सहायक होती है।

समाधिसे भी प्रज्ञाको पुष्टि मिल सकती है और बिना समाधिके भी प्रज्ञाको पुष्टि मिल सकती है। दुनियादारोंमें समाधिकी बड़ी महिमा है। किसीके मनमें तो भूत-प्रेतकी ही बड़ी महिमा रहती है। उनको तो दिनमें दस बार भूत ही दिख जाते हैं, उनको क्या किया जाय? उनको तो अपने पितर ही दिख जाते हैं। किसी-किसीको तो ऐसे सपने आते हैं कि क्या पूछना? इसीको लोग सच्चा समझते हैं।

हम एक बात आपको यह भी बताते हैं कि दुनियामें आपको दीखता है न कि अमुक आदमी पापी है और अमुक आदमी पुण्यात्मा। यह भी आपका सपना ही है। यह वास्तविक बिलकुल नहीं है। यह भी आपने सपनेमें देखा है। पाप-पुण्यकी धारणा भी स्वाप्निक है और पापी-पुण्यात्मा भी स्वाप्निक है। शत्रु और मित्र भी स्वाप्निक है और उनके साथ रागद्वेष भी स्वाप्निक है। आपके अखण्ड आत्मदेवमें यह कोई भी बात नहीं है।

नाम और रूपकी उपेक्षा कर दो। किसीका कोई नाम मत रखो, किसीका कोई

रूप मत बनाओ। हमारे पास तो बहुत तरहके लोग आते हैं न! उनके एक लड़की थी, उसके मनमें कोई गड़बड़ी हो गयी थी। जब उसके सामने कोई आवे, तो उसका नाम रख दे! क्या नाम रख दे? आदमी आया, तो बोले 'बैंगन!' यह तो काशीफल है, यह तो फणस है'-ऐसे नाम रख दे अपने मनमें। फिर बार-बार उसकी याद करे, फिर रोवे कि ऐसा मैं क्यों करती हूँ?

जब उसको कोई वर दिखाया जाय न! ब्याह करनेके लिए लड़का दिखाया जाय, तो लड़केका भी नाम रख दे कि 'यह घोड़ा, यह गधा, यह सूअर।' नाम रख दे और बादमें व्याकुल होके रोवे कि मेरे मनको यह क्या हो गाया है? रोती थी, खूब रोती थी। घरके लोग परेशान थे कि यह पागल हो गयी, तो अब ब्याह कैसे होगा?

वह लड़की बोलती नहीं थी ज्यादा। जैसे मनके पागलपनमें मनमें ही बोलती थी। जिसका मन काबूमें नहीं होता है, वही ज्यादा बोलते हैं। उसका मन काबूमें नहीं था, पर जीभ काबूमें थी। वह रोती थी कि मेरे मनको यह क्या हो गया है? जो लड़का मुझे दिखाया गया, उसके बारेमें मेरे मुँहसे निकल गया—'गधा, घोड़ा, सूअर?' बार-बार ऐसा मनमें आता है।

आप भी दुनियाको देखकर अपने मनमें जो नाम रखते हुए चलते हैं न, कि—'यह पापी, यह पुण्यात्मा, यह दुश्मन, यह दोस्त'—यह भी वैसा ही है जैसे वह लड़की पागलपनमें 'घोड़ा-गधा-सूअर' नाम रख दिया करती थी। ऐसे ही तुम्हारा मन जब गधा हो जाता है, जब सूअर हो जाता है, जब चोर हो जाता है, तब वह दूसरेके बारेमें ख्याल बना-बनाकरके अपने मनमें रखता जाता है।

क्या तुम वर्तमान नहीं देखते हो? ख्वाब देखते हो? तुमको भूत लग गया है? मरी हुई चीज तुमको याद आती है और जो जिन्दा सामने है, वह नहीं दिखती है। जो आगे पैदा ही अभी नहीं हुई है, वह दिखती है तुमको और वर्तमान नहीं दिखता है। तो ये जो कल्पित नामरूप हैं, उनको छोड़ दो।

अपने मनमें न कोई भी नामकी कल्पना है न किसी भी रूपकी कल्पना है। तो क्या है? 'मैं हूँ'—'मैं जानता हूँ'—'मैं अपना प्रिय हूँ'। यह वृत्ति भी है कि नहीं है, यह सवाल है। इसलिए सविकल्प और निर्विकल्प दो भेद कर दिये—

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः।
समाधिं सर्वदा कुर्य्याद्धृदये वाऽथवा बहिः॥

हमारी कई तरहकी समाधिसे भेंट हुई है। समाधियाँ हमसे मिलने आया करती

थीं। छोड़ दिया उनको; जैसे घरके लोग, जैसे पैदा करनेवाली माँ छूटी, जैसे ब्याह करनेवाली पत्नी छूटी, पैदा किया हुआ बेटा छूटा, बनाया हुआ मकान छूटा, वैसे कितने प्रकारकी समाधियाँ आईं और मिल-मिलके चली गईं। अब उनकी याद भी नहीं आती है। उनका सपना भी नहीं आता है। उनका ख्याल भी नहीं आता है। खुली आँखसे जहाँ परमात्मा दीखता है! यह तो खुली दृष्टिसे देखनेकी वस्तु है। इसमें व्यवहारका कहीं लोप नहीं है।

आओ, हम आपको ऐसी समाधि बताते हैं। मूलमें, पुस्तकमें वर्णन है। समाधि बाहर भी लग सकती है और समाधि भीतर भी लग सकती है। ऐसी समाधिका वर्णन है। लो! समाधिमें तो बाहर-भीतरका भेद ही नहीं होता है!

जब बाहर-भीतरका भेद ही नहीं होता है, तो यह कैसी समाधि? समाधि चाहे भीतर लगा लो, चाहे बाहर लगा लो कैसे लगेगी? बस, नाम और रूपका ख्याल छोड़ दो तो समाधि ही समाधि है। अस्ति-भाति-प्रियके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अस्ति-भाति-प्रिय माने सच्चिदानन्द। अस्ति=सत्, भाति=चित्, प्रिय=आनन्द; सच्चिदानन्द! अस्ति-भाति-प्रिय माने और कोई मतलब नहीं है । अस्ति-भाति-प्रिय माने अविनाशी ज्ञानस्वरूप अपना आत्मा। बस! दूसरेका—जहाँ नामरूपका ख्याल ही नहीं, इसका नाम समाधि।

यह समाधि छः तरहकी होती है, माने छः तरहसे यह समाधि लगाई जाती है। इसका वर्णन आगे आवेगा। देखो, बच्चे होते हैं न, उनको तो कैसे भी बता दो! एक बताता हूँ आपको। संन्यासी होनेके बादकी बात है। हमलोग गये रतनगढ, भाईजीके घर ठहरे थे। यह 'श्रीमद्भागवत' छपा न 'गीताप्रेस' में, तो मैंने पहले इसका अनुवाद किया था। 'भागवतांक' निकला था जब, तो उन लोगोंने कहा कि—'यह आपका किया हुआ अनुवाद है, इसको आप श्लोकोंके साथ बैठा दो तो ठीक रहेगा।' तो मैं, 'दादा', और दो पण्डित भी थे हमारे साथ। 'मद्रासी' भी थे हमारे साथ । दस-पाँच दिन वे भी रहे हमारे साथ और एक अवधूत हँडियावाला था। वह भी गया था। वह क्या करता? बच्चोंको इकट्ठा करके बैठा देता। कहता कि-'सब बैठो आसनसे', छोटे-छोटे बच्चे थे। भाईजीके दौहित्र, 'सूर्यकान्त,'और 'चन्द्रकान्त'। ये सब बैठ जाते। पाँच-पाँच बरसके, छः-छः बरस के, आठ-आठ बरसके बच्चे! बोले-'आसन बाँधो।' बाँध लिया। 'पीठकी रीढ़ सीधी करो।' 'हाँ, ठीक है। आँख बन्द करो। पाँच मिनट ऐसे बैठो।'

बोले—'इसका नाम मालूम है?'

'नहीं मालूम है।'

'इसका नाम 'समाधि' है।'

अब घरमें गये बच्चे, तो माँने पूछा-'क्या कर रहे थे बेटा?' तो बच्चोंने बताया-'हम समाधिमें बैठे थे।'

पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठनेका नाम 'समाधि' है? आसन बाँधके बैठनेका नाम 'समाधि' है? समाधि तो चित्तकी एक अवस्था है। निर्व्यवहार, वृत्तिनिरोध माने? व्यवहारनिरोध। जिस समय चित्त किसी प्रकारका व्यवहार नहीं करता, यह-वह, मैं-तू, घड़ा-कपड़ा, किसी भी प्रकारका व्यवहार जिस समय चित्तमें नहीं होता है; उस व्यवहाररहित चित्तकी स्थितिका नाम समाधि होता है।

बच्चे आसन बाँधकर बैठते तो क्या उनका चित्त व्यवहाररहित हो जाता? वह तो कौतूहल रहता, उत्सुकता रहती कि देखो, बाबाजीके कहनेसे हम बैठे हैं, तो क्या होता है? ऐसे लोग आँख बन्द करके बैठते हैं और बोलते हैं कि हमारी समाधि लग गई। समाधिको जानते तो हैं नहीं!

ले खसम को नाम, ख़सम सों परिचय नाहीं।

वेश्या किया सिंगार है, बैठी बीच बजार नजारा सबको मारे।

जिस किसीने कह दिया कि ऐसे बैठ जाओ चुपचाप; आँख बन्द करके बैठ जाओगे तो उसका नाम समाधि हो जायगा। अरे! समाधि नामकी एक स्थिति होती है; चित्तकी निर्व्यापार, निर्व्यवहार स्थिति होती है। वह अज्ञानको तो दूर नहीं करती, परन्तु विक्षेपको दूर कर देती है।

समाधिमें आवरण भङ्ग करनेका सामर्थ्य नहीं है, विक्षेप भङ्ग करनेका सामर्थ्य है। वह नानात्वके दर्शनको मिटा देगी, परन्तु जिसके अज्ञानसे नानात्वका दर्शन हुआ है, उसका साक्षात्कार नहीं करावेगी।

जब समाधि टूटेगी तब क्या था भाई? तब वेदान्त कहेगा—'उस समय जो था, वह तुम्हारी आत्मा थी। आत्मा तो थी, पर कितनी बड़ी थी? वह तो अद्वितीय ब्रह्म थी। उस समय दूसरी कोई वस्तु व्यवहारमें भी नहीं है। समाधिकी तो बात ही क्या? तो व्यवहारकालिक-व्यावहारिक जो भेद-भ्रम है, उसके निवारणका सामर्थ्य वेदान्तमें है। तात्कालिक विक्षेपके निवारणका सामर्थ्य समाधिमें है, आवरणभङ्गका सामर्थ्य समाधिमें नहीं है।'

●

प्रवचन

२४

परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है। 'मैं इसका अनधिकारी हूँ' —यह भावना अपने मनसे बिलकुल निकाल दो। ईश्वर सबको दर्शन दे सकता है, क्योंकि वह सबका प्यारा है। प्यारा क्या अपने प्रेमीको मिलना पसन्द नहीं करेगा? एक बात।

दूसरी बात—यह कि वह अपना आत्मा ही है। तो क्या कोई स्वयं अपनी प्राप्तिका अनधिकारी होता है? 'मैं मैंको पाने लायक नहीं हूँ'—यह कल्पना ही बिलकुल झूठी है।

तीसरी बात-यह देखो कि जो चीज यहाँ है, अभी है, यही है और मैं ही है, ऐसी वस्तुके मिलनेमें अगर कोई देर है, तो यही है कि उसमें हमारी रुचि नहीं है। अपनेमें जो हीनभावनाका आरोप है कि—'मैं स्त्री हूँ, मुझे भला ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? मैं हीन हूँ'—अपनेमें जो हीनताकी भावना है, वह हमारी प्यास और साधनाको मिटानेवाली है। वह न तो हमारे हृदयमें प्यास पैदा होने देती, न तो साधना करने देती। वेदान्तका यह स्पष्ट निर्घोष है कि उसमें बहुत बुद्धिकी जरूरत नहीं है—

न मेधया न बहुना श्रुतेन। मुण्डक ३.२.३

यह मत समझो कि हम भी जब व्याख्यान देने लग जायेंगे, तो हमें वेदान्तका ज्ञान हो जायगा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः। मुण्डक ३.२.३

व्याख्यान देनेके साथ आत्माके ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है। बोले'—'भाई, बुद्धि बड़ी चाहिए।' तो बड़े-बड़े बैरिस्टर हैं, वकील हैं, जज हैं, नेता हैं, देश-विदेशके राष्ट्रपति हैं, मिनिस्टर हैं; सारे देशका सञ्चालन करते हैं, लेकिन उन्हें क्या आत्मज्ञान

है? ब्रह्मज्ञान है? बड़े ओहदेपर बैठनेसे, या बैरिस्टर होनेसे, बुद्धिमान् होनेसे आत्मज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक मामूलीसे मामूली आदमी भी आत्मज्ञान तो प्राप्त कर सकता है। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने माण्डूक्य कारिकाके भाष्यमें कहा है'—

ये केचनादि भवन्ति हि सुनिश्चिताः।
ते च लोके महाज्ञानाः तत्त च, गाहते लोके न जानते॥

इस श्रुति-कारिकाके भाष्यमें शङ्कराचार्यने कहा'—'चाहे स्त्री हो या शूद्र हो। कारिकाके भाष्यमें 'ये केचन'का अर्थ लिखा हुआ है 'स्त्री शूद्रादयः'। आप 'केचनादि' शब्दका अर्थ ले सकते हैं'—'चाहे पशु हो चाहे पक्षी हो'। यदि उसमें महावाक्यके ग्रहणकी योग्यता है, तो इसमें बहुत बुद्धिकी जरूरत नहीं है। बुद्धिमान् लोग तो और भटक जाते हैं।

अच्छा, तो कहा कि—'बहुत श्रवणकी जरूरत है।' बहुत श्रवणकी भी जरूरत नहीं है।

न बहुना श्रुतेन।

अपनी हीनता यदि मालूम पड़ती हो, कि स्त्री होनेसे या शूद्र होनेसे, या बुद्धि कम होनेसे, या श्रवण कम होनेसे, या प्रवचन नहीं होनेसे यदि अपनेमें अयोग्यता मालूम पड़ती है, तो यह बिलकुल गलत है। दूसरेके घरमें घुसना हो, और वहाँ लिखा हो कि-'बिना इजाजत अन्दर आना मना है',—तो मत जाना। परन्तु घर अपना ही है और वहाँ लिखा है—'बिना इजाजत के अन्दर आना मना है' तो क्या अपने घरमें भी बिना इजाजतके नहीं जाओगे? अपने घरमें बिना किसीकी इजाजत लिए भी प्रवेशका अधिकार होता है।

इसी प्रकार आत्मज्ञानके मार्गमें भी बिना किसीकी इजाजतके भी चलनेका अर्थ होता है, अपने घरमें जा रहे हैं। पहली बात यह है कि-'हम आत्मज्ञानके, ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं हैं'—ऐसी जो मनमें हीनभावना बैठी हुई है, वह निकाल देनी चाहिए। पढ़ा-लिखा हो या न हो।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कोई बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उनको ब्रह्मज्ञान था। बहुत ऐसे महात्मा हुए हैं जो बिलकुल पढ़े-लिखे नहीं थे, बहुत ऐसे महात्मा हुए हैं जो एक अक्षर भी पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु उनको ब्रह्मज्ञान था। उनकी निष्ठा बहुत ऊँचे दर्जेकी देखनेमें आयी।

अब यह कहो कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है! ऐसा किसी-किसीके मनमें आता है कि हमारे काम है, मनमें क्रोध है, मनमें लोभ है, मनमें मोह है, तो इतनी अशुद्धि अन्तःकरणमें रहते हुए ज्ञान कैसे होगा? असलमें अशुद्धि है क्या? अशुद्धि यही है, जो तुम परमात्माको, आत्माको, ब्रह्मको, परमेश्वरको छोड़कर दूसरी चीजोंके बारेमें सोचते रहते हो। यही तो तुम्हारे अन्तःकरणकी अशुद्धि है।

अशुद्धि क्या है? तुम ब्रह्मके बारेमें सोचना शुरू करो, और जिस क्षणमें तुम शुरू करते हो, उसी क्षणमें तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। उसके लिए डरनेकी कोई जरूरत नहीं है। जब तुम यहाँ आकर सत्सङ्गमें धरतीपर बैठते हो और एक घण्टेके लिए दुनियाका सारा काम छोड़ देते हो, तो उस समय तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है तो और कब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा?

इसके सम्बन्धमें एक बात आपको सुनाता हूँ। वेदान्तमें कहीं भी यह बात नहीं कही गयी है। मैं बड़े दावेके साथ यह बात बोलता हूँ। माने, ऐसे बोलता हूँ, जैसे वेदान्तका कोई पन्ना हमारे बाकी न हो। हाँ, कोई लाइन हमारी जानकारीके बाहर न हो। मैं इतनी प्रामाणिकताके साथ कह रहा हूँ कि यह बात कहीं नहीं कही गयी है कि कितनी देरतक-तीन मिनट, तीन घण्टे, तीन महीने, तीन बरस—कितनी देरतक अन्तःकरण शुद्ध रहे तब ज्ञान होता है। यह बात कहीं नहीं कही गयी है। जिस क्षणमें ज्ञान होता है, उस क्षणमें ही अन्तःकरणकी वास्तविक शुद्धि है। एक क्षणमें भी हो सकती है—

अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन् निमिषमच्युतम्।
भूयः तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

गीता० ९-३१

देर नहीं है। तुमने यहाँ आनेके पहले चाहे पाप भी किये हों, एक निमेष आत्मतत्त्वका- परमात्मत्त्वका चिन्तन करो। बहुत लोगोंके मनमें यह प्रतिबन्ध रहता है; इस चीजको अपने और ब्रह्मज्ञानके बीचमें बिलकुल मत आने दो कि— 'तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध है, तुम इसके अधिकारी नहीं हो।'

यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः ॥ मुण्डक० ३-२-३

साधक वरण करता है कि—'हे परमतत्त्व! हे ब्रह्मदेव! हे आत्मतत्त्व! मैं तो तुम्हींको वरण करना चाहता हूँ। मेरे लिए तुम्हारे सिवाय और कोई न रहे। बस,

अस्व=सर्वस्व माने जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसका अपना कोई नहीं है, (स्व=आत्मा, आत्मीय, स्वीय) जिसका और कुछ नहीं है। जो देहको 'मैं' नहीं मानता है और देहके सम्बन्धियोंको 'मेरा' नहीं मानता है, जो पञ्चभूत और पञ्चभूतसे बनी चीजोंको 'मैं' और 'मेरी' नहीं मानता है, वह प्रदीप्त अन्तर्दृष्टिवाला जो संन्यासी है, उस संन्यासीका सर्वस्व क्या है? उसका सर्वस्व यही है।'

कई लोग कहते हैं कि बुरी वस्तु अपने पास इकट्ठा करनेकी क्रिया गन्दगी है। जो चीज अपने हककी नहीं है, उसको अपने पास इकट्ठा करनेकी क्रियासे अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है।

जैसे, अपनी पत्नीके सिवाय दूसरी स्त्री, अपने धनके सिवाय दूसरेका धन, अपने कर्तव्यके सिवाय दूसरा कर्म—जब उसका हम परिग्रह करते हैं, तब अन्तःकरण अशुद्ध होता है। तो धर्म करो, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा।

बोले—'भोग करनेसे अन्तःकरण अशुद्ध होता है; इसलिए भोगका त्याग करो, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा।'

असद्-भावनासे अन्तःकरण अशुद्ध होता है, इसलिए सद्भावना करो। भगवानकी भक्ति करो, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा।

चित्तकी चञ्चलतासे अन्तःकरण अशुद्ध होता है; इसलिए चञ्चलताका त्याग करो, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा।

चार बात—धर्मसे, भोगके त्यागसे, सद्भावनासे और चित्तकी चञ्चलताके त्यागसे अन्तःकरण शुद्ध होगा।

सबसे ज्यादा दानी बात यही है। दानी=कीमती, मूल्यवान्। व्यापारी लोग आपसमें बात करते हैं, तो दानकी बात ही करते हैं। जब बात बड़ी हो जाती है, तो उस बातको भी दानी समझते हैं। सबसे ज्यादा कीमती बात यह है कि कर्म, भाव, भोग और एकाग्रता चारोंको एक ओर डालो, उनकी उपेक्षा करो और मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त साक्षी, निर्विकार, अद्वितीय हूँ। अथवा—परमात्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त साक्षी, निर्विकार, अद्वितीय है। अपने चिन्तनकी दिशा बदल दो। यह पाँचवीं बात है। सबसे कीमती बात यह है कि यदि मनुष्यने अपने चिन्तनकी दिशा बदल दी, तो उसका चित्त भी एकाग्र हो जायगा, भोगका त्याग भी हो जायगा और कर्म भी शुद्ध हो जायगा। क्योंकि, सबके मूलमें, सबके भीतर चिन्तन बैठा हुआ है। यदि तुम राष्ट्रपति हो, तो तुम्हारा प्रधानमन्त्री यह चिन्तन ही है। यह चिन्तन ही राष्ट्रपतिको सलाह देता है कि 'तुम यह करो, यह करो, यह करो।'

यदि चिन्तनकी दिशा बदल गई, तो तुम्हारा अन्त:करण शुद्ध हो गया। अब आप अन्त:करणकी शुद्धिके लिए बिलकुल चिन्तित न हो। क्योंकि अन्त:करणकी शुद्धिके लिए चिन्तित होना ही अशुद्धि है क्योंकि यहाँ चिन्तनका विषय ब्रह्म नहीं रहा, चिन्तनका विषय अशुद्ध अन्त:करण हो गया। तो, चिन्तन अशुद्ध हो जानेसे अन्त:करणशुद्धि नहीं होगी। इसलिए असलमें ब्रह्मके अतिरिक्त, परमात्माके अतिरिक्त, आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयका चिन्तन अन्त:करणकी अशुद्धि है। चिन्तनमें परिवर्तन कर दो, तो अन्त:करण शुद्ध हो गया।

चित्तशुद्धि पर बड़े-बड़े व्याख्यान होते हैं और बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हुए हैं। हमने आपको अन्त:करणशुद्धिके ये जो पाँच विभाग बताये हैं, यह सबका सार-सार है।

तमेकं ब्राह्मणो विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन। यह धर्म विभाग है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद माया। मुण्डक १-२-१२ यह भोगका त्याग है। वैराग्य करो।

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। अनुव्रज अनुव्रज।—भगवान्‌की आराधना करो। यह परमात्माकी सद्‌भावनाका विभाग है। और,

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। कठ० २-३-१०—यह एकाग्रताका विभाग है।

'तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।'—यह चिन्तनका विभाग है।

ये पाँचों विभाग श्रुतिसे सिद्ध हैं। धर्म-विभाग और भोग-विभाग द्रव्याश्रित है और शरीरमें होता है। भावना मनमें होती है। एकाग्रता चित्तमें होती है। इन सबका मूल परमात्माकी ओर मोड़ देना—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:।

यह जो वरण है, धर्मके द्वारा भी इसीका वरण। वैराग्यके द्वारा भी इसीका वरण। सद्‌भावनाके द्वारा भी इसीका वरण। एकाग्रताके द्वारा भी इसीका वरण और चिन्तनके द्वारा भी इसीका वरण। **यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:।**

अब आपको मूल ग्रन्थकी बात सुनाते हैं। यह जो दुनिया दिखती है, इसके लिए संस्कृतमें बड़ा बढ़िया शब्द है—'प्रपञ्च'। प्रपञ्च=पाँचका विस्तार। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जो हमारी हैं न; कुछ आँखने फैलाया, कुछ कानने फैलाया, कुछ नाकने फैलाया, कुछ त्वचाने फैलाया और कुछ जिह्वाने फैलाया। पाँचोंने परपञ्च रचा है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंने कुछ परपञ्च रचा, पाँच कर्मेन्द्रियोंने कुछ परपञ्च रचा, पाँच विषयोंने कुछ परपञ्च रचा; ये सब पाँच-पाँच-पाँचका खेल है। पाँच वृत्तियाँ हैं— क्लिष्ट हैं, अक्लिष्ट हैं। पाँच समाधि हैं। पाँच अन्त:करण हैं।

इन सबमें क्या है? अस्ति-भाति-प्रिय। 'है'—सत्। 'मालूम पड़ता है'—सत्। 'प्रिय है'—सत्। ये तीनों तीन नहीं हैं, एक है। अस्तिके बिना भाति नहीं, भातिके बिना अस्ति नहीं, अस्ति-भातिके बिना प्रिय नहीं। प्रियके बिना अस्ति-भाति नहीं।

प्रिय=अपना आपा, दूसरा नहीं। अपने आपेके बिना 'है' भी नहीं बोल सकते और 'मालूम पड़ता है' भी नहीं बोल सकते। 'है' के बिना, 'मालूम पड़े' बिना 'आत्मा' भी नहीं बोल सकते। असलमें अस्ति=किसी चीजका होना; भाति=किसी चीजका मालूम पड़ना; प्रिय=अपना आपा। ये तीन चीज नहीं हैं, बिलकुल एक है।

जो अलग-अलग नाम और अलग-अलग रूप मालूम पड़ते हैं, ये बदलते हुए हैं। रूप भी बदलते हैं और नाम भी बदलते हैं। नाम और रूप तो फुरफुराते हैं और अस्ति-भाति-प्रिय स्थिर होते हैं। आपको यह ख्याल करना चाहिए कि चाहे नाम कुछ भी हो—चाहे 'खुदावक्ष', चाहे 'ईश्वरप्रसाद', अस्तिका चिन्तन करो। श्रुतिकी बात दूसरी है।

नाम चाहे 'हाथी' होवे, चाहे चींटी होवे, रूप चाहे छोटा हो चाहे बड़ा हो, लेकिन अस्ति=है के बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकते। मालूम पड़े बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकते। पहले आत्माके हुए बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकते।

'है'में नाम-रूप होता है। 'ज्ञान'में नाम-रूप मालूम पड़ता है। 'अस्ति' नाम-रूपके आरोपका अधिष्ठान है। 'ज्ञान' नाम-रूपका प्रकाशक है। नाम और रूप फुरफुराते हैं और ज्ञान और आधार एक है, ज्ञान और अधिष्ठान एक है, चित् और सत् एक है। और, यह अपना आत्मा है।

खंवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी॥ २१॥

यह जितनी सृष्टि मालूम पड़ती है, मिट्टी-पानी-आग-हवा-आकाश और जितनी सृष्टि मालूम पड़ती है, देवता-पशु-पक्षी-मनुष्य—इन सबमें अलग-अलग नाम होनेपर भी है सच्चिदानन्द ब्रह्म ही, और अलग-अलग रूप और आकार होनेपर भी है सच्चिदानन्द नारायण ही।

अब और समाधि लगानेकी बात बताते हैं—

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः।
समाधिं सर्वदा कुर्य्याद्धृदये वाऽथवा बहिः॥ २२॥

ये बदलनेवाले और फुरनेवाले और झूठमूठ प्यारे लगनेवाले—जो झूठमूठ है, उसका नामरूप होता है, और जो झूठमूठ मालूम पड़ता है, उसका न.मरूप होता है। झूठमूठ जो प्यारा लगता है उसका नामरूप होता है। तो, नामरूपवाला है, नामरूपवाला मालूम पड़ना और नामरूपवाला प्यारा लगना—इनमेंसे नामरूपको निकाल दो, तो निराकार अधिष्ठान, निर्विषय ज्ञान और भोग्यरहित प्रेम—यह अपने आत्माका स्वरूप है।

भोक्ता-भोग्यके भेदभावसे रहित आनन्द, ज्ञाता-ज्ञेयके भेदसे रहित ज्ञान, कर्ता और आकारके भेदसे रहित सत्ता। अर्थात् निष्क्रिय सत्ता, निर्विषय ज्ञान और निर्भोग्य आनन्द—यह अपने आत्माका स्वरूप है।

नामरूपसे लड़ो मत। नामरूपसे लड़नेकी जरूरत नहीं है। नामरूपकी लड़ाई क्या है? एकने कहा—'जो परमतत्त्व है, उसका नाम 'खुदा' है। दूसरेने कहा—'नहीं',-नहीं, गॉड (God) है।' तीसरेने कहा—'ईश्वर' है। नामके लिए लड़ते हैं।'

एकने कहा—'काला है।' एकने कहा—'पीला है।' एकने कहा—'नीला है।' एकने कहा—'छोटा है।' एकने कहा—'बड़ा है।' एकने कहा—'बाँका है।' एकने कहा—'सीधा है।' जब आकार और नामको पकड़ोगे, तब तो हो जायगी लड़ाई। इसलिए नाम और रूप जो है, सो रहे। उसमें लड़ाई करनेकी जरूरत नहीं है। तुम उनको छोड़के एकबार बैठ तो जाओ।

इस समाधिमें बाहर दीखता रहे तब भी नामरूपको छोड़के बाहरको देख सकते हो और हृदयमें देखो कि नामरूप नहीं है, तो भी चल सकता है। दोनों तरहसे यह बात चल सकती है। इसी नामरूपको छोड़नेके लिए कोई आलम्बन लेना कि नहीं लेना? यह सवाल है।

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा॥ २३॥

बड़े-बड़े वीर पुरुष हैं जो आलम्बन नहीं लेते हैं। उनको कोई भला-बुरा थोड़े कहते हैं? देख ही रहे हो। आलम्बन लेनेमें यदि कोई अपने पाँवसे न चल सकता हो, तो दूसरेका सहारा लेकर के अपने लक्ष्यपर पहुँचना कोई पाप है? यदि आँखसे ठीक न दिखता हो, तो चश्मा लगाना कोई अपराध है?

हम लोग बैठते हैं न, तो हमको लोगोंका मुँह नहीं दिखता है। उधरसे रोशनी आती है। हम जब बीचमें हाथ रख देते हैं तो सबका मुँह दिखता है। सामनेवाली रोशनीका जो प्रतिबन्ध है, उसको हटानेके लिए बीचमें हाथ रख दिया, यह कोई अपराध तो नहीं है न? पाप तो नहीं है न? इसी प्रकार आँखसे नहीं दिखता है, तो चश्मा लगाना कोई अपराध नहीं है।

समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो तरहकी होती है। जब किसी लक्ष्यपर पहुँचना होता है, तो वहाँ पहुँचनेके लिए एक क्रम होता है। वहाँ कैसे-कैसे पाँव रखें? इसको सीढ़ी बोलते हैं। इसीको सम्प्रदाय कहते हैं।

वेदान्त 'सम्प्रदाय' किसको कहते हैं? अधिकारी जहाँ बैठा हुआ है, वहाँसे लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए जब हम किसी क्रमको स्वीकार करते हैं, तो उस स्वीकृत क्रमका नाम 'सम्प्रदाय' हो जाता है। 'प्रेमकुटीर'पर पहुँचनेके लिए कोई चर्चगेटसे आया, तो बोले—'भाई, थोड़ा दाहिने घूमना, थोड़ा बायें घूमना, फिर सीधे जाना, देखना, यह मिल जायगा।' यह जो मार्गक्रम है, इसीको 'सम्प्रदाय' बोलते हैं।

हम लोगोंको यह दुनिया सब प्रमाणोंसे मालूम पड़ती है। जीभसे दुनिया सच्ची मालूम पड़ती है कि नहीं? नाकसे भी सच्ची मालूम पड़ती है कि नहीं? आँखसे सच्ची मालूम पड़ती है, त्वचासे सच्ची मालूम पड़ती है, कानसे सच्ची मालूम पड़ती है, अपने मन-बुद्धिसे सच्ची मालूम पड़ती है।

ऐसा लगता है कि हमारे पास जितने औज़ार हैं, उनसे यह दुनिया ही ठोस मालूम पड़ती है। आपको जबतक कुछ मिलेगा नहीं, इसको छोड़ नहीं सकते।

आरोपितं निषिध्यते।

अपवाद तभी हो सकता है, जब इसका निषेध करनेके लिए कोई सहारा मिले। तुम आत्मसत्तामें द्रष्टा होकर बैठो। देखो, दृश्यके साथ तुम्हारी जो गाँठ है, वह खुल जायगी। तुम सर्वकारण-कारण परमेश्वरका ध्यान करने बैठो। देखो, दृश्यमें जो ठोसपना है, भोग्यपना है, वह कट जायगा।

सर्वकारण-कारण परमेश्वरका ध्यान करके उनसे तादात्म्य कर लो, तो कार्यके साथ तुम्हारा जो मोह है वह छूट जायगा।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज एक बात बताते थे—'देखो, विरक्तके लिए बरफका एक टुकड़ा और एक जगमग-जगमग करता हुआ मोती, दोनों बराबर हैं। क्यों? कि उसको बरफ तो खाना नहीं है और मोतीका जेवर पहनना नहीं है। दोनोंमेंसे किसीका संग्रह करना नहीं है। तो वह दोनों एक कैसे हैं? इसलिए कि दोनों पानी

हैं। बरफ जमा हुआ पानी है और वह मोती भी जमा हुआ पानी है। कारणपर दृष्टि जानेपर बरफकी डली और मोती दोनों बराबर हो जाते हैं। इसको 'कारणपर दृष्टि' बोलते हैं।'

एक वैद्य थे। वह लोगोंको 'रससन्दूर' और 'चन्द्रोदय' दिया करते थे, रोग हुआ तो तुरन्त 'चन्द्रोदय' दिया, वह 'रस' दिया, वह 'भस्म' दिया। हमारे एक महात्मा थे। उनके पास कोई रोगी आता था, तो जो चीज हाथमें आयी—कोई घास आजाती; तृण आजाता, वही दे देते थे। फिर रोग अच्छा हो जाता था। हजारों लोगोंका रोग अच्छा हो जाता। हम पूछते'—'महाराज! यह क्या जादू है ? यह क्या चमत्कार है ?'

'अरे, बाबा! जो रस-सिन्दूरमें है, वही इस तृणमें भी है। वही इस घासमें भी है।' सर्वकारण-कारण जो वस्तु है न, उसपर दृष्टि होनी चाहिए। उसकी पहचान होनी चाहिए।

जब कारणका साक्षात्कार आपको होगा, तो कार्यसे वैराग्य हो जायगा। जगत्का कारण जड़ नहीं है, चेतन ईश्वर है। जब द्रष्टा-स्वरूपसे आप बैठेंगे, तो दृश्यसे असङ्ग हो जायेंगे। जब द्रष्टा और ईश्वरोपलक्षित शुद्ध चैतन्यका जब जीव-साक्षी, चैतन्य और ईश्वर-साक्षी-चैतन्यकी एकताका बोध होगा तो द्वैत बिलकुल कट जायगा। द्वैतकी निवृत्तिका यही उपाय है। तो आओ, नाम-रूपकी उपेक्षा करो।

सत्-चित्-आनन्द! ज्ञान, सत्ता और आनन्द! बस, केवल इतना ही देखो। बाहर देखो कि भीतर देखो—'यह' शर्त नहीं है। तब क्या होगा? समाधि लग जायगी।

श्रीउड़ियाबाबाजीके यहाँ प्राय: सत्सङ्गका। मुख्य विषय यही रहा। मैं कोई दस-बारह बरस तक उनके सम्पर्कमें रहा। और पहचान जो है, सत्रह-अठारह वर्षकी कुल रही। जितने जिज्ञासु थे, 'ब्रह्माकार वृत्तिका क्या स्वरूप है', इसी विषयपर चर्चा करते थे। तो हम लोग समाधिका निषेध करते—

'विक्षेपनिवृत्तिका नाम तो समाधि है, परन्तु अज्ञानकी जो निवृत्ति है, उसमें अज्ञानके साथ समाधिकी दुश्मनी नहीं है। विक्षेपके साथ तो समाधिकी दुश्मनी है। विक्षेपको मिटा करके समाधि लगती है, पर अज्ञानको मिटाकर समाधि लगती हो, ऐसा नहीं है या समाधि लगकर अज्ञानको मिटा देती हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि सुषुप्तिमें जो अज्ञान रहता है, यह प्रपञ्चका अभान है। वह अज्ञानका विरोधी नहीं है।'

हम लोगोंका हमेशा ही जोर रहा उनके सामने कि 'प्रपञ्चका अभान अज्ञानका विरोधी नहीं है। क्योंकि समाधिमें केवल प्रपञ्चका अभान रहता है। प्रत्यभिज्ञा मालूम नहीं पड़ती। केवल इतना ही होता है समाधिमें। इसलिए कोई चीज मालूम पड़े कि न पड़े इससे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती।'

वे कहते—'ठीक है बेटा, लेकिन तुम्हें जब ब्रह्मज्ञान होगा, तो समाधि बाधित होगी कि नहीं? माने समाधि मिथ्या है, यह ज्ञान होगा कि नहीं?' 'जब ब्रह्मज्ञान होगा तो समाधि मिथ्या है, यह ज्ञान तो होगा।' 'क्योंकि समाधि एक अन्तःकरणमें होती है। समाधि कोई तत्त्वमें तो होती नहीं। अन्तःकरण चञ्चल होता है। अन्तःकरण समाहित होता है। चित्तकी एक अवस्था है समाधि। आभासकी एक अवस्था है समाधि। तत्त्वके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब अधिष्ठानका ज्ञान होगा, ब्रह्मका जब ज्ञान होगा, आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होगा, तो अन्तःकरणके मिथ्यापनेका ज्ञान होगा और उसमें लगनेवाली समाधिके मिथ्यापनेका ज्ञान होगा।'

'यह बात तो आपकी ठीक है महाराज!'

'अच्छा, ठीक है महाराज, तो आप यह बताओ कि ज्ञानका बाध होता है कि अज्ञानका बाध होता है? माने जानी हुई चीजको हम झूठी या सच्ची समझ सकते हैं। अनजानी चीजको हम न झूठी समझ सकते हैं, न सच्ची समझ सकते हैं। अज्ञान तो अज्ञान ही है। अज्ञानमें झूठी समझते हो, तो भी गलत और अज्ञानमें सच्ची समझते हो, तो भी गलत।'

'यह बात भी ठीक है।'

'तब तो समाधि क्या चीज है, यह मालूम पड़ना चाहिए।'

मालूम पड़नेका तो अर्थ यही होता है कि जो चीज ज्ञात होती है, वह तो प्राप्त ही होती है। हाँ, देखो, 'समाधि' शब्द सुनके घबड़ाना नहीं चाहिए। समाधि माने शरीर स्थिर करके जो समाधि होती है, सो नहीं। जो प्राणायाम करके समाधि होती है, सो नहीं। जो दृश्याकारवृत्ति होती है, जो ध्येयाकारवृत्ति होती है, सो समाधि नहीं। जो त्रिपुटीका लय हो जाता है, सो समाधि नहीं। भावनाके प्रकर्षसे या अभ्यासके प्रकर्षसे उत्पन्न होनेवाली समाधि नहीं।

चिन्तनमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताके साथ जो तादात्म्य है, विचारसे ही जो समाधि लग जाती है, उस समाधिको समाधि कहते हैं।

केवल विचारसे भी समाधि होती है। केवल अभ्याससे ही समाधि नहीं होती। समाधिका अर्थ है त्रिकुटीका अभान। तो भानमें अभानके लिए.—अभानका भी

भान होता है। अभानताकी सिद्धि भी भानसे ही होती है। बिना भानके अभानकी सिद्धि नहीं होती। 'इतनी देरतक समाधि लगी रही'—यह भी भान ही होता है। यह भानका ही विषय है। इसीलिए—'**आरोपितं निषिध्यते।**'

पाँच मिनटके लिए, पाँच घण्टेके लिए, पाँच महीनेके लिए, पाँच बरसके लिए या पाँच लाख बरसके लिए जो समाधि लगी; यह लगी हुई जो समाधि है, वह अपने स्वरूपमें नहीं है। उसका निषेध होता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है, क्योंकि अपना स्वरूप तो अद्वितीय ब्रह्म है।

अच्छा, तो देखो समाधिकी बात। यह समाधि दो तरहकी होती है—एक सविकल्प और एक निर्विकल्प। विकल्प=विविध कल्पना। सविकल्प माने विविध कल्पनासहित और निर्विकल्प माने विविध कल्पनारहित। वि=विविधता। कल्प=कल्पना।

विकल्प=विविध प्रति-कल्पना, विविधताकी कल्पना। बोले—'समाधि होगी तो विविधताकी कल्पना कैसी? जब समाधि है तब विविधताकी कल्पना नहीं है और जब विविधताकी कल्पना है, तब समाधि नहीं हैं।'

बोले—'हाँ, कल्पना दो तरहकी होती है। एक कल्पना होती है संसारमें फँसानेवाली और एक कल्पना होती है संसारसे छुड़ानेवाली।' जब हम ईश्वरसे प्रेम करते हैं, तो दुनियाकी जो दुःख देनेवाली मुहब्बत है, वह छूट जाती है। तो ईश्वरसे जो मुहब्बत है, वह संसारसे छुड़ानेवाली है न? दुनियासे, किसी आदमीसे, पशुसे, पक्षीसे जो मुहब्बत है, वह दुनियामें बाँधनेवाली है। इसी प्रकार विकल्प भी दो तरहके—एक बाँधनेवाला, एक छुड़ानेवाला।

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा॥

एक समाधि होती है जिसमें आलम्बन=सहारा रहता है और एक समाधि होती है जिसमें कोई आलम्बन=सहारा नहीं रहता है। वह है निर्विकल्प। विकल्प क्या है?

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। समाधिपाद-९

हमारे योगदर्शनके आचार्य बोलते हैं कि विकल्प क्या है? विकल्पका भी निरोध करना चाहिए। इसको भी मारो। विकल्प ऐसा होता है, जैसे हम यह बोलें—'यह संन्यासीका शरीर है।' आपको इस वाक्यमें कोई दोष तो नहीं लगता होगा न? 'ब्राह्मणका शरीर है।' असलमें शरीरके सिवाय ब्राह्मण और कुछ नहीं है। इसलिए शरीर और ब्राह्मणमें जो शरीरकी कल्पना है, यह झूठी है।

'यह ब्राह्मणीकुमारका शरीर है', 'यह ब्राह्मणी-पति है'—संस्कृतमें इसका नाम गाली है। जैसे कोई ब्राह्मण है न, भूलमें ऐसा बोले कि 'मैं ब्राह्मणी-पति हूँ', तो इसका अर्थ हुआ कि वह ब्राह्मण नहीं है। 'ब्राह्मणी-पति' बोलनेकी जरूरत नहीं है, 'ब्राह्मण' बोलनेकी जरूरत है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ।' क्षत्रिय हो वह अपनेको ब्राह्मणी-पति बोले, तो इसका अर्थ है कि 'मेरी एक रखेल ब्राह्मणी है और मैं उसका पति हूँ', तब तो यह बात चल सकती है कि 'मैं ब्राह्मणी-पति हूँ।' बिलकुल विकल्प है यह। बिलकुल झूठी चीज है।

'**ब्राह्मणकुमारस्य शरीरम्**'—यह ब्राह्मणकुमारका शरीर है, तो ब्राह्मणका कुमार ब्राह्मण ही होता है। इसीलिए फिर 'ब्राह्मण' शब्दसे अपत्यार्थक प्रत्यय नहीं होगा। '**ब्राह्मणस्य अपत्य पुमान् ब्राह्मणी**'—ऐसे नहीं होगा। जैसे '**दशरथापत्य पुमान् दाशरथी**'—ऐसे नहीं होगा। ब्राह्मण जाति है, इसलिए बाप भी ब्राह्मण और बेटा भी ब्राह्मण। 'ब्राह्मणका बेटा है'—यह कहनेका अर्थ होगा कि किसी दूसरी जातिकी स्त्रीमें पैदा हुआ है। उसमें 'का' क्यों जोड़ते हो? वह तो ब्राह्मण है।

'यह मनुष्यका शरीर है'—अर्थात् भीतर पशु भरा हुआ है। अच्छा, 'यह पुरुषकी चेतनता है'; 'आत्माकी चेतनता'। बोले—'आत्मा अचेतन है, तब न उसकी चेतनता? चेतनता उससे जुदा होगी।' यह विकल्प है। विकल्प इसीको बोलते हैं।

विकल्पका अर्थ यह होता है कि वह चीज तो नहीं होती है, लेकिन उसका सहारा लेकर वस्तुको समझा जा सकता है।

'राहुका सिर' आपको इस वाक्यमें कोई दोष मालूम पड़ता है? बोले—'बाबा, राहु और सिरका ही नाम तो राहु है। तो 'राहुका सिर' कोई और दूसरा सिर होगा।' ऐसे नहीं होता है। इसीको विकल्प बोलते हैं।

विकल्प माने दूसरी चीज न होनेपर भी इस ढंगसे बोला जाय कि दूसरी मालूम पड़े। सविकल्पका पहले वर्णन करते हैं—

दृश्यानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा।

एक समाधि लगती है तो दृश्यका सहारा लेकर लगाते हैं। एक शब्दका सहारा लेकर लगाते हैं। और एक समाधि बिना सहारेके लगाते हैं।

हम ऐसा बोलते थे—'समाधि चार प्रकारकी होती है। दो नहीं, चार होनी चाहिए, तीन होनी चाहिए, पाँच होनी चाहिए। दो ही क्यों कहा?' आँख बन्द करके बैठते थे कि 'ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिए। इसका अर्थ ऐसा होता है।'

अर्थका साक्षात्कार होता है। जैसे, देखो यह 'घड़ी' है। घड़ी हाथमें है। यह 'घड़ी' शब्दका अर्थ है। और शब्द कहाँ है? मुँहसे बोलते हैं—'घड़ी'। इस शब्दका यही अर्थ है, यह ज्ञान कहाँ है? भीतर है न ज्ञान? जब हम 'घड़ी' बोलते हैं तो इसी अर्थका बोध होता है। इसी अर्थका नाम 'घड़ी' है। इसी चीजका माम 'घड़ी' है और जब मुँहसे बोलते हैं, बच्चेसे कहते हैं कि 'बेटा, घड़ी लाओ', तो जाकर उठा लाता है। बच्चा उठाकर पूछता है कि—'पिताजी, इसका क्या नाम है' "इसका नाम 'घड़ी' है।" तो वस्तुका नाम 'घड़ी' बता देते हैं। और जब हम बिना वस्तुके ही 'घड़ी' लानेको कहते हैं, तो बच्चा 'घड़ी' उठाकर लाता है। तो शब्द 'घड़ी' और अर्थ 'घड़ी' दोनोंके सम्बन्धका ज्ञान कहाँ है? हृदयमें। तीन चीज तीन जगह हो गयी।

समाधि कब लगेगी? जब ये तीनों चीज तीन जगह नहीं रहेंगी, एक जगह हो जायगी। 'घड़ी' शब्द, 'घड़ी' अर्थ, 'घड़ी' ज्ञान माने जिस ज्ञानमेंसे शब्द और अर्थ निकलते हैं, उसी ज्ञानमें शब्द और अर्थका लय हो जायगा, जब ज्ञानातिरिक्त शब्द और अर्थका भान नहीं होगा, तो उसका नाम 'समाधि' हो जायगा।

केवल ज्ञानका रहना, शब्द और अर्थका न रहना—न भासना, इसका अर्थ यह नहीं कि बाहरकी घड़ी फूट जायगी या कोशमें 'घड़ी' नाम नहीं रहेगा, या हमारी जीभमें 'घड़ी' शब्द बोलनेकी ताकत नहीं रहेगी। 'घड़ी' वस्तु और 'घड़ी' शब्द दोनोंका ज्ञानसे अभिन्न होकर पृथक् रूपसे न भासना माने शब्द और अर्थका पृथक् रूप से न भासना—इसका नाम योगदर्शनमें समाधि होता है।

'गौ' इति अर्थः। 'गौ' इति शब्दः। 'गौ' इति ज्ञानम्। 'गाय' नामकी चीज, 'गाय' नाम और 'गाय' ज्ञान—ये तीनों जब अपना तीनपना छोड़कर एक हो जाते हैं, जब इनका तीनपना नहीं भासता है, तब उसका नाम होता है 'समाधि'। समाधि माने शब्द और अर्थ दोनोंको ज्ञानमें दफना देना। जैसे मरे हुए शरीरको मिट्टीमें दफना देते हैं, वैसे शब्द और अर्थको ज्ञानमें दफना देना। समाधि माने कवर।

किसकी समाधि हो जाती है? किसकी कवर? शब्द और अर्थकी कवर। संन्यासी लोगोंको मरनेपर समाधि हो जाती है। उनको जिन्दगीमें समाधिकी कोई जरूरत ही नहीं है। मरनेपर भी उनकी समाधि हो जाती है। सं=सम्यक्+आधान=रखना समाधि। शब्द और अर्थको ऐसी ज्ञानकी पेटीमें रख देना; ऐसी रोशनीमें रखना जहाँ शब्द और अर्थ मालूम न पड़े! केवल रोशनी ही रोशनी रह जाय।

अब वेदान्तकी दृष्टिसे इसका विचार करते हैं। इसके चार प्रकार हैं। पहले चार

प्रकार जो इसके हैं—दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध, उभयानुविद्ध और उभयाननुविद्ध।

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥ २४॥

देखो, मनमें कितनी बातें आती हैं और जाती हैं। मन क्या है? एक सड़क है। 'मरीनलाइन्स' स्टेशनके सामने पहले एक 'मोदी' डॉक्टर था। यह बात भी पचीस वर्ष पहलेकी है। मैं संन्यासी था। हमारे मित्र प्रबोधानन्द सरस्वती थे, उनका ऑपरेशन हुआ था आँखका। मैं उनके साथ आया था। हमने डॉक्टरको कहा था कि—'हमको दिखा दो सब, यह आप लोग कैसे काटते हैं?' तो हमको दिखाया। खोलकर दिखाया। चीर दिया। दो टुकड़े कर दिया कैंचीसे, जैसे रबरकी नली काटते हैं न! देखकर हमको एकदम पसीना हो गया शरीरमें। अब तो देख लिया।

हम दो-चार घण्टे रोज वहाँ कुर्सीपर बाहर बैठते थे। हजारों मोटरें 'मरीनलाइन्स'वाली सड़क परसे गुजरतीं, तो हम देखते रहते थे। कभी-कभी सामने एक्सीडेन्ट हो जाता था, तो वह भी देखते। कभी कोई मोटर बहुत बढ़िया ढंगसे चलाता तो वह भी देखते। कभी अच्छी मोटर जाती, कभी पुराने जमानेकी पण्डित मोतीलाल नेहरूकी जैसी मोटर थी वैसी निकलती! अच्छी मोटर जाती, खराब मोटर जाती, तेजीसे जाती, मन्दीसे जाती; कोई ठहरकर वहाँ उतरता, लेकिन हम ऊपर बैठे देखते रहते—

प्रज्ञा-प्रासादमारुह्य अशोच्यान्शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

जैसे पहाड़की चोटीपर बैठ जायँ और नीचे नालेमें चाहे सूअर चरे, चाहे हाथी घूमे, चाहे पानी निकले, चाहे गन्दगी जाय; चोटीपर बैठा हुआ देख रहा है।

ऐसे मनमें चञ्चलतामें कई प्रकारकी वृत्तियाँ आती-जाती हैं। कभी मुर्दा घूमता हुआ निकल जाता है, कभी देवता घूमता हुआ निकल जाता है, कभी महात्मा घूमता हुआ निकल जाता है तो कभी कुत्ता घूमता हुआ निकल जाता है। यह हमारा मन क्या है? एक चलती हुई कालबादेवीकी सड़क है। यह तो है हमारा मन!

'**कामाद्याश्चित्तगा दृश्या**'—उसमें यह नहीं कि अच्छी-अच्छी बातें आती हैं। काम-क्रोध-लोभ आ-आकर भी बह जाते हैं। और, हम बिलकुल साक्षी चेतनके रूपमें बैठे रहते हैं। आने-जानेवाले न हमारे कोई रिश्तेदार हैं न नातेदार हैं। न मैं हूँ, न मेरा है। मैं भी सड़कपर घूमनेके लिए नहीं जाता और घूमनेवाले न मैं हूँ न मेरे हैं। उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। बिलकुल असङ्ग!

इसी प्रकार मनकी सड़कमें जैसे फिल्म भरी हुई होती है न, और फिल्ममेंसे निकल-निकलकर दृश्य पर्देपर आते हैं जाते हैं, बहते हैं, मरते हैं, मिटते हैं, लड़ते हैं, झगड़ते हैं, प्यार करते हैं। लेकिन यह सड़कपर हो रहा है और चेतन केवल दृश्य देख रहा है। तो देखो, दृश्य दिख रहा है, परन्तु मैं उसका असङ्ग द्रष्टा साक्षी चेतन हूँ। इस प्रकारसे दृश्यको देखते हुए भी असङ्ग चेतनके रूपमें केवल उसको देखना, सम्बन्धको काट देना।

यह 'सम्बन्ध' शब्द है न! सम्बन्ध=बन्धन। बन्धमें सं जुड़ गया न! बन्ध=बन्धन और सं=सम्यक् भलीभाँति बँध जाना, गाँठ जोड़कर बँध जाना, गलबहियाँ डालकर बँध जाना, भुजपाशमें बँध जाना, बच्चेको छातीसे बाँध लेना इसका नाम है सम्बन्ध।

पहली समाधि यह है—बाहरके दृश्यकी बात नहीं है, मनमें जो दृश्य दिखायी पड़ते हैं, उनके साथ सम्बन्धको काट दो। वह विकल्प है, चीज कोई नहीं है। कल्पना ही है, इसलिए सविकल्प समाधि है। वहाँ वस्तु कोई नहीं है, वस्तुओंकी कल्पना ही है। जैसे, कोई सिने-स्टार फिल्ममें नहीं है, केवल तस्वीर है। न अभिनेता है, न अभिनेत्री है। बिना हुए ही फिल्ममें जो तस्वीर है, वह दिखायी पड़ती है।

उसी प्रकार तुम्हारे मनमें जो संस्कार भरे हुए हैं, वे पर्देपर दिखते जा रहे हैं। वह न तुम हो, न तुम्हारे हैं। इस सम्बन्धको काट देना। इसको दृश्यानुविद्ध माने दृश्यसे मिली हुई, मिश्रित—चेतन द्रष्टा और दृश्य दोनोंका मिश्रण होनेपर भी असङ्गताकी जो दृष्टि है, उसको सविकल्प समाधि बोलते हैं।

एक दूसरे प्रकारकी समाधि होती है, उसमें नामका अनुवेध, शब्दका अनुवेध है। उसमें शब्द मिला रहता है।

●

प्रवचन २५

दूसरे प्रकारकी सविकल्प समाधिमें शब्दका अनुवेध रहता है। 'समाधि'=सं+आधि में मूल धातु है 'धा'=धारणपोषणयो:। हमारी मनोवृत्तियोंको जो धारण करे और बलवान् बनावे, यह व्याकरणकी मूल धातु 'धा'का अर्थ है। इसमें दो उपसर्ग हैं—'सं' और 'आ'। उपसर्ग इसलिए होते हैं कि वे धातुके अर्थको थोड़ा बदल भी सकते हैं।

जैसे, एक धातुसे शब्द बनता है; 'हृ' धातु है। उससे शब्द बनता है 'हार'। 'आ' उपसर्ग लगाओ तो शब्द बनता है 'आहार' और 'वि' उपसर्ग लगाओ तो शब्द बनता है 'विहार'। आहार-विहार तो सब लोग चाहते हैं। परंतु 'प्र' उपसर्ग लगाओ, तो शब्द बनता है 'प्रहार'। उसको कोई नहीं चाहता। 'परि' उपसर्ग लगाओ तो 'परिहार' हो गया और 'सं' उपसर्ग लगाओ तो 'संहार' हो गया। एक ही 'हृ' धातुसे आहार, विहार, प्रहार, परिहार, संहार बहुत सारे शब्द हो जाते हैं। इन्हींको बोलते हैं उपसर्ग। उपसर्ग माने धातुके अर्थमें थोड़ा परिवर्तन कर दे।

'धा' धातु में उपसर्ग जुड़ा है 'सं' और 'आ'। सं=भलीभाँति। आ=चारों ओरसे समेट करके; पूरी तरह। भलीभाँति, पूरी तरहसे रख देना, धारण करना, पोषण करना। इस 'धा' धातुकी एक संज्ञा होती है—'घु'। संस्कृतिमें 'घु' बोलते हैं; व्याकरणमें जैसे 'लघु' है न, तो 'लघु' को 'घु' बोलते हैं। फिर उसको 'ति' प्रत्यय लगा देते हैं। 'घु' छोटी-सी संज्ञा है। जो 'घु' संज्ञक धातु होती है, 'ता' - 'धा' आदि। 'समाधि' शब्द उसीसे बनता है, जिसका अर्थ है— आपके मनमें जितनी आधि है, जितनी व्याधि है, जो कुछ दुनियाकी उपाधि आपके साथ लगी हुई है, उसको आप शान्तिमें आधि न कर दो। आधान कर दो। चित् कर दो।

इसके लिए योगशास्त्रमें ऐसी बातें बताई हैं, जिनको लोग मामूली समझके छोड़ देते हैं। लेकिन वे मामूली नहीं हैं। माने, यह तो एकसे एक कड़ी जुड़ी हुई होती है। जैसे, एक बात कही गई कि 'समाधि लगानेवालेके लिए सत्य बोलना जरूरी है।' कोई कहेगा कि 'बाबा, हमको अभ्यास बताओ! हम एकान्तमें बैठके समाधि लगायेंगे। हम बाजारमें सत्य बोलते हैं कि झूठ बोलते हैं, इससे तुम्हारा क्या मतलब? इसमें तुम दस्तन्दाजी क्यों करते हो कि हम दुकान पर सच बोलते हैं कि झूठ? हमें तुम अभ्यास बता दो। घरमें बैठेंगे, समाधि लग जायगी।'

इसमें बात यह है कि जो सत्य बोलता है, वह निश्चिन्त होता है और जो झूठ बोलता है, वह सचिन्त होता है कि 'किसीको पता न लग जाय कि हमने झूठ बोला है। पुलिसको पता न लग जाय कि हमने झूठ बोला है। पड़ोसीको पता न लग जाय, पत्नीको पता न लग जाय, पतिको पता न लग जाय।' जो झूठ बोलेगा, उसको तो छिपाना पड़ेगा न? जिसको छिपानेकी फिकर लगी हुई है, पुलिस और टैक्सका डर लगा है, बैठेगा अभ्यास करने कि हमारे मनकी समाधि लग जाय ? तो गड़बड़ी होगी कि नहीं होगी? तो समाधि लगानेके लिए सत्य बोलना जरूरी है।

दूसरी बात—तुम्हारा सत्यसे प्रेम है कि नहीं है? यदि तुम्हें लोकमें सत्यसे प्रेम नहीं है, तो परमार्थमें भी तुम्हारा सत्यसे प्रेम होगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। क्यों? बुद्धि तुम्हारी सत्यका पक्षपात करती है कि नहीं? यदि लोक-व्यवहारमें सत्यका पक्षपात नहीं करती तुम्हारी बुद्धि, तो मतलब इतना ही है कि जिसको तुम सत्य समझते हो, उसका आचरण नहीं करते हो। जिसको वेद, शास्त्र, पुराण, तन्त्र सत्य कहते हैं, उसमें तुम्हारी क्या दिलचस्पी होगी? जब अपने समझे हुए सत्यमें ही तुम्हारी दिलचस्पी नहीं है, तो दूसरेके बताये हुए सत्यमें तुम्हारी क्या दिलचस्पी हो सकती है? जो सत्यका प्रेमी होता है, वह सत्यको ढूँढ़ता है। उसको विचारमें भी सत्य मिलेगा, समाधिमें भी सत्य मिलेगा।

दूसरी बात देखो—जो शास्त्रमें जरूरी बात बताई गई है। किसीको दुःख पहुँचानेका ख्याल नहीं होना चाहिए। यदि मनुष्य किसीको दुःख पहुँचाना चाहता है, तो किसको दुःख पहुँचाना चाहता है? जिससे दुःख मिला है या दुःख मिलनेकी सम्भावना है; अपने शत्रुसे ही न? जिस शत्रुको तुम दुःख पहुँचाना चाहते हो, वह तो गड़कर तुम्हारे दिलमें बैठ गया है। समाधि कैसे लगेगी? तो मनसे, कर्मसे, वाणीसे किसीको दुःख पहुँचानेकी इच्छा नहीं होगी, तब समाधि लगेगी।

तीसरी बात—जो समाधि लगाना चाहता है, वह चोर नहीं होना चाहिए। चोरी करके आये और आसनके नीचे चोरीका माल रख ले! पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठ जाय कि 'मैं समाधि लगाता हूँ!' अरे भाई, तकियेके नीचे रख लो, गद्देके नीचे रख लो, तिजोरीमें रख लो! दिल तो 'धुक्-धुक्' 'धुक्-धुक्' करेगा कि कहीं पकड़ न जायँ! कहीं पुलिस हमारे पीछे न आती हो!

इसका मतलब है कि झूठका-प्रेमी, हिंसाका प्रेमी, लोभका प्रेमी समाधि नहीं लगा सकता और काम-भोगमें जो अधिक रुचि लेता है, उसका मनोबल (=शक्ति) क्षीण होता जाता है। क्योंकि अनेक दिनोंके भोजनसे रक्त बनता है, रक्तसे वीर्य बनता है। तुम्हारे शरीरमें एक शक्ति आई थी, वह वीर्यके रूपमें शरीरसे बाहर निकल गई। उस समय तो भले मालूम न पड़े, यह जवानीमें शरीरके बलको भी, मनके बलको भी क्षीण करनेवाली वस्तु है। इसलिए समाधि लगानेमें सम्भोग विरोधी पदार्थ है। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, मालूम पड़ेगा कि इससे हमारे मनमें वासनाएँ बढ़ गई हैं, तृप्ति नहीं मिलती है, वासनाएँ और बढ़ती हैं।

चौथी बात—जरूरतसे ज्यादा अगर अपने पास सामान रखेंगे, और जो तुम्हारे हककी नहीं हैं, ऐसी वस्तुएँ रखेंगे तो तुम्हारे मनमें फालतू चिन्ता बढ़ेगी।

एक महात्मा थे। उनके पास छत्र-चमर सब था। एक सज्जनने उनको चार लाख रुपया दिया था। बादमें वह बढ़कर बीस लाख रुपया हो गया उनके पास! तो वह रखे कहाँ? यह सवाल था। आठ-दस लाख रुपया तो उन्होंने बैंकमें रखा। और सोनेकी सिल्लियाँ बनवाके उनका सिंहासन था न, उसके भीतरी तहमें रखवा दिया।

वह सिंहासन रखवानेमें अभिप्राय क्या था? जब उनको सभामें जाना पड़ता न, अगर सिंहासन छोड़के जाते, तो घरमें कोई निकाल लेता! जब सभामें जाते, सिंहासन साथ-साथ जाता और उसीपर बैठते। रातमें जिस कमरेमें सोते, उसी कमरेमें सिंहासन रखा जाता। उनकी नजर उसीपर बनी रहती। रातको भी उनकी नींद टूटती, तो एक बार देख लेते कि सिंहासन ठीक है न! कहीं टूटा-टाटा तो नहीं है न?

जब इतना बड़ा परिग्रह होगा और बैठेंगे समाधि लगानेके लिए तो नहीं लगेगी। इसलिए, असत्य, हिंसा, चोरी-बेईमानी, सम्भोग और जरूरतसे ज्यादा परिग्रह—ये समाधिके नित्य-विरोधी हैं, ऐसा योगशास्त्रमें माना हुआ है।

सार्वभौममहाव्रतम्। साधनपाद—३१

चाहे दुनियाके किसी देशका आदमी हो, चाहे किसी युगमें समाधि लगावे, और वह चाहे किसी प्रकारकी समाधि लगानेवाला हो, यदि समाधि लगानेके लिए बैठेगा, तो ये पाँचों बातें उसे विघ्न करेंगी।

अब पाँच बातें और सुना देता हूँ—

(१) समाधि लगानेवालेको पवित्र रहना चाहिए।

(२) समाधिके सम्बन्धमें उसको स्वाध्याय भी करना चाहिए। जितनी-जितनी समाधिके बारेमें उसकी जानकारी होगी, उतनी-उतनी उसकी समाधि गहराईमें जायगी।

(३) सन्तोष रखना चाहिए।

(४) ईश्वरप्रणिधान माने जाग्रत अवस्थामें ईश्वरका ध्यान रखना चाहिए।

(५) कष्ट सहनेके लिए भी तैयार रहना चाहिए।

ये पाँच मामूली बातें हैं। इनमेंसे कभी कोई छूट भी जाय, तो काम चल सकता है। पवित्रतामें कभी कोई त्रुटि हो जाय, कभी स्वाध्याय न हो, कभी असन्तोष आ गया चित्तमें, कभी कष्ट सहन न हुआ और कभी भगवान्‌के नामकी माला न फेरी, तब भी काम चल सकता है।

लेकिन सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्यके बिना समाधि नहीं लग सकती। यम नित्य-धर्म हैं और नियम कभी छूट भी जायँ तो उससे हानि नहीं होती है।

समाधिके लिए व्यवहारकी कितनी शुद्धि चाहिए यह बात पहले ध्यानमें ले लो। अब लोगोंके साथ व्यवहारमें बात छोड़के, शरीरके साथ व्यवहारमें बात छोड़के, आओ!

समाधिके लिए रोज समय एक ही रहे। उस समय मनको एकाग्र होनेकी आदत पड़ जायगी। उस समय ही मनको खींच लावेगा। जैसे रोज आप चार बजे उठो, तो चार बजते ही आपकी नींद टूट जायगी। हम आदमीकी क्या कहें, हमारे पड़ोसमें एक कोयल है। चार बजेके बाद तो उसने सौगन्ध खा रखी है न सोनेकी। चार बजते ही और पाँच मिनट पहले ही वह 'कुहू-कुहू' करना शुरू कर देती है और चार बजेके बाद बिलकुल सोती नहीं है।

वह आदमियोंको देखकर रोती है कि देखो, हम जाग रहे हैं पक्षी हो करके और तुम लोग सो रहे हो। हमारे एक भगत हैं। वे कहते हैं कि हमारे गुरुजी आपसे

बहुत प्रेम करते थे। वे कोकिलके भावमें रहते थे भगवान्‌की सेवामें। अब वे कोकिल होके आ गये हैं। आपको 'कुहू-कुहू' सुनाते हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि शास्त्रमें यह बात कही गयी कि—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

एक तो गन्दा कपड़ा पहने, दाँतको गन्दा रखे, खाय ज्यादा, बोले कठोर, सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सोवे, लक्ष्मीजीने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि यदि नारायण भी ऐसा करेंगे तो मैं छोड़के चली जाऊँगी।

यह अतिशयोक्ति है, सच्ची बात नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवनमें जो सौन्दर्य आता है, जो लक्ष्मी आती है, जो ऐश्वर्य आता है जो तेजस्विता आती है, वह प्रकाशका आदर करनेसे आती है। जो सूर्यका आदर करता है, जो अग्निका आदर करता है, जो चन्द्रमाका आदर करता है, उसके जीवनमें तेजस्विता प्रकट होती है।

जब कोयल भी सबेरे चार बजे जाग जाती है, वह नित्य जाग जाती है। वसन्त और वर्षाऋतुका उसको कोई ख्याल नहीं है। तो, आप यदि आदत डाल दें नित्य जागनेकी—बारह से एकतककी आदत भी पड़ सकती है, एकसे दो बजेतककी आदत भी पड़ सकती है। सब लोग सोते हों, उस समय भी आप उठ करके कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो कहा—'जिस समय दुनियादार लोग सोते हैं, आपका कृपापात्र जागता है—

जेहि निसि सकल जीव सूतहीं।
तव कृपापात्र जन जागे।

जिस रातमें सारी दुनिया सो जाती है, उस समय ईश्वरका कृपापात्र जागता है—

या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

गीता ३-६९

अब समाधिकी बात—

एक कालका नियम कर लें। उस समय तो मन एकाग्र हो जाय। स्थानका भी नियम करें। स्थान पवित्र होना चाहिए। बहुत सामान वहाँ नहीं रहना चाहिए, जहाँ समाधि लगानी हो; कमरा खाली चाहिए।

आपको क्या बतावें ? एक दिन हम गये थे जस्टिस शिवदयालके घर। वहाँके हाईकोर्टके जस्टिस। उन्होंने अपना कमरा ऐसा बना रखा था कि उसके भीतर जाते ही हमको ऐसा लगा कि हम कमरेमें नहीं, शान्तिमें आ गये। ऐसा वातावरण उन्होंने अपने भजनके कमरेका बना रखा था कि हमारी तबीयत प्रसन्न हो जाय। वे जबलपुरमें भी रहते थे, इन्दौरमें भी रहते थे। पर उनका कमरा तो विलक्षण ही है। उनके घरमें अखाद्य वस्तु नहीं आती है। रोज भगवान्‌की पूजा होती है। जब बैठते हैं, तो बड़ी शान्ति मिलती है। बड़ा रस लेते हैं भजनमें। तो स्थान पवित्र हो।

जिस आसनपर बैठके खाते हों, या सोते हों, या गप्प हाँकते हों वह आसन न रहे। केवल समाधिके लिए वह आसन हो। उसी समय वह आसन बिछाके उसपर बैठना। बड़ा आनन्द आवेगा। ये मोटी-मोटी बातें हैं।

अब आसनकी बात छोड़ो, शरीरमें आ जाओ। शरीरका भी एक ढंग होता है। वेदान्तदर्शनमें इसके लिए एक सूत्र है—

आसीनः सम्भवात्।

बैठकर भजन करना चाहिए, क्योंकि चलते-चलते करो और ध्यान दूसरी तरफ गया तो गिर पड़े। जयदयालजी गोयन्दका कहते थे कि 'जब मैं जवान था बीस बरसका, तो कहता था कि यह क्या बात है कि बैठके भजन करो। हम चलते-चलते करेंगे।'

वे बताते थे—'एक दिन चलते-चलते भजन कर रहा था, मन जरा भजनमें लगा तो गिर पड़े। दाँतसे होंठ कट गया—दब गया, तो मुझे लगा कि शास्त्रमें जो लिखा है कि बैठके भजन करना चाहिए, वह बहुत बढ़िया है। उस दिन वह बात मेरी समझमें आयी। उसके पहले नहीं आती थी।'

फिर बोले—'सोके ही कर लें; तो आ गई नींद। आराम मिला। नींदसे उठे, तो इतनी देर-तक हम भजन कर रहे।'

एक सज्जन थे, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने बैठते थे। पेट उनका हमारे पेटसे भी बड़ा था। तो ऐसे करके ऐसे हो जाते। 'घर्र-घर्र' साँस चलने लगती, मुँहसे पानी भी निकलता। हमने तो देखा है। वे महात्मा थे। उड़ियाबाबाजी कहते—'गणेश! क्या कर रहे हो?' तो बोलते—'महाराज, समाधि लग गयी थी।' नींदका नाम समाधि नहीं होता है।

नींद अलग चीज है और समाधि अलग चीज है। नींदमें साँस बढ़ती है,समाधिमें

साँस घट जाती है। जब अभ्यासजन्य एकाग्रता चित्तमें आती है, तो साँसकी गति कम हो जाती है। निद्राजन्य लय आता है, तो श्वास बढ़ जाता है। समाधिमें शरीर सीधा रहता है और निद्रामें शरीर लटक जाता है। और भी बहुत-सी पहचान है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सिद्धासनसे, पद्मासनसे, वीरासनसे, स्वस्तिकासनसे बैठना चाहिए, जिसमें आराम मिलता हो। यह भी शर्त है। यह भी नहीं कि दर्द हो रहा है और बैठे हैं। ये दोनों घुटने बैठते समय अगर धरतीको छूते हों, तो वह आसन समाधि लगानेके लिए बहुत बढ़िया है। पहले न छूते हों, तो थोड़े दिन परिश्चमोत्तान आसन करनेसे ये छूने लग जाते हैं। पश्चिमोत्तान आसन करनेसे पेट भी घट जाता है और घुटनोंमें, कमरमें, पीठमें दर्द होता हो, तो वह भी मिट जाता है।

पश्चिमोत्तान-आसन करनेके बाद फिर बैठनेका अभ्यास करें। पद्मासनसे, वीरासनसे, सिद्धासनसे या स्वस्तिकासनसे कैसे भी बैठ जायँ। पीठकी रीढ़ सीधी रहे—'आसीनः सम्भवात्।'

योगदर्शनका कहना है—

स्थिर चित्तं आसनम्॥ साधनपाद-४६

जिसमें चित्तकी स्थिरता हो; बैठनेकी ऐसी आदत पड़ जाय कि वैसे ही बैठनेमें मजा आवे। एक सज्जन भजन करते थे तो एक दिन किसीने उनको ले जाकर कुर्सी पर बैठा दिया। थोड़ी देर तो पाँव लटकाकर बैठे रहे। फिर बोले—'हमको पाँव लटकाकर बैठनेमें बड़ी तकलीफ होती है। हमारी आदत तो पाँव बाँधकर बैठनेकी है। हमको धरतीपर चटाई बिछा दें। हम उसपर बैठेंगे, कुर्सीपर नहीं बैठा जाता है।' आदत पड़ जाती है न, तो देखो आसन।

असलमें यह जो अभ्यास है, वह यह नहीं समझना कि प्रकृति जैसा करे वैसे करने दो। जैसे, बाल निकलते हैं, तो आप उनको बराबर करते हैं कि नहीं? बल्कि पशुओंके बाल भी कटवाते हैं। आजकल तो हमने देखा, कुत्तोंके बाल भी ऐसा बढ़िया बनवाते हैं कि देख करके मजा ही आ जाता है। कुत्तोंका भी क्षौर करवाते हैं। अपने बाल हम ठीक करते हैं न, यह भी विकार ही है। जैसे शरीरमें मैल निकलता है तो उसको हम शुद्ध करते हैं।

हमारे मनमें मैल हो तो उसको ठीक करना चाहिए। श्वासकी गति भी स्वतंत्र न रहे, हमारी इच्छाके अनुसार चले। इसमें ठीक समझने लायक बात जो है, वह

यह है कि हमारा सारा अभ्यास, साधन जो है, वह चेतनकी प्रधानतासे है। श्वास यदि हमारे काबूके बाहर रहे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि जड़ चेतनके काबूमें नहीं है।

जितने जड़ पदार्थ हैं, वे चेतनके लिए हैं और चेतनके काबूमें हैं। जब श्वासका अभ्यास ठीक हो जाय तो उसको जहाँ-का-तहाँ छोड़ देना चाहिए। इसको 'प्राणायाम' बोलते हैं। मुख्यरूपसे क्रियाशक्तिको अपने वशमें करना इसका अभिप्राय है। इसका सार बताता हूँ। हम बैठते हैं तो कभी हिलने लगते हैं, कभी बायें, कभी दाहिने, कभी आगे, कभी पीछे। प्राणवायुकी गति वशमें करनेसे क्रियाशक्ति हमारे काबूमें आ जाती है। हिलना हम चाहें तो बंद कर सकते हैं। इससे हम जीभको रोक सकते हैं, मूत्रेन्द्रियको रोक सकते हैं, पाँवको गलत जगह जानेसे रोक सकते हैं, हाथको भी गलत काम करनेसे रोक सकते हैं। मनमें रोकनेकी शक्तिका विकास होता है, वह जीवनको पवित्र बनाता है और चैतन्यको जीवनमें प्रकट करता है।

प्राणायाममें और भी थोड़ी बात है। इसमें श्वासको भर लेना शरीरमें, यह मुश्किल बात नहीं है। उसको बहुत देर तक रोक लेना भी मुश्किल नहीं है, श्वास लेना भी मुश्किल नहीं है। श्वास निकलनेवाला प्राणायाम जब होता है, झटसे निकल जाती है।

आहार, धारणा, ध्यान—हम लोग जब गाँवमें बैठते थे न, तो इसकी चर्चा कैसे करते थे, आप लोग ध्यान दें। जैसे, हमारा बैल जंगलमें घास चरने गया, नहीं लौट आया समयपर तो एक आदमी डंडा लेकर गया और उसको लौटाकर ले आया। इसका नाम होता है 'प्रत्याहार।' प्रत्याहार=विषयोंमें गयी हुई इन्द्रियोंको अपने गोलकमें लौटाकर ले आना।

अब यहाँ बैलको ले आये और फिर चला न जाय, इसके लिए क्या करना? उसे खूँटेमें बाँध दो। यह खूँटेमें बाँधना जो है, मनरूपी पशुको विषयके जंगलमें से समेटकर अपने हृदय-गोलकमें रखना। इसका नाम है 'प्रत्याहार।' एक खूँटेमें बाँध देना, माने रामकी मूर्तिमें, कृष्णकी मूर्तिमें, शिवकी मूर्तिमें! मूर्तिको छोड़ो, स्थूल आलंबनमें अथवा सूक्ष्म आलंबनमें मनको बाँध देना—इसका नाम है 'धारणा।'

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। विभूतिपाद-१

एक खूँटेमें बैलको बाँध देते हैं कि इतना दूरसे बाहर नहीं जाना। ऐसे आप अपने मनको ऐसा बना लो कि वह प्रेमकुटीरसे बाहर न जाय। इस तरहसे बाहर

न जाय। इस शरीरसे बाहर न जाय। इस हृदयसे बाहर न जाय। इसका नाम होता है, 'धारणा।' जैसे बैलको खूँटेसे अलग नहीं जाने देते।

अब उसको थोड़ी घास डाल दी, थोड़ी खली डाल दी, रोटी डाल दी, चावल डाल दिया। अब वह ऐसा मस्त हुआ कि उसे कहीं बाहर जानेका ख्याल छूट गया। 'मैं बँधा हूँ'—यह ख्याल छूट गया। खोल दो भले, उसकी गाँठ खोल दो और वह वहीं बैठकर पागुर (जुगाली) करने लगा। खाये हुएको मुँहमें ले आता है और उसे चुभला-चुभलाकर उसका रस लेता है। रसास्वाद करता है। इसको बोलते हैं 'ध्यान।'

अब तो वह खूँटेमें बँधा हुआ नहीं है। खा भी नहीं रहा है और रसास्वाद भी नहीं कर रहा है। अपने मुँहको मोड़ा और अपने ही शरीरपर रखकर बैल सो गया। बोले—'समाधि' लग गई।

हम अपने घरमें बैठ करके योगदर्शनके साधनपर, उसके भजनपर विचार करते थे, चार जने—एक हँड़ियावाला अवधूत, सुदर्शन सिंह 'चक्र', एक कानूनगो साहब थे—हमारे बड़े मित्र थे। वह अवधूत तो बड़ा भारी विरक्त हुआ। सन् २८ में उसने हँड़िया उठायी। अबतक न कुटिया बनायी, न चेला बनाया, न व्याख्यान देता है, न अपने पास पैसा रखता है और न एक जगह रहता है। वह तो बहुत बढ़िया हो गया। अवधूत हो गया। हमारे कानूनगो साहब थे, उनको तो अब ईश्वरकी प्राप्ति हो गयी, शरीर पूरा हो गया उनका। एक सुदर्शन सिंह 'चक्र' जिनकी कहानी आती है 'कल्याण' में, तो हम लोग दो-चार महीने वर्ष में, साथ-साथ रहते थे। सब सज्जन-पुरुष, सत्पुरुष थे। हम तो—

मियाँके सदा बहार, एकरस।

यहाँ समाधिके तीन भेद बताये हैं—दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध और निर्विकल्प हृदयमें और बाहर भी तीन भेद—दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध और निर्विकल्प। शरीरके भीतर और शरीरके बाहर। तो आओ, 'योगदर्शन' और समाधिमें थोड़ा मिलाकर सुनाते हैं।

योगदर्शनमें संप्रज्ञात समाधिके चार भेद माने हैं—स्थूलालंबन, सूक्ष्मालंबन, आनंदानुलंबन और अस्मितानुलंबन। इनके चार नाम योगदर्शनमें लिखे हैं—'निर्वितर्का', 'निर्विचारा', 'आनंदानुगता' और 'अस्मितानुगता।' निरोधवृत्तिकी प्रधानता है न, इसलिए उन्होंने स्थूल, सूक्ष्म और आनंद तीनोंके आलंबनोंको तो कह दिया—'दृश्यानुविद्ध' और जो अस्मितालंबन समाधि है, उसको कह दिया-'शब्दानुविद्ध।' अनुविद्ध=मिश्र, मिलीजुली।

अब आप शरीरको स्थिर करो, मत करो; यह देखो कि आपके मनमें क्या-क्या बातें आ रही हैं? मनमें आयी हुई बातोंको देखते-भर जाना। यहाँ तक कि मोटर आ गयी मनमें, आयी और चली गयी। एक स्त्री आयी मनमें आयी और चली गयी। एक पुरुष आया मनमें, आया और चला गया। धन आया मनमें, आया और चला गया। परिवारका कोई सदस्य आया मनमें, आया और चला गया। एक दुश्मन आया मनमें, आया और चला गया।

ये कोई काम-क्रोध मनमें नहीं आते हैं! मनीरामके रहस्य बड़े विलक्षण हैं। शत्रु जब मनमें आता है, तब मनका नाम क्रोध हो जाता है। स्त्री-पुरुष जब मनमें आते हैं, तो मनका नाम काम हो जाता है। धन जब आता है मनमें, तो मनका नाम लोभ हो जाता है। कुटुम्ब-कबीला जब आता है मनमें कि यह छूटने न पावे, तब मनका ही नाम मोह हो जाता है।

जैसे आप कहें कि मेरा मन कलकत्ते चला गया था, तो आपका मन कलकत्ते बिलकुल नहीं जाता है। वह यहीं रहता है, कलेजेमें ही रहता है। आप यदि कहें कि कलकत्ता मेरे मनमें आ गया था, तो न तो कलकत्ता अपनी जगह से उठकर तुम्हारे मनमें घुसता है, और न तो तुम्हारा मन तुम्हारा शरीर छोड़कर कलकत्ता जाता है। तो क्या होता है? कलकत्तेका जो ख्याल आ गया, मनमें, यही मनका कलकत्ते जाना है या कलकत्तेका मनमें आना है; माने ख्याल ही बनता-बिगड़ता है। कोई चीज मनमें आती-जाती नहीं है।

न तो स्मशान तुम्हारे मनमें आता है, न तुम्हारा मन स्मशानमें आता-जाता है। मन तो कलेजेमें ही रहता है। स्मशानका ख्याल बना तो स्मशान दीखने लग गया। यह क्या है? यह बदलते हुए ख्याल हैं? तुम कौन हो? तुम वह रोशनी हो जिसमें ये ख्याल दिखते हैं।

अब आप इसपर ध्यान दो। जैसे इस कमरेमें रोशनी तो एक है और लोग बहुत हैं। कोई आता है, कोई जाता है, कोई उठता है, कोई बैठता है। चीजें जो हैं, वे आती हैं, जाती हैं, बदलती हैं, बिगड़ती हैं; दिखती हैं, नहीं दिखती हैं; पर रोशनी ज्यों-की-त्यों है। तो आप जो हो, वह तो हो रोशनी और रामका आकार आया और गया, शंकरका आकार आया और गया, दुनियाका आकार आया और गया। आकार माने शकल-सूरत, ख्याल।

मनमें कितनी शकल-सूरतें पानीमें बुलबुलेकी तरह मनमें जैसे संस्कार भरे हुए हैं, वैसी तस्वीरें दिखती हैं। परंतु किसकी रोशनीमें दिखती हैं? यह 'तुम'की

रोशनीमें दिखती हैं, यह 'मैं' की रोशनीमें दिखती हैं। 'मैं' की रोशनीमें ही सारे बदलते हुए ख्याल दिखते हैं, चीज नहीं होती है भीतर! कलेजेके भीतर न औरत न मर्द, न दोस्त न दुश्मन, न परिवार न धन। भीतर कुछ नहीं होता, केवल उसके ख्याल बनते और बिगड़ते हैं। कितने ख्याल बने और बिगड़ गये और तुम ज्यों-के-त्यों हो। तो बदलते हुए ख्यालोंको देखते रहना, इसका नाम दृश्यानुविद्ध समाधि है। स्थूलका दिखना भी दृश्यानुविद्ध समाधि,सूक्ष्मका दिखना भी दृश्यानुविद्ध समाधि है और कभी मजा आ गया कि—'आहा! आज तो आनंद आ गया'—तो यह आनंदका मालूम पड़ना भी दृश्यानुविद्ध है।

मालूम पड़ना ही है, इसलिए दृश्यानुविद्ध समाधि संप्रज्ञात समाधिके स्थूलालंबन, सूक्ष्मालंबन, सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा और आनंदानुगता समाधिके अंतर्गत है। ये दृश्यकी प्रधानतासे हैं। इसमें द्रष्टाके स्वरूपका बोध नहीं होता, केवल इतना ही मालूम पड़ता है कि 'मैं' हूँ और यह सब दीख रहा है।

'दीख रहा है'—ऐसा मालूम पड़ता है, परंतु यह कोई हमारा रिश्तेदार है, यह मैं हूँ, कि मेरा संबंधी है, कि सच्चा है, ऐसा कुछ ख्याल नहीं होता। मनमें आयी हुई चीज न तो सच्ची है, न तो 'मेरी' है और न तो 'मैं' हूँ। ख्याल तो हजारों आते हैं और 'मैं' एक हूँ, हजारों ख्याल नहीं हूँ। कोई ख्याल बना नहीं रहता है, तो 'मेरे' भी नहीं हैं। जो सपनेकी तरह आकर मिट जाते हैं, उसमें सच्चाई क्या है?

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥ २४॥

ये काम आदि जो मनमें आते हैं, ये दृश्य हैं और इनका साक्षी चेतन जो है, वह मैं हूँ। न शत्रु आता है, न मित्र आता है, न कलकत्ता आता है। न औरत, न मरद, न धन! ये तो ख्याल ही उठते हैं और ख्याल बिलकुल सपनेकी तरह उठते हैं, और ये मेरे भी नहीं होते हैं और मैं भी नहीं होता। क्योंकि ख्याल हजार हैं और 'मैं' एक हूँ। इसलिए ख्याल 'मैं' नहीं हूँ और ख्याल 'मेरे' नहीं हैं, क्योंकि वे सदा 'मेरे' पास रहते नहीं हैं। ख्याल सच्चे नहीं हैं, क्योंकि सपनेकी तरह उठते हैं और बैठ जाते हैं और साक्षी?

साक्षी माने गवाह। दो आदमी लड़ते रहते हैं और गवाह उनको देखता रहता है। एक आदमी कभी गाली दे जाता है, कभी तारीफ कर जाता है, कभी भेंट दे जाता है, कभी चुरा ले जाता है। कभी कोई शत्रु होकर आता है, कभी मित्र होकर आता है। ये हमारे ख्यालमें आते रहें, यह जरूरी नहीं है और ये हमेशा ऐसे ही

रहेंगे यह भी जरूरी नहीं है। 'मैं'के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'मैं' तो है ही नहीं, 'मैं'के संबंधी भी नहीं हैं। तो इनका साक्षी होकर लड़ाई भी नहीं जाना।

मध्यस्थ दूसरा होता है और साक्षी दूसरा होता है। इसमें भी भेद होता है। जैसे दो आदमी लड़ रहे हैं। अगर तुम एकका पक्ष ले लोगो, तब तुम गवाह नहीं रहे। तब तो तुम एक पार्टी में शामिल हो गये न!

तुम कहो कि—'हम एक पार्टीमें शामिल नहीं होते हैं, हम तो छुड़ावेंगे।'

मान लो, तुम्हारे छुड़ाते-छुड़ाते एक आदमी दूसरे आदमीको एक चपत मार दे, तो वह कहेगा कि—'हमको पिटवानेके लिए पकड़ रहे हो, तुम उससे मिले हुए हो।' मध्यस्थ भी पिटता है। जो लोग दो आदमियोंके झगड़ेमें पंचायत करते हैं, बादमें जिसके मनके मुताबिक नहीं होता है, वह कहता है—'तुम उससे कुछ लेकर मिल गये! ये तो उसके रिश्तेदार हैं, उनके ऊपर दबाव पड़ गया।' वह कहता है—'हमारा पक्ष ठीक है, इन्होंने गलत किया है, उससे मिल करके।'

ये बेवकूफ लोग, ये संसारी लोग, सत्यको स्वीकार थोड़े ही करते हैं? तो मध्यस्थता भी नहीं करना। 'हे काम! हम निष्कामके पक्षमें हैं'—ऐसे भी नहीं बोलना। 'हे क्रोध! हम अक्रोधके पक्षमें हैं'—ऐसे भी नहीं बोलना। 'हे लोभ! हम अलोभके पक्षमें हैं'—ऐसे भी नहीं बोलना।

अरे बाबा! कुछ नहीं। जैसे आसमानमें बादल आते हैं और जाते हैं, वैसे मनमें ये सारी बातें हृदयाकाशमें दिख जाती हैं। कभी उसमें बोरो माने इन्द्रधनुष दिखता है, कभी बादल दिखता है, कभी आँधी दिखती है, कभी धूल उड़ती है और 'मैं'? हृदयाकाश हूँ, असंग, साक्षी चेतन हूँ। तो दृश्योंको देखते रहना—यह असंग साक्षी है।

देखो, संसारमें जितना दु:ख है, शंकराचार्य भगवान्‌ने 'उपदेशसाहस्री'में यह श्लोक कहा है—

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी, साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥

जबतक तुम विकारको अपना नहीं मानोगे, तबतक तुम दु:खी नहीं हो सकते। जो बदलावट तुम्हारे मनमें हो रही है, वह 'मैं हूँ', 'मेरा है' और जब तुमने उनको 'मैं-मेरा' मान लिया तो साक्षी कहाँ रहे? 'चित्तके हजार-हजार विकारका मैं साक्षी हूँ' और चित्त दृश्य है। इसलिए 'मैं निर्विकार हूँ।'

दुःखिनः साक्षिता नास्ति साक्षिणः दुःखिनस्तथा।
दुःखी यदि भवेत् आत्मा कः साक्षी दुःखीनो भवेत्॥

यदि आत्मा दुःखी हो, तो दुःखीको कौन देख रहा है? अरे, दुःखीको तो हम ऐसे ही देखते हैं, जैसे घड़ी दिखती है। हमारा मन जब मनहूस, उदास हो जाता है, तब उसकी आँखसे आँसू गिरने लगते हैं। जब हमारा मन यह रूप धारण करता है, तब हम वही नहीं हो जाते हैं। हम उसको देखते रहते हैं। जैसे शरीरको देखते हैं, वैसे मनको भी देखते हैं।

उस दृश्य मनसे, उस मनहूस मनसे, उस रोनेवाले मनसे, आँसू गिरानेवाले मनसे, उस पीछेकी सोचनेवाले मनसे, आगेकी सोचनेवाले मनसे, दुःखी सोचनेवाले मनसे, दूसरेकी सोचनेवाले मनसे, दूरका सोचनेवाला मन, विलायतकी सोचनेमें लगा है। हमारा रिश्तेदार जो अमेरिकामें है, वह इस समय क्या कर रहा होगा? कहीं वह बदमाश तो नहीं हो गया? यह दूरकी सोच रहा है, देखता कुछ नहीं है, उसको बदमाश सोचकर दुःखी हो रहा है। यह दूर देशका सोच रहा है और कुछ पीछेकी याद करके दुःखी हो रहा है, जो मर गयी थी। कुछ आगेकी सोचकर दुःखी हो रहा है जो अभी आयी नहीं। कुछ दूसरेके बारेमें सोचकर दुःखी हो रहा है। तो जो दुःखी है, वह साक्षी नहीं है, जो साक्षी है वह दुःखी नहीं है।

गवाह—हम दुःखी नहीं हैं, हम दुःखीके गवाह हैं। भला, गवाह क्यों हैं? गवाह कैसे हैं, यह देखो। 'यह'—पट्ठा कभी दुःखी होता है, कभी सुखी होता है और कभी न दुःखी होता है न सुखी होता है। हर हालतमें हम तो उसको देखते हैं न! 'यह' दुःखी है, तब भी हम उसको देखते हैं, यह सुखी है तब भी हम उसका देखते हैं। यह दुःखी नहीं है तब भी हम उसको देखते हैं और यह सुखी नहीं है, तब भी हम उसको देखते हैं।

यह तो रोज जैसे कोई 'मरीनड्राइव' पर टहलनेके लिए आवे और हम उसको देखें कि—'हाँ भाई, यह आँखमें चश्मा लगाये और हाथमें छड़ी-डंडा लिये, मच-मच करते हुए और अपनी मूँछ सँभालते हुए रोज इधरसे निकलते हैं। तुम उसको देखते हो। तुम वह नहीं हो। तुम्हारा मन ऐसी शकल बनाकर निकलता है, तुम उसके साक्षी हो।'

अब बताते हैं—अहम् और इदम्। अहम्की प्रधानतासे समाधि दूसरी और इदम्की प्रधानतासे समाधि दूसरी। अब क्या आता है मनमें, इधर देखनेकी जरूरत नहीं है। हम कहते हैं, यह देखो, मनमें क्या आया? इसमें फरक पड़ गया न!

अपने मकानमें, एक कमरेमें एक शीशा लगा दिया और सड़कमें जितने रिक्शे, ताँगे, मोटरें, आदमी चलते हैं, वह सब शीशेमें दिखते हैं। हम अपने शीशेकी ओर मुँह करके देखते रहते हैं, बैठे रहते हैं। एक बात ।

दूसरी बात—शीशेको ऐसी जगहपर लगाया जिससे सड़ककी चीज न दीखे, अपना आपा ही दीखे—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।

तो भाई, अपने-आपको कैसे देखेंगे? अपने-आपको शब्दके द्वारा देखो। यह 'शब्दानुविद्ध' समाधि हुई। 'इदं' को देखना होता है दृश्यकी प्रधानतासे—यह दृश्यानुविद्ध समाधि है। तुम्हारी एकता जो है वह समाधि है और दृश्यकी अनेकता जो है वह उसमें मिश्रण है। असलमें तुम्हारे ज्ञानस्वरूप आत्मामें दृश्य कोई नहीं है, परन्तु दीख रहा है। अब जरा अपनेको देखो, अपना मुँह कैसा? श्रीकृष्णने राधाजीको पूछा—

मेरो मुँह नीको कि तेरो राधा प्यारी?

एक दिन राधा-कृष्ण दोनों शीशा लेके अपना मुँह देखने लगे। श्रीकृष्णने पूछा—'मेरा मुँह सुन्दर लगता है प्रियाजी, कि तुम्हारा मुँह?' तो प्रियाजीने कहा कि 'मेरा मुँह तो पूर्णिमाकी चाँदनीके समान, चन्द्रमाके समान गौरवर्णा उज्ज्वल है और तुम्हारा मुँह तो अमावसकी अँधियारीके समान काला है। हमारी और तुम्हारी क्या बराबरी? तो असलमें दृश्यका मुँह काला। क्योंकि वह तो हमारी रोशनीमें दिखता है। हम हों तो दीखे, हम न हों तो न दीखे। दृश्यका मुँह काला, क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्माकी रोशनीमें वह दीखता है। तो देखना यह है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसा है?'

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥ २५॥

एक बात तो इसकी यह है कि यह किसीसे सटता नहीं है। यह सटना और हटना मनमें ही होता है। मन किसीसे सट जाता है और किसीसे हट जाता है। यह आत्मदेव क्या है?

शरीर बच्चेसे जवान हो गया और जवानसे बुड्ढा हो गया और आत्मदेव ज्योंके त्यों! प्रजा धर्मात्मा थी, अधर्मी हो गई, ये ज्योंके त्यों! सपना टूट गया, जाग्रत हो गया, ये ज्योंके त्यों! जाग्रत टूट गया, सपना आ गया, ये ज्योंके त्यों! स्वप्न टूट गया सुषुप्ति हो गई, ये ज्योंके त्यों! किसीके साथ ये जाते नहीं—'असङ्गः।'

दुनियाने इनको उड़ानेकी कोशिश की। पापने कहा—'तुम हमारे साथ मिलके पापी हो जाओ।' लेकिन कोई चौबीस घण्टे अपनेको पापी सोच सकता है? है कोई माईका लाल दुनियामें? थोड़ी देर लोग रो लेते हैं।

एक अच्छे समझदार सेठने एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजीके सत्सङ्गमें पूछा—'महाराज, कभी-कभी हमसे गलती हो जाती है। व्यापारमें कभी टैक्सकी चोरी कर लेता हूँ, कभी बेईमानी भी कर लेता हूँ। कभी दुःख भी हो जाता है कि मैंने ऐसा क्यों किया? लेकिन बादमें हमारा मन इस बातको स्वीकृति नहीं देता। इसका क्या कारण है?'

मैंने कहा—'इसका कारण है स्वरूपगत असङ्गता। जो तुम्हारा स्वरूप है, वह कर्मी नहीं है, कर्ता नहीं है। यह जो तुम्हारे सहज स्वभावमें बैठी हुई बात है, इसके कारण तुम अपनेको पापी स्वीकार नहीं करते।'

वे बोले—'हम अपनेको पुण्यात्मा भी स्वीकार नहीं करते हैं कभी-कभी।'

हम बोले—'बस, यही बात है।'

पापने कहा—'चलो हमारे साथ, बनो पापी!' बननेको तैयार नहीं। पुण्यात्माने कहा—'चलो हमारे साथ!'

बोले—'चलो-चलो! हमको दिखानेकी जरूरत नहीं है।' कालने कहा—'हम तुमको काट देंगे।' बोले—'हम सत् हैं।' जड़ने कहा—'हम तुमको अपने साथ मिला करके बेहोश कर देंगे।' बोले—'नहीं, हम चित् हैं।' दुःखने कहा—'हम तुमको दवा देंगे।' 'नहीं, मैं आनन्द हूँ।'

एकने कहा—'हम रोशनी देते हैं, उसमें देखो!'

'तुम क्या रोशनी दोगे? हम तुमको रोशनी देते हैं।'

एक दिन एक महात्मा हृदयमें आये। बोले—'आओ, मैं तुमको प्रकाश दूँ!'

'अरे! पहले यह तो सोचो कि तुम दिखते किसके प्रकाशमें हो? हमने तुमको रोशन कर रखा है और झूठी डींग हाँकते हो कि तुम हमको प्रकाश देते हो?' बुजुर्गोंका नाम ले करके किसीका दिमाग खराब नहीं करना चाहिए। तुम्हारी रोशनीमें सारी दुनिया रोशन हो रही है—'स्वप्रभः'।

अरे, दूसरा तो कोई है नहीं। दूसरा बना-बनाके तुम उसके साथ खेलते हो। ऐसा है अपना आत्मा! ऐसा हूँ मैं। शब्दविद्ध समाधि भी सविकल्प समाधि है। दृश्य भी जहाँ मिश्रित है, वह भी सविकल्प समाधि है और शब्दकी जहाँ जरूरत पड़ती है, वहाँ भी सविकल्प समाधि है।

तुम यह कहो कि हम सविकल्प नहीं लगायेंगे, निर्विकल्पमें ही पहुँच जायेंगे, तो ऐसी कोशिश भी मत करना। अपने-आपको पहले जान लो। फिर दृश्यको भी छोड़ दो। शब्दको भी छोड़ दो। चलेगा, परन्तु शब्दद्वारा जबतक अपनी विलक्षणताको समझ नहीं लेते हो, तबतक छोड़ना बनेगा कैसे? छोड़ोगे तो जहाँके तहाँ रहोगे। बोले—'पशु-पक्षी भी समाधि नहीं लगाते हैं, देखो न!'

हाँ, पशु-पक्षी भी समाधि नहीं लगाते हैं, तो क्या वे सिद्ध हो गये? ब्रह्म हो गये? तुम भी उन्हींकी कक्षामें रहना। तुम भी समाधि मत लगाना!

यह जो 'अस्मि' है, 'अस्मितानुगत समाधि' इसको बोलते हैं। इसमें क्या-क्या नहीं है, यह देख लो—

(१) इसमें बाहरके विषय नहीं हैं।

(२) इसमें अपना शरीर भी नहीं है।

(३) किसीसे द्वेष नहीं है।

(४) किसीसे राग नहीं है। रस भी नहीं है।

अस्मितानुगत समाधिमें बाहरका विषय नहीं, देहमें अभिनिवेश नहीं, देहका भान नहीं है और कोई दुःख-तकलीफ देनेवाला दुश्मन नहीं है, आराम देनेवाला दोस्त नहीं है। तो तुम ऐसी जगह बैठे हो, अकेले, जहाँ न दोस्त है, न दुश्मन है, न दुःख है, न सुख है, न भय है, न देहका मोह है। ऐसी स्थितिमें बैठे तुम कौन हो? स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्द। यह सविकल्प समाधि हुई। अब बोले—'निर्विकल्प समाधि कैसी होती है?'

निर्विकल्प समाधि योगियोंकी असम्प्रज्ञात समाधिकी कोटिमें आती है। उन्होंने सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेदको अपने दोमें ले लिया और असम्प्रज्ञातको ये अब निर्विकल्प समाधिके अन्तर्गत ले रहे हैं। वेदान्तियोंकी रीति जरा निराली होती है।

निरस्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥

कोई स्थिति न हो, जैसे घनपत्थर हो, ऐसी स्थिति हो। न जाग्रत हो न निद्रा हो। संकल्प कोई है नहीं। परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्नकी कोई याद नहीं।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवाम्बरे॥

●

प्रवचन

२६

स्थान और समाधि। धारणामें स्थानकी प्रधानतासे चित्तको बाँधते हैं। एक ऐसी पद्धति है। जैसे प्रेमकुटीरके हॉलमें बैठे हैं, तो पूरे हॉलमें तो बैठे नहीं हैं न! चार फुटमें बैठे हैं। चार फुटमें जो शरीर है, वह शरीर तो हम नहीं हैं न! चैतन्यमात्र! चैतन्यमात्रमें भी विषय तो नहीं हैं न! अन्तरमें हैं। ऐसे करके देश-विशेषकी प्रधानतासे अपने चित्तको एकाग्र करना। कोई मूलाधार- में, कोई स्वाधिष्ठानमें, कोई मणिपूरकमें, कोई अनाहतमें, आज्ञाचक्रमें, सहस्रारमें और शून्यशिखरमें-माने चित्तको स्थानमें फँसाना, यह 'धारणा' है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ विभूतिपाद—१

जैनमतमें स्थानका बड़ा भारी महत्त्व है। एक जगह कर लो मन। उससे बाहर नहीं जाय।

ध्यान—वृत्तिकी समानतासे ध्यान सम्पन्न होता है। आपने देखा होगा, जुलाहा लोग जब कपड़ा बनाते हैं, तो उसमें एक तानेका सूत बनाते हैं। ताना-बाना दो होता है न! एक लम्बा और एक आड़ा। कैसा बराबर होता है! जैसे १-२-३-४-५, १००, ५०० जैसे कतारमें! एक लाइनमें सूतको सजाते हैं और फिर उनको फँसाते जाते हैं। वैसे हमारी मनोवृत्तियोंको एक लाइनमें फँसाना, इसको बोलते हैं—'एकतानता।' संस्कृतभाषामें 'योगदर्शन' में इसके लिए शब्द है—'एकतानता' माने वही ताना-बाना।

जुलाहा सूतका ऐसा ताना बनाता है कि जो होते तो हैं अलग-अलग; एक क़तारमें रख कर बिलकुल धरतीको ढँक देते हैं। अलग-अलग होनेपर भी एक ही मालूम पड़ते हैं। यही उनकी विशेषता है।

जैसे आप एक बर्तनमेंसे दूसरे बर्तनमें पानी गिराते हैं, तो उसकी धारा मालूम पड़ती है। वह बूँद-बूँद अलग-अलग होनेपर भी धारा मालूम पड़ती है। यह पानी जो है, एक नहीं होता है। पानी बूँद-बूँद अलग-अलग होता है। यह पानीकी विशेषता है।

संस्कृतभाषामें इसके लिए जो 'अप्' शब्द है, वह बहुवचन होता है। 'अप्' शब्दका एकवचनमें कोई रूप नहीं होता है। आपः अपः अद्भिः. अद्भ्यः, अपान्, अप्सु। द्विवचनमें कोई रूप नहीं होता। 'अप्' शब्दको वे बहुवचनमें ही बोलते हैं। इसका अर्थ है कि पानीमें बूँद-बूँद-बूँद-बूँद है, पर ऐसे वेगसे एक बर्तनमें गिरती है कि मालूम पड़ता है, एक ही जल गिर रहा है। तो आप अपने मनकी ऐसी धारा बनावें। ऐसा ताना-बाना बनावें कि—

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ॥ विभूतिपाद—१२

जो वृत्ति शान्त हो, वही वृत्ति उदय हो। तो सब वृत्ति जब एकसरीखी उदय होगी तो एक ताना सरीखा, एक पानीकी धारासरीखी वृत्तियोंकी एक धारा बनेगी। चित्तवृत्तिमें यह जो धारा है, या चित्तवृत्तियोंका यह जो ताना-बाना है, चित्तवृत्तियोंकी एकविषयता है, 'योगदर्शन'के अनुसार इसीको 'ध्यान' बोलते हैं।

एक होता है व्यवहारका संस्कार माने विक्षेपका संस्कार और एक होता है निरोधका संस्कार। जब विक्षेपके संस्कारोंको अभिभूत करके निरोधके संस्कारोंका आविर्भाव होता है, तब उसको समाधि बोलते हैं।

चित्तका चञ्चल होना विक्षेपका संस्कार है। भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करना—एकबार दाहिने देखा, एकबार बायें देखा, एकबार सामने देखा, एकबार स्त्रीको देखा, एकबार पुरुषको देखा, एकबार भूतका सोचा, एकबार भविष्यका सोचा, एकबार अपना सोचा, एकबार पराया सोचा! यह क्या है? यह विक्षेपका संस्कार है।

जब बाहरके विषयको नहीं ग्रहण करके यह चित्तवृत्ति निरोधाकार होती है, माने दूसरे आकारोंको ग्रहण नहीं करती है; विक्षेपके संस्कारोंका तिरोभाव हो करके निरोधके संस्कारका आविर्भाव होता है, तो समाधि लगती है।

स्थानकी प्रधानतासे धारणा होती है, एकविषयताकी प्रधानतासे ध्यान होता है और एतावत् कालपर्यन्त दूसरी वस्तुका उदय चित्तमें नहीं हुआ, देश-काल-वस्तुका स्फुरण इतनी देरतक वृत्तिमें नहीं हुआ। यह समाधि होती है।

कल आपको सुनाया था—जैसे घास चरते हुए बैलको घेर करके जंगलसे ले आये। यह हुआ 'प्रत्याहार'। संस्कृतमें प्रत्याहार शब्दका अर्थ होता है लौटाना, आहरण करना। प्रति=उलटा=जिधर गया है अपना मन चरनेके लिए, उधरसे पीछेकी ओर मनको लौटाना। इन्द्रियाँ गई हैं घास चरने। संस्कृतमें इन्द्रियको गाय बोलते हैं—इन्द्रियरूपी गौएँ, विषयरूपी घास चरने गईं। वहाँसे लौटाके उनको अपने-अपने गोलकमें लाना। इसका नाम प्रत्याहार है।

आप कभी इस मार्गमें चलें और अनुभव करें कि दो गुलाबके फूल कहीं सजाके रख दिये जायँ, वैसे ये दो आँखें मानो गुलाबके फूल आपके चेहरेपर सजाके रखे हुए हैं। आँखें दोनों शीशेके बने हुए दो गुलाबके फूल हैं। आँख चश्माके दो शीशे ही हैं।

मालूम पड़ता है कि आँख वहाँ गई-वहाँ गई-वहाँ गई तो आप निश्चित समझो, न आँख कहीं जाती हैं न कान कहीं जाता है। बोले—'आप तो देख रहे हो।' 'आपकी आँख हमारी ओर आ रही है!' नहीं, आँख जहाँकी तहाँ हैं। ये निकलके कहीं आपके पास चली जाती, तब तो मौज ही आ जाती। न तो आँख जाती है, न कान जाता है; नाकमें जो गन्ध हवाके रास्ते घुसती है, उस गन्धका पता नाकसे चलता है। जो स्वाद हम जिह्वापर डाल देते हैं, उस स्वादका पता जिह्वापर चलता है।

फोटो लेनेवाले कैमरेमें जिसकी परछाईं पड़ जाती है, उसका फोटो आ जाता है। यह आँख क्या है? आँख बिलकुल कैमरा है। यह कहीं नहीं जाती हैं। बिलकुल अपनी जगहपर रहती हैं। कान भी अपनी जगहपर रहता है, कहीं आता-जाता नहीं। मन भी अपनी जगहपर। ये सब, मानो 'रडार' लगा हुआ है जिसमें दूरका-निकटका सब पदार्थ भासता है। हमारी इन्द्रियोंमें, हमारे हृदयके गोलकमें बाहरके पदार्थ वैसे ही भासते हैं, जैसे शीशेमें कोई बाहरकी चीज भासती है। शीशा कहीं नहीं जाता, उसमें बाहरकी चीज भासती है।

हम आपको यह बात बताना चाहते हैं, कि जैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा अचल और स्थिर होता है, वही आत्मस्वरूप ज्ञान हृदयकी उपाधिमें भी है और इन्द्रियोंकी उपाधिमें भी है। यह ज्ञान कहीं जाता नहीं, कहींसे लौटके आता नहीं। आप एकबार यह ख्याल करो कि आपकी सब इन्द्रियाँ आपके शरीरमें हैं। कहीं जाना-आना नहीं है।

आँखका जाना=अन्धा होना। आपको मालूम है कि नहीं? आँखका आना=रोगी होना। आँखका उठना=रोगी होना। आँखका बैठना=मर जाना। आँखके ये चारों

काम बुरे हैं। यह तो बाहरकी आँख है। भीतर ज्ञानकी आँखका आना-जाना और उठना-बैठना भी बुरा है। वह जहाँकी तहाँ है। आपके ज्ञानकी आँख एक जगहपर रह करके ही सबको देखती है। जो उसके सामनेसे गुजरता है, उसीको देखती है। वह जहाँकी तहाँ है। उसको न तो चार्वाकसे द्वेष है, न तो वैष्णवसे राग है।

आपके ज्ञानकी आँख तो एक ऐसा तराजू है कि चित्तमें जो चीज आवे, तौलके फेंक दिया। आई-तौली-गई! चीज गई और आँख ज्योंकी त्यों। ज्ञानमें न राग है। ज्ञानमें न द्वेष है। आँखमें भी राग-द्वेष नहीं हैं। यह सब तरहका रूप देखती है। कानमें भी राग-द्वेष नहीं है। यह सब तरहका शब्द सुनता है। नाकमें भी राग-द्वेष नहीं है। यह सब तरहकी गन्ध बता देती है। बतानाभर इसका काम है कि यह अमुक चीज है। किसीसे तो पक्षपात नहीं है। ये ही असली सेवक हैं आत्माके-

पक्षपान्मे न मे दीरे।

जैनमतमें हमारा कोई पक्षपात नहीं है।

न द्वेषः कपिलादिषु।

सांख्ययोगसे हमारा कोई द्वेष नहीं है।

इसका नाम हुआ प्रत्याहार। आप यह समझो कि आँखका गोलक आँखके गोलकमें ही है। तो आओ, हम अपना हृदय देखें। आप आँख बन्द करके चाहे आँख कितनी भी मुचमुचाओ, यह आँख भीतरकी ओर नहीं देखती है। भीतरकी कल्पना ही होती है आपके मनमें। यह कान भीतरकी कल्पना करता है। यह नाक भीतरकी कल्पना करती है। हमारे पेटमें क्या गन्ध है, यह नाक क्यों नहीं बताती? गलेके नीचे उतर जानेके बाद जीभ अन्नका स्वाद क्यों नहीं बताती? जीभ भीतर नहीं जाती तो बाहर जाती है? बाहर भी नहीं जाती। जो उसपर आता है, उसको बता देती है।

प्रत्याहार=अपनी इन्द्रिय और अपना हृदय अपनी जगहपर बैठ गया। अब धारणा क्या हुई? इन इन्द्रियके घोड़ोंको, इन्द्रियके बैलोंको बाहरकी घास मत चरने दो। एकरूपता बनी रहे। जैसे बैल बाहरसे लौट आया, खूँटेपर बँध गया, बँधनेके बाद खाने लगा। बारम्बार-बारम्बार एकसरीखा ही खाता है। फिर बैठ गया और स्वाद लेने लगा। अब उसका खूँटा उखाड़ दो। पगहा निकाल दो। उसके गलेमें गराँव मत रखो, वह तो बैठके वहाँ खा रहा है।

खाके सो गया। यह समाधि लग गई। इस समाधिमें आलम्बनकी भी जरूरत पड़ती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्। समाधिपाद-३७

जो मनोवृत्तियोंको इतना अधिक समझता है, उसकी बातपर भी तो थोड़ा ध्यान देना चाहिए।

समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात्। समाधिपाद-२३

प्रच्छर्दनविधारणात् ध्यानं वा प्राणस्य॥ समाधिपाद-३४

अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः॥ समाधिपाद-१२

वृत्तिका निरोध कैसे होगा? बारम्बार निरोधका अभ्यास करके निरोधके संस्कारको जाग्रत करो। और जहाँ वृत्ति जाती है, उसमें जो रागद्वेष है; कभी दुश्मनकी याद आवेगी, कभी दोस्तकी। रागद्वेषको छोड़ो। रागद्वेष छोड़े बिना और बारम्बार अभ्यास किये बिना निरोधसंस्कारका जागरण वृत्तिमें नहीं होगा। वृत्तिको ही तो शान्त करना है।

योगदर्शनने कहा—'ईश्वरका ध्यान भी वृत्तिको शान्त करनेके लिए, समाधिस्थ करनेके लिए एक उपयोगी पदार्थ है। ईश्वरका ध्यान कैसे करें? बहुत बढ़िया ध्यान बताया हुआ है। ईश्वर हमारे हृदयमें ही रहता है—एक बात।'

वह कैसा है? उसमें अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश नहीं हैं। अविद्या=नासमझी। अस्मिता=अहं भाव। राग=मुहब्बत। द्वेष=दुश्मनी। अभिनिवेश=मृत्युका भय। ईश्वर रहता है हमारे शरीरमें। ये पाँचों चीज देहाभिमानीमें रहती हैं, ईश्वरमें नहीं रहतीं। कर्म उसमें बुरा और भला नहीं रहता है। कर्मका फल उसमें सुख और दुःख नहीं रहता है। और कर्मके फलसे बना आशय=अन्तःकरण उसमें नहीं रहता है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

समाधिपाद-२४

एक पुरुष तो वह है जो अविद्याके कारण देहमें फँस गया और एक पुरुष वह है जिसमें अविद्या न होनेसे इसमें नहीं फँसा। वह कैसा है?

स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

समाधिपाद-२६

यह अविनाशी है। इसमें अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश नहीं, कर्म नहीं, पाप-पुण्य नहीं और उसका फल दुःख-सुख नहीं—जिसमें सुख-दुःखका अनुभव होता है, वह प्याला ही नहीं, माने हृदय ही नहीं। अन्तःकरण ही नहीं। वह कैसा? सारे ज्ञान उसीमेंसे निकलते हैं—'**स एषः........गुरुः।**'

इन्द्रियोंका गुरु भी वही है, प्राणोंका गुरु भी वही है, मनका गुरु भी वही है, बुद्धिका गुरु भी वही है, ब्रह्मा-हिरण्यगर्भादिका गुरु भी वही है। क्योंकि वह काल-परिच्छिन्न नहीं है, सत् है। अविनाशी है, सत् है। यही है, हृदयमें ही है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। समाधिपाद-२५

जिससे बड़ा कोई नहीं, ऐसी निर्विशेष सर्वज्ञताका बीज उसमें है। माने ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ नहीं, सर्वज्ञताका बीज है। तो ईश्वर कैसा है ? ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। ईश्वर अविनाशी, सत्स्वरूप है। ईश्वर क्लेशादिसे अपरामृष्ट आनन्दस्वरूप है।

तस्य वाचकः प्रणवः। समाधिपाद-२७

उसका नाम 'ओम्कार' है। 'एक ओम्कार सद्गुरु प्रसाद' माने समाधि लगनेके लिए जो आलम्बन चाहिए—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। समाधिपाद-३७

जिसके चित्तमें रागद्वेष नहीं है, उस महापुरुषका ध्यान करनेसे भी समाधि लगती है। वह भी आलम्बन है। प्राणायाम करनेसे भी समाधि लगती है। अरे बाबा, साधनको मत मारो। लोभ-क्रोधको मारो, मोहको मारो, झूठको मारो, व्यभिचारको मारो, अपनी बुराइयोंको मारो; जो तुम्हारे चित्तको परमानन्दके साथ जोड़नेवाली वस्तु है उसका निषेध मत करो।

अच्छा, आओ। यह समाधि यहाँ ऐसी बतायी हुई है कि यह बाहर भी होती है और भीतर भी होती है।

अपने आप बड़ी विलक्षण बात है। जो अपने-आप '**कतिपयपदानां रचयिता**'—अपने आप कि किताब पढ़नेवाले लोग हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती है।

एक दिन कुम्हार डट गया। ब्रह्माजीने खबर भेजी थी कि कुम्हारको बुलाकर हमारे पास ले आओ। तो उसने जवाब दिया कि 'वे ब्रह्माण्ड बनाते हैं और मैं घड़ा बनाता हूँ, तो हम लोगोंकी एक जाति है। हमारा अपमान क्यों करना ? उनको मिलना है तो वे हमारे पास आवें।'

घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

अर्थात् घड़ा बनानेवाला है, वह त्रिभुवन बनानेवालेसे लड़ गया। बोले—'तुम भी बनानेवाले, हम भी बनानेवाले।' दोनों धोबी हैं, एक गरीबका कपड़ा धोता है, एक धनीका कपड़ा धोता है। है तो धोबी दोनों। 'तुम हमारे घर क्यों नहीं आते ?'

तो भाई! किताबमें पढ़-पढ़कर यह बात नहीं मालूम पड़ती। आपको बिलकुल सीधी बात इसके सम्बन्धमें सुनाते हैं।

सविकल्प समाधि दो तरहकी होती है। एक कहते हैं कि काम-क्रोध-लोभ-मोह-प्रेम-भक्ति-शान्ति आयी, गयी और हम ज्योंके त्यों उस दृश्यके द्रष्टा। दृश्यका भेद मालूम पड़ते हुए भी हम साक्षी—इस समाधिको दृश्यनिष्ठ होनेके कारण दृश्यानुविद्ध बोलते हैं। लेकिन इस समाधिसे भी श्रेष्ठ सविकल्प समाधि कौन-सी है? जो दृश्यनिष्ठ नहीं होती है, साक्षीनिष्ठ होती है।

दृश्य मालूम पड़ते हैं और मैं देख रहा हूँ। एक 'मैं' ही मालूम पड़ता हूँ कि 'मैं' कैसा हूँ। एकमें दृश्य मालूम पड़ता है और एकमें 'मैं' मालूम पड़ता हूँ कि 'मैं' कैसा है? एकमें दृश्य मालूम पड़ता है कि दृश्य कैसा है?

दोनों सविकल्प समाधि है। दोनोंमें कल्पना तो है। काम-क्रोध-लोभ-प्रेम-भक्ति-विश्वास भी कल्पना है दृश्यनिष्ठमें और अपने स्वरूपकी कल्पना है साक्षीनिष्ठमें। दो विभाग कर दिये। अपने बारेमें कैसे ध्यान करना? यह ध्यानकी ही एक गाढ़ी अवस्था है।

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥ २'१॥

विकल्पके तीन अर्थ—वि=विविध, विपरीत, विशिष्ट। विविध कल्पना, विपरीत कल्पना, विशिष्ट कल्पना। संस्कृत भाषामें 'कल्प' बोलते हैं आभूषणको। माने आभूषण=जेवर अपना स्वरूप नहीं है, यह बाहरसे लिया हुआ होता है। यह उसकी विशेषता है। इसीलिए उसको 'कल्प' बोलते हैं। कल्प=कल्पित, कल्पना। जैसे बेलबूटा बना देते हैं गालपर, आँखके दोनों ओर कमल बना देते हैं; आँखको मछलीसरीखा बना देते हैं। तो यह सब क्या है? यह सब बाहरसे आँखपर ठोंका हुआ है। इसीको कल्प कहेंगे।

विकल्प माने? अपना शृङ्गार आप कर रहे हैं। क्या कर रहे हैं? कि 'इस दृश्यके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' एक बात और आपको सुनाते हैं—जहाँ भावमें भेद होता है, वहाँ शब्द भी जरूर रहता है। जैसे, यह काम आया, गया। यह क्रोध आया, गया। यह लोभ आया, गया। अलग-अलग आप पहचानेंगे न, तो शब्द भी आपके मनमें रहेगा। बिना शब्दकी वृत्ति नहीं होती है—ऐसा हमारे दर्शनशास्त्रका सिद्धान्त है। प्रत्येक वृत्तिमें कोई-न-कोई शब्द रहता है, क्योंकि वृत्तिमें आकार है तब भी उसका नाम होगा। वृत्तिमें हिलना भी है। हिलेगी तभी न वृत्ति आवेगी, हटेगी, जायगी। तो वृत्तिमें क्रिया है। क्रिया बिना कैसे हिलेगी?

जहाँ हिलना है वहाँ ध्वनि भी होगी। वही 'ध्वनि' उसका नाम होती है। उस वृत्तिका नाम क्या है? कि उस वृत्तिकी जो 'ध्वनि' है। इसलिए शब्दरहित वृत्ति नहीं होती और वृत्तिरहित शब्द नहीं होता।

परन्तु यहाँ दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्धके भेद क्यों किये गये हैं? आकारकी प्रधानतासे दृश्यानुविद्ध है और साक्षीकी प्रधानतासे शब्दानुविद्ध है। है तो साक्षी, लेकिन उसमें शब्द मिश्रित हो गया है। तो यह शब्द भी साधक है। जो लोग नामको साधक मानते हैं, और रूपको साधक नहीं मानते हैं, (साधक=साधन)— जो लोग नामको साधन मानते हैं और रूपको साधन नहीं मानते हैं, उनका मत भी चिन्तनीय है (=चिन्ता करने लायक है।)। माने सच्चा नहीं है। अभी इसपर कुछ और विचार करना चाहिए कि तुम जो मानते हो, यह कहाँतक ठीक है?

भले तुम आकारका आश्रय मत लो, शब्दका आश्रय लो। तो शब्द एक है कि अनेक हैं? पहला प्रश्न यह है। शब्द यदि एक है, तो एककी एकता कैसे लगेगा! पता तो दो हुए बिना लगेगा नहीं! यदि शब्द दो हैं तो दोनोंका भेद कैसे मालूम पड़ता है? इसलिए वहाँ भी वृत्ति है। वृत्ति हुए बिना भेदका ज्ञान नहीं होता है। तो यही वृत्ति साथ लग गयी। इसलिए यह समाधि सविकल्प हो गयी।

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥

असङ्गः। आप यह देखो कि कितनोंका सङ्ग हुआ और छूट गया। यदि मनुष्य जीवनकी दृष्टिसे भी देखो, तो बचपनसे अबतक कितनी आसक्तियाँ हुईं और छूट गयीं? दस बरसकी उमरमें हम जिन साथियोंके साथ खेलते और पढ़ते थे, तब यह ख्याल होता था कि हम लोग जिन्दगीभर साथ ही रहेंगे और क्या मजा रहेगा? जब पन्द्रह वर्षके हुए तो दूसरे साथी हुए, वे छूट गये। बीस वर्षके हुए तो साधुओंमें आये, तब दूसरे साथी हुए। आप किसके साथ हमेशाके लिए रहे? जैसे पहले सङ्ग हुआ और छूट गया, वैसे आज भी आपका जो सङ्ग है, वह वैसा ही होगा जो दस बरस पहले था। यह भी छूटेगा।

जैसे तुम सबको छोड़ते आये हो, अबतक क्या नहीं छोड़ा है? तो यह तुम्हारी ज्ञानस्वरूप आत्मा असङ्ग है। यह तो बड़ी मोटी बात आपको बताई। हम आपको यदि तत्त्वकी बात सुनावें, तो चाहे इस पृथ्वीको आप रँग दो, चाहे इसमें आप गन्ध डालो, चाहे इसकी आप गन्ध बना दो, चाहे इसके आप कई रूप बना दो! थोड़े दिनोंके बाद सबको पृथ्वी खा जायगी। पृथ्वी रहेगी, पृथ्वी असङ्ग है।

हमको अपने बचपनकी एक बात याद आती है। हम कभी अपने बाबा पितामहके साथ कहीं यात्रा करते। उनके साथ हमने यात्रा की है। नावपर भी हमने उनके साथ यात्रा की है। सौ-सौ, पचास-पचास मीलकी यात्रा की है । बादमें तो सैकड़ों मीलकी यात्रा की है। ऐसे पैदल भी उनके साथ दस-बीस मील चले जाते थे, तो घरसे पूरी-शाक या ऐसी कोई चीज बनाके ले जाते न! तो कहीं भी बैठ करके खाने लगते।

हम उनसे पूछते कि 'बाबा! घरमें तो आप जब चौका लगता है और पाटा रखा जाता है, और पानी लगता है, तब आप भोजन करते हैं और यहाँ बिना चौकेके ही भोजन क्यों करते हैं? यहाँ चौकेका दोष लगता है कि नहीं लगता है?'

घरमें हम लोग याद नहीं है कि बचपनमें कब सिला हुआ कपड़ा पहनके भोजन किया था, या कब चौकेके बाहर भोजन किया था। घरमें तो सब लोग जैसा करते, वैसा करते। यह तो जब बड़ा हुआ न, तब स्वतन्त्रता बरतने लगा। पहने हुए भी खा लिया। मैंने उनको पूछा था, उसका जवाब उन्होंने जो दिया था, सो आपको बताता हूँ। उन्होंने एक श्लोक सुनाया कि 'इसको याद कर लो—

सर्वत्र वसुधा पूता यत्र लेपो न विद्यते।
यत्र लेपः कृतस्तत्र पुनर्लेपेन शुद्धति॥

यह धर्मशास्त्रका श्लोक है। धरती सब जगह पवित्र है। यदि कोई चीज, मनुष्यने, किसी प्राणीने, किसी पशुने लेप न कर दिया हो, माने लघुशंका-शौच न कर दिया हो, थूक न दे, ये भले आदमी लोग जहाँ जाते हैं वहाँ गन्दा कर देते हैं—यदि किसी मनुष्यने धरतीको गन्दा न कर दिया हो, तो पृथ्वी स्वभावसे पवित्र है। और, जब एक लेप कर दिया हो, तो वहाँ दूसरा लेप करके छुड़ाओ, तो धरती पवित्र होगी। नहीं तो धरती अपने-आप ही पवित्र है।

जहाँ अध्यारोप हो गया है, वहीं अपवादकी जरूरत है। जहाँ अध्यारोप नहीं हुआ है, वहाँ अपवादकी जरूरत नहीं है। अध्यारोप माने, तुमने अपनेको मनुष्य मान लिया। तुमने अपनेको ब्राह्मण मान लिया, संन्यासी मान लिया, पापी-पुण्यात्मा मान लिया, सुखी-दुःखी मान लिया, नारकी-स्वर्गी मान लिया। आने-जानेवाला मान लिया। तुमने जब अपनेको कुछ मान लिया, आरोप कर लिया अपने ऊपर, तब इस आरोपका अपवाद करनेके लिए, निषेध करनेके लिए वेदान्तकी जरूरत है। तुमने अपनेको कुछ नहीं माना है, तो अपवादकी जरूरत नहीं है।

परन्तु ऐसा कौन है जिसने अपनेको कुछ-न-कुछ न मान लिया हो? मनुष्य ही मान लिया। जीव ही मान लिया। '**अध्यारोपितं निषिध्यते।**' थोड़े विवेकसे

आपको यह बात मालूम पड़ सकती है। जब आप दृश्यवाले होते हैं तो दृश्याभावविशिष्टरूप अपना ज्ञान हो करके ही दृश्यभावयुक्त अपना ज्ञान होता है। यह एक वेदान्तशास्त्रका नियम आपको सुना रहा हूँ।

वेदान्तशास्त्रका नियम है, जब आप दूसरेको जानेंगे, तब पहले अपने-आपको अकेले जानेंगे। उसके बाद दूसरा आवेगा, तो दूसरेको जानेंगे। जो अपने-आप अकेलेको नहीं जानता, वह दूसरेको जान ही नहीं सकता।

आपने अपनेको मनुष्य जाना, ब्राह्मण जाना, संन्यासी जाना, स्त्री जाना, पुरुष जाना, पापी जाना, पुण्यात्मा जाना, कर्ता-भोक्ता जाना, जाने-आनेवाला जाना! कैसे जाना?

जो कुछ जाना गया, उसके पहले आप इन सब भेदोंके अभावसे विशिष्ट थे। अर्थात् इन सबका आपमें अभाव था। तब आपने इनको जाना और इनको माना। इसलिए यह साराका सारा आरोप बादमें हुआ । इसलिए यह जो किया हुआ आरोप है, इसका निषेध कर दो।

सदेव सौम्य इदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

जैसे सुष्टि बननेके पूर्व तुम अद्वितीय सत् थे, वैसे यह सृष्टि बननेके बाद भी तुम अद्वितीय सत् हो। यह बनी हुई सृष्टि तुम्हारे अन्दर आरोपित है और मिथ्या है। असङ्गताका भाव समझनेके लिए यह है।

पृथ्वी असङ्ग है। लोटेमें जल है, वह अपवित्र होता है। समुद्रका जल अपवित्र नहीं होता। गङ्गाका जल अपवित्र नहीं होता। लोटेके जलसे तुम आबदस्त लो, तो लोटा भी अपवित्र और लोटेका पानी भी अपवित्र लेकिन सरोवरमें आबदस्त लो तो सरोवर अपवित्र नहीं हुआ। सरोवरका जल अपवित्र नहीं हुआ। जल अपवित्र नहीं होता, जलकी परिच्छिन्नता अपवित्र होती है। पृथ्वी अपवित्र नहीं होती, पृथ्वीकी परिच्छिन्नता अपवित्र होती है।

अग्नि अपवित्र नहीं होती, जब मुर्दा जलाया जाता है, तो मुर्देको जलानेवाली अग्नि अपवित्र होती है। परिच्छिन्न अग्नि अपवित्र होती है, अग्नितत्त्व अपवित्र नहीं होता।

वायुतत्त्व अपवित्र नहीं होता, लेकिन जब वह अपान वायुके रूपमें निकलता है, तब अपवित्र होता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्त्व कोई सङ्गवान् नहीं होता। जहाँ तत्त्वमें परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव होता है, जहाँ खण्डभाव होता है, वहाँ अपवित्रता आती है। तो आप असङ्ग हैं।

असङ्गः। असङ्गता भी दो तरहकी होती है। एक तो, जलमें रहता है कमल और कमल असङ्ग होता है। एक—नीलिमामें रहता है आकाश और आकाश असङ्ग होता है। जल सच्चा है, कमल सच्चा है। सच्चे जलमें रहके कमल असङ्ग होता है। क्योंकि लेप नहीं होता है।

नीलिमा मिथ्या है, आकाश सच्चा है। मिथ्या नीलिमामें रहकर आकाश रँगा नहीं जा सकता। भ्रमके भी अनेक रूप होते हैं। रज्जुमें सर्पका भ्रम दूसरा है और आकाशमें नीलिमाका भ्रम दूसरा है। स्वर्गमें अपने पापी-पुण्यात्मा होनेका भ्रम दूसरा है। बौद्धिक भ्रम दूसरा है, असक्तिमूलक भ्रम दूसरा है, नेत्रका भ्रम दूसरा है।

अद्वितीय तत्त्वमें यह सृष्टि कैसी है? सांख्य और योगमें असङ्ग किसको कहते हैं? प्रकृतिमें रहता हुआ भी पुरुष असङ्ग है। वेदान्तमें जैसे नीलिमामें रहता हुआ भी आकाश असंग है, अर्थात् अनहुए प्रपञ्चमें, मिथ्या सृष्टिमें रहता हुआ यह आत्मा असङ्ग है। यह वेदान्तशास्त्रका सिद्धान्त है।

असङ्गः सच्चिदानन्दः। आओ, समाधि लगावें। क्या? '**असङ्गोऽहम्**', '**असङ्गोऽहम्**' शब्दका आश्रय ले करके—

निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि स्वस्थोऽस्म्यस्मि च निस्पृहः।
शान्तोऽहं एकरूपोस्मि चिदाकाशमहं स्थितः॥

'मैं निश्चेष्ट हूँ, मैं निरंश हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं निस्पृह हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं परमार्थरूप हूँ और मैं अविनाशी हूँ।' ऐसा सोच करके, ऐसा विचार करके साक्षीनिष्ठ जो समाधि है, शब्दके द्वारा अपने स्वरूपका चिन्तन करके शान्त हो जाना—इसका नाम 'शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' है, निर्विकल्प नहीं है, क्योंकि इसमें शब्दकी पंख लगी हुई है। शब्दजन्य वृत्ति लगी हुई है-'मैं ऐसा हूँ', 'मैं ऐसा हूँ', 'मैं ऐसा हूँ'। दृश्य नहीं, शब्द। जिसको अपनी वृत्तिमें आग्रह है, जिसको अपने शब्दमें आग्रह है; शब्द तो आसमानमें उड़ते रहते हैं, वृत्तियाँ मनमें आती-जाती रहती हैं, इनमें आग्रह क्या? अरे! आयी, गयी!!

एकने कहा—'तुम कृष्णको ईश्वर क्यों कहते हो?' मैंने कहा—'मैं तुमको कृष्ण कहता हूँ। क्या ख्याल है तुम्हारा? लो, कृष्ण तुमको पसन्द न हो, तो तुमको ही बोलता हूँ।'

बोले—'नहीं महाराज, मैं भी कृष्ण नहीं हूँ।'

'अरे, मैं चींटीको ईश्वर कहता हूँ। अब प्रसन्न?'

बोले—'नहीं महाराज! चींटी कैसे ईश्वर?'

'अरे, मैं शालिग्राम पत्थरको ईश्वर बोलता हूँ। तुम्हारे हृदयमें ईश्वरबुद्धिका उदय हो, तुम्हारी चित्तवृत्ति ईश्वराकार हो, उसमें शालिग्राम निमित्त बने, कि चींटी निमित्त बने, कि आदमी निमित्त बने, कि राम-कृष्ण निमित्त बने! किसी भी निमित्तसे मनुष्यकी चित्तवृत्ति ईश्वराकार हो जाय, कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपादान, अद्वितीय, परम स्वतन्त्र, सच्चिदानन्दघन है—किसी भी प्रकार अपनी वृत्तिको ठीक करनेकी जरूरत पड़ती है—चाहे विचारसे, चाहे शान्तिसे।

अच्छा, दो चेले जोशमें आ गये। एकने कहा—"महाराज! यह हर समय विचार-विचार-विचारकी रट लगाये रखता है कि 'विचार करो'—'विचार करो'-'विचार करो'; 'क्रान्तिकारी विचार करो।' विचारमें क्या रखा है?"

गुरुजी बोले—'हाँ भैया! तुम ठीक कहते हो। विचार तो एक विक्षेप है, क्योंकि अनेक होता है। विचारमें तो अनेकरूपता होती है न! तरह-तरहके विचार आते हैं। ठीक है, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। तुम विचार छोड़के शान्त हो जाओ।'

दूसरेने कहा—'महाराज! आपने तो इसके पक्षमें फैसला ही दे दिया! हमारी भी तो सुन लो! हम कहते हैं कि यह 'समाधि-समाधि' की रट लगाये रखता है। हम एक बार नहीं, हजार बार समाधि लगा चुके हैं; पर जब हम समाधिसे उठते हैं, तब फिर देहमें ज्योंकी त्यों मैं-बुद्धि हो जाती है।'

'समाधिसे परिच्छिन्नतामें जो अहंभाव है, सो तो कटता ही नहीं। समाधि लगती है तो सब चुप हो जाता है। इन्द्रियाँ चुप, मन चुप, बुद्धि चुप, विचार चुप! विश्वसृष्टि, ईश्वरसृष्टि, जीवसृष्टि सब चुप! चुपका नाम समाधि है?

'चुप्पीका नाम समाधि है न? इसको संस्कृतमें 'तुष्णीभाव' बोलते हैं। जब हम चुप हो जाते हैं, तब कुछ नहीं मालूम पड़ता। पर जब चुप्पी टूटती है, तब तो महाराज, फिर वही मैया, वही दैया, वही गैया, वही रुपैया, वही काम, वही क्रोध, वही लोभ! वही-का-वही सब! फिर हड्डी-मांस-चामपर 'मैं' करके बैठ जाते हैं, तो हमने देखा कि समाधि काटती नहीं है, चीजको ज्योंका त्यों छोड़ देती है। बस केवल उनका अभान कर देती है। जब हमने विचार किया महाराज! तब तो परिच्छिन्नतामेंसे हमारा अहंभाव ही दूर हो गया।' यह 'समाधि'-'समाधि'की रट लगानेवाला बेवकूफ है।'

गुरुजीने कहा—'हाँ भैया, तुम ठीक कहते हो।'

'अरे! हम भी ठीक, वह भी ठीक?'

'हाँ, जिसका विचार पूरा हो गया, विचार भी विक्षेप मालूम पड़ता है, उसको शान्त होकर रहना चाहिए। जिसका अज्ञान बना हुआ है, वह समाधिसे नहीं टूटता है, तो उसको विचार करके अज्ञानको तोड़ना चाहिए। मननसे संशय टूटता है, निदिध्यासनसे विपर्यय टूटता है। इसलिए मनन और निदिध्यासन दोनों ही जीवनमें होने चाहिए। समाधि भी होनी चाहिए और विचार भी होना चाहिए।

संस्कृत भाषामें 'समाधि' शब्द पुल्लिङ्ग है, हिन्दीमें स्त्रीलिङ्ग चलता है। संस्कृतमें समाधि, उपाधि, विधि, प्रधि, उपधि, आधि, व्याधि-वे जितने 'धि'-'धि'वाले हैं, सबके सब पुल्लिङ्ग शब्द हैं।

सच्चिदानन्दः स्वप्रभः। बोले कि 'मैं सच्चिदानन्द हूँ।' कई लोग, जो जिस बातको नहीं समझते हैं, कभी-कभी वही बोलने लगते हैं। 'मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं स्वप्रभ हूँ।'

एक जगह बहुत बड़ा भण्डारा था। एक गरीब मुसलमान था, वह एक ब्राह्मणके पास गया और बोला—'भाई, ऐसी अक्कल बताओ, जिससे हम भण्डारामें भोजन कर लें।'

ब्राह्मणने कहा—'क्या मुश्किल है? तुमको भण्डारामें भोजन करना है, तो लो, तुमको हम जनेऊ देते हैं। पहन लो और वहाँ कोई पूछे, तो बता देना, कि-'मैं ब्राह्मण हूँ।' भण्डारेमें बैठके खा लेना।'

अब वह मुसलमान गया। भण्डारेमें बैठ गया। किसीको शङ्का हो गई कि यह ब्राह्मण है कि नहीं? उसने जाके पूछा—'तुम कौन हो जी?'

उसने झट अपना जनेऊ निकाला और कहा—'देखो, हम जनेऊ पहने हुए हैं और ब्राह्मण हैं।'

'अच्छा, तुम ब्राह्मण हो, तो कौन ब्राह्मण हो? कायस्थ हो कि गौड़ हो? तिवारी हो कि दूबे हो? तुम कौन ब्राह्मण हो?'

वह बोला—'या खुदा! ब्राह्मणमें भी कोई और होता है?' उसको मालूम नहीं था कि ब्राह्मण क्या होता है? वह तो उसने यों ही बोल दिया कि 'मैं ब्राह्मण हूँ।'

वेदान्तियोंमें भी बहुतसे ऐसे वेदान्ती होते हैं जिनको अपनेको 'सच्चिदानन्द' कहनेका शौक तो होता है। वे कहींसे सीख आते हैं कि 'हम सच्चिदानन्द हैं।' परन्तु वे सच्चिदानन्दके बारेमें कुछ जानते तो हैं नहीं कि सच्चिदानन्द क्या होता है?

'सत्' उसको कहते हैं, जिसको कभी कोई झुठला न सके। आप विचार करके देखो कि आपके जीवनमें ऐसी कौनसी चीज है, जिसको आप झुठला नहीं सकते। आपका अपना होना ऐसा सिरपर सवार है कि आप कभी न तो किसीसे कह सकते हैं कि 'मैं नहीं हूँ' और न तो अपने मनमें सोच सकते हैं कि 'मैं नहीं हूँ।'

न हि कश्चित् प्रतीयात नाहमस्मि इति।

वह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता कि 'मैं ही नहीं हूँ।' तो सत् माने जिसके न होनेका अनुभव कभी किसीको न हो। वह कौनसी चीज है? अपना आपा।

एक सज्जन आये। बोले—'मैं अनुभव करके आया हूँ।' 'क्या अनुभव करके आये हो ?' 'कि मैं नहीं हूँ।' 'अच्छा, आप ऐसा अनुभव करके आये हैं और साक्षात् बोल भी रहे हैं?' यह क्या है? **'मम मुखे जिह्वा नास्ति।'** इसका नाम **'वदतो व्याघात-दोष'** है।

अरे बाबा! तुम्हारे मुखमें जिह्वा नहीं है, तो बोलते कैसे हो? किसने अनुभव किया कि 'मैं नहीं हूँ?' असलमें किसी दूसरी चीजको तुमने 'मैं' कहा होगा और उसका अभाव देखा होगा। तो जिसने अभाव देखा, वह तुम हो। जिस 'मैं'का अभाव देखा गया, वह तुम नहीं हो। कभी बोल नहीं सकता कोई। उसको 'सत्' बोलते हैं।

चित उसको बोलते हैं, जो जानता है सबको पर खुद जाना नहीं जाता।

अदृष्ट दृष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ।

जो सबको प्रकाशित करे, पर स्वयं अपनेको प्रकाशित करनेके लिए किसी दूसरेकी जरूरत न पड़े। **'चेतति'=स्वयं प्रकाशते इति 'चित्'**। जो स्वयंप्रकाश हो। देखो, यह घड़ी देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत है कि नहीं ? पहले तो घड़ी देखनेके लिए घड़ीकी जरूरत है। यह उसका आधिभौतिक रूप है। फिर रोशनीकी जरूरत है। फिर आँखकी जरूरत है। फिर देखनेका मन हो, तब न तुम घड़ीको देख सकते हो। परन्तु अपने-आपको देखनेके लिए न तो घड़ीसरीखी किसी जड़ चीजकी जरूरत है, न तो सूर्यकी-सी रोशनीकी जरूरत है, न तो आँखकी जरूरत है।' बिना सूर्यकी रोशनीके अन्धा भी जानता है कि-'मैं हूँ।' बहरा भी जानता है कि-'मैं हूँ।' बिना जीभवाला गूँगा भी जानता है कि 'मैं हूँ।' लँगड़ा भी जानता है कि 'मैं हूँ।' लूला भी जानता है कि 'मैं हूँ।'

समाधि लगती है। बोले-'समाधिमें 'मैं'को नहीं जान रहा था, इस रूपमें मैं रहता था।' तो कहनेका अभिप्राय यह है कि 'चित्' उसको कहते हैं कि जो जाने तो सबको, लेकिन उसको जाननेके लिए किसी बाहरी रोशनीकी, बाहरी औजारकी जरूरत न हो!

'आनन्द' किसको कहते हैं? सच्चिदानन्द माने जहाँ भोक्ता और भोग्यभावकी जरूरत नहीं पड़े। जब कोई चीज हो, तब हम उसको भोगें और हम देह-इन्द्रियवाले हों, तब भोक्ता बनें!

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

इन्द्रिय और मनसे युक्त होनेपर आत्माका नाम 'भोक्ता' होता है और अन्य वस्तु भोग्य होती है। जहाँ जीवात्मा और विषयता दोनों नहीं हैं, उसका नाम 'आनन्द।'

सच्चा आनन्द कौन है? सच्चा आनन्द वहाँ है, जहाँ भोक्ता-भोग्यका भाव नहीं है। सच्चा ज्ञान, सच्चा चित् माने ज्ञाता और ज्ञेयका भाव नहीं है। ज्ञान कौन है? स्वयं। सच्चा सत् कौन है? जहाँ कर्ता और कर्मका भाव नहीं है। ऐसा! यह द्वितीयकी माने अन्यकी उपस्थितिसे पूर्व विद्यमान जो अद्वितीय आत्मा है, वह 'मैं हूँ।'

सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।

अर्थात् स्वयंप्रकाश और द्वैतसे रहित। असलमें चामकी दीवारको बीचमें रखकर देहको 'मैं' करके बैठना और बाहर-भीतरका भेद बनाना यह अद्वैत दृष्टिसे कहाँतक है?

एक दिन घड़ा इतरा रहा था। घड़ेमें पोल माने अवकाश होता है न! घड़ा बोला—'क्या समझते हो? मैं न होऊँ तो घड़ेमें दूध कहाँ रखा जाय? घड़ेमें पानी कहाँ रखा जाय? घड़ेमें हीरे-मोती कहाँ रखा जाय? हमारे सामने यह आकाश क्या होता है?' आकाश हँसने लगा। आकाशने कहा-"सिर्फ मिट्टीकी दीवार पर इतना अभिमान करते हो कि-'मैं भी कुछ हूँ? तुम हो क्या? मिट्टीकी दीवार और वह भी उधार ली हुई मिट्टी! घड़े! तू मिट्टी है क्या? लौटा दे मिट्टी और फिर बता कि तू क्या है?' झूठी मिट्टीकी दीवारको 'मैं' समझके घड़ा आकाशसे होड़ करता है।

इस चामके भीतर जो चैतन्य है, चामके घेरेके कारण हम अपनेको 'मैं' मान करके परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माको बिसार देते हैं। अपने ही परिपूर्ण स्वरूपको, अविनाशी स्वरूपको भुला देते हैं। शब्द जो है—

अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥

इसमें शब्द है और वृत्ति है, परन्तु इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, दोस्त-दुश्मन—ये सब दृश्य नहीं हैं। केवल शब्द और वृत्ति और सो भी प्रत्येक शब्दमें ध्वनि होती है। जब हम 'घट' शब्दका उच्चारण करते हैं न, तो घटाकार-वृत्ति होनेमें एक ध्वनि होती है। वह ध्वनि क्या है? वह घटात्मक है।

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सह व्यापकम्।

शब्द और स्फुरणाके सिवाय व्यवहार और कुछ नहीं होता है। अपने स्वरूपमें न शब्द है न स्फुरणा है। शब्द और स्फुरणाका आधार लेकर जब हम अपने स्वरूपमें स्थित होना चाहते हैं, तब उसका नाम सविकल्प समाधि होता है।

अब आगे क्या बात आई, कि जहाँ शब्द और दृश्य दोनों छूट जायँ; न शत्रु-मित्र आदि बाहरके पदार्थ रहें और न रागद्वेष आदि भीतरके पदार्थ रहें और न तो 'मैं असङ्ग हूँ', 'मैं सच्चिदानन्द हूँ'—ये शब्दादि रहें। कहाँ? एक ऐसी जगह पहुँचो, जहाँ एक अनुभूति है, अनुभाव्य नहीं है। माने अनुभवका विषय नहीं है। परन्तु अनुभव है।

जैसे शीशा है, परन्तु अन्तःकरण माने ज्ञानस्वरूप अन्तःकरण उसमें किसी भी प्रकारका उपराग नहीं है। किसीका रङ्ग चढ़ा हुआ नहीं है। उसमें वृत्तिका हिलना-चलना नहीं है। उसमें शब्दकी ध्वनि नहीं है। अखण्ड, ठोस, ठसाठस ज्ञानात्मक दर्पण जो है—ठोस ज्ञानात्मक आदर्श जो है, वह परिपूर्ण है।

अब इस परिपूर्णतामें देशमें फैला हुआ है, यह ख्याल न हो; कालमें चलता रहता है, यह धारा है, विज्ञान है। देशमें फैला हुआ है तो वह सङ्कोच और विस्तारवाला है। जैन लोग चैतन्यका ऐसा स्वरूप मानते हैं। चैतन्य यदि विस्तारवाला आत्मा है तो फैल जाता है और सिमट जाता है। तो आत्मा वैसा है और यदि वह कालकी धारामें बह रहा है। **विज्ञानं विज्ञानं-विज्ञानं**—विज्ञान है। यदि वह किसी द्रव्यके रूपमें बैठा है, देहकी तरह ठोस द्रव्य, तो ये तीनों दृश्य हैं।

जहाँ कोई धारा नहीं है, जहाँ कोई सङ्कोच और विस्तार नहीं है और जहाँ कोई द्रव्य नहीं है, जहाँ कोई शब्द नहीं है, जहाँ कोई वृत्ति नहीं है, जहाँ केवल स्वानुभूति ही परमानन्द है।

शब्द और वृत्तिकी उपेक्षा हो गयी। निवातस्थित दीपके समान अचल अपना स्वरूप है—

दृष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाभ्यासमात्मानं केवलं भजे॥

जहाँ न द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है। दृश्यकी अपेक्षासे द्रष्टापना है। दोनोंकी अपेक्षासे दर्शनपना है। वासना छोड़ी। द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इनकी वासना भी छोड़ी। दर्शनके भी पूर्व! ऐसा नहीं कि यह प्रपञ्च भ्रम है ऐसी भावना करनी है। नहीं, यह प्रपञ्च उत्पत्तिके पूर्व जैसा सत् है, वैसा ही सत् प्रपञ्चकी उत्पत्तिके अनन्तर भी है। अखण्ड!

यह जो प्रपञ्च भासता है, बिना हुए भासता है। मिथ्या प्रपञ्चका ख्याल भी जहाँ छूट गया, समाधि निर्विकल्प हुई।

●

प्रवचन

२७

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः।

निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत्॥ २६॥

तीन-तीन प्रकारकी समाधि बाहर और भीतरके भेदसे बता रहे हैं। भीतर दृश्य हो और उसके साथ सम्बन्ध न हो। यहाँतक बता दिया कि क्या आता है मनमें, इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। संघर्षकी स्थिति छोड़ दो। शान्तिकी स्थिति पकड़ो।

कामाद्याश्चित्तगा दृश्याः।

मनमें दया आवे, प्रीति आवे, स्नेह आवे, सुशीलता और करुणा आवे अथवा काम-क्रोध-लोभ ही क्यों न आवे—इसका अर्थ यह नहीं है कि कामको बुलाके देखो, क्रोधको बुलाके देखो, लोभको बुलाके देखो यह मतलब नहीं है; कौनसी वृत्ति चित्तमें आती है, इसपर ध्यान मत दो। कोई भी आकार आवे, तुम उसके साक्षी हो। तो यह दृश्यका दर्शन हो रहा है और आत्मा-साक्षी देख रहा है।

इसमें दृश्य तो है, परन्तु उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। यह दृश्य मैं हूँ कि मेरा है, कि सच्चा है कि झूठा है? अरे, जो है सो है। आकाशमें तिनके उड़ रहे हैं, हवामें तिनके उड़ रहे हैं। गङ्गाजीकी धारामें अच्छी-बुरी चीजें बह रही हैं। हम तो तटस्थ हैं, कूटस्थ हैं।

दूसरी समाधि शब्दानुविद्ध बताई। शब्दानुविद्धका अर्थ है कि आप दृश्यकी ओर बिलकुल ध्यान ही मत दो, अपनी ओर ध्यान दो कि आत्मा क्या है? यह असङ्ग है, सत् चित् आनन्द है। सत्का अर्थ है कि कभी कहीं किसी तरहका अभाव अनुभव न होता हो। आत्मा जो कर्ता और कर्म दोनोंमें एकरस सत्ता है, जिसके अभावका अनुभव न होता हो। जो ज्ञाता और ज्ञेयमें एकरस ज्ञान है, जिसके अभावका अनुभव नहीं होता हो। 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव कभी कोई

कर सकता है? देखो न, दुनियाभरके लिए यह चुनौती है। कोई कहे कि मैंने अनुभव किया कि 'मैं जड़ हूँ'। तो जिसने अनुभव किया, वह तो चेतन है। जड़ता मालूम पड़ी नहीं, तो चेतन हुआ।

कोई कहे कि मैंने अनुभव किया कि 'मेरी मृत्यु हो गयी'। जिसने मृत्युका अनुभव किया, वही तो जिन्दा रहा। वह तो अमृत है। जिसने मौतको देखा वह अमृत है और जिसने मौतको देखा ही नहीं वह तो अमृत ही है। तो जो जानता है, जाना नहीं जाता वह चित् आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

अपने ज्ञानका अभाव, अपनी प्रियताका अभाव, ऐसा यह स्वयंप्रकाश, द्वैतरहित—द्वैतपर दृष्टि ही नहीं है, केवल शब्दके द्वारा अपनी असङ्गता, स्वयंप्रकाशता, सच्चिदानन्दता, अद्वैतता प्रकट करके उसीमें मगन हो रहा है। यह सविकल्प समाधि है।

अब निर्विकल्प समाधिकी चर्चा प्रारम्भ करते हैं—

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षतुः।

अनुभूतिके रसमें मग्न होना थोड़ी-सी साधनकी बात इस प्रसङ्गमें सुनाता हूँ।

समाधिमें अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी मुख्यता है—

इस अभ्यासका वर्णन किया। इस अभ्यासको दुहरावें। **अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः**। समाधिपाद-१२; 'अभ्यास'का संस्कृतमें अर्थ है, दुहराना। उसी जगह पर बार-बार बैठ जायँ तो रोज-रोज आसन करना भी एक अभ्यास है। रोज-रोज प्राणायाम करना भी एक अभ्यास है। रोज-रोज माला फेरना भी एक अभ्यास है। रोज-रोज ध्यान करना भी एक अभ्यास है।

बचपनमें हम जिस ग्रन्थको पढ़ते थे, उसकी रोज एक बार दुहरौनी करते थे। गाँवमें इसको 'उघरनी' बोलते थे; माने कल जिस चीजको याद करके चित्तमें बैठायी थी, उसको आज उघारके फिर देखना। हमको बचपनमें जिस महात्माने 'अभ्यास' शब्दका अर्थ बताया था, उसने 'अभ्यास' शब्दका अर्थ दुहरौनी ही बताया था। जैसे, हमको जब 'लघुकौमुदी' पढ़नी हुई, तो—

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

अभ्यास माने दूसरी ओरसे अपने मनको लौटाना। '**अभितो निवर्त्य आसनम् अभ्यासः**' चारों ओरसे अपने मनको लौटाना, अपनी जगहपर बैठना, इसका नाम

अभ्यास है। व्याकरणमें इस शब्दका प्रयोग बहुत बढ़िया होता है। 'भवति' में अभ्यासकी जरूरत नहीं पड़ती है, पर 'वभूव' जो बनता है, उसमें दो बार 'भू-भू' होता है। 'भू' का 'व' हो जाता है। इसको अभ्यास बोलते हैं व्याकरणमें।

अभ्यास और वैराग्य—दो चीज प्रधान हैं समाधिमें। 'योगदर्शन' में यह बात बताई गई है कि कई लोग ऐसे होते हैं, जिनको पूर्वजन्मकी समाधिके अभ्यासके कारण बचपनमें स्वभावसे ही समाधिके संस्कार जाग्रत होते हैं। इनमें एक तो देवताओंकी चर्चा है। जो अधिकारी पुरुष होते हैं ब्रह्मा आदि, इनकी भी चर्चा की।

जैसे पृथ्वी-देवता, जल-देवता, अग्नि-देवता, वायु-देवता-ये तत्त्वसे तादात्म्यापन्न हो गये हैं। जैसे, अग्नि-धारणा करनेसे 'अहमग्निः।' कोई जीव ही अग्निसे तादात्म्यापन्न हो करके अग्नि-देवता हो गया है। **'अहं वायुः।' 'अहं सूर्यः।'** बोलते हैं न वह वामदेव!

अहं मनुरभवं सूर्यश्च।

'मैं ही पहले मनु था' और 'मैं ही पहले सूर्य था।' तो यह क्या हुआ? और दूसरे होते हैं, वे ब्रह्मातक हो जाते हैं। ऐसे-ऐसे जीव होते हैं, जिनको सृष्टि-स्थिति-संहार करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। वे 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' हो जाते हैं। अहंकार-तत्त्वमें लीन होनेसे 'रुद्र' हो जाते हैं। महत्तत्त्वमें लीन होनेसे हिरण्यगर्भ हो जाते हैं। इतनी ऊँची अवस्था प्राप्त होती है कि महत्तत्त्वमें लीन हो जायँ, अहंतत्त्वमें लीन हो जायँ, प्रकृतिमें लीन हो जायँ।

इतनी ऊँची अवस्था अभ्यासके द्वारा प्राप्त हो जाती है। ऐसे जो विदेह और प्रकृतिलीन होते हैं, इनका नाम योगशास्त्रमें क्या है?

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। —समाधिपाद-१९

जो अभ्यासके द्वारा निराकार और निर्देह स्थिति प्राप्त कर लेते हैं और यहाँतक कि ब्रह्मा हो जाते हैं। 'योगवासिष्ठ' आपने पढ़ा हो तो पढ़ा होगा कि 'कई बार हमने ब्रह्माको चींटी होते देखा है और चींटीको ब्रह्मा होते देखा है। जो यज्ञोपवीतहीन थे, उनका नाम ब्राह्मण था और जो यज्ञोपवीती थे, उनका नाम शूद्र था। ऐसी-ऐसी कथाएँ हैं। 'योगवासिष्ठ' के 'भुशुण्डोपाख्यान' में यह प्रसङ्ग आता है।

यह सृष्टि जो है, बदलती रहती है, बदलती रहती है, बदलती रहती है। इसमें दुःखी वही होता है, जो नयेको स्वीकार नहीं करता। ये बुड्ढे लोग क्यों दुःखी होते हैं? इन लोगोंको यह होता है कि हमारी अगली पीढ़ी तो बिलकुल भ्रष्ट हो गई। अब वह अगली पीढ़ी भी जब बुड्ढी होगी, तो यही सोचेगी कि हमारी अगली पीढ़ी भ्रष्ट हो गई। इस प्रकार दुःखी होनेकी एक परम्परा है।

अरे! नयी-नयी सृष्टि बदलती है। देखो, जबतक काले बाल ज्यादा हों, सफेद कम हों, तबतक सफेदको निकालके, कालेको रखके खुशी हों और जब सफेद बढ़ जायँ ज्यादा, तो कालोंको निकालके सफेदको रखके खुशी हों।

हमारे गुरुजी थे, पचासी बरसकी उनकी उमर थी। वह मूँछ बनाते थे। बड़े भारी विद्वान् थे; संस्कृतके प्रामाणिक विद्वान् थे। आजकल जो 'क्वीन्स कॉलेज' है, उसमें वे अध्यापन करते थे। वे कैंचीसे अपने हाथसे मूँछ काटते थे और कंघीसे एक-एक बाल सँवारके रखते थे। कहीं कतारमें फरक न पड़े। शीशेमें देखते थे। क्या मजा आता उनको, बुढ़ापेमें अपने सफेद बाल देखके! काले बालमें तो तमोगुणका निवास है, सफेद बालमें सत्त्वगुणका निवास होता है।

इसको उलट दो! काले बालमें जवानी होती है, सफेद बालमें बुढ़ापा होता है! दोनों ओरसे मजा लेनेकी आदत अगर नहीं डालोगे, तो दुःखी हो जाओगे। क्योंकि यह सृष्टि सत्य भी है; क्योंकि इन्द्रियोंसे अनुभवमें आ रही है। और, यह सृष्टि असत्य भी है, क्योंकि ब्रह्मकी दृष्टिसे नहीं दीखती है। तो जब इसको सत्य कहो, तो ऐन्द्रियक अनुभवकी दृष्टिसे सत्य है और असत्य कहो, तो ब्रह्मानुभूतिकी दृष्टिसे असत्य है। अरे! अनिर्वचनीय है। इसमें क्या सत्य-असत्यका आग्रह? सत्य कहो तो सत्य नहीं और असत्य कहो तो असत्य नहीं है।

एक बात यह आप ध्यानमें रखो कि जो विदेह है, माने स्थूल शरीर जिनको प्राप्त नहीं हैं, ऐसे जो देवतालोग हैं, और जो प्रकृतिलीन हैं न, अर्थात् महत्तत्त्व, अहङ्कारतत्त्व, और प्रकृतिसे एक हो जाते हैं, उनकी भी अविद्यानिवृत्ति नहीं है, सत्त्वान्यता माने तत्त्वपुरुषान्यताख्याति नहीं हुई है योगदर्शनकी दृष्टिसे; यदि इदम्-अहम् माने आत्मा-अनात्माका विवेक नहीं हुआ, तो अविद्याकी निवृत्ति न होनेके कारण उनका भी पुनर्जन्म होता है।

जब उनका पुनर्जन्म होता है, तब क्या होता है? उनका 'भवप्रत्यय' होता है। माने जिस योगाभ्यासके बलपर उनको ब्रह्मत्व या देवत्व प्राप्त हुआ था, योगाभ्यासका वह संस्कार उनके जीवनमें अपने-आप ही प्रकट होता है। वह देवतायोनिमें रहते हुए भी चाहे तो समाधि लगा सकते हैं और जीवन्मुक्तकी तरह रह सकते हैं। ब्रह्मा-रुद्रादिकी तरह रहते हुए भी चाहे तो बिलकुल मस्तानी जिन्दगी व्यतीत कर सकते हैं। लेकिन अविद्याकी निवृत्ति न होनेके कारण जब उनका पुनर्जन्म हो जाता है; पुनर्जन्म ब्रह्माका भी होता है। ब्रह्मा चींटीतक हो जाता है। रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, वरुण इन सबका पुनर्जन्म होता है, तो उनके जीवनमें स्वाभाविक ही समाधिके

संस्कार देखनेमें आते हैं। यह भवप्रत्यय माने जन्मप्रत्यय है। जन्मसे ही यह स्थिति उनकी होती है।

यह बात यहाँ कही क्यों गयी? उन्होंने अभ्यास किया था, समाधि लगाई थी; परन्तु समाधिकी स्थिति यह हो गयी कि ब्रह्मा हो गये, इन्द्र हो गये—'स्थानी' हो गये। इसीको योगदर्शनमें कहा गया—

स्थानान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

विभूतिपाद-५१

आप योगाभ्यास करते हों और इन्द्र आके कहे; 'चलो, हम तुमको स्वर्गका राजा बनाते हैं'; तो न तो स्वर्गका राजा बनना स्वीकार करना और न तो यह अभिमान करना कि इन्द्र आके हमारे सामने हाथ जोड़ रहा था और हमने अस्वीकार कर दिया।

ये सेठ लोग भी आके हाथ जोड़ें कि 'महाराज, हम अपना कल-कारखाना आपको सम्हलाते हैं।' तो ये योगभ्रष्ट करने आया है, हमारा साधन बिगाड़ने आया है। जिस साधनके बलपर इसकी श्रद्धा हमारी तरफ आयी है, उस साधनको ही वह मिटाना चाहता है। न तो उसका संग करना-आसक्ति भी उससे नहीं करना और न अभिमान करना कि इतने बड़े-बड़े सेठ-साहूकार हमारे भगत हैं! क्योंकि उनकी श्रद्धा तो दो मिनटमें ही खतम!'

इसी तरह देवता भी बुलायें, ब्रह्मा भी आवें कि—'आओ, हम तुमको ब्रह्मलोकमें रखते हैं।' रुद्र कहें कि—'आओ, हम तुमको कैलास ले चलते हैं' इन्द्र कहे—'आओ, हम तुमको स्वर्ग ले चलते हैं; तो न तो उनकी बात मानना, न तो उनसे दोस्ती जोड़ना और न तो अभिमान करना' कि 'इतने बड़े-बड़े देवता!'

बात क्या है? उन्होंने अभ्यास तो किया था, परन्तु उनको वैराग्य नहीं था। उनका वैराग्यहीन अभ्यास था। इसलिए उनको सिद्धि मिल गयी। वे इन्द्र हो गये, वरुण हो गये, ब्रह्मा हो गये, रुद्र हो गये, कुबेर हो गये, सूर्य हो गये, चन्द्रमा हो गये। क्यों हो गये? प्राकृतिक एक अंशमें उनका तादात्म्य हो गया। क्यों हुआ? क्योंकि उनको वैराग्य नहीं था। यदि परवैराग्य उनको होता, तो—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। समाधिपाद-१६

तब उनको 'मैं प्रकृति और प्राकृतसे विलक्षण नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ'—यह बोध हो जाता और ये गुणोंके द्वारा बनायी हुई स्थितियाँ हैं, उनमें तृष्णा

होती। वैराग्यकी कमीके कारण ही वे योगाभ्यास करके देवता हुए थे और वैराग्यकी कमीके कारण ही फिरसे वे मनुष्य-योनिमें आये हैं और उनके अन्दर वासनाके बीज विद्यमान हैं।

इसलिए बचपनमें यदि किसीकी स्थिति ऐसी दिखे कि यह तो योगियोंकी-सी स्थिति है, तो मान नहीं लेना कि वह जिन्दगीभर ऐसा रहेगा। क्योंकि वह 'भवप्रत्यय' है। फिर जैसे अभ्यास उसमें दिख रहा है, वैसे फिर उसमें वासनाएँ उभर आयेंगी। बहुत लोग जिन्दगीभर सुनाते हैं कि 'जब हम बच्चे थे, तब हमको पूर्वजन्मकी याद आती थी, बच्चे थे तब समाधि लगती थी।' अब कहाँ गई? अब वासनाओंने दबा दिया, पूर्वजन्मके स्मरणको भी दबा दिया।

यह 'भवप्रत्यय' शुद्ध समाधिका साधन नहीं है। विघ्नके रूपमें इसका उल्लेख करनेके लिए कहा गया कि 'यह भवप्रत्यय भी, किसी-किसीमें पूर्वजन्मकी वृत्तियाँ भी उदय होती हैं और जन्मके साथ ही आती हैं। किनके आती हैं? जो पहले देवता होते हैं, या पहले ब्रह्मा आदि होते हैं, उनके आती हैं। तो उसके चक्करमें मत पड़ना। तो करना क्या?'

अभ्यास करना। इसको 'उपायप्रत्यय' और 'भवप्रत्यय' दो बोलते हैं। भवप्रत्यय माने पूर्वजन्मका जो अभ्यास है, वह तब काम देगा, जब इस जन्ममें वैराग्य हो जाय और फिर समाधिका साधन करे। यदि इस जन्ममें वैराग्य न हो और अभ्यास न करे, तो बेकार चला जायगा। इसलिए इस जन्ममें अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करनेके लिए क्या-क्या चाहिए? इसी प्रसङ्गमें 'योगदर्शन'में बात कही गयी—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः इतरेषाम्।

समाधिपाद-२०

एक तो श्रद्धा होनी चाहिए। यदि आप उपाय करना चाहते हैं, योग करना चाहते हैं, साधन करना चाहते हैं, तो अपने जीवनमें, अरे! आदमीपर श्रद्धा न करो, पर अपने साधनपर तो श्रद्धा करो। क्यों? बिना श्रद्धाके कोई साधन होगा? इस साधनसे हमको लक्ष्यकी प्राप्ति होती है, यह आपके मनमें विश्वास ही तो है न, कि आप दस मिनट आँख बन्द करके, और पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठेंगे, या अमुक नाम लेंगे या निर्वृत्तिक रहेंगे, निर्विषय रहेंगे तो हमको आत्मदेवका साक्षात्कार होगा।

अभी तो आप आँख बन्द करके बैठते हो, तो भीतर अन्धकार है; या अभी तो शान्त हो करके बैठते हो। यह एक आपके द्वारा किया हुआ निरोध है। इस

निरोधके फलस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होगा ? यह आपके मनमें श्रद्धा नहीं, तो और क्या है ? आप थोड़ी देर आँख बन्द करके, चित्तवृत्तिको ठप्प करके बैठ गये, तो आपको आत्माका साक्षात्कार हो गया ? क्या गुणवैतृष्ण्य हो गया ? अब सात्त्विक-राजस-तामस स्थितियोंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या पुरुषख्याति हो गई ?

अरे ! आँख बन्द करनेसे और थोड़ी देर बैठनेसे नहीं होता, भाई ! जब अभ्यास होगा दीर्घकालतक, तब न होगा ? तो आपको श्रद्धा रखनी होगी अपने अभ्यासपर कि यह अभ्यास हमें ऊँचाईकी ओर, उन्नतिकी ओर ले जायगा। 'व्यास-भाष्य'में 'व्यासजी महाराज'ने इसी सूत्रकी व्याख्यामें कहा है—

श्रद्धा जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

अर्थात् श्रद्धा माताके समान कल्याणकारी है। वह योगीकी रक्षा करती है।

रोग होनेपर भी साधन न छूटे। आलस आनेपर भी साधन न छूटे। प्रमाद होनेपर भी साधन न छूटे। यह कैसे होगा ? जब अपने साधनमें तुम्हारी श्रद्धा होगी, और जब श्रद्धाके साथ अपने साधनका अनुष्ठान करते हैं, तब एक प्रकारकी शक्ति आती है जीवनमें। जब जीवनमें शक्ति आती है, तब सोई हुई जो स्मृतियाँ हैं अन्तःकरणमें, वे सब जाग जाती हैं। जब स्मृतियाँ जाग जाती हैं, तब एक तो आत्मा अजर-अमर है, यह बात प्रत्यक्ष होने लगती है, क्योंकि पूर्वजन्मकी स्मृतियाँ जाग्रत हो जाती हैं।

जब स्मृतियाँ आती हैं, तो प्रज्ञा माने विवेकका उदय हो जाता है, कि 'मैं यह स्थूल शरीर नहीं हूँ। जब विवेकका उदय हो जाता है, तब परिवर्तनशील तमोगुणकी वृत्तियाँ—जैसे नींद आती है और जाती है ऐसे प्रमाद आता है और जाता है, ऐसे रागादिदोष भी और कामादिदोष भी आते हैं और जाते हैं; और ऐसे सुषुप्ति समाधि भी आती-जाती है। और अपना आत्मा इनसे असङ्ग है। पुरुषकी ख्याति हो जाती है। माने अपना स्वरूप—आत्माका स्वरूप जाहिर हो जाता है। वह जाहिर हुआ कि परम वैराग्य हुआ।'

परम वैराग्यमें समाधिसे भी वैराग्य हो जाता है। यह मत 'योगदर्शन' का है। क्यों ? '**गुणवैतृष्ण्यम्।**' माने गुणसे वितृष्णा हो जाती है। इसका अर्थ क्या है ? सात्त्विक-राजस-तामस तीनों प्रकारकी वृत्तियोंसे वैराग्य हो जाता है। जब इस वैराग्यकी पूर्णता हो जाती है, तब यह चित्तवृत्ति आत्मसदृश हो जाती है। माने सन्मयी, ज्ञानमयी, आनन्दमयी, प्रकाशमयी, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छेदमयी यह वृत्ति हो जाती है। जब वृत्ति सादृश्य हो जाती है, तब यह आत्मामें स्थित हो जाती है। क्योंकि विसदृश वस्तुमें वृत्ति स्थित नहीं हो पाती है।

एक बात तो यह हो गयी कि 'भवप्रत्यय'के भरोसे मत रहना। पुनर्जन्मका जो प्रभाव इस जीवनमें आया हुआ है, उसके भरोसे मत रह जाना। 'उपायप्रत्यय'का अनुष्ठान करना माने उपाय करना।

'उपाय' शब्दका अर्थ व्याकरणकी रीतिसे क्या होता है? यह बड़ा विचित्र शब्द है। व्याकरणमें उप=पास, आय=आमदनी, लाभ। उपाय=जिस चीजका हम लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, उसके बिलकुल पास जो हो, उसका नाम 'उपाय'। जिस लक्ष्यकी हम प्राप्ति करना चाहते हैं, उसके अव्यवहित पास जो है, उसका नाम 'उपाय'। वैयाकरणोंमें जो दार्शनिक-शिरोमणि हुए हैं, उन्होंने कहा—

उपादायापि हीयन्ते उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

'वाक्यपदीय'में यह श्लोक आया कि जिसको पहले तो स्वीकार करें और जहाँ पहुँचना है, वहाँ पहुँच जानेके बाद छूट जाय, उसका नाम है 'उपाय'। जैसे गङ्गा पार करनेका उपाय है नाव। जब गङ्गा पार कर गये, तो नाव छूट गयी।

उपाय उसको कहते हैं, जिसको पहले तो स्वीकार करते हैं और लक्ष्यकी प्राप्ति करने पर छूट जाय; उसका नाम है उपाय। आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध होनेपर भी वृत्तिको पकड़ोगे, तो जीव ही बने रहोगे। जो वृत्तिमान् है, वही तो जीव है।

अब देखो, सम्प्रज्ञात समाधिके जो भेद पहले बताये थे, उनको यहाँ दो भेदमें ले लो—दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः।

समाधिपाद-५१

'तस्यापि निरोधे'—सम्प्रज्ञात समाधिमें जो आलम्बन माने सहारा है—क्या सहारा है? कि एक जगह स्थूल वस्तुका सहारा लिया माने शालिग्रामका सहारा लिया, नहीं तो नीलम रखके अपने चित्तमें बाह्य वस्तुका आकार बना लेते हैं। नर्मदेश्वरका आकार बना लेते हैं, अथवा सूक्ष्म वस्तुका आलम्बन लेते हैं अथवा आनन्दका आलम्बन लेते हैं।

''आनन्द है'-'आनन्द है'-'आनन्द है'। आनन्दकी नदी बह रही है। आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है। आनन्दके सूर्य-चन्द्र-तारे छिटक रहे हैं। आनन्दकी हवा बह रही है। आनन्दका आकाश फैला हुआ है। आनन्दकी दिशाएँ हैं। आनन्दका गान है। आनन्दमयी वस्तुएँ हैं।'' आनन्दका सहारा लेकर समाधि लगती है।

फिर 'अस्मिता'की समाधि ले करके अकाट्य आत्मा जो है, **'असङ्गः, स्वप्रभः'**। यह असङ्ग है, स्वप्रभ है—

अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः।

अस्मि='ऐसा हूँ मैं'-'ऐसा हूँ मैं'-'ऐसा हूँ मैं'। अब आगे जब निर्विकल्प समाधिमें चलना हुआ, तो—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः।

छोड़ दो सहारा। किसका सहारा छोड़ दें? न स्थूलका सहारा लो, न सूक्ष्मका सहारा लो, न आनन्दका सहारा लो। न **'अस्मि'-'अस्मि'-'अस्मि',** इस वृत्ति और शब्दका सहारा लो—

निर्वस्तुका वृत्तिः।

वृत्तिको कैसा बनाओ? वृत्तिको ऐसी बनाओ, कि उसमें दूसरी कोई वस्तु न हो। **'तस्यापि निरोधे'** माने सम्प्रज्ञात समाधिमें जो आलम्बन है, उसका भी निरोध करनेके बाद निर्विषय जो चित्तकी दशा है, वह क्या है? बोले कि—**'निर्बीजसमाधिः'**।

वेदान्तकी दृष्टिसे यह निर्बीज नहीं है। परन्तु योगदर्शनकी दृष्टिसे यह निर्बीज समाधि है। क्योंकि विवेक करना पड़ता है न! योगदर्शन और साङ्ख्यदर्शनका द्रष्टा जुदा है और वेदान्तका द्रष्टा तो अपरिच्छिन्न है, अखण्ड है। इसी प्रकार साङ्ख्यमें और योगमें जो निर्बीज दशा मानी गई है, उसकी अपेक्षा अद्वैतवेदान्तमें निर्बीज दशा बिलकुल विलक्षण मानी गई है।

वेदान्तमें निर्बीज कौन है? वेदान्तमें निर्बीज केवल ब्रह्म है। 'अस्मीति'—जो वस्तु है, बीज है, अविद्या! अविद्या माने भेदभ्रान्तिकी माँ, जननी! एक होती है भेद-भ्रान्ति और एक होती है अविद्या। अपनेको ब्रह्म न जानना अज्ञान है; और अपनेको जीव, कर्ता-भोक्ता जानना भ्रान्ति है। रस्सीको न जानना अज्ञान है और रस्सीको साँप, या माला, या दरार, या डण्डा जानना भ्रान्ति है। योगदर्शन और साङ्ख्यदर्शनमें केवल भ्रान्ति मानी जाती है। उसीको वे अविद्या कहते हैं।

आत्मामें अनात्मबुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अनात्ममें आत्मबुद्धि—बुद्धिरूप अविद्याको मानते हैं साङ्ख्य और योगमें।

बुद्धियोंके बीज-कारण अज्ञानके रूपमें अविद्याको मानते हैं वेदान्तमें। आत्माको ब्रह्म जाननेसे बीजभूता अविद्याका नाश होता है। इसलिए वेदान्त-सिद्धान्तमें आत्माका अद्वितीय ब्रह्मके साथ एकताका जो ज्ञान है, वह ज्ञान ही बीजको भस्म करता है।

साङ्ख्य और योगमें आत्माके असङ्ग द्रष्टापनेका जो ज्ञान है, कि द्वैत तो है, परन्तु उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है या उसका हमें भान नहीं है। समाधिमें भान नहीं है और विवेककालमें सम्बन्ध नहीं है। व्यवहारकालमें तो सम्बन्ध नहीं है और निरोधकालमें भान नहीं है। इतने मात्रको ही योगदर्शनमें समाधि बोली जाती है। इसीको निर्बीजता बोली जाती है।

वेदान्तदर्शनमें भले भान होवे और भले व्यवहारमें असङ्गता बनी रहे, परन्तु द्वैतके अस्तित्वके सम्बन्धमें जो भ्रान्ति है, उस भ्रान्तिकी मूलभूत ब्रह्मताका अज्ञान-अविद्याका नाश होना वेदान्तमें जरूरी है। अब ये तीसरी समाधिका वर्णन करते हैं—

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत्॥

यह चित्तकी एक दशाका वर्णन करते हैं। स्वानुभूति माने आत्मा और यही परमानन्द है। यही परम प्रेमास्पद है। स्व=सत्-रूप। अनुभूति=चित्-रूप। रस=आनन्दरूप। अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें ही अभिनिवेश हो जाय। अभिनिवेश=मग्न होना, प्रवेश होना। अपने आनन्दपूर्ण स्वरूपमें बैठना, अथवा चित्त खाली कर देनेपर—जैसे घड़ेको खाली करो तो उसमें हवा भर जाती है। ऐसे चित्तको खाली कर देते हैं, तो सर्वत्र विद्यमान जो सच्चिदानन्दघन है, वह चित्तमें भर जाता है। इससे क्या हुआ? कि स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। इसलिए न बोलनेकी जरूरत है न सोचनेकी जरूरत है न देखनेकी जरूरत है।

व्यवहार माने सिर्फ दो चीज। आपको यह सार-सार बात सुनाता हूँ। व्यवहार माने ईंट-पत्थर नहीं। व्यवहार माने मकान नहीं। व्यवहार माने नोट नहीं। व्यवहार माने रुपया नहीं। व्यवहार माने ब्याह-शादी नहीं। व्यवहार माने मुँहसे बोलना और मनसे सोचना। इसीको व्यवहार बोलते हैं।

अगर तुम मुँहसे शुद्ध नहीं बोलते हो, तो तुम्हारा व्यवहार अशुद्ध है। मनमें अगर शुद्ध नहीं सोचते हो, तो तुम्हारा व्यवहार अशुद्ध है। यदि तुम दुनियामें किसीको भी बुरा समझते हो, तो वह बुरा नहीं है, तुम्हारा दिल बुरा है। अगर तुम दुनियामें किसीको बुरा कहते हो, तो वह बुरा नहीं है, तुम्हारी जबान बुरी है।

व्यवहारशुद्धिका अर्थ केवल इतना ही है कि हमारा वाग्व्यवहार और वृत्तिव्यवहार—ये दोनों शुद्ध हों। इसीका नाम व्यवहारशुद्धि है। हमारे महर्षियोंने कुछ कम विचार नहीं किया है इसपर—

व्यवहारः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा।

इसकी परिभाषा करते हैं, लक्षण बताते हैं कि मुँहसे शब्दका उच्चारण करना ही व्यवहार है और मनमें किसीके बारेमें सोचना व्यवहार है। तो बुरा-बुरा बोलोगे और सोचोगे तो तुम्हारा व्यवहार बुरा है। अच्छा-अच्छा सोचोगे और बोलोगे तो तुम्हारा व्यवहार अच्छा है। तुम्हारा दिल भी अच्छा है, तुम्हारी जबान भी अच्छी है और सामाजिक व्यवहार भी अच्छा है।

जब तुम बोलना और सोचना दोनोंको छोड़ देते हो, न मनमें कुछ देखते हो और न कुछ बोलते हो। बस, दो चीज छोड़ दो। इसका नाम समाधि है। बोलना और सोचना छूट गया और सच्चिदानन्दका दिलमें आविर्भाव हो गया।

'स्वानुभूतिरसावेशाद्'—वह मस्ती आई! माने अनुभूति होनेपर क्या होता है? अनु=पीछे भूति=होना। जो सबके पीछे हो, उसका नाम अनुभूति। जैसे, देखो यह किताब है। आगेको नहीं जाना, किताब किसको दिखती है? आँखको। तो किताब अनुभाव्य है और आँख तुम्हारी अनुभूति है। आँख किसको मालूम पड़ती है? यह भी तो इस ग्रन्थमें बताया गया है। आँखके पीछे बैठे हुए मनीराम दोनों आँखको देखते हैं। इतना भारी दूरबीन लगाके पीछे बैठे हैं! और इनको देख रहे हैं। कोई झरोखा है और इसके पीछे बैठके देख रहे हैं। अनु माने पीछे कौन है? विषयके पीछे बैठकर विषयको कौन देख रहा है? आँखके पीछे बैठकर आँखको कौन देख रहा है? मन। मनके पीछे बैठकर मनको कौन देख रहा है? 'मैं'। 'मैं'के पीछे बैठकर 'मैं'को कौन देख रहा है? तो देखो, 'मैं'के पीछे परोक्षरूपसे बैठ कर कोई 'मैं'को देख रहा है, यह भी 'मैं'को ही मालूम पड़ेगा। तो छोटा 'मैं' दिखता है और बड़ा 'मैं' देख रहा है।

जीव-जगत्-ईश्वर सब दृश्य-कोटिमें हैं। अनुभूति=अनुसत्ता,+अनुदृश्य तुम हो। यही है परमानन्द। परमानन्द इसमें क्या है? जैसे कोई पहाड़पर बैठा हो और नीचे कितनी चीजें आयीं और गयीं, कोई मतलब नहीं।

आप समुद्रके किनारे बैठे हैं; कितनी तरङ्गें आईं और गईं; कोई मतलब नहीं। उसकी ओर देखनेकी कोई जरूरत ही नहीं। कौन गिनता है? जो लोग बोलते हैं न, कि हमारा बङ्गला बिलकुल समुद्रके तटपर है और बहुत बढ़िया बगीचा है, उनको मैं पूछता हूँ कि चौबीस घण्टेमें कितनी देर आपको समुद्रकी और बगीचेकी याद रहती है? जरा गौर करके देखना, कभी-कभी हफ्तोंतक ख्याल नहीं होता है कि हमारे घरके नीचे समुद्र है। घर-घरौंदेमें समुद्रको कहाँ देखते हैं?

इसी प्रकार जब आप अपने आत्मामें बैठ जायेंगे, तो क्या दृश्य कहाँ बह रहा है, और क्या हो रहा है, वह बात रहेगी ही नहीं। दृश्य और शब्दकी उपेक्षा कर दो। और सबसे पीछे बैठकर, जो सबको निहार रहा है, वह तुम्हारी आत्मा है। उसके रसमें मग्न हो जाओ। अब होगी निर्विकल्प समाधि। वह कैसे?

'**निवातस्थितदीपवत्**'—जैसे बिना हवाकी जगह पर, जहाँ हवा न लगती हो बाहरकी, ऐसी जगहपर दीया रखा हो और उसकी लौ बिलकुल सीधी जलती हो। है तो संस्कार उसमें भी। उसमें भी बत्ती जलती है। उसमें भी स्नेह रखा है। बिजली जलती है न! घण्टेभर पहले आपने बल्ब जलाया था। घण्टेभर बाद आपने देखा। उसमें जो चमक है बिजलीकी, वह क्या वही है, कि दूसरी है? दूसरी है। अगर वही रहे तो आपको बिल न चुकाना पड़े। वह तो अपने ईन्धनको खाती जाती है। मीटर जो उसका लगाया हुआ है, वह बढ़ता जाता है। बिजली रोशनी खाती है तब रोशनी होती है।

इसी तरहसे हृदयमें एक चैतन्यका दीपक प्रज्वलित हो रहा है। यह है तो चिदाभास ही बिलकुल! परन्तु यह देखो कि इसमें जो चिन्मात्र वस्तु है, वह ज्योंकी त्यों है।

याऽनुभूतिरजाऽमेया त्वनन्तानन्दविग्रहा।
महदादिजगन्मायाचित्रभित्तिं नमामि ताम्॥

एक अनुभव है। कैसा अनुभव है? जिसका कभी जन्म नहीं हुआ है। क्यों अनुभवका जन्म नहीं हुआ है? यदि अनुभव का जन्म होगा, तो जन्म मालूम पड़ेगा कि नहीं मालूम पड़ेगा? जो जन्मसे पहले रहेगा, उसीको तो जन्म मालूम पड़ेगा। अनुभवका जन्म नहीं हुआ, जन्मका ही जन्म हुआ।

'**अजाऽमेया**'—एक ऐसी ज्योति जल रही है तुम्हारे हृदयमें, जो आँखोंसे नहीं देखी जाती, नहीं जानी जाती। अमेय है। उसका अन्त नहीं है, उसकी आदि नहीं है। वह आनन्द है।

वह कैसा है? एक शीशा है। शीशा कैसा है? जिसमें धरतीसे लेकर प्रकृतितक सारा दृश्य बिना हुए ही दीख रहा हो; ऐसी है वह ज्योति। समाधिमें—

प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥

सारी वृत्तियाँ शान्त हो गयीं और दिव्य, चिन्मयी ज्योति देदीप्यमान हो रही है। यही बात भगवान्ने गीतामें कही—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

देहकी उपाधिसे परिच्छिन्न-सी प्रतीत हो रही है चिन्मय ज्योति। यह चिन्मय ज्योति कालकी धारामें नहीं है। इसमें भूत-भविष्य-वर्तमान नहीं है। यह पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणकी कल्पनामें नहीं है। यह ज्ञात और ज्ञेयकी कल्पनाके अन्तर्भूत नहीं है। यह अज है। यह अनन्त है। यह अचल है। यह अद्वितीय है और यह आत्मा है।

योगीका जो वशीकृत चित्त और जिसका चित्त वशीकृत है ऐसा योगी—

योगिनः यस्य यत गतं चित्तं तस्य।

अथवा-**गतं चित्तं यस्य तस्य योगिनः।**

दो प्रकारसे इसका अर्थ करते हैं—

अन्तःशून्यो बहिः शून्यः।

यह चिन्मय ज्योति-आत्मज्योति कैसी है? उसके बाहर कुछ नहीं है, न देश-न काल-न वस्तु! अच्छा, उसके बाहर नहीं है, तो भीतर हो! भीतर भी नहीं है। यह कैसी है?

शून्यकुम्भ इवाम्बरे।

जैसे आकाशमें कोई खाली घड़ा रखा हो! बाहर भी आकाश, भीतर भी आकाश। दीवारमें भी आकाश। इसी प्रकार चिन्मात्र ज्योतिमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड शरीर सहित रखे हुए हैं। असलमें इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे॥

जैसे कोई घड़ा समुद्रमें डाल दें! बाहर भी समुद्र, भीतर भी समुद्र और उसकी जो दीवार है, वह भी समुद्रसे ओतप्रोत। एक तरहसे माटी पानीका ही विलास है। माटी पानीके सिवाय और कुछ नहीं होती है। पानीके बिना माटी होती ही नहीं है। बालूका एक कण जो आप देखते हैं, उसमें हजार कण होते हैं।

हजार कण इकट्ठे होकर क्यों रह रहे हैं? क्योंकि उसमें पानी है। स्नेह है, उसमें जो चिकनाई है, वही बालूके कणको बालू बनाये हुए है। बिना पानीके माटी हो ही नहीं सकती। तो बिना चिन्मय ज्योतिके कोई जड़ता हो ही नहीं सकती।

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव॥

तुम दृश्य मत बनो और द्रष्टा भी मत बनो। 'मैं द्रष्टा हूँ, मैं असङ्ग हूँ'—यह भावना भी मत करो। न तुम दृश्य हो, न तुम द्रष्टा हो। सारी भावना छोड़ करके जो शेष रह जाता है, वह तुम हो।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाभ्यासमात्मानं केवलं भज॥

द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी जो त्रिपुटी है, वासनासहित उस त्रिपुटीको ही छोड़ दो। त्रिपुटीकी वासना ही मत रखो। जो तीनोंके तीन होनेसे पहले मौजूद है और जो तीनोंके न रहनेपर रहती है, वही है। ये तीन तो है ही नहीं। यह कौन है? यह 'केवल' आत्मा है।

योगदर्शनमें यह बताया कि आत्माको 'केवल' कब कहते हैं। पुरुषार्थशून्य जो गुण हैं, उनके प्रति-प्रसवको 'कैवल्य' कहते हैं। 'योगदर्शन'में यह सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्। कैवल्यपाद-३४

कैवल्य क्या है? जब संसारमें सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण किसीमें प्राप्तव्यबुद्धि न रहे कि हमको पाना है, या हमको नींद ही लेनी है, यह भी न रहे। हमको काम ही करना है, यह भी न रहे। हमको दान करना है, यह भी न रहे। हमको भक्ति-उपासना करनी है, यह भी कर्त्तव्यबुद्धि न रहे। हमें समाधि लगानी है, यह भी न रहे। माने गुणोंकी किसी भी अवस्थामें जब पुरुषार्थबुद्धि न रहे कि—

'हमको यह धर्म करना है, हमको धन कमाना है, हमको भोग करना है, हमको मोक्ष पाना है'—'योगदर्शन'में इसको बोलते हैं, जब ये चारों वासनाएँ अपने चित्तमें न हों—'**गुणानाम् प्रतिप्रसवः।**'

'**प्रतिप्रसवः**' का क्या अर्थ है? जब हम गुणोंसे कुछ नहीं चाहेंगे, तो ये बच्चे नहीं देंगे। यह संसारके जो गुण हैं, ये बच्चे देते हैं। जब हमको सोनेकी जरूरत रहती है, तब ये खाट दे देते हैं। जब हमें काम करनेकी जरूरत होती है, तब ये मशीन दे देते हैं। जब हमें भोग करनेकी जरूरत होती है, तब ये ब्याह करा देते हैं और जब हमें मोक्ष पानेकी जरूरत होती है तब वृत्तिको सात्त्विक बना देते हैं।

जब कुछ पाना नहीं रहता, तब गुण कैसे हो जाते हैं? बोले—'**गुणानाम् प्रतिप्रसवः**'। तब वे प्रसवके प्रतिकूल हो जाते हैं, माने तब बच्चे नहीं देते हैं। जब बच्चे नहीं देते, तब क्या होगा? बोले—'**कैवल्यम्**'। पत्नी थी, उसको तो तलाक दे दिया। बच्चेकी जरूरत नहीं है। पत्नीको तलाक दे दिया; अब पुरुष क्या रहेगा? पुरुष अकेला रहेगा। '**गुणवैतृष्ण्यम्**' इसीको बोलते हैं।

केवल—अकेला। बीचमें जो 'व' है, उसको 'के'के पहले रखो तो क्या होगा? 'वकेल'। 'व' को 'अ' बोलने लगे तो 'अकेला।' केवल माने अकेला। कैवल्य माने अकेलापन। पुरुष जहाँ बिलकुल अकेला रहता है, उसको 'कैवल्य' बोलते हैं।

प्रशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा:॥

न जागना है, न नींद है; ऐसी समाधि लगती है। यह समाधि क्या करती है? अभी तो यह शुरूकी बात हुई। इसको दो तरहका कर दिया—एक बाहर, एक भीतर। ये 'दो'का भेद मिटेगा, तब वस्तुस्थिति होगी। इसमें दो भेद हैं—बाहर भी ऐसी समाधि होती है और भीतर भी ऐसी समाधि होती है। बाहर होनेसे 'तत्'-पदार्थ-प्रधान हो जाती है और भीतर होनेसे 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान हो जाती है। वस्तुतः प्रत्यक्‌चैतन्य ही रहता है। इसलिए असलमें ब्रह्म ही वस्तु है। बाहर और भीतर वह नहीं है, ब्रह्म ही वस्तु है।

●

प्रवचन २८

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि।
समाधिराद्यः सन्मात्रा नामरूपपृथक्कृतिः॥ २७॥

शरीरके भीतर समाधि लगानेकी तीन प्रक्रिया बतायी। एक तो मनकी धारा बहती रहे और उसमें अलग-अलग तरङ्गें भी दिखती रहें, परन्तु देखनेवाला जो प्रकाशात्मक ज्ञान है माने 'मैं' हूँ, आत्मा है, वह एक है। उसमें मुख्य दृष्टि तो दृश्यपर है। उस दृश्यसे अलग होकर द्रष्टा उसको देख रहा है।

इसको ज्ञाता नहीं कहते। इसको ज्ञाता क्यों नहीं कहते? यह किसी औजारसे नहीं देखता। आँखसे मनकी धारा नहीं दिखायी पड़ती। वह कानसे नहीं सुनायी पड़ती। वह नाकसे नहीं सूँघी जाती। वह त्वचासे नहीं छुई जाती। माने, हमारे पास बाहरी वस्तुओंकी जानकारीके लिए औजार हैं। उनके बिना ही हम मनकी धाराको बहती हुई देखते हैं। तो इसको ज्ञाता नहीं बोलते हैं, इसको द्रष्टा बोलते हैं।

यह जो मनकी धारा है, नयी-नयी आती है। नयी-नयी आती है, इसका क्या अर्थ होता है? जो पहले नहीं थी, सो तो पैदा हुई और जो थी, उसका लोप हो गया। माने मनकी धारा नयी-नयी पैदा हो रही है, मिटती जा रही है। उसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव है। आ गयी—आयी थी—चली गयी और हम उसका आना-जाना देख रहे हैं। तो यह दृश्यमात्रपर जो दृष्टि है, यह देखनेवाला कौन? जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे अलग है, ऐसे मनके दृश्योंको देखनेवाला मनसे अलग है।

वह वृत्ति मनमें पहले नहीं थी। वह आकार पहले मनमें नहीं था। आ गया। आया और चला गया। फिर बदल गया। मनके आकारमें अनेकता भी हुई और एक विशेषता भी आयी। यह घड़ा आया। यह कपड़ा आया। यह दोस्त आया। यह

दुश्मन आया। यह औरत आयी। यह मर्द आया। इनकी जो आकृतियाँ हैं, वे अलग-अलग हैं, अनेक हैं, परस्पर विलक्षण हैं, उठती और मिटती हैं, बदलती हैं और जो हैं सो 'श्रीगोविन्दाय नमो नमः।' देखनेवाला बिलकुल एक है। दृश्य अनुविद्ध-जिसमें दृश्य मिश्रित है।

दूसरी स्थिति यह बतायी, जिसमें दृश्यका मिश्रण नहीं है। केवल शब्दका ही मिश्रण है। क्योंकि शब्दके द्वारा हम अपनेको असङ्ग, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्द, अद्वैतके रूपमें अनुभव कर रहे हैं। शब्द है कि 'मैं कैसा हूँ?' दृश्य क्या है, इधर कोई दृष्टि नहीं है। 'मैं कैसा हूँ?' 'असङ्ग हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, सच्चिदानन्द हूँ, अद्वैत हूँ'—यह शब्दानुविद्ध समाधि है।

इसके आगे दृश्य और शब्द दोनोंको छोड़ दिया; केवल अपना स्वरूप है। उसमें ऐसे डूब गये कि अपनेको 'असङ्ग सच्चिदानन्द' कहनेकी भी जरूरत नहीं है। दृश्यको देखनेकी भी जरूरत नहीं है। दृश्य और शब्द दोनोंकी उपेक्षा हो गई स्वानुभूतिरूप निर्विकल्प बैठ गये। यह समाधि निर्विकल्प है।

महात्मा लोग ऐसे बताते हैं कि आप ध्यानमें बैठ जाओ और गाढ़ी निद्रामें आपके शरीरमें क्या रहता है, उसका ध्यान करो। ध्यानकी गाढ़ी अवस्था निद्रा नहीं है। आप ध्यान कर रहे हैं, तो जाग्रत होवें! विषय तो दीख ही नहीं रहे हैं। निद्रा दिख रही है। गाढ सुषुप्तिको विषय करनेवाला जो साक्षी है, गाढ सुषुप्तिको अपनी दृष्टिमें ले करके बैठा हुआ जो साक्षी है, उसमें न शब्द है, न दृश्य है। जाग्रतके विषय न होनेसे और इन्द्रियोंका प्रयोग न होनेसे जाग्रत नहीं है और ध्यान होनेसे सुषुप्ति नहीं है।

उस अवस्थामें न जाग्रत है न सुषुप्ति है; न दृश्य है न शब्द है अपने स्वरूपमें।

उसके बाद? सुषुप्तिका ख्याल छोड़ दो। तुम्हीं तुम हो। अपनी परम प्रिय अवस्था है परमानन्दस्वरूप। जैसे इसमें डूब गये हों! तो बोले—'इस समाधिसे क्या होगा?'

जिसको वैराग्य नहीं होता है और जिसको सत्सङ्ग नहीं मिलता है, जिसको विवेक नहीं होता है—तीन बात। तो वह व्यक्ति इस चुपचाप बैठनेको ही, इस तूष्णींभावको समझ लेगा कि यही परमार्थ है। चित्तकी किसी भी अवस्थाको परमार्थ समझ लेना, यह सत्सङ्गकी कमी, वैराग्यकी कमी और विवेककी कमीका

सूचक है। इसीसे विद्यारण्यस्वामीने जहाँ इसकी चर्चा की, बोले—'यह समाधि ठीक है, परन्तु—

> अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
> समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये॥
> वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक् परोक्षावभासिते।
> करामलकवद्ज्ञानमपरोक्षं प्रसूयते॥

बोले—'यह जो स्थिति है चुपचाप बैठना, यह वासनानाशका उपाय है और मनकी शक्तिको भी क्षीण करनेवाला है। संसारके जो नाना आकार मनमें आ रहे थे, और उनकी चिन्तामें मगन थे, वह चिन्ता छूट गई। अब यहाँ न पाप है न पुण्य है; क्योंकि कुछ करते ही नहीं हैं। और कर्तापन भी नहीं भासता है। इसमें जो पहलेका सुना हुआ 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य हैं, जिससे परोक्षरूपमें तत्त्वका आभास होता है, उसका प्रतिबन्ध मिट जाता है। उसके अर्थके ज्ञानमें जो रुकावट होती है, इस प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए यह समाधि अपेक्षित है।

जहाँ वासना और मनकी चञ्चलता ये दो प्रतिबन्ध मिटे, वहाँ पहले वाक्यसे जिसको परोक्षरूपमें जानते थे, वह अब साक्षात् अपरोक्ष हो जायगा। तो यह समाधि वाक्यार्थके ज्ञानमें सहायक है। यह समाधि जैसे भीतर होती है, वैसे ही बाहर भी होती है। आगे यह बात कहते हैं।

इसका प्रयोजन क्या है, यह बात भी मैं बताऊँगा। कभी-कभी वेदान्तमें कोई बात प्रयोजनके अनुसार बोली जाती है और कभी-कभी कोई बात तथ्यके अनुसार बोली जाती है। साधककी उन्नति कैसे होगी? साधकका कल्याण कैसे होगा? वह जहाँ गिरा है, वहाँसे उसको कैसे उठाया जाय? यह सोलहों धान बाईस पसेरीवाली बात नहीं चलती इसमें। किसका मन कहाँ फँसा हुआ है, किसका मन कहाँ गिरा हुआ है, इसके हिसाबसे व्यक्तिको उठाना पड़ता है।

एक व्यापारी है, उसका मन पैसामें फँसा हुआ है, वहाँसे उसको उठाना पड़ता है। एक भोगी है, उसका मन कामिनीमें फँसा हुआ है; वहाँसे उसको उठाना पड़ता है। एक धर्मात्मा है, उसका मन धर्ममें फँसा हुआ है; उसको वहाँसे उठाना पड़ता है। एक पण्डित है, उसका मन शब्दमें फँसा हुआ है; उसको वहाँसे उठाना पड़ता है। शब्दमें भी मन फँसता है। शास्त्रकी समाधि होती है। उसमें इतना मजा आता है, इतना मजा आता है कि 'अरे, क्या रखा है ब्रह्मज्ञानमें? आओ, शास्त्रका स्वाध्याय करें।'

किसीका प्यार हो जाता है किसीसे तो बोले—छोड़ो समाधिकी बात! हम तो प्यार ही करेंगे।' ये प्रेमी लोग समाधिकी बात सुनना कहाँ पसन्द करते हैं? तो, जिस स्तरपर हमारा मन फँसा हुआ होता है, वहाँसे उसको उठानेकी कोशिश करनी पड़ती है। आजकल जो बाबूलोग हैं, वेदान्तकी बात सुनते हैं, वे यह तो सोचते हैं; क्योंकि यही सच्ची बात है, इसलिए यही ठीक है। लेकिन हमारा मन कहाँ फँसा हुआ है और वहाँसे उसको कैसे निकालना चाहिए—अपने मनके अधिकारको वे नहीं सोचते हैं। अपनी अधिकारनिष्पत्ति अर्थात् अपने मनमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करना कि वह जहाँ फँसा हुआ है, वहाँसे फँसावटको छोड़कर परमात्मामें लगे इसके लिए जो उपाय है, वह वे नहीं करते हैं।

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि।

तो मनको जहाँसे उठाना है और जहाँ ले जाना है, यह तो प्रयोजन है और सत्यका स्वरूप कैसा है? सत्यका स्वरूप तो सार्वजनिक है। लेकिन व्यक्तिगत रूपसे हम उसका साक्षात्कार कैसे करेंगे, यह इसकी जो प्रक्रिया है, जो पद्धति है वह प्रयोजनानुसार चिन्तन करनेकी है।

जैसे तुम हृदयमें परमात्माका ध्यान कर रहे हो, वैसे बाहर भी करो। तो पहली समाधि देखो। पहले बात यह कही थी भीतरवाली समाधिमें कि मनकी धारा बह रही है। उसमें कभी कामिनीका आकार आया, कभी शत्रुका आकार आया, कभी धनका आकार आया, कभी सेठका आकार आया। आये और गये।

साधो, आवे जाय सो माया!

अब बाहरका देखो। बाहरमेंसे क्या निकालें? कामिनीमेंसे कामिनी निकालें कि शत्रुमें-से शत्रु निकालें? नहीं, जितनी चीजें बाहर मालूम पड़ रही हैं, उनमेंसे नाम-रूपको निकाल दो। यह जो 'है-है-है-है' बोलते हैं न! यह बड़ी मोटी चीज है। वैसे, दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे जो लोग इसपर ज्यादा विचार करते हैं, तो बात समझमें आ जाती है।

देखो—'घड़ा है'—'कपड़ा है'—'मकान है'। इसमें घड़ेका नाम अलग है और रूप अलग है, कपड़ेका नाम अलग है और रूप अलग है, मकानका नाम अलग है और रूप अलग है। तो यह जो अलग-अलग नाम-रूप हैं, इनको निकाल दो और 'है-है-है' बराबर है। 'है' एक है। इसीको बोलते हैं 'सत्'। संस्कृतमें 'है' नहीं बोलते। 'घटः अस्ति'—'पटः अस्ति', —'मठः अस्ति' ऐसे बोलते हैं। 'सन् घटः'—'सन् पटः'—'सन् मठः'। संस्कृतमें बोलनेका रिवाज

ऐसा है। 'सन्-सन्-सन्'। तो घड़ेका नाम-रूप अलग, कपड़ेका नाम-रूप अलग, मकानका नाम-रूप अलग। और 'है'-मात्र जो सत्ता है, वह अलग।

नामरूपमें रागद्वेष होता है और सत्तामात्रमें रागद्वेष नहीं होता है। अभिनिवेश भी नामरूपमें ही होता है और अस्मिता भी नामरूपमें ही होती है। आनन्द भी नामरूपमें ही होता है। नामरूपका पृथक्कार हो जानेपर जो सत् है, उसके बारेमें भी एक भेद आपको सुनाता हूँ। हमको तो बहुत दिनोंके बाद यह बात समझमें आयी, आपको तो मैं झटसे बता देता हूँ।

एक होता है 'अस्ति' प्रत्ययका विषय सत्य और एक होता है 'अस्ति' प्रत्ययका आश्रय सत्य। माने हमारे मनमें 'है-है-है' एक वृत्ति बन रही है। 'अस्ति'-मात्र—'अस्ति'-मात्र—'अस्ति'-मात्र। एक तो 'अस्ति'-रूप जो वृत्ति है, उससे सामने मालूम पड़ता है कि 'है' और एक वह 'है' है जिससे 'अस्ति'-वृत्ति मालूम पड़ती है। प्रत्यय=वृत्ति। वृत्ति=मनका व्यवहार, वर्तन, बरताव। जैसे—'नमस्कार भाई! अरे, खुश तो हो! घरमें कुशलमंगल तो है न! आओ-आओ, भोजन कर लो!' इसका नाम है बरताव।

यही बरताव जब हम मनसे करते हैं न, 'यह अच्छा है, यह बुरा है, यह ठीक है, यह ठीक नहीं है। तो मनमें वर्तन=बरताव=व्यवहार है। मनमें जो चीजोंके नाम और रूप हैं, जो वस्तुओंकी शक्ल-सूरत है, उसका नाम है 'वृत्ति'। 'अस्ति' मनकी एक वृत्ति है, 'है'। तो वह जब मनके सामने होती है तो वह 'अस्ति' प्रत्ययका विषय होती है। 'प्रत्यय' शब्दका अर्थ भी यही होता है। **प्रत्यय=प्रतीपम् एति 'इति प्रत्ययः।' वर्तनम् वृत्तिः। प्रतीपम्=विपरीतम् एति इति प्रत्ययः।**

देखो, हमारी आँख चीजको देखती है। यह क्या हुआ? यह पर्याय हुआ? माने पर्ययन् हुआ; हमारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ, मनकी वृत्तियाँ सामने जा रही हैं। यह '**परितः एति**'। '**परितः अयते।**' यह पर्यय है माने सामने जाना। प्रत्यय क्या है? सामनेकी चीजका भीतर आना प्रत्यय है। जैसे, हमारे मनमें जो घड़ी दिखती है, यह प्रत्यय है। बाहर रखी चीजका भीतर दिखना, इसका नाम प्रत्यय है।

हमारे मनमें जो 'अस्ति-अस्ति-अस्ति' होता है, तो बाहरकी चीजके बारेमें क्या हमारे मनमें 'अस्ति-अस्ति' प्रत्यय होता है? 'होता है।' तो यह ब्रह्मके बारेमें वृत्ति नहीं हुई। वह तो घटके बारेमें 'अस्ति' हुई, पटके बारेमें 'अस्ति' हुई, मठके बारेमें 'अस्ति' हुई, नामरूपके बारेमें 'अस्ति' हुई जिससे प्रत्यय दीख रहा है। हमारे मनमें आती हुई—जाती हुई वृत्तियाँ मालूम पड़ रही हैं। तो वह किसको

मालूम पड़ रही हैं? जिसको मालूम पड़ रही हैं, वह है कि नहीं है? वह भी है। तो जिसको वृत्तियाँ मालूम पड़ रही हैं, उसका होना दूसरी चीज है और वृत्तियोंसे जो मालूम पड़ रहा है उसका 'है'—'होना' दूसरी चीज है।

आपको जो समाधि लगानी है, तो जब भीतर लगाते हैं, तो उसमें लगाते हैं जिससे वृत्तियाँ मालूम पड़ती हैं, वह है। और जब बाहर लगाते हैं तो वृत्तियोंसे जो मालूम पड़ता है उसमें नाम और रूप झूठा है और केवल सन्मात्र वस्तु है। तो दृश्यको वहाँ भी नाम-रूपकी उपेक्षा करके 'अस्ति-अस्ति-अस्ति' इस प्रत्ययका जो आश्रय है, उस परमात्माको ही माने वृत्तिके विषयका जो आश्रय है उसीको देखो। भीतर जो है, वह विषयाकार परिणत वृत्तिका आश्रय है और बाहर जो है, वह वृत्तिके विषयका आश्रय है।

उस सन्मात्रमें वस्तुकी स्थापना—यह क्या है? यह दृश्यानुविद्ध समाधि है। माने अलग अलग घट-पट-मठ, पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, मकान आदि जो पदार्थ हैं, व्यष्टि-समष्ट्यात्मक, उनके दीखनेपर भी, उनके मालूम पड़ते रहनेपर भी सन्मात्र जो ब्रह्म है, वह एक ही है। इस प्रकारकी वृत्तिका नाम 'दृश्यानुविद्ध समाधि' है। यह बाहर है, इसको बोलेंगे कैसे?

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यवच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत्॥ २८॥

'नामरूप होनेपर भी नामरूप होनेके पहले नामरूपमें एकरस परमात्मा है'—ऐसा जो सोचते हैं, उसमें नामरूपको छोड़ दो। अब लो शब्दका आश्रय। वस्तु अखण्ड एकरस है। पहले ऐसे सोचते हैं—

यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी।
रज्ज्वां भुजङ्गवद्भाति सोऽहमात्मा सदोदितः॥

सम्पूर्ण विश्वकी जो सुन्दरता है, विश्वकी जो लक्ष्मी है, वह किसमें दिख रही है? जिसमें दिख रही है, वह विश्वकी सुन्दरता तो हमारी प्रतिभा है वह हमारी दृष्टि है, हमारी वृत्तिका विलास है और असलमें यह आत्मदेव ही अखण्ड परिपूर्ण है। विश्वश्रीको छोड़ करके आत्मदेवको देखना। यह सच्चिदानन्द लक्षण अखण्डैकरस अद्वितीय वस्तु है।

विश्वसृष्टिमें अद्वितीय वस्तु प्रधान होना—यह शब्दानुविद्ध समाधि है। वस्तुओंके दीखते रहनेपर भी उनमें जो अनुगत सत्यका दर्शन है, सम्बन्धशून्य

अनुगत सत्यका दर्शन है, यह दृश्यानुविद्ध समाधि है। अब प्रसङ्ग आया कि उसमें ऐसे मगन हो जाओ—

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम्॥ ३९॥

निदिध्यासन तो चाहिए कि इस स्वानुभूतिरसमें अद्वितीय ब्रह्म ही है। यह दोस्त-दुश्मन नहीं है। इसके लिए कुछ बोल करके वृत्ति बनानेकी जरूरत नहीं है। ऐसा सोच करके चुपचाप बैठ जाना—यह बाहर निर्विकल्प समाधि है। दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध और निर्विकल्प—ये तीन बाहर और दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध और निर्विकल्प—ये तीन भीतर, इन छः समाधियोंके द्वारा अपना समय निरन्तर उसमें लगाना चाहिए—

नयेत् कालं निरन्तरम्।

इसका अर्थ यह है कि एक तो इसमें आदरबुद्धि हो कि जो समाधि मैं लगा रहा हूँ, यह परमार्थका दर्शन करावेगी। सत्कारबुद्धिसे और दीर्घकालतक इसीमें लगना चाहिए। जी न उकता जाय कि कबतक यह करना पड़ेगा?

एक सज्जन आये कि—'महाराज! हम आपका पाँव दबायें।'

'अच्छा, दबाओ भाई!' फिर एक बार कहा, दो बार कहा, तीन बार कहा—'अब छोड़ो भाई!' पर वह राततक छोड़े ही नहीं पाँव दबाना। हम सो गये। अब थोड़ी देरके बाद वे तो ऊब गये। हाथ उनका ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाय! कभी उनको ही नींद आ जाय। अपनेको मजा आवे कि देखें, कबतक दबाते हैं? तो उन्होंने पूछ ही लिया कि 'हम कबतक दबावें?'

हम बोले कि 'भाई, जबतक तेरी मौज हो, तबतक दबाओ।' इसका अर्थ देखो कि क्या है? यदि किसीका किसीसे ब्याह हो और पूछे—'यह ब्याहका झगड़ा कबतक रहेगा?' तो ब्याहमें उसकी रुचि है कि नहीं? ठाकुरजीकी पूजा कबतक करनी पड़ेगी? यह समाधि कबतक लगानी पड़ेगी? कब इसके झगड़ेसे छूटेंगे? तो सत्कारबुद्धि नहीं है।

एक तो सत्कारबुद्धि होनी चाहिए और दूसरे, दीर्घकालतक। यह नहीं कि मिनटभरतक! यह तो मूड आता है न आदमीका?

हम जानते हैं कि आदमीका मूड बदलता है। आज बड़ी श्रद्धा है, कल नहीं रहेगी। और यह समझके यदि काम नहीं किया जाय, तो आदमी स्वयं फँस जाय

दुनियामें। क्योंकि एक चेलेसे यह आशा रखना कि इसका मन हमेशा एक ही तरहका रहेगा, यह गुरुकी बेवकूफी होगी। गुरुजीका ही मन एकरस नहीं रहता है, तो चेलेजीका कहाँ एकरस रहेगा? श्रद्धा आती-जाती रहती है।

दीर्घकालतक एकरसता रहनी चाहिए। ऐसे-ऐसे तर्क आते हैं, ऐसे-ऐसे कुतर्क आते हैं! केवल बात काटनेके लिए बोल देते हैं! रसावेश दीर्घकालतक रहे। दूसरी बात यह कि रहे तो बरसोंतक; पाँच मिनट रहा, फिर छूट गया। रोज ऐसे करते हैं। तो बोले—'नहीं, लगातार। कभी हो, कभी न हो, ऐसा नहीं। दीर्घकाल्तक हो, लगातार हो, और प्रेमसे हो। ये तीनों बात होती है, तब मनुष्यका काम आगे बढ़ता है।'

अच्छा, लो, कबतक करना चाहिए? फिर भी एक प्रश्न तो है ही। देखो, की हुई जितनी चीज है, सब कालमें ही रहती है। जो चीज बनाई जायगी वह कालमें ही रहेगी। यह बात साधारण लोग नहीं समझते हैं। वेदान्तका कहना यह है कि जो चीज साधनसे उत्पन्न होगी, वह हमेशा नहीं रहती है।

साधन माने कर्ताका प्रयत्न। कर्ता प्रयत्न करनेमें स्वतन्त्र तो है नहीं। सुषुप्तिमें सारे प्रयत्न छूट जाते हैं। समाधिमें सारे प्रयत्न छूट जाते हैं। मृत्युमें सारे प्रलय छूट जाते हैं। स्वतन्त्रता न होनेसे जब मनुष्य साधनके द्वारा कोई परिस्थिति बनाता है, तो वह परिस्थिति हमेशाके लिए नहीं बनती। जैसे, समझो कि हाथमें बन्दूक उठायी और निशानेपर लगायी, तो यह जो बन्दूक और निशानेकी सीध है, अगर वह उसको चाहे कि हम चौबीसों घण्टे बन्दूककी नली लक्ष्यपर रखेंगे, तो नहीं रख सकेगा। उसका हाथ ढीला पड़ेगा ही, बन्दूकका सिरा टेढ़ा पड़ेगा ही। वह तो जितनी देरमें गोली मारना है, उतनी देरके लिए ही चाहिए। बन्दूककी नलीको लक्ष्यके सामने करना है, वह तो उतनी ही देरके लिए करना है, जितनी देरमें लक्ष्यवेध हो जाय।

अच्छा, तो जो चीज साधनसे पैदा हुई, वह पहले तो थी नहीं! साधनसे पैदा हुई है, बाध्य है। जो चीज उत्पन्न होती है, वह मिट जाती है। जैसे, घड़ा कुम्हारके घरमें नहीं था; उसने वह बना लिया। परन्तु वह बनाया हुआ घड़ा टिकेगा नहीं, फूट जायगा।

दूसरी बात यह है कि अपने घरमें न हो; तो दूसरेके घरसे उधार माँगके ले आवें। जैसे मन्त्र ले आते हैं! एक-न-एक दिन ऐसा आवेगा, जब तुम्हें लक्ष्यकी प्राप्ति हो जायगी, तब मन्तर्-तन्तर्की जरूरत नहीं रहेगी। दूसरेके घरसे घड़ा ले

आये, तो कै दिनतक रखोगे? फिर वापस करना पड़ेगा न? तो जो चीज दूसरेसे उधार ली हुई है, वह भी नहीं टिकती है।

एक महात्माने एक बार हमको नामजपकी शक्ति उधार दी—'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण'। मैंने हाथ जोड़ा—'महाराज! नामजप हो।'

बोले कि 'जा, हो!'

मेरे मुँहसे 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' निकलने लगा। चौबीस-छत्तीस-अड़तालीस घण्टेतक! मैंने कहा—'अब?'

बोले कि 'वह तो हमारा सङ्कल्प और जीभ तुम्हारी। वह तो हम जप कर रहे थे तुम्हारी जीभपर बैठकर। अब क्या चौबीसों घण्टे हम तुम्हारे लिए सङ्कल्प करते रहेंगे? जाओ, अभ्यास करो।' उधार ली हुई चीज हमेशा नहीं रहेगी।

दूसरी बात—कहो कि संस्कार कर दिया। घड़ेमें धूल-कङ्कड़ पड़ा है। उसको धोके साफ कर दिया। परन्तु अब फिरसे उसमें धूल नहीं आवेगी, इसका कोई ठीका है? फिर आ जायगी।

चीज पुरानी पड़ती है। रोटी सुबह बनाते हैं और शामको खराब हो जाती है। जब हम यहाँसे शामको चलते हैं, सब्जी ले जाते हैं। दूसरे दिन दोपहरको कोटामें निकालते हैं खानेको, तो उसमें लस आने लगती है। तो, प्रत्येक चीजमें विकार आता है। कपड़ा पुराना पड़ता है, घड़ा पुराना पड़ता है।

अत: जो चीज पैदा की जाती है, उधार ली जाती है, जिसका संस्कार किया जाता है, जिसमें विकार होता है, वह चीज बदल जाती है। इसलिए साधनसे जो चीज भी पैदा होगी, या जिस चीजका भी-अन्त:करणका संस्कार किया जायगा या दूसरेसे प्राप्त करेंगे; या चावलको पकाया, पकाके बहुत बढ़िया भात बनाया। परन्तु फिर बिगड़ जायगा। तो चावल विकार्य है चरु-पुरोडाश बना। इसका जलका छींटा देके संस्कार किया, परन्तु फिर बिगड़ जायगा बिलकुल! इसलिए साधनसे जो बनाई हुई चीज होती है, वह सच्ची नहीं होती है।

वह चीज मिलनी चाहिए जो चीज बनाई नहीं जाती, स्वयं है। इसीसे देखा गया कि दीर्घकालतक समाधि लगानेवाला पुरुष भी जब होशमें आता है, तब देहको ही 'मैं' कहता है। अपनी माँको ही 'माँ' कहता है, अपनी पत्नीको ही 'पत्नी' कहता है, अपने पैसेको ही 'पैसा' कहता है। उसके मनमें समाधि लगानेके पूर्व जैसी देहमें अहंबुद्धि थी, वैसी हो जाती है। तब बात क्या होनी चाहिए?

बात यह होनी चाहिए कि जो परिच्छिन्न वस्तुमें अहंभाव है, वह मिट जाना चाहिए—

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थ बोधो यावद् दृढीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्॥

जबतक आत्मा और परमात्माकी एकताका बोध नहीं हो जाता है, तबतक समाधि एवं श्रवणादि करे। बोध ऐसी चीज है, जो समाधिमें भी रहता है और व्यवहारमें भी रहता है। समाधि ऐसी चीज है जो समाधिमें समाधि रहती है और व्यवहारमें छूट जाती है। व्यवहार ऐसी चीज है जो व्यवहारमें व्यवहार रहता है और समाधिमें छूट जाता है। समाधि व्यवहारमें नहीं और व्यवहार समाधिमें नहीं। विक्षेप समाधिमें नहीं और समाधि विक्षेपमें नहीं। एक ऐसी चीज होनी चाहिए जो समाधि और विक्षेप दोनोंमें एकसरीखी हो और वह बनाई हुई नहीं होनी चाहिए। वह उधार ली हुई नहीं होनी चाहिए, वह संस्कार नहीं होनी चाहिए वह विकार नहीं होनी चाहिए।

वह सत्य क्या है, उसका ज्ञान होता है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥ ३०॥

देखो, यहाँ समाधि और विक्षेप दोनों एक है। समाधि क्या हो गई? सरसोंके दाने। जहाँ भी छोड़ दिया वहाँ समाधि है। घटाकारवृत्ति समाधि है, पटाकारवृत्ति समाधि है, स्त्री-आकारवृत्ति समाधि है, पुरुषाकारवृत्ति समाधि है। कब? जब अखण्ड एकरस ब्रह्मात्मैक्यबोध हो गया और देहाभिमान गलित हो गया। देह=ढेर, राशि। जैसे मोटरकी बॉडी (body=कलेवर) होती है न, वैसा यह हमारा वपु है।

यह शरीर वैसा ही है। जैसे मोटरमें पुर्जे बहुत होते हैं; पहिया अलग है, उसका धुरा अलग है, एंजिन अलग है, उसमें अलग-अलग मशीनें हैं, पेट्रोल दूसरी चीज है, हेंडल अलग है—सब मिलाकर एक मोटर हो गई। वैसे यह शरीर मोटरकी तरह है। एक 'मैं'का यह देह अपनेको मान बैठना! इसीमें ब्राह्मणपना है, इसीमें हिन्दुपना है, इसीमें संन्यासीपना है, इसीमें देवतापना है, इसीमें जीवपना है। इस शरीरको 'मैं' मानना बिलकुल आहार्य है। आहार्य=अध्याहार्य, उधार लिया हुआ।

देहके 'मैं'को अपनेमें ले लिया और अपने-आपको माने 'मैं'को देहमें डाल दिया। उधार सौदा है बिलकुल! सट्टा है, सट्टा! बिना मालका सौदा! है कुछ नहीं और इतना गाढ़ा लग रहा है! देहाभिमान गलित हो जाता है।

यह अभिमान ही है। आप जरा सोचें कि जन्म लेनेके बाद आपके दिमागमें लोगोंने क्या-क्या ठूँसा है? कभी आपको फुरसत मिले तो इसपर सोच लेना।

आप यह तो कह सकते हैं कि—'हाँ, जन्मके समय मैं कुछ था कुछ=अनिर्वचनीय। जन्मके पूर्व माताके गर्भमें भी मैं कुछ था। जन्मके पूर्व पिताके वीर्यमें भी मैं कुछ था, गेहूँके दानेमें भी मैं कुछ था।' यह तो आप बोल सकते हैं, परन्तु 'मैं' क्या था यह नहीं बोल सकते। जबतक अपने स्वरूपको जानते नहीं, अज्ञान है न! तब नहीं बोल सकते।

आप भी 'कुछ' थे, लेकिन उस 'कुछ'को लोगोंने क्या-क्या बनाया है? जैसे बाजारमें कोई बेवकूफ निकले और लोगोंने उसे बताया कि 'तुम इस मकानके मालिक हो' और वह मान बैठा कि 'हाँ, मैं इस मकानका मालिक हूँ।' बेवकूफको किसीने कहा—' यह तुम्हारी औरत जा रही है' और उसने मान लिया कि 'हाँ, यह मेरी औरत जा रही है।' जैसे बाजारमें बिना समझ आदमी निकलता हो और लोग बाहरसे उसके दिमागमें ठूँस दें।

एक महात्मा थे, बड़े मजेदार! एक सौ बीस बरसकी उनकी उमर थी श्रीहरिबाबाजी उनका दर्शन करने गये थे। मैं उनका दर्शन करने गया था दो-तीन बार। मसनदके सहारे लोग उनको रखते थे। पड़े रहते थे बिलकुल! बोलते भी नहीं थे। ज्यादा बात भी नहीं करते थे। उनको बुलानेका एक ही ढंग था।

जाके पाँव छुआ और बोले—'महाराज!' आँख खोलके देखा। बोले—'महाराज, आपका ब्याह करनेके लिए आये हैं।'

'अच्छा!' मसनद छोड़के बिलकुल बैठ जाते। 'अरे भैया, मेरा ब्याह होगा? हाँ, लड़की कैसी है?

'सोलह बरसकी।'

'आहाहाहा! तब तो बहुत आनन्द है!'

अब बात करने लगे। बात करने लगे तो उनको ईश्वरकी बात पूछो तो वह भी बता देते थे। ब्रह्मकी बात पूछो तो वह भी बता देते थे। लेकिन जबतक उनको ब्याहकी बात न करो, तब तक आँख ही नहीं खोलते थे।

हे भगवान्! आप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा! आप भगवान्के स्वरूप! आप परमात्माके स्वरूप! लोगोंने आपको कहा कि 'तुम मनुष्य हो! तुम्हारा नाम 'रामू' है, 'श्यामू' है। तुम ब्राह्मण हो! तुम अमुक गोत्रके हो, अमुक प्रवर है

तुम्हारा! तुमको ऐसे रहना चाहिए, ऐसे रहना चाहिए!' कुछेक नाम रख दिये। उपनिषद्‌में यह बात ऐसे आती है—

तस्य नामानि दामानि च। तेन सर्वमिदं स्थितम्।

मनुष्यके नाम रख-रखके उसको बाँध दिया गया। एक नाम रखा गया— 'तुम सिपाही हो।'

'हाँ, ठीक है, मैं सिपाही हूँ।'

'अच्छा, चलो, चौराहेपर खड़े हो जाओ और दिनभर हाथ उठाते रहो।'

अपनेको सिपाही माननेका फल क्या हुआ? सिपाहीका कर्तव्य अपने ऊपर आ गया। आप देखो कि जन्म लेनेके बाद जितनी बातें अज्ञानी लोगोंने तुम्हें बता-बता करके तुम्हारे दिमागमें ठूँस दी हैं, हम कहते हैं कि 'ये सब झूठी हैं।' इसलिए तुम उनको छोड़ो।

सब झूठी हैं, तो 'मैं क्या हूँ?' यह सवाल पैदा होता है। 'पहले भाई, 'मैं'के बारेमें कुछ मालूम पड़े, तब उनको झूठी समझके छोड़ें', यह वेदान्ती कहते हैं। वेदान्ती कहते हैं कि 'तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो। न तुम्हारा जन्म हुआ है, न मृत्यु होती है। न तुम्हारे साथ शरीर लगा है और न तुम्हारे साथ अज्ञान लगा है। न बन्धन है! न वर्ण है, न आश्रम है, न भोग है, न कर्म है, न कर्तापन है, न भोक्तापन है। जन्म लेनेके बाद जितनी बातें तुम्हारे दिमागमें झूठी अध्यारोपित की गई हैं, उनको काटनेके लिए कोई एक सत्य चाहिए—

न हि सत्यमधिगम्य अध्यारोपितं निवर्तते।

सत्यका अधिगम हुए बिना जो बातें अपने दिमागमें ठूँस दी गयी हैं, वे नहीं निकल सकतीं। इसलिए आओ, तुम्हारे बारेमें एक सच बतावें। वह सच यह है कि—

साधो, तुम मरते नहीं, पलटू करो विचार। मौत तुमको छू नहीं सकती। यह तुम्हारा स्वरूप है कि—मौत तुमको छू नहीं सकती, दुःख तुमको छू नहीं सकता, वियोग तुमको छू नहीं सकता, जड़ता तुमको छू नहीं सकती, कर्म और भोग तुमको छू नहीं सकते; क्योंकि तुम संसारी नहीं हो, तुम परिच्छिन्न नहीं हो, तुम साक्षात् ब्रह्म हो—

साक्षित्वमारोप्य कर्मभोगादिसम्बन्धं निवर्तयति।

साक्षित्वका आरोप करके कर्म और भोग आदिका जो सम्बन्ध है, उसको श्रुति निवृत्त करती है। इसलिए आओ, एक बार विचार करो कि हम कौन हैं?

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र तत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥ ३०॥

जो दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध स्थिति थी, बहिर्देशके सम्बन्ध नाम और रूपको छोड़ देनेपर जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सन्मात्र परमात्मा मालूम पड़ता था; जो भीतरके आकार-विकार-नामको छोड़ देनेपर शुद्ध सन्मात्र तुम मालूम पड़ते थे, ये दोनों दो नहीं हैं, अखण्ड एकरस सद्वस्तु है और उसमें न बाहर नामरूप है न भीतर नामरूप है। भीतर न दृश्यका अनुवेध है न शब्दका और बाहर न दृश्यका अनुवेध है न शब्दका।

यह '**विज्ञाते परमात्मनि**' माने परमात्माका विज्ञान हो गया। परमात्माका साक्षादपरोक्ष अनुभव हो गया। असलमें वेदान्तका नाम लेनेवालोंमें भी नासमझीके जो अनेक स्तर हैं, वे विद्यमान होते हैं।

बोले—'देखोजी, हमें 'तत्' पदार्थका विचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है।'

'क्यों जरूरत नहीं है?'

'क्योंकि मैं अखण्ड हूँ, अद्वितीय हूँ।'

उससे पूछो कि जब तुम अपनेको अखण्ड कहते हो, तो पहले कभी तुमने 'अखण्ड' शब्दका अर्थ जाना है कि नहीं जाना है? जब तुम अपनेको 'अखण्ड' नहीं जानते थे, तब तुमने 'अखण्ड' क्या होता है, इसपर विचार किया है कि नहीं किया है?

देशसे अखण्ड, कालसे अखण्ड, वस्तुसे अखण्ड, द्वैतसे अखण्ड, माया-अविद्या आदि उपाधियोंसे अखण्ड! उस अखण्ड वस्तुके बारेमें कभी सोचा है कि नहीं? आज बोलते हो कि 'मैं अखण्ड हूँ'। अखण्ड पदार्थको जानके अपनेको अखण्ड बोलते हो कि अखण्ड पदार्थको जाने बिना ही अपनेको अखण्ड बोलते हो?

'अखण्ड' पदका वाच्यार्थ पहले जाना हुआ है और 'आत्मा' पदका वाच्यार्थ पहले जाना हुआ है। आत्मा साक्षी है और जगत्का जो अधिष्ठान तत्त्व है वह अखण्ड है। जब कहते हैं, 'विविक्त अखण्डके रूपमें ही आत्माको अखण्ड बताते हैं, और विविक्त आत्माको ही अखण्डकें रूपमें जानते हैं; इसलिए तुम मानते नहीं हो, तो क्या हुआ? समझते नहीं हो तो क्या हुआ?'

एक दिन तुमने ईश्वरमें अपनी वृत्ति लगायी है और उसको अखण्ड रूपसे जाना है। 'अखण्ड' पदका जो वाच्यार्थ है परोक्ष, उसको 'ईश्वर' कहते हैं और 'आत्मा' पदका जो वाच्यार्थ है साक्षी किन्तु परोक्ष है। साक्षी कैसे परोक्ष है?

साक्षी परोक्ष ऐसे होगा कि जब तुम अपनेको कर्ता-भोक्ता जानते हो, मानते हो और साक्षीका विवेक करते हो, तो 'अहं'पदका अर्थ अपरोक्ष रहते हुए भी साक्षिता परोक्ष-सी भासती है। अखण्ड पदका अर्थ अपरोक्ष-सा रहता हुआ भी परोक्ष-सा भासता है। उस परोक्षताका जो व्यावृत्तक है माने हटानेवाला है अखण्ड पदका लक्ष्यार्थ-लक्ष्यार्थमें दोनोंकी एकता है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।

हमारे एक मित्र थे भक्त, वे कहते थे कि 'ये वेदान्तीलोग तो धरतीपर रहने लायक नहीं हैं। इनको सबको पार्सलमें तिब्बतकी ओर भेज देना चाहिए।' बड़े ही नाराज थे। एक बार तो उन्होंने एक सम्पादकीय लिखी। सम्पादक थे एक पत्रके । उन्होंने लिखा था—'ये जो 'असंग-असंग ' करनेवाले वेदान्ती हैं, उनको गोली मार देनी चाहिए।'

आजकल जो खण्डन-मण्डन करते हैं, ये जो द्वैतवादी आचार्य हैं। अपने शास्त्रमें मूर्ख वेदान्तियोंका नाम रखा है—'बालिश'। बालिश= मूर्ख। कोई 'मायावादी' कहते हैं, कोई 'असत्शास्त्र' कहते हैं, कोई 'बालिश' कहते हैं, कोई 'मूर्ख' कहते हैं। वेदान्तियोंको तो बड़ी बात सुननेकी आदत होती है।

एक दिन किसीने कहा—'तुम मूर्ख हो।'

महात्माने कहा—'हमको तो कई बार लोग 'महामूर्ख' कह चुके हैं। तुमने तो बहुत हल्की बात कही। उसका कोई असर हमपर नहीं है।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जो विज्ञान है परमात्माका, यह कोई समाधिमें पटकनेके लिए नहीं है, गुफामें भेजनेके लिए नहीं है, तिब्बतमें भेजनेके लिए नहीं है। यह तो व्यवहारमें ही तुमको ऐसा निर्भय कर देनेके लिए है—

अभयं ह वै ब्रह्म। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।

भयके मारे, 'चींटी कहीं मर न जाय'। इस भयसे तो चल नहीं पाते हो। डर ही डर तो तुम्हारे दिमागमें लगा है। यह वेदान्त दिमागसे सब प्रकारके भयोंको निकाल देनेके लिए है। इसके बाद? मनको पकड़के नहीं रखना है। मनको समाधिमें लगाना नहीं है। समाधि ही मनके पीछे-पीछे लगी-लगी डोलती है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

समझो, एक पुरुष है। वह एक स्त्रीके पीछे-पीछे घूमता है। एक यह स्थिति है और फिर बादमें ऐसी स्थिति आयी कि वह स्त्री ही उस पुरुषके पीछे-पीछे लगी होती। तो वे जो अज्ञानी लोग हैं, अभ्यासीलोग हैं, उनको तो अपने मनको

समाधिके पीछे-पीछे चलाना पड़ता है। जो तत्त्वज्ञानीलोग हैं उनके पीछे-पीछे समाधि डोलती है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥

जहाँ मन गया, वहाँ समाधि! अरे! दृश्य नहीं है, दृश्य तो अध्यस्त है!

असलमें तो अधिष्ठान ही है। अधिष्ठान ही दृश्यतया भास रहा है। जहाँ मन गया—'अरे, यह तो आकार नहीं है, यह तो ज्ञान है'। तुरन्त समाधि लग गयी। यहाँ नाम और रूप तो है ही नहीं! यहाँ शब्द और दृश्य है ही नहीं! जहाँ मन गया, वहीं ब्रह्म मिल गया।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

वह खड़ा रहता है। एक जगहपर टिका हुआ है, परन्तु '**धावतः अन्यान् अत्येति**'—परन्तु जो दौड़नेवाले हैं इसके मन और इन्द्रिय, उनको अतिक्रमण कर जाता है। वे जहाँ जाते हैं, देखते हैं, यह तो यहाँ भी पहलेसे ही मौजूद है, तो ब्रह्मलोकमें चलो। यह तो इस देशमें भी है! यह तो नरकमें भी है!

एक बार मन स्वर्गसे भगा। बोले—'अरे भाई, ऊब गये इन अप्सराओंसे और नन्दनवनसे! तो वह पहुँचा नरकमें। नरकमें भी देखा कि वह तो वहाँके कीड़ोंमें भी है, वहाँकी वैतरणीमें भी है। अच्छा, तो सुखमें भी वही, दुःखमें भी वही। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यको वेदान्तने ऐसा निर्भय बनाया कि यह व्यवहार छुड़ानेके लिए नहीं है। यह समाधिके व्यवहारमें भी निर्भय बनानेके लिए है।

समाधिमें भी भयभीत होते हैं लोग! बहुत लोग सोचते हैं कि समाधि लग जायगी तो हमारा पैसा छूट जायगा, सम्बन्धी छूट जायेंगे—

योगिनो बिभ्रति यस्मात् अभये भयदर्शिनः।
अस्पर्शयोगो नाम एष।

वहाँ भी डर लगता है। संसारी लोगोंको समाधि लगानेमें डर लगता है कि कहीं बाबाजी न हो जायँ। अपने बच्चेको रोकते हैं, अपनी बहूको रोकते हैं और अपनेको भी रोकते हैं। साधक लोगोंको व्यवहारमें प्रवृत्त होनेमें डर लगता है कि कहीं संसारी तो नहीं हो जायेंगे न! यह ब्रह्मज्ञान हो जाय तो संसार और समाधि, व्यवहार और समाधि दोनों एक हो जाय। जहाँ रहे वहीं आनन्द है; दुःख मिट गया। जहाँ रहे वहीं मंगल है, मृत्यु मिट गयी, जड़ता मिट गयी, नासमझी मिट गयी।

परमानन्दका समुद्र बहने लगा! यह वह ब्रह्मज्ञान है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं समाधि मिलती है, स्वागत-सत्कार करनेके लिए।

एक बार हम तीर्थ-यात्रा कर रहे थे तो 'रतलामवाले रमणलाल सेठ' हैं न, 'अजमेर' गये तो हमारे लिए 'अजमेर' में मौजूद! हमारे लिए धर्मशाला खाली! रसोईका सब बन्दोबस्त! नौकर भी वहाँ खड़े पहलेसे ही! मोटर लेकर आये। जहाँ-जहाँ जायँ वहाँ-वहाँ सेठजी खड़े! यह क्या हुआ?

जैसे सेठ श्रद्धासे सेवा करता है, उसी प्रकार समाधि ज्ञानीके मनकी, महात्माके मनकी श्रद्धासे सेवा करती है। उसको समाधि लगानी नहीं पड़ती। जबतक समाधिको महत्त्व देते हैं, तब तक वह नहीं लगती। जब समाधिको तुच्छ समझते हैं, तब वह पीछे-पीछे फिरती है।

●

प्रवचन २१

साधकके जीवनमें अभयका सब साधनोंसे अधिक स्थान है। जैसे गीतामें है न—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। गीता १६.१

दैवी सम्पत्ति माने अभय। दूसरा कोई हमारा नुकसान कर सकता है, यह डर भी मत रखो। प्रकृति हमारा नुकसान कर सकती है, ईश्वर हमारा नुकसान कर सकता है, यह डर भी मत रखो। नुकसान तो यही है कि मुट्ठीमें तुमने कुछ पकड़ रखा है। ज्यादासे ज्यादा कोई उसको छीन लेगा! पर पहलेसे ही अगर हाथ खुला कर दो, तो कोई डर न रहे।

ईश्वरके भजनमें भी किसीसे नहीं डरना। जब तुम एक बड़ेकी शरण पकड़ लेते हो, उसके चरणारविन्द पकड़ लेते हो, तो डरका कोई कारण नहीं है। अच्छा, निषेध करना हो, तो उसमें भी नहीं डरना। कार्य-कारण, जीव-ईश्वरकी परवाह करनेकी कोई जरूरत नहीं है। जब अपनेको ब्रह्म जान लिया, तब तो—

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।

अभयपदकी प्राप्ति हो गयी, इसलिए निर्भय होकर अपने मार्गमें अग्रसर होना चाहिए। कोई लोग सहारा लेकर घरको छोड़ते हैं और कोई लोग बिना सहारा लिये घरको छोड़ते हैं। शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि सचाईकी खोज करनेसे भयकी निवृत्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें जहाँ नुस्खे लिखे हैं न, कौन रोग कैसे दूर होता है, वह अलग-अलग है—

असंकल्पात् जयेत् कामम्।
क्रोधं कामविवर्जनात्।

अर्थानर्थे क्षया लोभम् ।
भयं तत्त्वावमर्शनात्॥ भागवत ७.१५.२२

अपने जीवनमें भय कैसे दूर हो? सच्चाईकी खोज करो। तुम्हारे सिवाय तुम्हारा नुकसान करनेवाला कोई दूसरा है क्या? सचको ढूँढो!

तुम्हारा कोई नुकसान हो सकता है क्या? तुम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो। तुम्हारा कोई नुकसान नहीं हो सकता। नुकसान=हानि। तुम्हारा जो स्वरूप है, उसकी कोई हानि नहीं हो सकती। दूसरा कोई ऐसा है नहीं जो तुम्हारी हानि कर सके; तो न डरो न डराओ। जीवन्मुक्त पुरुष किसीसे डरता भी नहीं और किसीको डराता भी नहीं। संयोग-वियोग, मृत्यु-बुढ़ापा-रोग ये सब मनमें ही होते हैं, दुनियामें नहीं होते। यहाँ यह बात बतायी कि—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं समाधि है। सुन लो और मान लो कि जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि है। आजकल लोगोंको कुछ साधन-भजन करनेका तो मन नहीं होता और विचारके लिए तो अक्कल माने बुद्धि नहीं है, तो करेंगे कहाँसे?

हमारा शास्त्र जितना है, एक तो शासनात्मक है और एक शंसनात्मक है। एक यथार्थ वस्तुका वर्णन करनेवाला शास्त्र है, उसको 'दर्शन' कहते हैं। '**शंसनात् शास्त्रम्**'। एक होता है '**शासनात् शास्त्रम्**'—जो शासन करे सो शास्त्र।

एक आदमीने कहा—'शास्त्र-सत्य-तत्त्व-आत्मा-परमात्मा-ब्रह्म अमत है।' 'अमत' है—तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर है। यह बात तो उपनिषद्में कही हुई है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। केन० २.३

सबसे नन्ही-मुन्नी, प्यारी-प्यारी, सीधी-सादी 'केनोपनिषद्' है, उसमें यह बात बतायी गयी—'**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः**'। जो परमात्माको अमत जानता है, अमत= मतातीत—वह किसी मतमें नहीं है। मतिका कर्म नहीं है। हाथका कर्म क्या है? यह चीज उठा ली न? इसको उठा लेना, यह हाथका कर्म हुआ। यह जो हाथमें है, यह भी हाथका कर्म है और हाथसे जो क्रिया हुई, यह भी हाथका कर्म है।

मति सत्यको अपनी गोदमें ले सके या हाथमें उठा सके, सत्य ऐसा नहीं हुआ करता। मतिने आजतक सत्यको नहीं उठाया है अपनी गोदमें। मतिका कर्म

नहीं हुआ सत्य और मतिने उसको विषय नहीं किया; अमत है। यह बात 'विचारसागर'का मंगलाचरण पढ़ता है उसको भी मालूम है। और, हमारी नन्ही-प्यारी उपनिषद् कहती है—

मति न लखै जेहि मति लखै, सो मैं शुद्ध अपार।

आपको मैंने सुना दिया—'ब्रह्म अमत है।' आप मान लो उसको। मान लेने पर आपको साक्षात्कार हो जायगा उसका? ये शब्द याद कर लो कि 'ब्रह्म अमत है', तो साक्षात्कार हो जायगा? कुछ लोग समझते हैं कि पोथीको दिमागमें भरा जाता है। पोथीको दिमागमें नहीं भरा जाता है। एक बापने कहा—'बेटा, इस पोथीको घोंट लो और पचा जाओ!' तो बच्चेने कहा—'यह तो पिताजीने बहुत बढ़िया बात बताई।' उसने सिलबट्टा लिया और किताबको घोंट लिया और पानीमें घोंटके घोंट लिया माने पानीमें मिलाके पी लिया और उसके बाद डकार लेने लगा कि—'अब पचती है, अब पचती है, अब पचती है।'

यह तो सब जानते हैं कि ज्ञान किताबमें नहीं होता। पोथी घोंटनेसे या पीनेसे या पचानेसे ज्ञान नहीं होता, यह बात उपनिषद्में बहुत बढ़िया कही हुई है—

नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

बहुत शब्दोंका अध्ययन नहीं करना चाहिए। यह तो वाणीका अपव्यय है। और—

ग्रंथान् अभ्यस्य मेधावी ग्रन्थोंको खूब पढ़ ले और उसके बाद—

पलालम् इव धान्यार्थी ग्रन्थान् अशेषतः। —पंचदशी

यह 'विद्यारण्यस्वामी'का है। जैसे पुआल छोड़ देते हैं और उसमेंसे चावल निकाल लेते हैं। वैसे, ग्रन्थोंमें-से चावल निकाल लो और ग्रन्थरूपी पुआलको छोड़ दो। श्रीशंकराचार्य कहते हैं—'आप ग्रन्थोंके चक्करमें मत पड़ो क्योंकि—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां चापि भुक्तये न तु मुक्तये॥

जोर-जोरसे बढ़िया आवाज बना करके बोलना है, शब्दोंकी झड़ी लगानी है, और व्याख्यानकी कला है—यह जो बड़ा भारी पाण्डित्य है, यह सब भोगकी प्राप्तिके लिए है। लोगोंको आकृष्ट करके उनसे अपनी जीविका चलानेके लिए है, मुक्तिके लिए नहीं है।

शास्त्रजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।

यह शंकराचार्यका वचन है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज यह गाते थे—

मत पड़ो रे मन शास्त्र-जंगले।

मैं एक प्रयोजनसे आपको यह सुना रहा हूँ। आप शास्त्र छोड़ दो और मत छोड़ दो; मान लो कि 'आत्मा अमत है'। मान लो कि 'ब्रह्म अमत है।' तो उससे आपका क्या बनेगा?

बोले कि—'ब्रह्मके लिए मति लगानेकी जरूरत नहीं और ब्रह्मके लिए शास्त्र पढ़नेकी जरूरत नहीं।' तब क्या करोगे? बोले कि-'घरमें बैठ करके भजन करेंगे, ध्यान करेंगे, समाधि लगायेंगे, एकान्तमें बैठेंगे।'

आज ही अखबारमें पढ़ी है बिलकुल ताजी खबर—'जर्मनीके एक वैज्ञानिकने खोज की है कि 'दुनियामें जितने पाप और अपराध होते हैं, उनमें सौमें-से ८१% पढ़े-लिखे और धनी लोग करते हैं।' उसने खोज करके पता लगाया कि किस दिन ये करते हैं? जिस दिन ये छुट्टी मनाते हैं; उस दिन उनको समय बिताना भार हो जाता है। 'खाली दिमाग शैतानका घर।' 'बेकारीमें बुराई फलती-फूलती है।'

छुट्टीके दिन उनको व्यभिचार करनेकी सूझती है कि आजका दिन कैसे बितावें? छुट्टीके दिन उनको शराब पीनेकी, जुआ खेलनेकी सूझती है। यह भी उसने बताया है कि अभी तो सप्ताहमें एक दिन छुट्टी मिलती है तो यह दशा है। जब अगली शताब्दीमें सप्ताहमें उनको तीन दिन छुट्टी मिलेगी, तब क्या होगा? तब तो दुनिया अपराधमयी हो जायगी।

देखो, 'अमत' कहनेसे अमतका साक्षात्कार नहीं होता है। पहले समझना पड़ता है कि मतिका विषय क्या-क्या होता है? मतका निषेध मतको जान करके करोगे कि मतको बिना जान करके करोगे? जैसे दुनियामें हजारों आदमी ईश्वरको न जाननेके कारण कह देते हैं कि 'ईश्वर नहीं है।' यह कहना कि 'ईश्वर नहीं है', यह उनकीअश्रद्धाहै,नासमझी है, एक अन्धी मान्यता है। ईश्वरका अभाव देखे बिना उन्होंने कह दिया कि 'ईश्वर नहीं है।'

हमारे वेदान्तको यह बात बिलकुल स्वीकार नहीं है। जिसको 'ना' बोलनी हो, उसकी पहले खूब जाँच-पड़ताल कर लो कि वह चीज क्या होती है। तब उसको 'ना' बोलो। जैसे देखो कि ईश्वर अमत है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

इसका अर्थ मैं समझाता हूँ। किसीने कह दिया कि 'ईश्वर अमत है' और हमने मान

लिया कि 'ईश्वर अमत है'। मतिका विषय क्या होता है ? ईंट-पत्थर-मकान यह स्थूल सृष्टि होती है मतिका विषय। जब हम 'अमत' कहते हैं, तो उसका अर्थ होता है कि ये ईंट-पत्थर-मकान, ये पेड़-पौधे, इनसे परमात्मा न्यारा है। इधरसे मन हटाओ।

फिर बोले कि 'भाई, ईंट-पत्थर नहीं है, तो गण्डकीका पत्थर होगा, नर्मदाका पत्थर होगा।'

बोले—'यदि अमतको जानना है तो इधरसे भी मन हटाओ।' तो बोले—'हमारे गुरुजी हैं।' 'राधास्वामी दयाल'ने कहा—*'कुल्लैमालिक धुरधामका मालिक मैं हूँ परमेश्वर, मैं हूँ सर्वेश्वर।'*

बोले—'नहीं, यह तो मतिका विषय है, दिखता है। इधरसे भी मन हटाओ। यह कैसे हो सकता है परमेश्वर ?' 'कबीर' और 'राधास्वामी' दोनों एक ही हैं, पर दोनोंमें फरक क्या है ?

देखो, मूर्तिपूजक भी वैदिक हैं और आर्यसमाजी भी वैदिक हैं। दोनों वैदिक होनेमें हमको रत्तीभर भी शंका नहीं है। मूर्तिकी पूजा करनेवाला सनातनधर्मी भी वैदिक है और मूर्तिका निषेध करके निराकारका ध्यान करनेवाला आर्यसमाजी भी वैदिक है। दोनोंके बारेमें शास्त्रमें प्रमाण है।

वैसे ही 'कबीर' और 'राधास्वामी' दोनों ही गुरुको ईश्वर मानते हैं। राधास्वामी साकारी हैं और कबीर निराकारी हैं।]

बोले—'नहीं, और आगे चलो। यह बात नहीं बनेगी।' बोले—'राम-कृष्ण-शिव-विष्णु ये ईश्वर।'

बोले—'नहीं, और आगे चलो। अवतार नहीं, अवतारीको लो! और आगे चलो। अब व्यक्ति-व्यक्तिका विचार नहीं करो। तत्त्वका विचार करो।'

बोले-'मिट्टी भी मत है माने मतिका विषय है। पानी भी मत है, अग्नि भी मत है, वायु भी मत है, आकाश भी मत है, मतिका विषय है।'

बोले-'यह भी परमेश्वर नहीं है। स्थूल व्यक्ति और स्थूल समष्टि ये सब मत हैं। अब और आगे चलो। 'अमत'का अर्थ क्या है ? '**यस्यामतम् तस्य मतम्**'। अब सूक्ष्म समष्टिमें चलो।'

सूक्ष्म समष्टिमें जो पंचतन्मात्रा है, वह भी मत है और पंचतन्मात्राओंका जो एक त्रिगुणात्मक मूल है, वह भी मत है। तमस्से स्थूल, रजस्से क्रियात्मक और सत्त्वसे ज्ञानात्मक वृत्तियोंका जो उदय होता है, वह समष्टि अहंकार भी मत है।

समष्टि-बुद्धि महतत्त्व भी मत है। सबका मूलभूतकारण है प्रकृति, वह भी मत है। प्रकृतिके साथ जिसका नियम्य-नियामक भाव है, वह प्रकृति-विशिष्ट चेतन भी मत है। 'अमत' कहके छुट्टी पा लें, सो नहीं। आप बच्चेकी तरह काम मत करो।

बच्चा कैसे काम करता है? एक सवाल दिया गया बच्चेको, तो उसको गणित करना नहीं आया। वह अपने बापके पास गया—'पिताजी! गणितका हल हमको नहीं आता है।'

पिता—'बेटा, इसका हल यह है; लिख ले गणितके नीचे।' क्यों बाबा? आपने अपने बेटेको गणित सिखा दिया? आ गया उसको गणित? आपने अपने बेटेको मूर्ख बना दिया। गणित निकालनेकी जो रीति थी, वह तो उसने सीखी ही नहीं। जो हल है, फल है गणित निकालनेके बाद; अपने—आप वह निकालता। गणित निकालनेका तरीका आप बताते तब तो आपके बेटेको भी गणित आ जाती। अन्यथा आपने उसके साथ अन्याय किया।

'अमत'का अर्थ क्या है? संसारमें स्थूल व्यक्तिविषयक, स्थूल समष्टिविषयक, सूक्ष्म व्यक्तिविषयक, सूक्ष्म समष्टिविषयक और कारण-कार्यरूप समष्टिविषयक जितना भी ज्ञान है, उसका नाम है 'मत'। याद कर लो, परन्तु याद कर लेनेसे काम नहीं चलेगा। उसको समझना पड़ेगा।

निषेध-शास्त्र मान्यताका शास्त्र नहीं है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। केन. २.३

जिसने सत्यको अपना मत बना दिया, उसने सत्यको नहीं जाना—

अविज्ञातं विजानीयात् विजानताम्

जिन्होंने दावा किया कि मैंने जान लिया, उन्होंने नहीं जाना।

विज्ञातं अविजानताम्।

जिसने यह कहा कि—'भाई, मतिसे वह नहीं जाना जाता'—

मति न लखै जेहि मति लखै।

'केनोपनिषद्'का यह नहीं पढ़ा?

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो।

न विद्मो न विजानीमः। १.३

उपनिषद्का ऋषि बोलता है—'हम मतिके द्वारा उसको नहीं जानते हैं।' अच्छा भाई, साक्षीके द्वारा जानते होंगे?

साक्षी जो जाना जायगा, वह तो साक्ष्य होगा। वह तो दृश्य होगा! न बुद्धिके द्वारा जाना जाता, न साक्षीके द्वारा जाना जाता।

'अच्छा, तो हमने साक्षीके रूपमें जाना।'

साक्षीके रूपमें जाना, तो तुमने एक अध्यारोपको जाना। यह ब्रह्मविद्या बड़ी विलक्षण है। यह जरूरी नहीं है कि स्कूल-कॉलेजके बच्चे यह समझने लगें। अभी उनको धन कमाने दो, अभी उनको भोग करने दो! अभी उनको वैज्ञानिक उन्नति करने दो। अभी उनको लौकिक अभ्युदय प्राप्त करने दो!

जब उनको वैराग्य होगा, और उनकी रुचि सत्यके लिए होगी, परमात्माके लिए होगी, तब वे अधिकारी हो करके वेदान्तका विचार करेंगे। नहीं तो तुम इस वासनासे आक्रान्त रहोगे। यह तुम्हारी वासना है कि बच्चे-बच्चे जीवन्मुक्त हो जायँ।

प्रश्न किया गया है—

अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्र अस्मात् कृताकृतात् च।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत्पश्यसि तत् वद।

कठ० १.२.१४

बतानेवाले व्याख्यानदाताओंको छोड़ो। आप यह प्रश्न देखो। प्रश्नकर्ता पूछता है—'जो धर्मसे परे है। जो अधर्मसे परे है, जो कर्मसे फलसे परे है और जो शून्यतासे परे है, जो भूतसे परे है, जो भव्यसे परे है(परे=विलक्षण); भूत और भविष्य, कृत और अकृत, धर्म और अधर्म—इनसे जो विलक्षण है, वह वस्तु हमको बताओ। इतना तो प्रश्नकर्ता जानता है।'

यदि उत्तरदाता कहे कि 'परमात्मा धर्मसे विलक्षण है', तो उसने क्या बताया? यह तो प्रश्नकर्ताको मालूम है। 'कठोपनिषद्'में—

विदितात् अथो अविदितात् अधि:।

जो परम सत्य है वह विदित और अविदित दोनोंसे न्यारा है। किस चक्रमें पड़ते हो भाई? यह बड़ा भारी षड्यन्त्र है। षड्यन्त्रके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। इस बातको समझो। निषेधशास्त्रकी एक-एक बात समझमें आनी चाहिए कि व्यक्तिरूपसे 'मत' क्या है, स्थूल-समष्टिरूपसे 'मत' क्या है, सूक्ष्म व्यक्तिरूपसे 'मत' क्या है, सूक्ष्म समष्टिरूपसे 'मत' क्या है और स्थूल एवं सूक्ष्म दोनोंके कारणरूपसे 'मत' क्या है? उसके नियन्ताके रूपसे 'मत' क्या है? उसके ज्ञाताके

रूपसे 'मत' क्या है? उसके ज्ञाता और नियन्ता दोनों बिलकुल बोगस हैं, फोकट हैं। ये आभासमात्र हैं और आरोपित हैं।

जबतक 'मत'का निषेध किये बिना तुम सत्यको 'अमत' मानोगे, केवल अज्ञानके अन्धकारमें बिलकुल भटकते रहोगे। दूसरी बात—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं समाधि है। यह क्या बात है? बात यह है कि पहली बात तुम भूल गये।

मनमें चार प्रकारसे समाधि हो सकती है। किसी भी आकारका आलम्बन लेकर समाधि होती है। प्रियता आलम्बन लेकर दो समाधि होती है—'**अयं प्रियः**', "**अहं प्रियः**'। इन तीनोंकी शान्तिसे चौथे प्रकारकी समाधि होती है।

लोकसेवा प्रथम समाधि है। प्रथम समाधि लोकसेवाका विलास है। यह सब परमेश्वरका स्वरूप है। दूसरी समाधि है, 'अयं प्रियः'। यह मानसिक समाधि है। तीसरी समाधि है, 'अहं प्रियः'। अहं और इदंसे रहित चित्तकी शान्त स्थिति चौथी समाधि है।

बात यह बतायी गयी कि नामरूपको जरा अलग करो। तुम्हारा विवेक जाग्रत हो जायगा। विवेक-जागरणकी आवश्यकता है।

उत्थातव्यं जागरितव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

उठो, जागो और अपनी साधनामें लग जाओ। यह वेदका मंत्र है। वेद कहता है-

उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वं अग्निमिच्छिध्वं भारताः।

यह मन्त्र हमको कबसे याद है, बतावें? हम थे बच्चे। दादा 'पी० एल० वासवानी' थे न! वे अभी पूनामें रहते हैं। वे उन दिनों देहरादूनमें रहते थे। दक्षिण-भारतसे एक पत्र निकलता था—'वीज़न (Vision) अंग्रेजीमें। उसका अर्थ होता था 'संदेश'। उसमें 'पी० एल० वासवानी'का एक लेख छपा था। ऊपर लिखा था—

उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वं अग्निमिच्छध्वं भारताः।

बुद्धिमानो! उठो, जागो, अग्निकी इच्छा करो। एक ऐसी अग्नि प्राप्त करो, जिसमें तुम्हारी सारी आसक्तियाँ भस्म हो जायँ। प्रकाशका आह्वान करो। उन्होंने उसका अर्थ किया था—'प्रकाशका आह्वान करो।'

जीवनमें प्रकाश आने दो, प्रकाश! अन्धकारसे छूटो। यह क्या एयरकण्डीशनकी तरह पड़े हुए हो? **अग्निमिच्छध्वं**। जरा जीवनमें गरमागरमी

आने दो। प्यास लगने दो, जीवनमें प्यास लगने दो! तबसे हमको यह मन्त्र याद है। सन् '२६-'२७की बात है। फिर महाभारतमें यह मन्त्र मिला।

उत्थातव्यं जागरितव्यं योक्तव्यम्।

बादमें उपनिषदमें पढ़ा, तो यह मंत्र मिला-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत। कठ० १-३-१४

उठो-उठो! जागो-जागो! जागरणकी जरूरत है। यह आलस्य, यह निद्रा-तन्द्रा छोड़ो! उठो, जागो!

एक बार कल्पित नामरूपको हटाकर नामरूपके भीतर क्या बैठा हुआ है, यह देखो! पहले यह बात बतायी गयी कि समाधि कैसे लगेगी। '**नामरूप पृथक्कृतिः**'। किसी भी चीजको देखो, उसके नामरूपपर मत आओ! उसकी असलियतको देखो। जैसे आप कपड़ा खरीदने बाजारमें जाओ, तो उसका नाम बहुत बढ़िया लिखा हो; किसीका नाम 'वैजयन्तीमाला' हो, इस साड़ीका नाम 'इन्दिरा गान्धी' है! हम गये थे एक दुकानमें! उद्घाटन करनेके लिए कपड़ेकी दुकानमें, कानपुर। मैंने पूछा—'तुम बेचते कैसे हो?'

उसने बताया—'कोई स्त्री आयी तो हम बताते हैं कि यह साड़ी 'वैजयन्तीमाला' पहनती है, यह 'इन्दिरा गान्धी' पहनती है। यह साड़ी तो तुम्हारे शरीरपर ऐसी फबेगी कि दुनियामें बस, तुम एक ही रहोगी। ऐसे मैं बताता हूँ और स्त्रियाँ खरीदकर ले जाती हैं।'

'इन्दिरा गान्धी' और 'वैजयन्तीमाला' नाम सुनकर क्या हुआ? नाम सुनकर तुम साड़ी- पर आगये। फिर देखती हैं कि यह चमचम चमकती है और इसमें जो बेलबूटा है, रंग है, डिजाइन है, बहुत बढ़िया! यह रूप हुआ। लेकिन तुमने यह नहीं देखा कि उस 'इन्दिरा गान्धी' नामके नीचे, अच्छी डिजाइनके रंग और रेखाके नीचे जिस सूतका वह कपड़ा बना है, वह सूत क्या है? असली है कि नकली है? आजकल सारा मुनाफा उसीमें-से तो निकलता है!

हमारे एक मित्रके पास एक मिल है। रेयोन-नायलोन-टेर्लिन होता है न! एक दूसरे सेठने बताया—'महाराज! क्या बताऊँ? इसमें बेजा फायदा है। मिल दूसरेकी और बता रहा था दूसरा। क्या फायदा होता है? 'लाख रुपया रोज महाराज, उसमें-से शुद्ध मुनाफा निकलता है।' सूतमें ही ऐसी बात है।'

तुम सूत नहीं पहचानते हो! तुम साड़ीका रंग तो पहचानते हो, और उसका 'इन्दिरा गान्धी' नाम पहचानते हो। जब 'शिवाजी बीड़ी' बिकती है बाजारमें,

'महात्मागान्धी बीड़ी', 'साँईबाबा बीड़ी' तो हमने बहुत देखी है। बीड़ीमें क्या है, यह तो तुमने देखा नहीं! बोले—'नाम इसका 'साँईबाबा' है।' यह नाम देखना हुआ। और, 'कितनी बढ़िया इसकी पैकिंग है!'

एकने बताया—'महाराज! हमारा माल तो बहुत बढ़िया है, पर उसकी पैकिंग बहुत अच्छी नहीं है, इसलिए यह विलायतमें बिकता नहीं है। अब हम उसको सुधारनेवाले हैं, तो उसका निर्यात बढ़ जायगा।' तो यह जो दुनिया तुम देखते हो, इसमें अगर नाम ही देखते हो; किसी दवाका नाम देखा—'अमृतवटी' और लेकर खाना शुरू कर दिया! यह नहीं देखते हो कि शरीर पर इसका क्या असर पड़ता है? तो **'नामरूप पृथक्कृतिः।'** पहले नामको अलग करके, रूपको अलग करके उसमें असली चीज क्या है, उसको देखना। अगर तुम्हारी ऐसी आदत पड़ जायगी तो क्या होगा?

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

यह नाम और रूप दोनों अपनी इन्द्रियोंसे मालूम पड़ते हैं; यह ऐन्द्रियक ज्ञान है। नाम और रूपका जो ज्ञान है, वह हमारी इन्द्रियोंके द्वारा हमारे ऊपर थोपा हुआ ज्ञान है। इसीको आरोप बोलते हैं। हमारे मनने बाहरसे थोप दिया। हमारे कानने बाहरसे थोप दिया, हमारी आँखने बाहरसे थोप दिया। तो हमारी इन्द्रियोंको जो दिखता है उससे बाहर, उससे अलग करके उसमें असलियत क्या है, सत्य क्या है उसको देखो।

बस, जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन जायगा, नामरूप अलग हुआ और परब्रह्म परमात्माका दर्शन हुआ। इसीका नाम 'अभ्यास' है। असलमें तो परमात्मा सब है।

अद्वैत-वेदान्तियोंने तीन रीति अपनायी। अद्वैत वेदान्तकी मुख्य प्रक्रिया तो है 'आरोप' और 'अपवाद'को समझना। अगर यह बात समझमें नहीं आती है, तो वेदान्तका क ख ग भी नहीं समझमें आता। चाहे 'विचारसागर' पढ़ो, चाहे 'वृत्तिप्रभाकर' पढ़ो, चाहे 'पंचदशी' पढ़ो, चाहे 'माण्डूक्यकारिका' पढ़ो, चाहे 'शांकरभाष्य' पढ़ो, चाहे 'उपनिषद्' पढ़ो।

अध्यारोप और अपवाद—क्या-क्या चीज बाहरसे कल्पना करके क्या-क्या हटाया गया है, माने क्या-क्या कल्पना हटानेके लिए क्या-क्या आरोप किया गया है। व्यावर्तकको समझ लो कि क्या हटाना चाहते हैं। आखिर हमारी कौन-सी गलती हटानेके लिए यह कल्पना की जा रही है? गलतीको समझ लो और छोड़ दो।

एक लड़केने कहा—'३+२=५ होता है।' उसको पूछा कि ३+२=५ कैसे होता है? वह बोला कि 'हमारे मास्टरसाहबने बताया है कि ३+२=५ होता है।' मास्टरसाहबके बतानेसे ३+२=५ होता है कि उसका कोई और तरीका भी है?

देखो—तीनमें क्या है? १+१+१ और १+१=३+२=५ हो गया। तो प्रत्येक इकाईको अलग-अलग समझना चाहिए। उसको पाँच समझना दूसरी चीज है और मास्टरसाहबका बताया हुआ होनेसे ३+२=५ समझना, यह दूसरी चीज है। तो पहली प्रक्रिया है—

अध्यारोपापवादाभ्याम्।

वेदान्तीलोग तीन प्रकारसे इसको समझाते हैं। सजातीय, विजातीय और स्वगत जितने भेद हैं, उनका निषेध कर दिया जाय। सारेके सारे भेद बौद्धिक होते हैं। बुद्धिगत जो भेद-भ्रम हैं, उनको निवृत्त कर देना, यह पहली बात है वेदान्तियोंकी।

दूसरी बात यह है कि (भेद-भ्रम नहीं;) यह भेदात्मक जो प्रपंच है न, इस प्रपंचको माने कार्यको कारणमें अन्वय व्यतिरेकसे लीन करना, (यह दूसरी चीज है और भेदबुद्धिको मिटाना दूसरी चीज है। फिर कार्य-कारण-कल्पनाका परित्याग करना।

दृष्टिसृष्टिवादमें केवल दृष्टिगत भ्रमकी निवृत्ति ही इष्ट है और कार्य-कारण-विचारमें कार्यको कारणसे अनन्य समझ करके, घड़ेको मिट्टीसे अनन्य समझ करके, मिट्टीसे न्यारा घड़ा कुछ नहीं है और ये कार्य-कारण दोनों अपने स्वरूपमें बिना हुए ही भास रहे हैं।

प्रपंचका निषेध, भेदबुद्धिका निषेध और तीसरी प्रक्रिया है—

एष आत्मभिदं सर्वं, त्तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

तीन प्रक्रिया— १. नेति-नेतिके द्वारा, छान्दोग्य० ६-९

२. कार्य-कारण विलापनके द्वारा

और ३. सर्वात्मबोध। अपना स्वरूप परमात्मा है। हमसे अलग यदि परमात्मा होगा, तो वह हमारे विरहमें बेहोश रहेगा, होशमें आ नहीं सकता और ईश्वरके विरहमें हम कटे पिटे रहेंगे, परिच्छिन्न रहेंगे। हमारे विरहमें ईश्वर अचेतन है। यदि ईश्वर परोक्ष हो, तब भी अचेतन है।

चेतना कल्पित है और अचेतनता वास्तविक है, क्योंकि हमसे अपृथक् हुए बिना कोई वस्तु चेतन हो ही नहीं सकती। यदि हमसे अलग ईश्वर प्रत्यक्ष है तो

दृश्य है, विकारी है और यदि परोक्ष है तो कल्पित है। हमसे अलग रह करके ईश्वर चेतन हो नहीं सकता, अचेतन रहेगा और ईश्वरसे अलग रह करके हम पूर्ण नहीं हो सकते, कटे-पिटे रहेंगे, अपरिच्छिन्न नहीं हो सकते। रागद्वेष, हिंसा, मोह, भ्रान्तिके शिकार बने रहेंगे, सुखी-दुःखी रहेंगे। पापी-पुण्यात्मा रहेंगे, आते-जाते रहेंगे।

वेदान्त तीन रीतिसे इस बातको समझाता है। बुद्धिस्थित भेदभ्रमको निवृत्त करना, बाह्य-स्थित प्रपंचको ही कार्य-कारणभावका विवेक करके अधिष्ठानमें अध्यस्तरूपसे देख लेना और आत्मा ही सर्वरूपमें भास रही है; परमात्माके सिवाय, आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह अनुभव कर लेना।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ३१॥

यह 'परावरे' भी बड़ा मजेदार है। यह मन्त्र जो है उपनिषद्‌का, मूल वेदकी संहितामें भी आता है और उपनिषदोंमें भी आता है। पुराण तो ऐसा कोई है ही नहीं, जिसमें यह न हो। अठारहों पुराणोंमें है! 'महाभारत'में भी है; सर्वत्र है। एक बार भाई, उसको देखने दो, फिर देखनेको मना कर दो—

हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले?

तुम तो देखनेसे पहले ही आँख बन्दकर देते हो! हे महापुरुष! तुम हमको अन्धा बनाना चाहते हो? क्यों? परमात्माका दर्शन होनेसे पहले ही हमसे कहते हो कि 'आँख फोड़ दो!' एक बार उसको देख लेने दो, फिर तुम कहो कि न कहो, हम अपनी आँख फोड़ देंगे। लेकिन एक बार उसको देख तो लेने दो।

जो लोग कहते हैं कि शास्त्र छोड़ दो, सम्प्रदाय छोड़ दो, विचार छोड़ दो, दर्शन छोड़ दो, गुरुसे कुछ मत सीखो, आँख बन्द कर लो!

एक बार आँखसे जितना दिखता है, उतना तो देख लेने दो! देखनेके पहले तुम आँख क्यों फोड़वाते हो?

तस्मिन् दृष्टे परावरे।

परमात्माका दर्शन होता है, माने परमात्माका साक्षात्कार होता है। अमत्वेन साक्षात्कार होता है, अदर्शनत्वेन साक्षात्कार होता है। अमतरूपसे परमात्माका साक्षात्कार होता है। परमात्मामें दर्शन नहीं है, यही दर्शन होता है। परमात्मामें मत नहीं है, यही अमतरूपसे दर्शन होता है। परमात्मामें दृश्य नहीं है, यही दर्शन होता है। परमात्मा ज्ञात नहीं है, यही ज्ञात होता है। परन्तु ज्ञात नहीं होता है, इसको जरा समझ तो लेने दो! क्यों ज्ञात नहीं होता है?

बीस-पचास बरस जिन्होंने सत्संग किया है, जो समझ गये हैं कि साक्षी क्या होता है, जो समझ गये हैं कि ब्रह्म क्या होता है, जो समझ गये हैं कि नामरूपसे परे होता है ब्रह्म, वे लोग अब अपनी आँख फोड़के, कानमें ठेपी लगाके, अपने दिल-दिमागको बन्द करके बैठ जायेंगे, तो उनका काम चलेगा। लेकिन जो इस रास्तेमें चलना चाहते हैं, चलनेके पहले उनके पाँव काट दिये, देखनेके पहले उनकी आँख फोड़ दी, समझनेके पहले उनकी बुद्धि मिटा दी? तब क्या होगा?

तस्मिन दृष्टे परावरे।

यह जो अदृष्ट द्रष्टा है, जो अजड़ चेतन है, जो अद्वैत आत्मा है, उसका पहले दर्शन होने दो! वह 'पर' और 'अवर' दोनों है। बड़ा भी वही है, छोटा भी वही है। उसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है।

जो लोग समझते हैं कि आँख बन्दमें परमात्मा दिखता है, खुलेमें नहीं दिखता है, वे परमात्माको आधा जानते हैं। जो समझते हैं कि परमात्मा खुली आँखसे ही दिखता है, बन्द आँखसे नहीं दिखता है, वे भी परमात्माको आधा ही जानते हैं। जो जानते हैं कि खुली आँखसे भी वही है, बन्द आँखसे भी वही है और आँख भी वही है, जो दिखता है वह भी वही है और जो देखता है वह भी वही है—

तस्मिन् दृष्टे परावरे।

ये तो आधा बताते हैं। दिलमें मिलेगा तो बाहर क्या? श्री उडियाबाबाजीसे किसीने कहा—'महाराज! ईश्वर तो निराकार ही है न?'

वे बोले—'तो फिर साकार कौन? तुम्हारा चच्चा है?'

परमात्मा यदि अद्वितीय नहीं होगा, तो क्या है? देशसे परिच्छिन्न होगा। 'अद्वितीय' भी समझना पड़ता है कि 'अद्वितीय' क्या है? जो पैदा हो के मर गया सो दूसरा। जो पैदा होकर जिन्दा है सो दूसरा। और जब यह मर जायगा और दूसरा पैदा होगा, वह दूसरा! जो कालमें कटनेवाला है, उसका नाम 'द्वितीय' है। जो एक दाहिने एक बायें, उसका नाम 'द्वितीय' है। जो एक भीतर एक बाहर, उसका नाम 'द्वितीय' है।

जहाँ दाहिना नहीं, बायाँ नहीं, जो भूतमें नहीं भविष्यमें नहीं, जो भीतर नहीं बाहर नहीं, जो यह नहीं मैं नहीं, उसका नाम 'अद्वितीय' होता है। एक बार

'अद्वितीय'को समझ तो लो! फिर समझनेकी जरूरत नहीं है। बिना समझे समझको ही काट दिया, तो क्या किया?

एक आदमीको सीढ़ी लगाके छतपर चढ़ना था। वह सीढ़ीसे चढ़ गया और बादमें सीढ़ीको गिरा दिया कि जाओ, अब जरूरत नहीं है। रातको बेफिकर सो गया कि अब सीढ़ी नहीं है तो कोई आवेगा नहीं। ऐसे करते थे पहले! छतपर चढ़नेके लिए पत्थरकी बनी हुई सीढ़ी नहीं थी। सीढ़ी लगाके ऊपर चढ़ गये। चढ़के फिर यह हुआ कि सीढ़ी लगी रहेगी तो क्या होगा? रातको कोई चोर उठा ले जाय और दूसरेके घरमें लगाके चोरी करे; तो क्या करो? अब सीढ़ीको भी खींच लो ऊपर! अब चोर हमारे पास भी नहीं आ सकता, चोर सीढ़ी चुराकर ले भी नहीं जा सकता। हमारे घरमें चोर आवे और सीढ़ी ले जाय, तो हम तो छतपर टँगे रह जायेंगे! हमने सीढ़ी उठाके छतपर अपने पास रख ली। सो गये।

एक आदमी आया। उसने कहा, 'अन्तमें सीढ़ी तो हटानी ही पड़ती है तो आओ, चढ़नेसे पहले ही हटा देते हैं।' पास जानेसे पहले ही नाव छोड़ दी। यात्रा पूरी होनेके पहले जूता उतार दिया। गन्तव्यपर पहुँचनेके पहले हवाईजहाज छोड़ दिया।

यह विचार कहीं दूसरी जगह जानेके लिए नहीं है। यह विचार विचारके साक्षीको ही समझनेके लिए है, विचारके अधिष्ठानको समझनेके लिए ही विचार है—'**तस्मिन् दृष्टे परावरे।**'

'पर' भी वही है और 'अवर' भी वही है। एक महात्मा उसका अर्थ ऐसे करते थे कि-'**परम् अपि अवरम् यस्मात्**'। 'भागवत'में भी यह शब्द है न! टीकाकारोंने इसका अर्थ ऐसे किया है—'पर माने जिसको दुनिया मानती है, सबसे परे। प्रकृति, माया, मायाविशिष्ट चैतन्य—यह सब क्या है? सबसे 'परे' है, वह भी है 'अवर' माने छोटा जिससे। अर्थात् कारणविशिष्ट, कारणान्तर्यामी, कारणाश्रयरूप जो चैतन्य है, कार्य-कारणके भीतर आबद्ध नहीं है परमात्मा। कार्य-कारण तो आपेक्षिक हैं। कार्यकी अपेक्षासे कारण है और कारणकी अपेक्षासे कार्य है। एक 'तत्त्वमसि-स्तोत्र' है—श्रीब्रह्मानन्दस्वामीकी रचना है—

कारणसत्त्वे कार्यत्वं स्यात् कार्ये सत्ये कारणता स्यात्।
कार्यकारणाभावे कस्माज्जीवेशो वा तत्त्वमसि॥

कारण होवे तब कार्य होवे। कार्य होनेपर कारणता होती है। ये दोनों सापेक्ष हैं, इसलिए दोनों मिथ्या हैं। स्तोत्रमें बारह-तेरह श्लोक हैं। प्रत्येक श्लोक के अन्तमें '**तत्त्वमसि**' आता है।

जहाँ कार्य-कारणका भेद है न, कार्य-कारणके भेदके अभावका अधिष्ठान है, अपना स्वरूप! उसमें जीव और ईश्वर कहाँ? '**तत्त्वमसि**'।

वही जीवेशाभावाधिष्ठानस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मात्मा है। वह तुम हो। उसमें सब चीजोंका ऐसे ही वर्णन है, दो-दो भेद करके। 'तत्त्वमसि-स्तोत्र' इसका नाम है।

'स्वराजसिद्धि'में '**सद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावय शुद्धरूपम्**' नव श्लोकोंमें है। जैसे 'छान्दोग्य उपनिषद्'में '**तत्त्वमसि**' नव बार कहा गया है, वैसे '**स्वराजसिद्धि**' में यह बात नव बार कही गयी है।

परमपि अवरं यस्मात्—कार्य-कारण, जीव-ईश्वर, माया-प्रकृति, विद्या-अविद्या। वेदान्तसे जो 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यसे वृत्ति उदय होती है न; 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह वृत्ति। अस्मि—यह अहं। तत्—यह परोक्ष। साराका सारा वाच्यार्थ और वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थका सारा भेद जिसमें अवर है, कल्पित है, उसको बोलते हैं 'परावर'। उस प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका दर्शन होता है। वह दर्शन क्या होता है?

मति न लखै जेहि मति लखै।

अरे! वही तो अमत है। उसका दर्शन होनेपर क्या होता है?

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

हृदयकी गाँठ खुल जाती है। एक ग्रन्थि है; एक होता है 'हृत्' और एक होता है 'अय'—**अयमात्मा ब्रह्म।**

हृत्। अयं=हृदयं माने हृत्=दुनियाके संस्कारोंको हरण करनेवाला, पकड़नेवाला हृत्। अयं=संस्काररहित अधिष्ठान आत्मा। इन दोनोंकी ग्रन्थिका नाम है 'हृदय'। इसीको 'हृदयग्रन्थि' बोलते हैं।

जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञानस्वरूप आत्मदेव हैं, उनको एक अन्त:करणके साथ जोड़ बैठना—इसका विक्षेप हमारा विक्षेप है, इसका कर्म हमारा कर्म है, इसका भोग हमारा भोग है, इसकी परिच्छिन्नता हमारी परिच्छिन्नता है। यह क्या है? इसीका नाम ग्रन्थि है।

अन्त:करणको और अन्त:करणके धर्मको अपनेमें आरोपित कर बैठना और अपनी स्वयंप्रकाश चेतनताको हृदयमें डाल देना, यह परस्पराध्यास है।

अध्यासके तीन रूप हैं—अर्थाध्यास, ज्ञानाध्यास और संसर्गाध्यास। बाह्यार्थवादी जो हैं, वे त्रिसत्तावादी हैं। व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता। वे अर्थाध्यास मानते हैं।

दृष्टिसृष्टिवादी हैं, वे कहते हैं, अर्थाध्यास नहीं है, ज्ञानाध्यास है। भ्रम ही है केवल। दूसरी वस्तु ही नहीं है।

द्रष्टा-दृश्यका सम्बन्ध-मात्र संसर्गाध्यास है। संसर्गाध्यासमें केवल सम्बन्ध ही अविद्या है। अर्थाध्यासमें अर्थरूपता माने अर्थकी सत्ता अविद्या है। ज्ञानाध्यासमें न सम्बन्धकी सत्ता है, न अर्थकी सत्ता है। केवल भ्रम ही भ्रम है।

हृदयग्रन्थिका भेदन माने अविद्याग्रन्थि=अज्ञानकी गाँठ खुल गयी। फिर जितने संशय हैं, सब निवृत्त हो जाते हैं। अज्ञानके कारण संशय होता है—'क्यों जी! मैं ही अद्वितीय अनन्त ब्रह्म हूँ कि नहीं हूँ? यदि मैं ब्रह्म हूँ तो इस ब्रह्मरूपका साक्षात्कार होता है कि नहीं होता है? अच्छा, साक्षात्कार होता है, तो हमारा कुछ कर्तव्य भी है कि नहीं है? अच्छा, हमारा कोई कर्तव्य नहीं है, तो हम जीवन्मुक्त हैं कि नहीं हैं? हम जीवन्मुक्त हैं, तो देहपातके बाद विदेहमुक्ति होगी कि नहीं होगी? विदेहमुक्ति हो भी जायगी, तो फिर जन्म होगा कि नहीं होगा?

यह सब क्या है? यह सब संशयग्रन्थि हैं। संशयग्रन्थि माने अभी नींद टूटी नहीं है। संशय=निद्रा ही होता है संस्कृतमें। 'शयन'में जो 'शय' है, 'संशय'में भी वही 'शय' है।

'बन्धन'में जो 'बन्ध' है, वही सम्बन्धमें भी 'सं' उपसर्ग लगके 'सम्बन्ध' है। इसी प्रकार 'संशय'में जो 'शय' है, उसमें 'सं' लग गया तो 'संशय'=अच्छी तरह सोये।

जागते हुएका लक्षण संशय नहीं है। दर्शनोंके इतिहासमें एक ऐसा समय आया था, जब संशयवादी हो गये थे लोग कि—'ऐसा है कि ऐसा है?' 'ऐसा है कि ऐसा है?' यहाँ तो सब निश्चयात्मक है। सब संशय निवृत्त हो गये, क्योंकि सारे संशय अविद्यामूलक होते हैं। वस्तुको हम साफ नहीं समझते हैं, तब संशय होता है। '**स्त्री वा पुरुषो वा?**' स्त्री है कि पुरुष है? हम लोग रास्तेमें आते हैं न, तो दूरसे मालूम पड़ता है कि 'मरीन ड्राइभ' पर एक महात्मा भी आ रहे हैं। हाँ भाई, बड़े धीर-गम्भीर चालसे चलते हैं। लाल-लाल कपड़ा दूरसे दीख रहा है। जब मोटर पास आती है तो मालूम होता है कि महात्मा नहीं है, महिला है।

रज्जु-सर्पभ्रम यही है। महिलामें महात्माका दीखना। यह रज्जुमें सर्पभ्रम हो गया। अन्यमें अन्यको देखना। दूसरेको दूसरा समझना, इसीका नाम भ्रम है। जब

भ्रम होता है न, तो पहले ठीक-ठीक समझा नहीं होता है कि कौन है? तब स्त्री है कि पुरुष है? यह भ्रम हो गया। जब समझ लिया, तो स्त्री है कि पुरुष है, यह भ्रम नहीं होगा।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

कर्म बड़ा दुःख देता है। करनेमें पहली बात यह है कि हम दुनियाको बदल सकते हैं। जिसके मनमें कर्म करनेका दावा होता है कि—'हम ऐसेसे ऐसा बना देंगे। हम पहाड़को तौल लेंगे! हम समुद्रको नाप लेंगे। हम आकाशका अन्त देख लेंगे।' कर्मीके मनमें पहले अभिमानका उदय होता है। फिर वासना होती है कि 'यह कर्म करेंगे तो यह भोग मिलेगा, यह कर्म करेंगे तो यह भोग मिलेगा।' तब अपनेको तो भूल ही गये। इसमें अपना कहाँ है? सब कुछ रुपैया हो गया न? भज कलदारम्-भज कलदारम्। बाहरवाला सब कुछ है, हम कुछ नहीं हैं।

हमने देखा है, जो लोग कुत्ता पालते हैं न, उनका कुत्ता उनसे बहुत प्रेम करता है। उनके सामने पूँछ हिलाता है, उनको चाटता है। हमने तो ऐसा देखा है कि कुत्तेको उठाके अपने पास लेते हैं न, तो कुत्तेकी जीभ अपने मुँहमें डलवाते हैं, माने कुत्तेसे चुम्बन करवाते हैं या कुत्तेको चुम्बन करते हैं। चुम्बन नहीं करते हैं तो अपनी जीभ उसको पिलाते हैं, उसकी जीभ खुद पीते हैं। ऐसा हमने अपनी आँखसे देखा है। यह बात सुनी-सुनाई नहीं बताते हैं। तो तुम्हारा कुत्ता तुमसे इतना प्रेम करता है, तुम अपनेसे कितना प्रेम करते हो? अब बोलो।

'नहीं जी, हम तो उससे प्रेम करते हैं। हमारा प्यारा तो वह है।'

तुमसे ज्यादा समझदार तो तुम्हारा कुत्ता है। तुम्हारे अन्दर जो सुख बैठा हुआ है, तुम्हारे अन्दर जो रस है, जो स्वाद है, उसको वह पहचानता है। अभी वासना उठती है। तुम्हारा सुख कहाँ है? वहाँ है। उसके लिए बनो मजदूर, करो कर्म।

बोले—'अभी तो हम प्रारब्धका फल भोग रहे हैं। अभी तो हम क्रियमाण कर्म कर रहे हैं। और, अभी तो हम संचित इकट्ठा कर रहे हैं। अभी तो हम आगेके लिए कर्म बना रहे हैं।'

जरा देखो, तुम्हारे स्वरूपमें है भी कोई इसका रिश्ता-नाता? तुम साक्षी कैसे हो? तुम चेतन कैसे हो? तुम ज्ञानस्वरूप कैसे हो? जरा इसको देखो तो!

परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है, संशयका निवारण हो जाता है, कर्मक्षय हो जाता है।

●

प्रवचन ३०

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ३१॥
अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राधः पारमार्थिकः॥ ३२॥
अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन्जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः॥ ३३॥
अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः॥ ३४॥

अब यह बात करते हैं—

तस्मिन् परावरे दृष्टे क्वचित्।

'पर' भी जिससे 'अवर' है। परावर माने क्या? जो सबसे परे है, वह भी जिससे 'अवर' माने छोटा है। दुनिया जिसको बहुत बड़ा समझती है, विचार करनेपर वह भी बहुत खोखला निकलता है। जो लोग शहरमें रहते हैं, उनको पहाड़के बारेमें ऐसी कल्पना होती है कि 'बड़े सुन्दर हैं, रमणीय हैं।' जब पहाड़पर जाते हैं, तो जिस दिन आग लग जाती है जंगलमें, उस दिन धुएँके मारे बेचैन! जिस दिन हवा न चले, उस दिन फुनगे छोटे-छोटे आँखमें घुसें! गंगाकिनारे बैठो तो कभी ठंडी हवा तो कभी गरम हवा। आटा जो वहाँ पिसता है, उसमें पत्थरकी किरकिरी रहती है और पानीमें भी बालूके कण रहते हैं और जब पेटमें जाते हैं तो पचते नहीं हैं।

दूराति पर्वता रम्याः।

पहाड़ दूरसे सुहावने लगते हैं। जब पहाड़पर जाकर रहना हो, तो वहाँ भी होटल चाहिए, पलंग चाहिए, एयरकण्डीशन चाहिए! 'दूरके ढोल सुहावन'— बोलते हैं न? गाँवके लोगोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उनके लिए जो अप्राप्त वस्तु होती है, उसको महत्त्वपूर्ण समझते हैं। जैसे वे थोड़े कपड़ेमें गुजर नहीं कर सकते और थोड़े कपड़ेमें गुजर करनेवालेको देखेंगे,तो उनकी बड़ी भारी श्रद्धा होगी। वे बिना पैसेके नहीं रह सकते; बिना पैसेके रहनेवालेको देखेंगे तो बड़ी भारी श्रद्धा होगी। वे कोई जादूका खेल नहीं जानते हैं, तो जादूके खेलवालेको देखेंगे, उनकी उनमें बड़ी भारी श्रद्धा होगी। वे अपनेमें जिस कामकी असमर्थता पाते हैं, वह यदि कोई दूसरा कर रहा हो, तो उसे बहुत बड़ा समझते हैं। परन्तु वे जानते नहीं हैं कि उस बड़प्पनमें क्या पोलपट्टी है, जिसको दुनिया बहुत बड़ा समझती है।

यह जगत्का कारण है, यह अव्याकृत है, यह अव्यक्त है, यह अनन्त है और ऐसी वस्तुका साक्षात्कार क्या है? अविद्यानिवृत्तिमात्र है। अवाङ्मनसा-गोचर है।

जो अवाङ्मनसागोचर है, जो वाणीसे बोला नहीं जा सकता और मनसे सोचा नहीं जा सकता, जो साक्षीका भी दृश्य नहीं होता। अब देखो, हमलोग कहते हैं न, कि—'वाणीसे बोला नहीं जा सकता' और वाणीसे बोल-बोलके ही बताते हैं कि—'वाणीसे बोला नहीं जा सकता।'

न तत्र वाग्गच्छति न मनो गच्छति।

कोई कहते हैं कि—'देखोजी, हम तुम्हारे वेदका निषेध करनेके लिए यह बात बोलते हैं। शब्द वहाँ नहीं जा सकता, वाणी वहाँ नहीं जा सकती, मन वहाँ नहीं जा सकता। वहाँ तुम्हारा वेद कैसे पहुँचेगा?'

'तुम कोई नई बात थोड़े बोल रहे हो? वेदकी बात चुराके अपने नामसे बता रहे हो! अभिमानी बन रहे हो कि 'मैं बोल रहा हूँ।' बात तो वेदकी है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

बोले—'भाई, मनको साथ लेकर वाणी उस परमेश्वरको ढूँढ़नेके लिए, उस परम सत्यको, परमार्थको ढूँढ़नेके लिए निकली।

जिससे तुम 'है' मुँहसे बोलते हो, सो नहीं। एकने कहा—'है' ऐसे मत

बोलो। 'है' ईश्वर है, ऐसे बोलो।' तुम ऐसा क्यों नहीं कहते हो कि जिसको तुम 'है' ऐसा मुँहसे बोलते हो, जिसको तुम 'है' ऐसा मनसे सोचते हो, जिसको तुम 'है' ऐसा साक्षीसे देखते हो, वह असली सत्य नहीं है, झूठा है।

'है' वाणीका विषय है? 'है' वृत्तिका विषय है? 'है' साक्षीका विषय है? 'है'-'है' तुम किसको बोलते हो? 'है' माने संस्कृतमें 'अस्ति' बोला जायगा। संस्कृत भाषामें 'अस्ति'को परमात्मा नहीं बोला जाता, 'अस्ति'को विषय बोला जाता है।

घटः अस्ति, पटः अस्ति। तुम वाणीके विषयको 'है' ऐसा बोलते हो। तुम मनके विषयको 'है' ऐसा बोलते हो। तुम साक्षीके विषयको 'है' ऐसा बोलते हो।

बोले—'नहीं बाबा, हम तो साक्षीको ही 'है' ऐसा बोलते हैं।' तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। जहाँ तुम साक्षीको ही 'है' ऐसा बोलते हो, माने चेतनको ही 'है' ऐसा बोलते हो; माने जहाँ चेतन और सत्ता अलग-अलग नहीं है, उस वस्तुको ही यदि तुम 'है' बोलते हो, तो तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर।

वहाँ वाणीकी गति नहीं है, शब्दकी गति नहीं है। वह वाणीको देख रहा है। वहाँ मनकी गति नहीं है; वह मनको देख रहा है। वहाँ दृश्यरूप 'है' नहीं है, क्योंकि दृश्य भी देखा जा रहा है। जो साक्षीरूप 'है' है, वह तो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है ही। नई बात क्या कही?

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

एक दिन सब वाणियाँ इकट्ठी हुईं। वाणी वैसे तो एक है तत्त्वरूपमें। भाषाके भेदसे, स्थितिके भेदसे, जीभके भेदसे, व्यक्तियोंके भेदसे वाणी अलग-अलग हो गयी। वाक्तत्त्व एक है, परन्तु अलग-अलग चीजोंका वर्णन करता है, अलग-अलग शब्दोंको बोलता है, अलग-अलग भाषाओंको बोलता है और अलग-अलग मुँहमें जीभ अलग-अलग होती है। जीभ परमार्थ नहीं है और जीभसे बोला हुआ भी परमार्थ नहीं है। तब उन्होंने मनको बुलाया—'हे मनीराम! तुम हमारे साथ चलो। देखो भाई, हम परमात्माको ढूँढ़ें।'

मनने कहा—'क्यों जी! अगर तुम हमको अपने साथ लेकर जाओगी, तो परमात्मा तुम्हारे पर शंका करेगा कि स्त्रियाँ परपुरुषको ले करके हमारे पास आयी हैं।'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

वाणियोंने कहा—'नहीं-नहीं, हम जानती हैं कि तुम पुरुष नहीं हो। तुम

नपुंसक हो। इस लिए तुम्हारे साथ चलनेमें कोई हरज नहीं है। हमारे पतिदेव भी जानते हैं कि तुम नपुंसक हो।'

रानी-महारानी जैसे अपने साथ नपुंसकको, हिजड़ेको लेकर चलती हैं, वैसे ये वाणियाँ चलीं परमात्माके पास! लेकिन मन भी हार गया और वाणी भी हार गयी। क्यों? बोले-'**नैतद्देवाप्नुवत्**'। वह कहीं नहीं मिला, क्योंकि वह तो वाणीकी आत्मा है, मनकी आत्मा है। अवाङ्मनसागोचर है।

तस्मिन् = जो तत् सत् है—

ओम् तत् सत् इति निर्देशः

'हम राम नहीं बोलेंगे'। अच्छा, मत बोलो। 'हम कृष्ण नहीं बोलेंगे।' अच्छा, मत बोलो। उसको 'सत्' बोलोगे? हिन्दीमें 'है' बोलोगे? संस्कृतमें 'सत्' बोलोगे? अंग्रजीमें कुछ दूसरा नाम रख लोगे।

बोले—'हम 'है' जो बता रहे हैं! बिलकुल नया!'

'नहीं, देखो हम उपनिषद् बताते हैं—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन चोभयोः।

कठोपनिषद् २-३-१३

'अस्ति'-'अस्ति'=परमात्मा। घटमें अस्ति, पटमें अस्ति; घटका नामरूप अलग करो, 'अस्ति' परमात्मा है। पटका नामरूप अलग करो, 'अस्ति' परमात्मा है। मठका नामरूप अलग करो, 'अस्ति' परमात्मा है। इसमें घड़ेको फोड़ना नहीं है, कपड़ेको फाड़ना नहीं है, मकानको ढहाना नहीं है। उनके ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही उनमें 'अस्ति'='है' के रूपमें परमात्मा है। बस, यही परमात्मा है। मारते हैं डंडा—'अस्ति' ही परमात्मा है? नहीं, इसमें जो 'है'-'है'-'है' जो है, यह परम सत्यको जाननेका एक तरीका है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावः प्रसीदति। कठ० २-३-१३

पहले जब 'अस्ति'-'अस्ति' रूपमें माने नामरूपके आधारके रूपमें, अखण्ड सत्ताके रूपमें उसका अनुसन्धान करोगे, तो नामरूप बाधित हो जायेंगे और अखण्ड सत्य रह जायगा। अखण्ड सत्यको पहचाननेके लिए 'है'-'है'-'है'; 'अस्ति'-'अस्ति'-'अस्ति', ऐसा जानना एक तरीका है, एक रीति है, एक पद्धति है।

जो लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं न, वे जब कोई नई बोली सुनते हैं, तो वे लोग समझते हैं कि—'अहाहा! क्या आ गया! क्या आ गया!! क्या आ गया!!!'

वेदान्त कहता है—'हम ब्रह्मका अनुशासन नहीं करते। यह ब्रह्मशास्त्र नहीं है।' तो क्या है? ब्रह्म शंसन है, ब्रह्म शास्त्र नहीं है। जब सायन्स वस्तुका निरूपण करता है, तो वह यह नहीं कहता है कि—'तुम ऐसा मानो।' 'ऐसा मानो'—यह शासन है। वह बताता है कि 'ऐसा है'। इसका नाम शंसन है। **शंसनात् शास्त्रम्।** यह वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको बतलाता है, तो इसमें क्या होता है?

दुनियामें जितने सम्प्रदाय हैं, जितने शास्त्र हैं, जितने प्रकारकी साधना है, वे कहते हैं कि—'मरते दमतक लगे रहो।' और वेदान्त कहता है—'दियासलाई जलाओ, देख लो कि कमरा बिलकुल स्वच्छ है और दियासलाई बुझ जाने दो। और तान दुपट्टा सो जाओ। कुछ पहरा देनेकी जरूरत नहीं है, रातभर जागनेकी जरूरत नहीं है, दुहरानेकी जरूरत नहीं है, चिल्लानेकी जरूरत नहीं है।'

सम्पूर्ण साधनोंसे जीवनकालमें ही मुक्त कर देना, यह अद्वैतवेदान्तकी विशेषता है। न यह योगदर्शनमें है, न यह सांख्यदर्शनमें है, न यह मीमांसादर्शनमें है, न उपासनादर्शनमें है, न यह न्यायदर्शनमें है, न यह वैशेषिकदर्शनमें है, न तन्त्रमें है। कोई कहता है, मरते समय याद आना चाहिए, कोई कहता है, जिन्दगीभर रखना चाहिए। वेदान्त कहता है, एक क्षणके लिए ब्रह्म 'चम्-चम्'से चमक उठा और देख लिया कि-'मेरे सिवा तो कोई है ही नहीं। कमरा भी नहीं, भीत भी नहीं, जंगल भी नहीं, पहाड़ भी नहीं; केवल अपना आपा है। और तुम? सब कुछ तुम। अब क्या? फिर क्या?'

यह बात दुनियामें कहीं नहीं है। इसीको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख कहते हैं। जहाँ कर्ममें, वृत्तिमें और भोग्यमें बिलकुल आग्रह नहीं है। जहाँ कर्म केवल दीखते हैं और कर्ता मर गया, उसका नाम ज्ञान है। जहाँ भोग्य केवल दीखते हैं और भोक्ता मर गया-इसका नाम ज्ञान है।

जहाँ वृत्तियाँ दीखती हैं, जहाँ वस्तुएँ दीखती हैं और प्रमाताकी जो परिच्छिन्नता थी न; प्रमाता था, सो मर गया। इसका नाम ज्ञान है। परिच्छिन्न प्रमाता मर गया। परिच्छिन्न कर्ता मर गया। परिच्छिन्न भोक्ता मर गया। पाप भास रहे हैं और पापी नहीं है। पुण्य भास रहे हैं और पुण्यात्मा नहीं है। सुख-दुःख भास रहे हैं और सुखी-दुःखी नहीं है। हजारों प्रकारकी घटाकार-पटाकार-मठाकार वृत्तियाँ और हजारोंके नामरूप भास रहे हैं, परन्तु ज्ञाता नहीं है। यह क्या हुआ?

तस्मिन् दृष्टे परावरे।

अरे! परमात्माका दर्शन हो गया, परमात्माका साक्षात्कार हो गया, भाई!

तब घर-घरौंदा बनाना नहीं। ये तो व्यक्तिजीवी हैं, जीविका चलाते हैं। गुरु दूसरी चीज होता है और टीचर दूसरी चीज होती है। घरमें दर्जा चारकी किताब जो पढ़ी जाती है, वह दूसरी चीज है और जब जिज्ञासाकी वेदनासे व्यथित हो करके हम सद्गुरुकी शरणमें जाते हैं, वह दूसरी चीज है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

हृदय है, पर हृदयग्रन्थि नहीं है। अनेकता है, पर संशय नहीं है। कर्म है, पर उसमें बीजत्व नहीं है। उसमें अंकुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसका नाम वेदान्त। ऐसी स्थितिमें 'कर्म' शब्दसे क्या समझना?

बोले कि संचित भी गया और क्रियमाण भी गया। प्रारब्ध भी गया। जो हम अभी कर रहे हैं, सो क्रियमाण है। ज्ञान होनेके पहलेसे जिसका फल प्रारम्भ हो गया था, माने देह बन गया था, उसका नाम प्रारब्ध है। जाति बन गई थी मनुष्यकी—

आकृति ग्रहणात् जातिः।

जाति दो तरहसे बनती है—एक आकृतिव्यंग्या, एक उपदेशव्यंग्या। एक तो शक्ल देखकर हम पहचान जाते हैं कि 'यह मनुष्य है।' 'यह पशु है।' 'यह पक्षी है।' यह शक्लसूरतवाली जाति प्रारब्धसे बनती है। एक बताना पड़ता है कि 'यह सज्जन ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है।' यह उपदेशव्यंग्या है। वह संस्कारसे बनती है। आपको यह बात दुनियामें सब जगह सुननेको नहीं मिलेगी। सुन लो, हम उसका भेद बताते हैं।

संन्यासी संस्कारसे बनता है। संन्यासी जाति नहीं है, आश्रम है। ब्राह्मणादि जाति नहीं, वर्ण है। जो वर्णन करनेसे मालूम पड़े, सो वर्ण। **वर्णनात् वर्णः।**

संचित वह है जिसमें कर्मकी राशि संचित है। और उसमेंसे फिर अंकुर निकल सकते हैं। कर्मके पहले एक कर्म और होता है। उसका नाम है 'प्रायश्चित्त।' पिछले किये हुए कर्मोंसे जो ग्लानि होती है। जैसे हम चोरी करें, मान लो! तो उस समय तो छाती तानकर चलेंगे कि 'हम चोर नहीं हैं।' भीतरसे साक्षीको, अन्तरात्माको तो मालूम है न, कि 'हम चोर हैं।' तो वह कभी-न-कभी तुम्हारे ऊपर चढ़ बैठेगा कि 'तुम चोर हो।' तब तुम्हारे मनमें ग्लानि होगी। अपनेको बुरा समझने लगोगे। अपने-आपसे ही तुम घृणा करने लगोगे कि 'मैंने चोरी की', 'मैंने व्यभिचार किया', 'मैंने दूसरेका नुकसान किया।' यह ग्लानिजनक जो कर्मराशि है; कर्मजन्य ग्लानि उदय न होने पावे, उसके लिए प्रायश्चित्तरूप कर्म किया जाता है।

ये चारों प्रकारके कर्म जीवन्मुक्त पुरुषमें नहीं होते। ज्ञानी पुरुषके जीवनमें अदृष्टकी उत्पत्ति नहीं होती। 'वाचस्पति मिश्र'ने कहा—'ज्ञानी वर्णाश्रमधर्मका पालन करे, तो किसके लिए?'

बोले—'हम स्वर्ग देंगे, वर्णाश्रम-धर्मका पालन करेंगे इसके लिए? आना-जाना ही नहीं।' अच्छा, तो पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्तिके लिए करें? बोले—'नहीं। अदृष्टकी उत्पत्तिके लिए तत्त्वज्ञानी पुरुष वर्णाश्रमका अनुष्ठान नहीं करता।' 'ब्रह्मसूत्र'में 'भामती'में यह बात है 'सर्वापेक्षाधिकरण' में।

कर्म क्यों करें? जिस कर्ममें लोककल्याणका अन्वय हो, सो तो करें। उसको अपने लिए कर्म नहीं करना है, लोगोंकी भलाईके लिए कर्म करना है।

यदि अज्ञानी पुरुष कर्म करे, तो इच्छित फलकी प्राप्तिके लिए कर्म करे। तो यह कर्म सकाम है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कर्म करे या अन्त:करणशुद्धिके लिए कर्म करे, या जिज्ञासाकी और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए कर्म करे, तो वह साधक है। ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए कर्म करे, तो भी साधक है। ये सब कर्मके भेद होते हैं। जब तत्त्वज्ञान होता है तो-'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि।**'

तस्मिन्दृष्टे परावरे—परमार्थ वस्तुको ही परमात्मा बोलते हैं। अर्थ बहुत-से हैं। एक मिश्री है, एक शक्कर है, एक पेड़ा है, एक बरफी है, एक गुड़ है। ये क्या हैं? ये सब अर्थ हैं। परमार्थ क्या है? उसमें जो मिठास है, वही परमार्थ है। वह सबमें है।

नामरूप अलग-अलग हैं। कोई लम्बा है, कोई गोल है, कोई चिपटा है, कोई चूरा है, कोई पुड़िया है। लेकिन उसमें जो मिठास है, वह परमार्थ है। इसी प्रकार यह जो सम्पूर्ण सृष्टि दिख रही है, उसमें नाम अलग-अलग और रूप अलग-अलग। उसमें जो अद्वितीय वस्तु है, उसका नाम परमार्थ है।

एक बापने कहा कि—'बेटा, यह काम कर दे, तो तुझे मिठाई देंगे।' बेटेने वह काम कर दिया। बापने तुरन्त लाके पेड़ा दे दिया। बेटेने कहा—'पिताजी, हमें पेड़ा नहीं चाहिए, मिठाई चाहिए। 'अच्छा, लो बरफी।' बेटा—'हमें बरफी नहीं चाहिए, मिठाई चाहिए।' 'लो लड्डू।' 'हमें लड्डू नहीं चाहिए, मिठाई चाहिए।' 'लो रसगुल्ला।' 'रसगुल्ला नहीं। हमको मिठाई देनेका वादा किया है तुमने!' बाप परेशान होगा कि नहीं? तो उसको समझाना पड़ेगा कि 'पेड़ेकी शक्ल अलग, बरफीकी शक्ल अलग, लड्डूकी शक्ल अलग, रसगुल्लाकी शक्ल अलग, गुलकन्दकी शक्ल अलग! इनके नाम अलग, इनके रूप अलग! लेकिन सबमें क्या है? मिठास। उसीको 'मिठाई' बोलते हैं।' मिठास परमार्थ है।

यह जो संसार दिख रहा है आपको, यह जो पंचोंका परपंच दिखायी पड़ रहा है, इस परपंचमें जो एक अखण्ड अद्वितीय सत्य है, उसीका नाम परमार्थ है। उसका जब दर्शन-साक्षात्कार हो जाता है, तब क्या होता है? **'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि।'**

मर गया सञ्चित, मर गया क्रियमाण, मर गया प्रारब्ध, मर गया प्रायश्चित्त। सब भुने हुए बीजके समान हो गये। अब इनसे अङ्कुर निकलनेवाला नहीं हैं। अब इनसे फलकी उत्पत्ति होनेवाली नहीं है। इसीसे यह बिहिश्त मिलनेके लिए नहीं है।

यह वेदान्तज्ञान मरके बिहिश्तमें—स्वर्गमें जाओ, इसके लिए नहीं है। मरके ईश्वरके दिव्य राज्यमें प्रवेश करनेके लिए नहीं है। यह ब्रह्मलोकमें जानेके लिए नहीं है। यह वैकुण्ठ, गोलोक, साकेतमें जानेके लिए नहीं है। यह तुम स्वयं परमात्मा-अखण्ड बोध-रसस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्स्वरूप, अद्वितीयस्वरूप तुम हो। यह बताता है तत्त्वज्ञान। इसीलिए—

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च।

जब ऋषि वामदेवको परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हुआ, तब बोले—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च।

मैं ही मनमें विचार उत्पन्न करनेवाला 'मनु' हूँ और मैं ही आँखोंको रोशनी देनेवाला 'सूर्य' हूँ।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

जो ब्रह्मवेत्ता होता है, वह ब्रह्म ही होता है। हम गये थे 'काशी'। वहाँ एक बड़े भारी व्याकरणाचार्य हैं। अब तक उन्होंने सौ-पचास व्याकरणाचार्य तो पास करा दिये होंगे। ९० बरसकी उनकी उमर! परन्तु हैं वे 'वैष्णव-सम्प्रदाय'के पण्डित।

एक दिन हो रहा था अद्वैतवेदान्तका शास्त्रार्थ। पण्डितराज 'राजेश्वर शास्त्री' उसके अध्यक्ष थे। सब 'काशी'के पण्डित बैठे हुए थे और विचार हो रहा था— '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**', अर्थात् ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

अब ये पण्डितजी कहें कि—'हम भी बोलेंगे। **मया किञ्चित् प्रोच्यते। श्रूयताम्-श्रूयताम्; अवधीयताम्**'—चिल्लायें। ८५-९० बरसकी उमर और चिल्लायँ! लोगोंने कहा कि—'कहिये महाराज!' पण्डितजी बोले—'**यो हि गर्दभं वेत्ति सः गर्दभो न भवति, कथमन्तरं हि ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति?**'

'जो गधेको जानता है वह गधा नहीं होता है, तो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म कैसे हो जाता है? **यो हि घटो वेत्ति सः घटो न भवति, तर्हि यो ब्रह्म वेद कथं ब्रह्म भवति?'**

अब तो पण्डितराज 'राजेश्वर शास्त्रीजी'को बहुत बुरा लगा। वेही 'काशी'के पण्डितोंके अध्यक्ष हैं। वे बोले—'आप वैयाकरण हैं, आप वेदान्तियोंकी सभामें न बोलें तो अच्छा!'

विशेषतः सर्वविदाम् समाजे विभूषणम् मौनम् अपंडितानाम्।'

'ज्ञानियोंके समाजमें उस विषयको न समझनेवाला अपण्डित न बोले, मौन रहे तो उसीमें उसकी शोभा है।' अब पण्डितजी तो लड़ गये कि 'मैं ठीक बोलता हूँ।' सभामेंसे उनका नाम ही काट दिया। अब ये सभाके सदस्य ही न रहेंगे, निकाल दिया। उस सभामें क्या होता है कि दक्षिणा देनेवाले लोग आते हैं न; जैसे बाबू 'राजेन्द्रप्रसादजी' गये तो 'काशी'के सब पण्डितोंके पाँव धो करके सबको ग्यारह-ग्यारह रुपया दिया।

हम गये एक बार तो 'जे० के० वालोंने 'काशीके सब पण्डितोंको बुलाके ग्यारह-ग्यारह रुपया दिया, पाँचसौ पंडितोंको! सबका पाँव धोया गया, सबको फल दिया गया, खूब शास्त्रार्थ हुआ।

फिर वह पण्डित हमारे पास आये पिछली बार। बोले कि 'देखो, पण्डित 'राजराजेश्वरशास्त्री' ने सभामेंसे हमारा नाम काट दिया है, तो हमें बहुत घाटा है; हमें दक्षिणा ही नहीं मिलती है। हमारी सिफारिश कर दो कि हमारा नाम फिरसे लिख दें।'

'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**'-ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, इसका अर्थ होता है कि ब्रह्मत्वेन माने ब्रह्मरूपसे आत्माका ही ज्ञान होता है। यदि हम ही ब्रह्म न होते, तो ब्रह्मको जाननेपर भी हम ब्रह्म न होते। पण्डितजीने ठीक कहा कि जो गधाको जानता है वह गधा नहीं हो जाता। जो घड़ेको जानता है वह घड़ा नहीं हो जाता। जाननेमें ऐसी क्या ताकत है कि हम जो जानें सो हो जायँ?

लेकिन कदाचित् हम वही हों, तब जाननेपर हम वही हो सकते हैं। देखो, इसमें न तो समाधि लगानेकी जरूरत है, वह तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए है। न इसमें उपासना करनेकी जरूरत है, न इसमें उल्टा टँगनेकी जरूरत है। यह तो जिसको शुद्ध बुद्धिकी प्राप्ति हो गयी है—

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

जो ब्रह्मवेत्ता है, वह ब्रह्म ही है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तैत्तिरीय० २-१-१

जो ब्रह्मको जानता है, उसको परतत्त्वकी प्राप्ति होती है।

तरति शोकं आत्मवित्। छान्दोग्य० ७-१-३

जो आत्माको जानता है, वह शोकसे पार हो जाता है। तो देखो, अपने-आपको जाना और शोकसे पार हो गये।

एक आदमीने गौरसे देखा कि 'मैं (किस किनारेपर हूँ,)' और वह नदीसे पार हो गया। ऐसा कैसे हुआ? ऐसा इसलिए हुआ कि वह जिस पार पर था उससे उल्टे पारपर अपनेको समझ रखा था। यह भ्रम था उसका। जब उसने गौरसे देखा, तो जिस पारपर उसको जाना था, उस पारपर तो वह पहलेसे ही था। तो, '**तरति शोकं आत्मवित्।**'

जब तुम अपनेको जानते हो, तो शोकसे परले पार हो जाते हो। उसका अर्थ यह है कि आप शोकसे परे हो। देखो, कल आपके मनमें शोक नहीं था और आपके मनमें शोक नहीं रहेगा। तो आज जो आया है, वह कहींसे मक्खीकी तरह आपके साथ चिपक गया है। जैसे मधुमक्खी आके काटने लगे, चींटी आके काटने लगे, वैसे शोक आके आपको काटने लगा है। परन्तु काटता भी नहीं, काटता-सा है। आप डर गये हैं। अपने-आपको देखो!

आपको स्वरूपमें शोक नामके मच्छरका डङ्क नहीं गड़ सकता। जब आप अपनेको जानेंगे, कि मैं तो शीशेका बना हूँ, तो अगर यह मच्छर अपनी सूँड़ गड़ावेगा मुझमें तो उसकी सूँड़ तो टूट जायेगी परन्तु हमको तो गड़ेगा नहीं। जब आप अपनेको जानेंगे, तो मच्छरसे कोई डर नहीं रहेगा। इस अनन्त अद्वितीय अविनाशी, परिपूर्णतम आत्मामें—परब्रह्ममें शोक है न, यह सपनेमें जैसे शोक फुरफुरा जाता है, उतना ही है। कौन शोक रहा है जिन्दगीभर? अरे! तुम्हारे अमृत आत्मामें आनन्द आत्मामें कहीं शोक है? तो शोक नामकी तो कोई चीज ही नहीं है।

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। बृह० ४-२-४

हे जनक! तुमने ब्रह्मको जान लिया और जानते ही तुमको अभयपदकी प्राप्ति हो गयी! इसका अर्थ है कि आत्मा अभय है।

द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृह० १.४.२

दूसरेसे भय होता है और आत्माके सिवाय तो दूसरा कोई नहीं है।

एतदेव खलु अमृतत्वमिति।

इतना ही अमृतत्व है कि आप अपनेको जान जायँ।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति। महावाक्योपनिषद्-३

परमात्माको जानते ही मनुष्य अमृत हो जाता है, आनन्द हो जाता है, ज्ञान हो जाता है, सत् हो जाता है, क्योंकि पहलेसे वही था।

तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्।

उसको देखा, वही हो गया, क्योंकि वही था। परन्तु इसके बाद यह सवाल आया कि 'महाराज! मरे कहाँ? हे भगवान्!'

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥

क्या याद रखते हुए और कहाँ मरें? बोले—'यह शर्त नहीं है। वह मन छूट गया। उसमें क्या स्मृति है, उससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं। सपनेमें क्या आया, उससे जाग्रत शरीरका क्या सम्बन्ध है? तो तीर्थमें मरो, चाण्डालके घरमें मरो, याद रखके मरो, बिना याद रखके मरो, जब ज्ञान नहीं हुआ था तब भी तुम तो पहलेसे मुक्त थे। ज्ञान हुआ तब भी मुक्त हो, जिन्दा हो तब भी मुक्त हो और मर जाओगे तब भी मुक्त ही हो! इसलिए'

दर्शनादर्शनौहित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्म ब्रह्मन् न ब्रह्मवित्स्वयम्॥

जिसको परमात्माका अनुभव हो जाता है, वह ब्रह्मवेत्ता नहीं होता, वह तो स्वयं ब्रह्म ही है।

एक बार 'श्रीउडियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा कि 'महाराज! आप ब्रह्मवेत्ता हैं।'

बोले कि 'ना, हम ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं, हम तो स्वयं ब्रह्म हैं। ब्रह्मवेत्ता तो मनुष्य होता है।'

एक बोले—'महाराज! आप अद्वैतवादी हैं।'

बाबा—'होते होंगे वादी लोग जो होते हैं साम्प्रदायिक वादी रोग उन्हींको होता है। हम अद्वैतवादी नहीं हैं, हम स्वयं अद्वैत हैं।'

हमारे अवधूत 'दत्तात्रेय' बोलते हैं—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।

परं सत्यं न विन्दन्ति द्वैताद्वैताविवर्जितम्॥

कोई कहते हैं—'अद्वैत है,' कोई कहते हैं— 'द्वैत है', उनको मालूम नहीं जिसका नाम द्वैत है उसीका नाम अद्वैत है। यह द्वैत-अद्वैत नामका भेद है, वस्तुका भेद नहीं है। इसीलिए—

तस्मादविद्यावद्विषयाणि एव प्रत्यक्षादिनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य १.१.१.१

सारे प्रमाण, प्रमाता-प्रमाणके सारे भेद और सारे शास्त्र अज्ञानीके लिए हैं; तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे नहीं हैं। यह 'शंकराचार्य भगवान्'का वचन है। यह अध्यात्मवादमें '**ब्रह्मसूत्र**'की भूमिकामें शुरूमें एक जगह उन्होंने लिखा है कि 'यदि एक बार '**तत्त्वमस्यादि**' महावाक्यका श्रवण करने पर किसीकी अविद्या निवृत्त हो जाए तो उसको दुहरानेके लिए, सोचनेके लिए कभी मत कहना। **आवृत्यधिकरण**'में '**लिंगाच्च**'-सूत्र है—

नहि वरविघाताय कन्योद्वाह १.१.२

अर्थात् वरको मारनेके लिए लड़की नहीं ब्याही जाती। तात्पर्य है उसको वृत्तिसे विनिर्मुक्त ब्रह्मत्वमें आवृत्तिरूप वृत्ति जोड़नेके लिए ज्ञान नहीं कराया जाता। दुबारा बोलनेकी जरूरत नहीं है दुबारा सोचनेकी जरूरत नहीं है। एक ही बारमें काम खतम!

न वेदान्ताद् प्रबलमानयिष्यते।

वेदान्तसे प्रबल कोई प्रमाण है ही नहीं।

●

रत्नचक्र

३१

यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।

तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेत्सदा॥

जिस क्षणमें यह जीव जान लेता है कि मैं अकेला ही हूँ, अद्वितीय हूँ, मेरे सिवाय न जड़ है न चेतन है; बस उसी क्षणमें वह जीवन्मुक्त हो जाता है। क्षणभरका काम है यह! उसको ज्ञान हो जाय कि अपना आत्मा ही अद्वितीय, अपरिच्छिन्न परिपूर्ण, अविनाशी, अखण्ड तत्त्व है— बस,काम तो उतना ही है, कोई जिन्दगीभरका नहीं है। परन्तु उसको जाननेके लिए लगना पड़ता है। तब वह लक्ष्य बन गया कि जानना है। इसका अर्थ यह हुआ कि न जाननेके कारण बाकी जितना जंजाल है, दु:ख है, अभिमान है, राग है, द्वेष है, भय है, यह सब न जाननेके कारण ही है।

असलमें मनुष्यके जीवनमें पाप क्या है, इसपर हम विचार करते हैं, तो बड़ा मजा आता है। डरना पाप है, डराना भी पाप है। संस्कृत भाषामें इसका नाम 'अभिनिवेश' है। दूसरेका अनिष्ट सोचना पाप है और अपना अनिष्ट सोचना भी पाप है। ये दोनों द्वेषका विस्तार है। अभिनिवेशके दो बच्चे हैं। अभिनिवेश=भय। भय=मृत्युका डर। खुद डरना और दूसरेको डराना पाप है।

द्वेषके दो बच्चे हैं—अपना अनिष्ट सोचना कि—'मैं मर जाऊँगा, आत्महत्या कर लूँगा, सिर फोड़ लूँगा'—यह पाप है और दूसरेका अनिष्ट सोचना भी पाप है। ये द्वेषके दो रूप हैं।

अपने प्रति राग करके दूसरेके प्रति द्वेष भी पाप है और दूसरेसे राग करके अपने प्रति द्वेष कर बैठना भी पाप है। मुहब्बतके चक्करमें पड़ करके पक्षपाती बन जाना पाप है और साढ़ेतीन हाथके शरीरमें रहनेवाली किसी भी चीजको—द्रव्यको

'मैं' मानना, इसके वजनको 'मैं' मानना, इसकी उमरको 'मैं' मानना, इसमें उठनेवाली भावनाओंको 'मैं' मानना, यह पाप है। बाहरकी चीजोंको 'मैं' और 'मेरा' मानना, यह भी पाप है। इसको 'अस्मिता' बोलते हैं। इन सब पापोंके मूलमें अपने स्वरूपका अज्ञान बैठा हुआ है। माने सब पापोंका बाप है, 'अज्ञान'। सब पापोंकी माँ है 'नासमझी भ्रान्ति'।

मैं-मेरा बाहर और भीतर, ये दोनों पाप हैं। मुहब्बत बाहर और भीतर पक्षपात, दोनों पाप हैं। अनिष्ट-चिंतन बाहर और भीतरका दोनों पाप हैं। डरना और डराना पाप है। हमारे अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे ये सब पापका स्वरूप है।

आजकल स्पृश्य-अस्पृश्यकी बात चलती है न! हमको अपने बचपनकी डायरी याद आती है। हम तब सोचा करते थे और अनुकूल बुद्धिसे सोचा करते थे, प्रतिकूल बुद्धिसे नहीं सोचते थे। अनुकूल बुद्धि माने जो शास्त्रमें लिखा हुआ है, वह सच है ऐसा मान करके हम उस पर सोचा करते थे।

हम कभी नास्तिक नहीं हुए। हमारे जीवनमें एक दिन भी ऐसा नहीं आया है जब मैं नास्तिक हो गया होऊँ। मैं नैयायिक हुआ हूँ, मैं योगी हुआ हूँ, मैं मीमांसक हुआ हूँ, मै वेदान्ती हुआ हूँ, मैं भक्त हुआ हूँ, मैं धर्मात्मा हुआ हूँ—सब आये और गये, लेकिन मैं नास्तिक कभी नहीं हुआ।

मैं अपनी पुरानी डायरी आपको सुनाता हूँ—स्पृश्यास्पृश्य=क्या छूना और क्या न छूना। अपने शरीरमेंसे या दूसरेके शरीरमेंसे परित्यक्त जो वस्तु है, बाहर निकाली हुई—काटा हुआ बाल, काटा हुआ नाखून, निकाली हुई हड्डी, गिरा हुआ खून, विष्ठा, मूत्र, थूका, जो अपने शरीरमेंसे बाहर निकल जाता है, किसीके भी शरीरमेंसे बाहर निकल जाता है, वह अस्पृश्य है। उसको छूनेसे मनुष्यका अन्नमयकोश दूषित होता है। यह नम्बर एक हुआ न!

अब नम्बर दो—यह मुर्दा जो होता है, जिसमें प्राण नहीं है; यह प्राणवाला आदमी जब निष्प्राण माने मुर्देको स्पर्श करेगा, तो प्राणरहित वस्तुके स्पर्शसे अपने प्राणपर प्रभाव पड़ता है, हमारे भी प्राण कमजोर हैं, निर्बल हैं। आदमी मृत्युसे डरने लगता है। इसलिए मुर्दा अस्पृश्य है। क्योंकि निष्प्राणताका प्रभाव अपनी सप्राणतापर पड़ता है। यह प्राणमयकोशकी अशुद्धि है।

सूतक-पातक लगता है न? यह मानसिक है जिससे ग्लानि होती है कि हम अशुद्ध हैं। यह सूतक-पातकका प्रभाव मनोमयकोशपर पड़ता है। यदि अपने दुश्मनके मरनेसे प्रसन्नता हुई, तब भी मन दूषित हो गया और अपने मित्रके मरनेसे दुःख हुआ तब भी मन दूषित हो गया।

अस्पृश्यताकी एक और बात—जिस कर्मको हम स्वयं गंदा समझते हैं, माने दूसरा कोई करे तो हम समझते हैं कि यह पापी हो गया। वह कर्म यदि हम खुद करेंगे, तो हम पापी हो जायेंगे। अर्थात् हमारा विज्ञानमय कोश दूषित हो जायेगा। हमारा कर्तापन दूषित हो जायेगा।

इस प्रकार अन्नमयका अस्पृश्य दूसरा,प्राणमयका अस्पृश्य दूसरा, मनोमयका अस्पृश्य दूसरा,विज्ञानमयका अस्पृश्य दूसरा। बुद्धि और कर्तृत्व दोनों विज्ञानमयकोशमें रहते हैं। अपनी ही बुद्धिमें यदि जो काम करना बुरा है, उसको यदि हम करेंगे, तो क्या होगा? हम पापी हो जायेंगे। तब अस्पृश्यता कहाँ है? अपनी बुद्धिमें बुरे माने हुए कर्मका कर्तृत्व अपने अन्दर आ जाय, तो हम अशुद्ध हो जाते हैं। हम अस्पृश्य हो जाते हैं। यह विज्ञानमयकोशमें अस्पृश्यता हुई।

हम जब निषिद्ध भोग भोग करके सुखी होना चाहते हैं, तो उस भोगका प्रभाव हमारे आनन्द-कोशपर पड़ता है। उससे आनन्दमयकोश दूषित हो जाता है। अतः बुरा भोग अस्पृश्य है, बुरा कर्म अस्पृश्य है,बुरा भाव अस्पृश्य है। इसी प्रकार प्राणमयकोशके लिए मुर्दा अस्पृश्य है और अन्नमयकोशके लिए गन्दी चीज-विष्ठा आदि जो शरीरसे परित्यक्त हैं, अस्पृश्य हैं।

इन पाँचोंके मिलनेसे भी अशुद्धि होती है और पाँचोंमेंसे एक-दोके कारण भी अशुद्धि होती है। अकेले-अकेले ये हों, तब भी अशुद्धि होती है। इन पाँचों अशुद्धियोंके बीज कहाँ बैठे हुए हैं? इन पाँचों कोशोंमें जो तादात्म्य है, मैं पनेकी जो भ्रान्ति है वहीं माँ है और अपने स्वरूपका अज्ञान बाप है। आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। और वह निर्मल है वह निस्सम्बन्ध निर्भाव है, निष्कर्म है, निरानन्द है, केवल साक्षी-मात्र! देहावच्छिन्न चैतन्य जो है, वह साक्षी-मात्र है।

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।

हम पचीस बरसोंसे इस बातपर विचार नहीं करते हैं कि पाप क्या है और पुण्य क्या है; धर्म क्या है और अधर्म क्या है? विचारकी दिशा मुड़ गई न! हम ब्रह्मके बारेमें विचार करते हैं। लोगोंके कामकी बहुत-सी बातें जो पहले हमारे मनमें, बुद्धिमें आया करती थीं, उनका आना बन्द हो गया।

हम 'गीताप्रेस'में थे, तब 'जयदयालजी'ने कहा—'हम दस लाख रुपया आपको देते हैं। हमको केवल धर्मकी व्याख्या लिखाओ।' इसका अर्थ यह नहीं था कि वे हमको दे रहे थे। इसका अर्थ यह था कि 'इसको प्रकाशित करनेके लिए हम बैंकमें जमा करते हैं और उसके व्याजसे प्रकाशन होगा, बिलकुल अलग

होगा। एक हजार रुपया महीनेका क्षेत्र लगा देते हैं। आप बैठो जङ्गलमें, पर धर्मके बारेमें लिखो आप।'

हमने कहा—'अब हम ब्रह्मके बारेमें सोचते हैं।' माने अब धर्मके बारेमें क्या सोचेंगे? 'छोड़ो इस बातको। धर्माधर्म पण्डितोंके जिम्मे छोड़ दो। ये पण्डितलोग धर्माभिमानी हैं। अपने तो ब्रह्मखण्डमें चले गये।'

हमारा वर्ण-विभाग प्रवृत्तिको नियमित करनेके लिए है। जैसे एक वर्णके लोग विद्याका व्यवसाय करें, वे व्यापारमें नहीं घुसें व्यापारी पोथी छापनेका काम-न करें और छापनेका काम करें तो दूसरी वस्तुका व्यापार न करें। इस तरहसे व्यापार संकीर्ण नहीं होगा। इसका नाम वर्ण-धर्म है। माने सबके लिए अपना नाम काम बँट गया। तब कोई बेरोजगार नहीं रहेगा। वर्ण-धर्म प्रवृत्तिकी उच्छृङ्खलताको रोकता है।

आश्रमधर्म विलक्षण है! वह निवृत्तिको परिपुष्ट करता है। भाई, हमको ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रममें, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थाश्रममें, वानप्रस्थाश्रमसे संन्यासाश्रममें एक दिन सब कुछ छोड़ करके, दोनों हाथ उठाके, निरावरण हो करके उत्तरदिशामें चलना है। एक दिन हमारे जीवनमें वह स्थिति आनी है कि 'न मेरा कोई न मैं किसीका।'

यह जो अन्तिम संन्यासकी अवस्था आनेवाली है, उसको सोचनेसे क्या होता है? निवृत्ति होती है। आश्रमधर्म निवृत्तिका पोषक है और वर्णधर्म प्रवृत्तिका निरोधक है। दोनोंका महत्त्व है। बचपनमें मैं इसका अध्ययन करता था।

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राधः पारमार्थिकः॥

इसके बारे में तीन बात। अवच्छिन्नताको कैसे समझना? अवच्छेदक माने क्या? जैसे घड़ेमें आकाश है। क्या आकाश घड़ेमें घिर गया है? घडेमें आकाश कैदी है क्या? नहीं, आकाश ज्यों-का-त्यों है।

हम दस बरसके होंगे। 'लघुकौमुदी' काँखमें दबाये हम जा रहे थे अपने गुरुजीके पास पढ़नेको। हमारे गाँवके पास एक 'ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंह' रहते थे। वे हमारे पितामहके शिष्य थे। अंग्रेजोंके जमानेमें तीस-चालीस बरस तक वे काउन्सिलके मेम्बर थे और उनके जानेके बाद भी ऊँचे-ऊँचे ओहदोंपर रहें। बड़े प्रतिष्ठित! वे 'दुर्ग'के और 'कुटस्वोली' के दीवान भी रहे। पर वे हमारे पितामहके पास आते थे और हमको भी प्रणाम ही करते थे।

हम जा रहे थे पढ़ने, तो साथ-साथ वे भी चल रहेथे।बोले-'बाबाजी! यह बात बताओ कि जब एक स्त्री घड़ा सिरपर लेके चलती है तो घड़ेके भीतर जो फोंफर है, अवकाश है माने जगह है, वह घड़ेके साथ-साथ बन्द होके चलती है कि बदलती जाती है?' हमारे वंशको 'बाबाजी' बोलते हैं।

मैंने कहा—'घड़ेमें जैसे पानी होता है तो उस घड़ेके साथ चलता है, घड़ेमें जैसे गुड़ होता है तो उस घड़ेके साथ चलता है, वैसे उसमें जो छिद्र है, अवकाश है वह भी चलेगा!'

बोले—'अच्छा, तुम जब ऐसे हाथ करते हो, तो आकाश हटता जाता है और तुम्हारा हाथ चलता है? कि आकाश जहाँ का तहाँ रहता है? मैंने कहा—'आकाश हटता जाता है।''

बोले—'नहीं बाबाजी, यह बात अभी आपने समझी नहीं है। यह आकाश ऐसी चीज है कि घड़ेकी दीवारके चलनेसे वह चलता नहीं है। हाथके चलनेसे वह हटता नहीं है। हवा हट जाती है लेकिन आकाश नहीं हटता है। हवामें और आकाशमें फरक है न?'

आकाश घड़ेके भीतर है, और आकाश घड़ेके बाहर है। तो उपाधिसे जिसमें अवच्छेद माने टुकड़ा हुआ, वह चीज वास्तवमें टुकड़े नहीं हुई। घड़ा तो एक दूसरी चीज है। वह आकाशको काटनेमें समर्थ नहीं है।

उप=पास। आधि=आधान। जो आकाशके पास रखा हुआ है, सो उपाधि। उपाधि=पास रखी हुई चीज। जैसे, आप नीली साड़ी पर वेल्लोरी पत्थर रख दो तो वह नीला लगेगा, लाल साड़ी पर लाल और पीली साड़ी पर पीला लगेगा। तो वह विल्लोरी पत्थर लाल-नीला-पीला हो गया? नहीं हुआ।

इसी प्रकार टुकड़ा-टुकड़ा-टुकड़ा चीजोंकी वजहसे आकाश टुकड़ा-टुकड़ा मालूम पड़ता है न, परन्तु आकाश टुकड़ा-टुकड़ा नहीं है। असलमें आकाश अखण्ड ही है। वैसे ही यह देह बिलकुल घड़ा है। अब कहो कि हम इसको 'घड़ा' नहीं कहेंगे, 'सुराही' कहेंगे, तो कोई हरज नहीं।

इस घड़ेके भीतर जो आकाश है, इसको घड़ा माने कोई भी गढ़ी हुई चीज काट नहीं सकती। एक होता है देहके बराबर आकाश। पंजाबमें देहको पिण्ड बोलते हैं, गाँवको भी पिण्ड बोलते हैं।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् कारयन्।।

जैसे पितरोंको पिण्ड देते हैं न, वैसे कुत्तोंको, चिड़ियोंको पारसी लोग देते हैं। यह देह पिण्ड है। तो एक होता है 'पिण्डाकाश' और एक होता है 'ब्रह्माण्डाकाश'।

यह न पिण्डसे काटता है, न ब्रह्माण्डसे काटता है। एक होता है 'मायाकाश'=कल्पिताकाश। एक होता है अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका आधार 'भूताकाश'। एक होता है 'शुद्धाकाश'। पिण्डाकाश (देहाकाश), ब्रह्माण्डाकाश, मायाकाश, और शुद्धाकाश। मायाकाशको सगुण कहते हैं। शुद्धाकाशको निर्गुण कहते हैं। ब्रह्माण्डाकाशमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश होते हैं। पिण्डाकाशमें जीव होता है। लेकिन यह जो चैतन्य है, वह कहीं कटा नहीं।

पिण्डदेश, ब्रह्मदेश, मायादेश; शुद्धदेश मायामें भी है, ब्रह्माण्डमें भी है और पिण्डमें भी है। वह कहीं परिच्छिन्न=अवच्छिन्न नहीं होता। कटा हुआ। छिन्न=छेदन; भिन्न=भेदन। भासनेपर भी, माने भ्रान्तिसे ब्रह्माण्ड अवच्छिन्न मालूम पड़ने परभी वह अवच्छिन्न नहीं होता।

अब देखो, देहकी उमर। तुम्हारे घरमें घड़ी लगी है—'टिक्-टिक्-टिक्।' घड़ीमें काल है, ऐसे देहकाल। देहका काल, वैसे ब्रह्माण्डका काल, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डका काल। एक मायाकाल है और एक ब्रह्माण्डका काल है।

जहाँ न मायाकाल है, न ब्रह्माण्डकाल है, न पिण्डकाल है,शुद्धकाल है। शुद्धकाल=ब्रह्म। शुद्धदेश=ब्रह्म।

एक सत्ता है। जहाँ देह बन गया वहाँ देहसत्ता है। जहाँ ब्रह्माण्ड बन गया, वहाँ ब्रह्माण्डसत्ता है। जहाँ कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बन गया, वहाँ मायासत्ता और जहाँ न पिण्ड, न ब्रह्माण्ड, न माया, उसका नाम ब्रह्मसत्ता।

अकालको ब्रह्म कहते हैं। अदेशको ब्रह्म कहते हैं। अद्रव्यको ब्रह्म कहते हैं। उसमें पिण्ड, ब्रह्माण्ड और माया बिलकुल कल्पित है। ब्रह्मदृष्टिसे एक बार अपनेको ब्रह्म मानकर देखो, तो न माया मिलेगी, न ब्रह्माण्ड मिलेगा, न पिण्ड मिलेगा। न मैं मिलेगा न मेरा मिलेगा। न तू मिलेगा न तेरा मिलेगा।

यह वेदान्त जिन्दगीभर पीसनेके लिए नहीं है, यह चक्की पीसना नहीं है; यह एक क्षणमें सम्पूर्ण परिश्रमोंसे छुड़ा देनेवाली विद्या है। यह कर्मानुष्ठान नहीं है। यह वृत्तिकी आवृत्ति नहीं है। यह योगाभ्यास नहीं है, यह वृत्तिकी शान्ति नहीं है।

कर्म होता है, देहमें। भाव होता है ब्रह्माण्डमें। समाधि होती है मायामें। शुद्धमें न कर्म है, न उपासना है, न समाधि है। यह इसकी माया है। अब देखो, आप अपनेको कहाँ रख रहे हो?

देहावच्छिन्न चिदाभासमें अपनेको रखो, तब तुम कर्ता-भोक्ता हो जाओगे और देहावच्छिन्न चैतन्यमें अपनेको रखो, तो शुद्ध चैतन्य हो जाओगे। क्योंकि

अवच्छिन्न चेतन और अनवच्छिन्न चेतन—इनमें भेद नहीं होता। अवच्छेदक कोई है नहीं। टुकड़े-टुकड़े करनेवाली कोई चीज है नहीं।

एक होता है बुद्धिसे अवच्छिन्न और एक होता है बुद्धिमें प्रतिबिंबित। यही लौकिक है। अवच्छिन्न जो है, वह शुद्ध है, अध्यात्मोपलक्षित है जो चिदाभास, वह आध्यात्मिक और आधिदैविक है।

यह स्वप्रकल्पित स्वर्गमें जाता है, नरकमें जाता है, शुभ गति प्राप्त करता है, अशुभ गति प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव तीन प्रकारका मालूम पड़ता है—

(१) जाने-आनेवाला,

(२) सबको जाननेवाला और

(३) न जाने-आनेवाला और न जाननेवाला। इसमें जो शुद्ध चैतन्य है, वही पारमार्थिक है माने सच्चा है।

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन्जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥ ३३ ॥

चैतन्य भी इस शरीरमें एक टुकड़ा हो के रह रहा है। यह टुकड़ापन कल्पित है और जिसमें टुकड़ा बनाया गया है, वह सच्चा है। जिसमें टुकड़ेकी कल्पना हुई है, वह सच्चा है। जो टुकड़ा मालूम पड़ता है, वह झूठा है इसलिए जीवत्व आरोप है और ब्रह्मत्व वास्तविक है।

घटाकाशत्व मिथ्या है और महाकाशत्व सच्चा है। स्वभावसे आकाश अनन्त है और घड़ेकी उपाधिसे परिच्छिन्न है। परन्तु परिच्छिन्नता केवल भासती है, वह परिच्छिन्न हुआ नहीं है। इसी प्रकार यह जीवचैतन्य जो है, इसमें परिच्छिन्नता भासती है।

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥ ३४ ॥

अब देखो, महाकाव्य क्या बोलते हैं? लोग ऐसा सोचते हैं न, कि शास्त्र जो हैं, वे सम्प्रदाय बनाते हैं, मत बनाते हैं, मजहब बनाते हैं। शास्त्र लोगोंको घेरेमें डालते हैं, इसलिए शास्त्रको मत मानो। हम जो कहते हैं सो मानो।

जब तुमने यह कहा कि-'हम जो कहते हैं सो मानो।'- तो तुम्हारा बोला हुआ भी शास्त्र हो गया। अनुशासन हो गया न उसमें? वह तुमको एक जगह रोकता है। अब देखो, हम तुमको वेदान्तकी बात बताते हैं।

वेदान्त शासनशास्त्र नहीं है। 'बाँयेंसे जाओ' या 'दाहिनेसे जाओ'— यह है शासनशास्त्र! एक अमेरिकन आदमी जब यहाँ आवेगा, और मोटर चलावेगा तो

उसको पहले असुविधा होगी। वह कहेगा-"हे हिन्दुस्तानी सरकार!' 'बाँये से जाओ', यह तुमने जो कानून बना रखा है, यह बड़ा असुविधाजनक है। तुम इसको बदल दो! यह तुम्हारा कानून गलत है। मैं कहता हूँ कि 'दायेंसे जाओ'—यह कानून बनाओ।" लेकिन हमारा एक हिन्दुस्तानी अमेरिकामें जाय और मोटर चलाने लगे, तो क्या होगा?

यहाँ जो मोटरें बनती हैं न, उसमें ड्राइवर बैठता है दाहिने। अमेरिकाकी जो मोटरें आती हैं, उनमें ड्राइवर बैठता है बाँयें। तो कानून दो देशके दो तरहके हो सकते हैं। हमारावाला वहाँ जाके कहेगा कि—'तुम्हारा असुविधाजनक है' और वहाँवाला यहाँ आके कहेगा कि—'तुम्हारा असुविधाजनक है'। वहाँवाला यहाँका गलत बतावेगा और यहाँवाला वहाँका गलत बतावेगा।

जिसको जैसा काम करनेका, जिस भाषामें बोलनेका, जिस ढंगसे बैठनेका, जैसे एटीकेटका संस्कार पड़ जाता है। वह उसी इतिकृत्य को अपना इतिकृत्य मानता है। इसका नाम होता है 'शास्त्र'! 'शासनशास्त्र।'

हमारा वेदान्तशास्त्र ऐसा नहीं है। वह कोई विधानात्मक या निषेधात्मक शास्त्र नहीं है। वह क्या है? जैसे समझो, एक जरा-सा यन्त्र होता है न! वह कहीं भी धरतीपर रख देते हैं, तो उसका मुँह उत्तरकी ओर हो जाता है, 'ध्रुव'की ओर हो जाता है। उसको 'कुतुबनुमा' बोलते हैं। वह शासनशास्त्र नहीं है, वह संकेतक-शास्त्र है। वह यह नहीं कहता कि 'इसको उत्तर मानो।' वह केवल यह बताता है कि यह उत्तर है। वह सिर्फ इतना बताता है कि यह उत्तर है। वह यह नहीं कहता कि उत्तर सिर करके सोओ। वह यह नहीं कहता कि उत्तर सिर करके मत सोओ। वह यह नहीं कहता कि उत्तर मुख करके खाओ। वह सिर्फ बताता है कि 'यह उत्तर है।' तो **शंसनात् शास्त्रम्।**

वेदान्तशास्त्र क्या है? वेदान्तशास्त्र कहता है कि 'मिट्टी ऐसी है, पानी ऐसा है, आग ऐसी है, हवा ऐसी है, आसमान ऐसा है, देह ऐसा है, प्राण ऐसे हैं, मन ऐसा है, बुद्धि ऐसी है, सुषुप्ति ऐसी है, समाधि ऐसी है और तुम ऐसे हो!' वह यह नहीं बताता कि 'तुम ऐसे बनो।'

यदि वह बताता है कि 'तुम ऐसे बनो'—वह तो गलत वेदान्त है। वेदान्त यह बतानेके लिए नहीं है कि 'तुम ऐसे बनो।' वह तो किसी धर्मशास्त्रीसे पूछो। हमको क्या खाना चाहिए, और हमको क्या नहीं खाना चाहिए—यह बात एक मुसलमान मौलवीसे पूछें फकीरसे नहीं। वह फकीरके बतानेकी चीज नहीं है।

हम क्या खायँ और क्या न खायँ, यह बात तुमको समझनी हो, तो किसी विद्वान् ब्राह्मणसे पूछो। तुम जिस सम्प्रदायके अनुयायी हो, उस सम्प्रदायके आचार्यसे पूछो।

यह तो सत्यका निरूपण करनेवाला है, यह तो अवधूतकी वाणी है, मौलवीकी नहीं, फकीरकी नहीं, आचार्यकी नहीं, अवधूतकी वाणी है। जिसने सब फिरकोंको फक् कर दिया और जो उसे फाँक गया, वह है फकीर।

जितने फिरके हैं, मत-मजहब हैं, फिरकापरस्ती है उन सबको फाँक करके जिसने अपनी फकनी बना ली, उसका नाम फकीर। अरबी-फारसीमें फक् कर गया=फाँक गया, मनसूख कर गया, वेदान्तमें बाधित कर दिया। फकीर, सन्त, अवधूत ये सब ब्रह्मकोटिका होता है और ईश्वरकोटिका आचार्य होता है, मौलवी होता है।

सच्ची बात क्या है ? अगर हम किसीको यह बताते हैं कि 'हजार घड़ोंमें मिट्टी एक है, (हम एक समझदारीकी बात कह रहे हैं, आपको माननेके लिए विवश नहीं कर रहे हैं।) कोटि-कोटि घड़ोंमें आकाश एक है, अखण्ड है, अद्वय है'—यह बात जब हम बोलते हैं तो कोई मत नहीं बताते, मजहब नहीं बनाते। सब मतोंमें, सब मजहबोंमें और जहाँ मत-मजहब नहीं हैं वहाँ भी एक सत्य है।

प्रत्येक सेकेण्डमें एक काल है कि नहीं? सेकेण्ड बहुत हैं, पर काल एक है। मिनट बहुत है, पर काल एक है। घण्टा बहुत है, पर काल एक है। दिन बहुत हैं, पर काल एक है। युग-मन्वन्तर-कल्प बहुत हैं, पर काल एक है! घड़ी बहुत हैं, पर काल एक है। ऐसे ही घड़े बहुत हैं, परन्तु आकाश एक, ऐसे ही 'अहं-अहं-अहं' एक है।

हमको एक महात्माने बताया कि अगर दस हाँड़ीमें दाल चढ़ा दी जाय, वह फुदकती हो—'फुदुर-फुदुर-फुदुर फुदुर' फुदक रही हो, तो फुदकती तो अलग-अलग हैं, पर सबमें पानी एक है कि नहीं? अरे, किसीमें हल्दी डाली है तो रंगीन है और किसीमें हल्दी नहीं डाली है तो रंगीन नहीं है। लेकिन सबमें पानी एक है। सबमें आकाश एक है।

इसी प्रकार ये घड़े (शरीर) जो बने हुए हैं, इनमें 'मैं-मैं-मैं' क्या है? ये तो 'फुदुर-फुदुर' है। यह 'अस्मि-अस्मि-अस्मि' जो है न! 'कोऽहं'-'कोऽहं'-'कोऽहं'—यह क्या है? यह दालके पानीका 'फुदुर-फुदुर' है। यह घण्टीकी रुनझुन है, टन्-टन् है। क्या? 'शिवोऽहम्-शिवोऽहम्-शिवोऽहम्'। इनमें असली चीज जो है, वह है चैतन्य। वह न देहसे अलग हुआ और वह न देहके कारण

कटा; न प्राणके कारण कटा; न मनके कारण कटा; न विज्ञान के कारण कटा ; न आनन्दके कारण कटा; और न तो सुषुप्ति-समाधिके कारण कटा। एकदम साक्षीचैतन्य—प्रत्यक् चैतन्य! वह क्या है ? अखण्ड है। तो वेदान्त क्या बताता है ?

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः॥

'**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्य क्या बताते हैं ? जो शुद्ध चेतन है तुम्हारे शरीरके भीतर, वह अखण्ड ब्रह्म ही है। वह इस देहसे, प्राणसे, मनसे कटा हुआ नहीं है। पूर्ण ब्रह्मके साथ इस शुद्ध चैतन्यकी एकता बताते हैं, एकता!

नेतरजीवयोः। चिदाभास और स्वप्न कल्पित हैं, बाधित हैं, ये दोनों ब्रह्म नहीं हैं। क्योंकि चैतन्य चिदाभास नहीं है। एक आदमी पापी है, एक पुण्यात्मा है, 'पापी भी चिदाभास है, पुणात्मा भी चिदाभास है। वे तो पाप-पुण्यका फल भोग रहे हैं। जो पशु है वह भी चिदाभास है और जो मनुष्य है वह भी चिदाभास है। उनकी आकृतिमें भेद है, परन्तु जो चैतन्य है, वह न पशु है न पक्षी है। वह न पापी है न पुण्यात्मा है।

एक दिन एक वेदान्ती सेठ आये हमारे पास और बोले—'स्वामीजी! हमें एक प्रश्नका उत्तर दो। हमसे गलती तो बहुत होती है'—ऐसे बोले। लेकिन जब जरूरत पड़ती है तो मैं स्वीकार नहीं करता हूँ कि—'मैंने गलत काम किया तो यह क्या बात है ? मैंने बहुत विचार किया कि यह क्या बात है ?' जब मैंने गलत काम किया तो मुझे स्वीकार करना चाहिए कि 'मैंने गलत काम किया। लेकिन स्वीकृति मिलती ही नहीं है।'

मैंने कहा—'अरे सेठ! इसका तुम उपयोग करो, इसको काममें ले आओ। यह तो बहुत बढ़िया चीज तुम्हारे अन्दर ईश्वरकी कृपासे आ गई है। तुम असलमें शुद्ध-बुद्ध हो, कर्ता हो ही नहीं। यह जो तुम्हारा स्वरूपगतअकर्तृत्व-अभोक्तृत्वहै, वह तुम्हारी बुद्धिमें आरूढ़ होना चाहता है, वह उतरना चाहता है तुम्हारे जीवनमें। उसको उतरने दो, रोको मत कि मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं नित्य हूँ। परमात्मा तुम्हारे जीवनमें प्रकट होना चाहता है, उसीकी यह पहचान है। तुम अपनेको कर्ता-भोक्ता मत मानो!'

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः॥

वेदान्त जो एकता बताता है, वह इसके लिए नहीं है। उपासकोंसे वेदान्तियोंका

मतभेद केवल इतना ही है। वे कहते हैं कि सौ रुपयेसे एक रुपया जुदा नहीं होता। इसलिए ईश्वरसे जीव अलग नहीं है। यह उपासकोंका मत है, यह वेदान्तियोंका मत नहीं है।

अद्वैतवेदान्ती कहते हैं—'यदि तुम्हारे पास एक-एक रुपयेके सौ नोट हैं और एक रुपयेका नोट सौ रुपयेसे जुदा नहीं है; या सौ रुपयेका एक तुम्हारे पास नोट है और तुम कहते हो कि इसमें सौ रुपया है, तो सौ रुपयेका जो एक नोट है, उसमें सौ-पना कल्पित है। और, एक-एक रुपयेके अलग-अलग सौ नोट हैं तो सौ रुपयेके अन्दर एक रुपयेका नोट होनेपर भी अलग है। उसका अलग व्यवहार कर सकते हैं न ! व्यवहारमें वह अलग हो जायगा। परन्तु सौ रुपयेका जो एक नोट है, उसमें सौ रुपया कल्पित है।

आपके पास चार चवन्नी है, उसको तुम एक रुपया मानते हो, या आपके पास एक रुपया है, उसको तुम एक रुपया मानते हो?'

बोले—'हमको तो कोई फरक मालूम नहीं पड़ता।'

'फरक है, चार चवन्नी व्यावहारिक रुपयेसे चार हैं, अलग-अलग हैं और एक रुपयेमें जो चार चवन्नीका मूल्य है, वह कल्पित है। एकमें ही चार चवन्नीपना कल्पित है।'

यह आत्मदेव स्वभावसे ही एक रुपया है; उनमें चार चवन्नी कल्पित है। यह स्वभावसे सौ रुपयेका एक नोट है, उनमें एक-एक रुपयेके सौ नोट कल्पित हैं। यह अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्म है।

यह वेदान्त शासनात्मक नहीं है। आपको हुक्म नहीं देता है कि आप अपनेको ब्रह्म मानो। इसलिए यह विधि-निषेधात्मक शास्त्र नहीं है। यह तो एक सिद्धवस्तु जैसी है, वैसा उसका वर्णन करता है।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानि—तुम हमारी पूर्णताका वर्णन क्यों करते हो? बस, यह समझो कि तुम्हारी साधनापर, जिज्ञासापर यह कुल्हाड़ा है। एक जिज्ञासु शिष्य किसी एक महात्माके पास आया और वह समझाने लगे कि—'देख, जगत् ऐसा है, जीव ऐसा है, माया ऐसी है, अविद्या ऐसी है, ब्रह्म ऐसा है।' वह बोला—'महाराज! बोलकर मत समझाओ! हमने सुना है कि ब्रह्म बोलके नहीं समझाया जाता।' तब महात्माजी—'अच्छा भाई, ले' हम चुप हो जाते हैं।' महात्माजी चुप हो गये। अब उस जिज्ञासुकी समझमें कुछ आया? उसने अपनी समझके लिए दरवाजा बन्द कर लिया।

जिस दरवाजेसे ब्रह्मकी समझ उसके दिमागमें घुसती, उस दरवाजेको उसने

बन्द कर लिया। आप आँखसे देखके ब्रह्मको पहचानेंगे? नाकसे सूँघके ब्रह्मको पहचानेंगे? जीभसे ब्रह्म घुसेगा? आपके मनमें जो चीज कभी आई नहीं है, वह कैसे आवेगी? आपकी बुद्धिमें जिसका संस्कार ही नहीं डाला गया, वहाँ कहाँसे डाला जायगा? और मान लो, कभी आ गया है, तो आपमें जीवत्व रहता ही नहीं। नहीं आया है, तो आरोपित जीवत्वकी निवृत्ति होनी चाहिए। आरोपितका निषेध होना चाहिए, जब आपने अपनेको जीव माना, पापी माना, पुण्यात्मा माना, सुखी माना, दु:खी माना। जब आपने अपने मरनेको स्वर्ग-नरकमें जाने-आनेवाला मान लिया, तो आपकी इस मान्यताको मिटाया कैसे जाय? आपने अपनेको पापी-पुण्यात्मा सुनकर ही तो माना है न? नरक-स्वर्गमें जानेवाला सुनकर ही तो माना है न?

आपकी इस मान्यताको काटकर आपको मुक्ति देनेवाली जो बात है, वह यदि हम आपके कानमेंसे नहीं घुसेड़ेंगे, तो भीतर कहाँसे निकलेगी? भीतर है ही नहीं तो कहाँसे निकलेगी? तो आरोप जो है, उसको निषेधके द्वारा हटाना पड़ता है। क्योंकि आपने अपने-आपको लोगोंसे सुनके, शास्त्रसे सुनके, विचार करके, अपने कर्मके फलको देख करके, भोगजन्य सुखको देखकर यह माना है कि—'मैं ऐसा हूँ।' इसलिए, आपकी मान्यता छुड़ानेके लिए, एक भाषाका प्रयोग करना पड़ेगा। वह कौन-सी भाषा हो तो आपकी यह मान्यता मिटेगी? किस बोलीमें बोला जाय? कैसे कहा जाय?

आपकी खण्ड-मान्यताको छुड़ानेके लिए अखण्डताका बोधन होना चाहिए। आपको अपनी अखण्डता समझानी चाहिए। यही वेदान्तका काम है।

प्रत्ययी प्रत्ययश्चैव यदाभासौ तदर्थता।
तयोरचितिमत्त्वाच्च चैतन्ये कल्प्यते फलम्॥

एक होता है प्रत्यय और एक होता है प्रत्ययी। एक होता है प्रमाण और एक होता है प्रमाता। यह हर शरीरमें अलग-अलग रहता है। प्रमाण अपने फलको प्रमातामें ले जाकर आरोपित करता है। वेदान्तविद्या बड़ी विलक्षण है।

प्रमाण माने कोई श्लोक नहीं समझना। कोई श्लोक बोल दिया, कोई दोहा बोल दिया! श्लोक-दोहेका नाम प्रमाण नहीं होता है। महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं—'**किं भो श्लोकाः प्रमाणम्?**' क्या श्लोकका नाम प्रमाण है? एक कविता बनायी और प्रमाण हो गयी? बहुत लोग तो शब्दोंकी सुन्दरता, मँजी हुई भाषा, संगीत और कवितापर ही मुग्ध हो जाते हैं!

मैं 'अखिल भारतीय संस्कृत कविसम्मेलन'का अध्यक्ष भी रहा हूँ और

'हिन्दी-कविसम्मेलन'का अध्यक्ष भी रहा हूँ। मैटर तो कुछ नहीं! लच्छेदार शब्द और कवि लोग गाकर सभामें सुनाते हैं। तो कुछ लोग गानेपर रीझ जाते हैं, कुछ लोग लच्छेदार शब्दोंपर रीझ जाते हैं, कुछ लोग टोनपर तो कुछ लोग हाव-भावपर रीझ जाते हैं। कवि लोग खड़ा होकर हाव-भाव दिखाते हैं, पर भीतर तो ठनठनपाल! उस कवितामें भीतर तो आया कुछ नहीं! असलमें चीज आनी चाहिए।

हम अपनी आँखसे आमको देखते हैं! तो आँख है प्रमाण, आप हैं प्रमेय और प्रमाता कौन है? देखनेवाला 'मैं' हूँ और देखनेका नतीजा क्या निकला? कि 'मैं आमको देख रहा हूँ।' फल किसमें आया? देखनेवालेमें देखनेका फल आया। यहाँ देखता है आभास। जीव और ब्रह्मकी एकताको देखता है आभास और फल जाता है कूटस्थमें। बड़ी विचित्र लीला है।

असलमें आभासकी असली आत्मा कूटस्थ ही है। तो सत्यमें पक्षपात होनेके कारण आभास बोलता है कि—'मैं परिच्छिन्न नहीं, अपरिच्छिन्न हूँ', और कूटस्थ कहता है कि—'हाँ बेटा, तुमने बिलकुल ठीक देखा। तुम्हारी आत्मा—मैं कूटस्थ ब्रह्म हूँ।'

घटाकाश महाकाश है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य परिपूर्णपरब्रह्म परमात्मा है और द्वैतका कहीं नामोनिशान नहीं है।

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्॥ ३५॥

यह विक्षेप जो बड़ी भारी दुनिया दिखायी पड़ रही है और अपने भीतर जो नासमझी बैठी हुई है; नासमझी आ गयी अपने भीतर और यह दुनिया दीखने लगी ब्रह्ममें। इससे अपनी और ब्रह्मकी दोनोंकी अखण्डता ढँक गयी। जो दीख रहा है सो जगत् है, और जो देख रहा है सो जीव है। यह क्या है? ब्रह्मकी और आत्माकी अखण्डता। क्यों ढँक गयी? ब्रह्ममें विक्षेप दीख रहा है और अपनेमें नासमझी दिख रही है। असलमें ब्रह्ममें यह दोनों माया ही है।

प्रवचन

३२

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः॥
ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्॥
जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत्।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम्॥ ३६॥
अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम्।
व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम्॥ ३७॥
चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत्॥ ३८॥
प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।
नहि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः॥ ३९॥
अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्—

जैसे घड़ेमें घड़ेकी दीवारसे घिरा हुआ आकाश मालूम पड़ता है, उसे अवच्छिन्न-आकाश बोलते हैं। अवच्छिन्न=कटा हुआ। घड़ा अवच्छेदक है, आकाश अवच्छेद्य है। माने काटा जाता हो, ऐसा मालूम पड़ता है। जो आकाश छोटा मालूम पड़ता है, महाकाशसे अलग मालूम पड़ता है, यह अवच्छेद है।

अब समझो कि घड़ेमें पानी है। जिस महान् आकाशमें घड़ा रखा हुआ है, वह घड़ेके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। उसका नाम हुआ महाकाश। जो घड़ेकी दीवारसे कटकर घड़ेके भीतर मालूम पड़ता है, उसका नाम हुआ घटाकाश। अब उसमें रख दो पानी। अब उस घड़ेके जलमें बाहरवाले आकाशकी गहराईके

साथ परछाईं मालूम पड़ेगी। उसको कहेंगे आभास। वह है जलाकाश। उसमें बादलकी परछाईं दिखती है।

बादलमें भी पानी तो है ही बूँद-बूँद। प्रत्येक बूँद भी आकाशको अलग-अलग-सा करती है। तो उसको बोलते हैं मेघाकाश। एक ही घड़ेमें जो पूर्ण है, सो महाकाश। जल जो घड़ेमें है, उसका कारण क्या है? मेघमें स्थित जलबिन्दु।

यह बात जल्दी ध्यानमें नहीं आती है। '**सूक्ष्मदर्शिभिः**'=सूक्ष्मबुद्धिसे यह बात अनुभवमें आती है। हम तुम्हारे सिरपर वेदान्तका कोई बोझ नहीं लादते। महाकाश ब्रह्म है। घटाकाश जीव है। जलाकाश आभास है। मेघाकाश बीजात्मा होनेसे ईश्वर है।

वेदान्त आत्मा और ब्रह्मको एक बताता है। वह जलाकाश और मेघाकाशको एक नहीं बताता है, वह घटाकाश और महाकाशको एक बताता है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'महाराज, जीव और ईश्वर तो एक ही है न?'

बाबा—'कहाँ सुनके आये हो?'

बोले—'सब वेदान्ती कहते हैं कि जीव और ईश्वर एक है।'

बाबा—'नहीं, जीव और ईश्वर एक नहीं है। जीव उपासक है, ईश्वर उपास्य है। जीव भक्त है, ईश्वर भगवान् है।'

बोले—'तब क्या वेदान्ती झूठ बोलते हैं?'

बाबा—'वे झूठ नहीं बोलते हैं, बिलकुल सच बोलते हैं। यह जो जलाकाशका साक्षी है, और मेघाकाशका जो साक्षी है—जो जीवत्वका साक्षी है और जो ईश्वरत्वका साक्षी है, उस घटाकाश और महाकाश चिन्मात्रवस्तुमें एकता है; यह बात वेदान्ती कहते हैं। 'जीव' पदका जो वाच्यार्थ है और 'ईश्वर' पदका जो वाच्यार्थ है, उनमें एकता नहीं है। 'जीव' पदका जो लक्ष्यार्थ है 'कूटस्थ' और 'ईश्वर' पदका जो लक्ष्यार्थ है 'ब्रह्म', उस कूटस्थ-साक्षी और ब्रह्ममें एकता होती है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। एकता होती नहीं है, असलमें घटाकाश और महाकाश एक है। इस मौजूद एकताको वेदान्त बताता है। इसलिए आत्मा और ब्रह्मकी एकता न धर्मशास्त्र है, न भक्तिशास्त्र है, न योगशास्त्र है। यह तो केवल तत्त्व है। जो बात सच्ची है, ज्यों-की-त्यों उस बातको बतानेवाली चीज है।'

बुद्धि हो तो समझ लो। श्रद्धा हो तो मान लो। दोनों न हों तो जैसे चलते हो वैसे चलो। कोई वेदान्ती तुमसे यह आग्रह नहीं कर सकता कि हमारी मान्यताके अनुसार तुम चलो। तुम अपने धर्मके अनुसार चलो और अपने सम्प्रदायके अनुसार

मानो। हम तुम्हारी गति और रतिमें कोई भेद उपस्थित करना नहीं चाहते। यह तो एक मतिकी बात है, तुम्हारी समझमें आजाय! यह न गति है न रति है।

दृश्यते त्वग्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठ. १.३.१२

सूक्ष्म बुद्धिसे यह बात समझमें आती है। '**तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुः।**' यह रहा जीव, यह रहा जगत्, यह रहा ईश्वर और यह रहा ब्रह्म। हमने सबका विचार कर लिया और सबकी तुलना कर ली।

बोले—'हम बड़े बुद्धिमान् हैं।' मैं आपको एक रहस्यकी बात बताता हूँ। वह यह है कि जो अलगसे जीव, अलगसे जगत्, अलगसे ईश्वर और अलगसे ब्रह्मके बारेमें अपनेको तटस्थ रख करके विचार करता है न, कि 'हम तटस्थ हो गये! तटस्थ=निष्पक्ष हो गये कि 'हम लायब्रेरीमें बैठ करके एक थिसीस लिख रहे हैं और बिलकुल तटस्थ दृष्टिसे विचार कर रहे हैं कि—यह जगत्, यह जीव, यह ईश्वर, यह ब्रह्म—इनमें ये-ये भेद, ये-ये विशेषता! ऐसे आदमीको वेदान्त कभी समझमें नहीं आता है। उसमें अपनेको डालना पड़ेगा।

तुम अपनेको किसमें देख रहे हो? जग्में, जीवमें, ईश्वरमें कि ब्रह्ममें? तुम कौन हो? अपनेको यदि अलग रखके ब्रह्मका विचार करोगे, तो वह सब दृश्य ही होंगे। सब दृश्यके अन्तर्गत ही होंगे। इसलिए जो साधक-जिज्ञासु अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसको वेदान्तका ज्ञान होता है। जो तटस्थरूपसे कि कौन-सी साड़ी खरीदें? चाहे अच्छी साड़ी खरीदो, चाहे मामूली खरीदो, तुम दोनोंसे न्यारे रह जाओगे। तो चाहे तुम ब्रह्मका सगुण निश्चय करो चाहे निर्गुण निश्चय करो, और जीवको चाहे कर्ता-भोक्ता मानो चाहे द्रष्टा मानो, और जगत्को चाहे झूठा मानो चाहे सच मानो, आत्मज्ञान बिलकुल नहीं होगा। यह तटस्थ व्यक्तिके लिए नहीं है।

जो स्वयं 'स्व' का विचार कर रहा है, उसके लिए यह आत्मज्ञान है। आपको 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य यह बात नहीं बताते कि 'यह आभास, जीव, जगत् और व्यवहार—इनमें एकता है।' अखण्ड जो वस्तु है, वह यह और मैं के भेदसे अलग-अलग नहीं होती। यह-यह-यह-यह-यह मैं-मैं-मैं-मैं-मैं, वह-वह-वह-वह-वह भी हजार होवे, सिर्फ 'वह' में जो एक है सो नहीं, सिर्फ 'यह' में जो एक है सो नहीं; जो 'वह' मैं, 'यह' में, 'मैं' में एक है, और जिसकी अखण्डतामें 'यह-वह-मैं' कल्पित है, केवल भासमान् है, उस वस्तुका साक्षात्कार होता है।

असलमें चिदाभास है, उसीमें ज्ञानी-अज्ञानीका भेद होता है, उसीमें कूटस्थ-ब्रह्मका भेद होता है। भेद-मात्र ही दृश्य है, और कुछ नहीं। भेद ही दृश्य है, वस्तु कोई दृश्य नहीं है। 'यह' अलग है, 'मै' अलग हूँ—यह दोनोंका भेद दृश्य है, दोनों अलग-अलग नहीं हैं। केवल भेद दृश्य है और मिथ्या है। केवल भेदबुद्धि दृश्य है और वह मिथ्या है। भेद एक बुद्धि है। एक बुद्धिका नाम भेद है। वह बुद्धि अपनेको न देखकर और दूसरेको देखकर भेद बना रही है। भ्रान्तबुद्धिमें ही भेद है। वास्तविक बुद्धिमें भेद नहीं है।

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्॥

ब्रह्ममें यह माया क्या है? बहुत सीधी-सीधी बात बोलते हैं, जो साधारणसे साधारण जिज्ञासु इस बातको समझ जाय। तुममें कपट है कि नहीं? तुम किसीसे कपट करते होकि नहीं? क+पट। पट=कपड़ा। क=ब्रह्म, सुख। कं ब्रह्म, खं ब्रह्म। क=ज्ञान, कारण, करण, कार्य, कलुष, कल्मष, कर्म, कर्ता। ये सब 'क' हैं। पट माने पर्दा। पटवत् आवृणोति। 'कपट' क्या होता है, इस बातको आप समझ लो। आपमें क्या कपट है, इसको आप बिलकुल जानते हैं। कहो कि 'नहीं, हम दूधके धुले हैं और किसीसे कपट नहीं करते हैं'—तो ऐसा आप बोला करो कि 'हमारे अन्दर कोई कपट नहीं है।' यह भी एक बढ़िया कपट है कि 'हम किसीसे कपट नहीं करते हैं।'

बोले—'नहीं महाराज! हम ईमानदारीसे कहते हैं कि हम कपट नहीं करते हैं।'

असलमें तुम समझते नहीं हो कि कपट क्या होता है? अगर तुम कपट नहीं करते हो, तो लीकव्यवहारमें तुम्हारा नाम 'पागल' है। देखो, माँसे कही जानेवाली बात पत्नीसे नहीं कही जाती और पत्नीसे कही जानेवाली बात माँ-से नहीं कही जाती। आप पत्नीके पाससे घरसे निकले और आपके माता-पिता पूछें कि 'तुम क्या कर रहे थे?' तो बोलोगे—'ऐसे ही!' छिपाना पड़ेगा कि नहीं छिपाना पड़ेगा? माँ बताती हैं कि 'यह बहू अभी मायकेसे आयी है, इसको यह शऊर नहीं है, यह शऊर नहीं है, यह शऊर नहीं है'—तो अगर तुम यह सब बात माँकी कही हुई पत्नीको बता दो, तो सास-बहूकी लड़ाई हो जायगी। सास-बहूकी लड़ाई करके घरमें अशान्ति करनी हो, तब तो कह देना। नहीं तो छिपा लेना। तो संसारमें कपट धर्मानुकूल भी होता है और धर्मके विपरीत भी होता है। कबीरसाहब बोलते हैं—

चौदह कोटि ज्ञान सब भाखौं, सार शब्द बाहर करि राखौं।
धरमदास तोहे लाख दोहाई, सार शब्द बाहर नहीं जाई।
अपना होय तो देउ बताई, दूजा होय तो लेउ छिपाई।

सेठ लोग पैसा ज्यादा हो, तब भी कम बताते हैं। यह एक कपट है। दिवाला निकलनेवाला हो, तब कम होनेपर भी ज्यादा बताते हैं। हमारा दिवालियोंसे भी काम पड़ा है। और महन्त-मण्डलेश्वर, मठाधिपति अपने ज्ञानकी कमी कभी कबूल नहीं करते हैं। बोलेंगे कि 'जो सर्वज्ञ ईश्वरको मालूम है, वह हमको भी मालूम है।' यह मायाविशिष्ट ब्रह्म है। चेलाचाँटी हमको अज्ञानी समझकर छोड़ न बैठें, इसके लिए वे सर्वज्ञताका कपट करते हैं। यह शास्त्रका बिलकुल दो-टूक निर्णीत सिद्धान्त है कि ईश्वरके सिवाय कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

बौद्धलोग और जैनलोग ईश्वरके सिवाय दूसरेको सर्वज्ञ मानते हैं। हमारे वैदिकलोग उनको अवैदिक बोलते हैं, क्योंकि वे व्यक्तिको सर्वज्ञ मानते हैं, जीवको सर्वज्ञ मानते हैं।

बोले—'वेदान्तीलोग भी मानते हैं न कि 'एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है।'

वे निषेधावधिके रूपमें सर्वका विज्ञान मानते हैं, विधानात्मक रूपसे सर्वका विज्ञान नहीं मानते हैं। एक ज्ञानीसे तुम पूछो कि 'हमारे पाकेटमें कै पैसे रखे हुए हैं ?' तो यह जानना ज्ञानीके लिए जरूरी नहीं है। वह कहेगा कि 'कोई दृश्य पदार्थ ही होगा। अखण्डकी दृष्टिसे वह बाधित है, मिथ्या है। तुम्हारा जेब भी मिथ्या और तुम्हारे जेबमें रखा हुआ पदार्थ भी मिथ्या। इस रूपमें तो हम जानते हैं, लेकिन कै पैसे तुम्हारे जेबमें रखे हैं, यह जानना वेदान्तीके लिए आवश्यक नहीं है।'

जो गाँवके मूर्ख लोग होते हैं न, वे पूछते हैं कि 'महाराज! आगे क्या होनेवाला है ? विदेशमें हमारा जो सम्बन्धी है, उसका क्या हो रहा है ? आगे बेटा होगा कि बेटी होगी ?' यह सब तुम अपने ज्योतिषीसे जाकर पूछो। इसका ज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

बताना था हमको माया। जबतक तुम्हारे अन्दर कपट होगा—कपट केवल देखनेवालेको ही नहीं ढँकता है, जिसको तुम देखना चाहते हो, उसकेऔर तुम्हारे बीचमें एक पर्दा बन जाता है। इससे हम अपने-आपको ही नहीं ढँकते हैं, पर्देसे सामनेवाला भी ढँक जाता है।

हमारे हृदयमें जो-जो कपट है, यह परमात्माके असली स्वरूपके दर्शनमें

बाधक है। तो यों कहेंगे कि 'हम अपनेको पूरा जाहिर नहीं करते और वह अपनेको पूरा जाहिर नहीं करता।' ईश्वरको पूरी तरह जाहिर होनेमें जो बाधा है न, वह इधर कपट है और उधर माया है माने जादू, छल, कपट है। ईश्वर जादूगर है।

नवाबने शिवाजीको कैद करनेके लिए बुलाया और शिवाजी अपने साथ पूरी सामग्री लेकर गये कि अगर हमारे साथ कपट हुआ, तो हम नोंच डालेंगे बच्चूको—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवम्।
भवन्ति मायाविषु तेन मायिनः॥

कपटीके साथ कपट चलता है। कम-से-कम अपराध नहीं है। तुमको ईश्वरके पास पहुँचना है न, तो अपने दिलका जो कपट है, उसको हटा दो।

सत्येन लभ्यः तपसा एष आत्मा।
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥ मुण्डक. ३.१.५

निष्कपट होकर, सरलभावसे, बालककी तरह, जैसे माँ-की गोदमें बालक जाता है, वैसे ईश्वरकी ओर चलो। देखो, ईश्वर तुम्हारे ऊपर माया नहीं फैलावेगा। जो अपने ऊपर विश्वास करता है, उसके सामने वज्र भी पिघल जाता है।

'**ब्रह्मण्यवस्थिता माया**'—ब्रह्ममें माया है।

बोले कि 'सच्ची है कि झूठी है?'

इससे क्या मतलब? आओ, हम सृष्टिकी व्याख्या कर देते हैं। परमाणुसे सृष्टि नहीं हुई, कर्मसे सृष्टि नहीं हुई, प्रकृतिसे सृष्टि नहीं हुई, चित्तसे सृष्टि नहीं हुई। ईश्वर है एक जादूगर। वह बोला—'चल!' और सृष्टि हो गयी! सबसे बड़ा जादूगर ईश्वर! इसीलिए तुमसे जादू दिखा रहा है, 'गुरुकी शक्ति मेरी भक्ति फुरो मन्त्र।' तुम खुद भी उसको जादू दिखा रहे हो।

बोलते थे—'हे भगवान्! हमको तुम्हारे सिवाय और कुछ नहीं चाहिए।'

बोले—'अच्छा बेटा, घण्टेभर ऐसे बोल लो! मूर्तिके सामने बैठ करके ऐसे बोलते हैं कि 'तुम्हारे सिवाय हमको और कुछ नहीं चाहिए।' अरे, तुमको बेटा, बेटी, शरीर, धन सब कुछ चाहिए। मोहमें तो फँसे हुए हो।

बोले—'हमको कुछ नहीं चाहिए।' ऐसा नहीं होता यही कपट है। यह जो विक्षेप दिखा रहा है, माने तरह-तरहकी चीजें दिख रही हैं और इनके भीतर हमारा साक्षी 'मैं' जो है, वह फँस करके कर्ता-भोक्ता हो गया है, साधारण हो गया है। इसके भीतर परमात्मा ढँक करके 'नाना'-रूप हो गया है। इसमें हुआ क्या? अखण्डता ढँक गयी! इस मायासे, इस आवरणसे अखण्डता ढँक गयी।

एक अखण्ड वस्तु-परमात्मा जब ढँक गया, तो विक्षेप दिखने लगा। अब तो—'**जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्।**' मायासे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि 'यह चीज चल रही है' और 'यह मैं हूँ'। यह बड़ी विचित्र इसकी लीला है। एक-एक चीजकी व्याख्या है।

दो-तीन दिन वेदान्त सुनते हैं, फिर आके बोलते हैं, मुझमें-तुममें क्या फरक है? '*हम तुम ते कछु घाट?*' हम तुमसे क्या कुछ घटकर हैं? ये चेला लोग कहते हैं कि 'हमारे गुरुजी भी इस विषयमें कम जानते हैं। हम ज्यादा जानते हैं।'

एक बड़े अच्छे महात्मा थे, विरक्त भी थे और वेदान्तकी सब बात समझते थे। हमारे गुरु सरीखे थे। जब हम उनके पास जाते थे, तो वेदान्त ठीक बोलते थे। 'हमारी बुद्धिमें कुछ-न-कुछ बड़प्पन जरूर है'—यह ले करके हम वहाँसे लौटते थे।

हमको बताया एक सज्जनने कि उनके गुरुके आश्रममें पहले सदाचार और भक्तिकी बात करते थे। जब चेलाजी अपनी जवानीमें थे, तो उन्होंने सदाचार और भक्तिकी बात लोगोंको सुनाना बन्द कर दियाऔर 'विचारसागर' सुनाना शुरू कर दिया। गुरुजीने कहा—'देखो बेटा, हमने बीस बरस इन लोगोंको सदाचार और भक्तिमें लगानेके लिए खर्च किया है। देखो, ये लोग आश्रमकी सब सेवा करते हैं। सौ एकड़में तो यह संस्कृत-कॉलेज चलता है, अंग्रेजी-कॉलेज चलता है। आश्रम है, सन्तोंकी सेवा होती है। अब तुम्हारी क्या राय है?'

'नहीं महाराज! जो सच है सो तो बताना ही चाहिए। तो बताना शुरू कर दिया। बीस-पचीस-तीस दिन उन्होंने सुनाया—

या कृपालु सर्वज्ञको हिय धारत मुनि ध्यान,
ताको होत उपाधितें मोमें मिथ्या भान।
भोग चाहि जात सुकृति भजत राम निष्काम,
वह है मेरी आत्मा ताको करूँ प्रणाम॥

बीस-पचीस दिन सुननेके बाद जो भगतलोग पहले पाँव छूके प्रणाम करते थे, उन्होंने दूरसे हाथ जोड़ना शुरू कर दिया और कभी-कभी बोलते कि 'महाराज! हम और आप एक ही हैं।' जो अधूरे लोग होते हैं, यह समझना कि गुड़के ऊपर काई उफन रही है। यह आग नहीं है, धुआँ है।

'**जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्**'—जगत् और जीवपनेकी कल्पना हो गयी। 'मैं परिच्छिन्न हूँ'—पहली कल्पना यह हो गयी। अपने स्वरूपको न जाननेके कारण, अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण, पहले अज्ञान हुआ। फिर 'मैं परिच्छिन्न हूँ'—यह

दूसरी भ्रान्ति हुई। फिर तीसरी भ्रान्ति हुई— 'मैं कर्मका कर्ता हूँ।' चौथी भ्रान्ति हुई—'मैं भोक्ता हूँ।'

इस प्रकार अपनेको न जानना, अपनेको परिच्छिन्न जानना, अपनेको कर्मका कर्ता जानना, अपनेको भोगका भोक्ता जानना, संसारमें आने-जानेवाला मानना— **'जगज्जीवौ प्रकल्पयेत्'**। यह रहा जगत् और यह रहा जीव! यह क्यों हुआ?

'आवृत्याखंडा'—अखण्डता जो है, वह ढँक गयी। फिर—'मैं कर्ता'— 'यह कर्म।' 'मैं भोक्ता'—'यह भोग।' 'मैं आने-जानेवाला' और 'यह स्थान।' 'मैं परिच्छिन्न' और 'यह कालसे परिच्छिन्न विज्ञान।'

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत्।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम्॥ ३६॥

यह बुद्धिमें बैठा हुआ, जैसे शीशेकी परछाईं है, ऐसे बुद्धिमें चेतनका आभास—

अचिदपि चिद्वत् आभासते इति चिदाभासः। चिदाभास किसको कहते हैं? जो अचेतन होनेपर भी चेतनकी तरह मालूम पड़े, इसको कहते हैं 'चिदाभास'। जो प्रतिबिम्ब होनेपर भी बिम्बकी तरह मालूम पड़े, उसका नाम 'चिदाभास।'

आभास! देखो, यशोदामैया थालीमें पानी रख देती हैं और कहती हैं— 'यही चन्द्रमा है'। तो वह क्या था? चन्द्राभास था। जो चन्द्रमा न होनेपर भी चन्द्रमा मालूम पड़े, वह 'आभास-चन्द्रमा।' तो यह जो हमारे हृदयकी थाली है, उसमें वासनाका पानी भरा हुआ है, संस्कारका पानी भरा हुआ है। उसमें जो अखण्ड चेतनका आभास है, उसीको बोलते हैं—'चिदाभास।' यह है प्रतिभास। इस प्रतिभासको बोलते हैं 'जीव।' अब वही—'**भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत्**!' फिर मान लेता है भोक्ता। फिर वही अपनेको कर्ता मान लेता है कि—'मैं यह-यह कर्म करनेवाला हूँ। और फिर अपनेको मान लेता है भोक्ता; और फिर 'मेरे सिवा जो कुछ है, सब हमारा भोग्य है।' भोग्य माननेमें क्या होता है?

एक बात आपको भक्तिकी बतावें। एक तो अपने प्यारेको सुख देनेवाली भक्ति होती है। और, एक होती है, प्यारेको देख-देखकर सुखी होनेवाली भक्ति। जहाँ प्यारेको सुखी करनेके लिए भक्ति होती है, वहाँ सच्ची भक्ति होती है और जहाँ प्यारेको देखकर अपनेको सुखी करनेके लिए भक्ति होती है, और अपना भोक्तापन मुख्य होता है, वहाँ ईश्वर भोग्य हो जाता है।

यह ठीक है कि आप दुनियासे मजा नहीं लेते हैं, भगवान्‌से मजा लेते हैं। इसलिए आप बहुत अच्छे हैं, दुनियासे आपका वैराग्य है। मजा जो ईश्वरसे लेकर आप मज़ेदार बन रहे हैं, यह ऐसा है, जैसे खानमेंसे कोई सोना निकाले और धनी

हो जाय; तो वह खानका प्रेमी है कि अपने धनीपनेका प्रेमी है? वह अपने धनीपनेका प्रेमी है। वह खानका प्रेमी नहीं है। यह स्वार्थीकी पहचान है। प्रेमीकी पहचान है कि अपने आपको ईश्वरमें मिला देना कि—'ईश्वर सुखी हो जाय', तो हम अपने आपको मिटाकर ईश्वरको सुखी करना चाहते हैं।

असलमें यह जितना भूत-भौतिक जगत् है, हम गुरुसे भी अपना सुख चाहते हैं। क्या? कि हमारी लुगाईका स्वास्थ्य अच्छा रहे, वह प्रसन्न रहे। लुगाई यह चाहती है कि हमारे पति स्वस्थ रहें। गुरुकी जो सिद्धि है और शक्ति है उसको पत्नी छीनती है और अपने पतिको देती है; और पति गुरुकी तपस्याको क्षीण करता है। वह गुरुकी सिद्धि-शक्ति और तपस्याको क्षीण करके अपनी पत्नीको देता है। ये सकाम भक्त किसीसे प्रेम नहीं करते हैं, क्योंकि दुनियामें उनका प्यारा है।

एक आदमीने बड़े शौकसे मकान बनाया, बहुत बढ़िया मकान बनाया। बोला कि—'महाराज! आप थोड़े दिन चलके उसमें रहिये।'

मैंने कहा—'क्यों? क्या बात है?'

वह बोला—'आपके रहनेसे पवित्र हो जायगा।'

'अच्छा, ठीक है; तो चलो, हम हो आवेंगे। एक दिन पाँव डाल आवेंगे तो पवित्र हो जाय!'

वह बोला—'नहीं महाराज! आप उसमें रहिये।'

मैंने कहा—'आखिर उसमें रहनेका आग्रह तुमको क्यों है?'

वह बोला—'महाराज! हम तो जा रहे हैं विलायत! मकान रहेगा खाली! तो बिना सफाईके खराब हो जायगा। आप रहेंगे तो सफाई होगी, झाड़ू लगेगी, दिया जलेगा।'

अब देखो, वह हमको वहाँ क्यों रखना चाहता है? अपने मकानकी सफाईके लिए! आप हँसो मत, देखो कि बात बैठती है कि नहीं? आप ईश्वरको किस काममें लेना चाहते हैं?

'हे भगवान्! अब मैं तो सो रहा हूँ, नींद लेने जा रहा हूँ। यह मेरा बच्चा है। रातको मैं सो जाऊँगा तो इसकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है, तो आप जरा रातभर जागके इसकी देखभाल करना। मैं तो तान दुपट्टा सो रहा हूँ।'

मैं यह कह रहा हूँ कि जब आदमी अपनेको भोक्ता मान बैठता है, और अपने सिवाय दूसरेको भोग्य मान बैठता है, तो वह केवल जगत्को ही भोग्य नहीं मानता. वह ईश्वरको भी भोग्य मानता है और अपने कठोर दाँतसे जैसे कढ़ी खाता

है, रसगुल्लाको निगलता है, असलमें वह गुरु-ईश्वर-महात्मासे वैसे ही स्वाद लेता है। जिसको भोक्ता होनेकी आदत पड़ जाती है, वह भोग्य बना लेता है।

भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्थाद्भूतभौतिकम्।

वह चाहे फावड़ेसे धरतीको खोदे, पानीको उठाकर आगमें फेंके, चाहे पंखेसे हवा डुलावे, चाहे बिजली जलावे और चाहे संगीत सुनावे; वह अपने लिए करेगा। जब अपने लिए करेगा तो अखण्डतासे वंचित हो जायगा। इसीका नाम है '**भोक्ता-भोग्यभाव**'।

तुम्हारा प्रेम किससे है? तुम अपने कपटको नहीं समझते हो, तो समझ लो।

अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम्।
व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम्॥ ३७॥

अनादिकालसे लेकर जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक यह भोक्ता-भोग्यभाव व्यवहारमें सच्चा है। इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं। माने जीव और जगत्, भोक्ता और भोग्य, कर्ता और कर्म, जाने-आनेवाला संसारी और जाने-आनेकी जगह यह सब व्यावहारिक है। अपनी परिच्छिन्नता और दूसरेकी परिच्छिन्नता यह सब व्यावहारिक है।

यह 'अनादि' क्यों जोड़ दिया? आजकलके बाबूलोग तो 'अनादि'पर लड़ते हैं। बाबू सम्पूर्णानन्दजी थे बनारसी, बादमें राजस्थानके गवर्नर हुए और उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री थे। हमारे 'करपात्रीजी महाराज' तो कहते थे—'कांग्रेसमें संस्कृतका पण्डित यह एक ही है। चलो, हमको इस बातका सन्तोष है कि कांग्रेसमें एक संस्कृतका पण्डित तो है।'

वैसे वे संस्कृतके विद्वानोंके समान कोई बड़े विद्वान् नहीं थे। आजकल अंग्रेजीमें जो लोग पुस्तक लिखते हैं, वे कोई हमारे दर्शनशास्त्रके विद्वान् होते हों, सो बात नहीं है। यह तो जैसे बंजरभूमिमें जाते हैं और वहाँ कुछ बाजरा-कोंदो छीट आते हैं और लोग समझते हैं कि बड़ी पैदावार हो गई! उनको तो चावल-गेहूँका कुछ पता ही नहीं है।

ये बड़े-बड़े लोग जो विलायत जाते हैं और वहाँ बड़ा काम, बड़ी प्रतिष्ठा करके आते हैं, तो उनकी बातें पढ़-सुनके हँसी आती है कि ये हमारे दर्शनशास्त्रको या ब्रह्मज्ञानको या भारतीय संस्कृतिको कुछ नहीं जानते हैं, बिलकुल कुछ नहीं जानते हैं।

'अनादि' शब्दका क्या अर्थ होता है? 'बाबू सम्पूर्णानन्द' ने लिखा है कि

जो 'अनादि' होता है, उसको 'अनन्त' जरूर होना चाहिए। जिसकी आदि न पकड़ी जाय, उसका अन्त भी नहीं पकड़ा जायगा।'

अब देखो, एक बहुत मामूली बात आपको सुनाते हैं। देखो, यह एक फूल है। उसमें बीज। यह पेड़मेंसे निकला है तो पेड़ कैसे पैदा हुआ? यह फूल कबसे है, बताओ!

पेड़ बीजसे पैदा हुआ। तो बीज कहाँसे आया? पेड़मेंसे आया। यह बीज और वृक्षकी आदि जो है, उसको आपकी बुद्धि पकड़ सकती है? नहीं पकड़ सकती।

बोले—'उसका अन्त भी हम नहीं पकड़ सकते।'

गलत बात है। कहो, तो हम इसका अन्त अभी कर दें। आगमें जला दें हम इसको। अङ्गूरका बीज, आमका बीज! आमका जो बीज है, जिसमेंसे आमका पेड़ निकला, वह कब पैदा हुआ? अरे बाबा, सृष्टिमें पहले-पहल आमका पेड़ कब पैदा हुआ? बीजको परम्परासे अनादि मानना पड़ेगा। पर आगमें जला दो तो? जल जायगा।

यह जीवत्व और जगत्व जो है, उसकी शुरुआत बुद्धिमें नहीं आती है। क्यों नहीं आती है? क्योंकि काल ही अनादि है। कालकी शुरुआत कब हुई, यह कहो! जैसे एक समय था, जब अरबों बरस पहले दस बजके पाँच मिनटपर प्रारम्भ हुआ था। तो दस बजके पाँच मिनट पहले क्या था? पहले काल ही था। तो ऐसे कालकी आदि होती नहीं। इसलिए बहुत सारी वस्तुएँ ऐसी हैं जो कालकी धारामें बही आ रही हैं और उनकी आदि होती नहीं। परन्तु उनके बीजकी जो परम्परा है, उसको आगमें जलाया जा सकता है।

संसारकी जो परम्परा है, अज्ञानमूलक है और ज्ञानाग्निसे इसको भस्म किया जा सकता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

गीता-४/२४

बीजका भी अन्त होता है और वृक्षका भी अन्त होता है। दोनोंका अन्त होता है, माटीका अन्त नहीं होता। उपादानका अन्त नहीं हो सकता। तुम बीज हो कि वृक्ष हो?

बीजने कहा—'मैं आदि हूँ। तुम मुझसे ही तो निकले हो।'

वृक्षने कहा—'मैं आदि हूँ। तुम मुझसे निकले हो।'

बीजने कहा—'मैं आदि हूँ। तुम मुझसे निकले हो।'

बीजने कहा—'नहीं-नहीं, तुम मुझसे निकले हो।' दोनों आपसमें लड़ने लगे, तो माटी हँसने लगी। बोली कि-'बेटा बीज! तू मुझसे न्यारा नहीं है! बेटा वृक्ष! तू भी मुझसे न्यारा नहीं है।'

दोनों बोल उठे—'अरे हाँ, हम तो माटी हैं। माटी हैं तो लड़ाई काहेको?'

अनादि-अनन्त माटी है। बीज और वृक्ष अनादि और सान्त हैं। यह अनादिता मोक्षसे पहले है। मोक्ष हो जाता है तो अनादिता भी मिट जाती है। इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं।

आजकल कई ऐसे हैं 'स्वयम्भू' लोग, जो कहते हैं कि 'हम माया नहीं मानते हैं।' मत मानो। प्रकृतिको भी नहीं मानते। मत मानो, सो फिर व्याख्यान देके आप करते क्या हैं?'

'हम सोये हुएको जगाते हैं।'

आपने सुना है कि नहीं? 'हम तो केवल नींद तोड़नेके लिए यह बात कहते हैं।' तो आपको मालूम होना चाहिए कि अज्ञानके लिए वेदान्तमें 'निद्रा' शब्दका प्रयोग प्रारम्भसे ही है।

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

—गौडपादकारिका माण्डूक्य आगम १५

किसी वस्तुको न समझना, न पकड़ पाना, अज्ञान है। इसका नाम है 'निद्रा' और उलटा ग्रहण का नाम है 'स्वप्न'। उलटा देखना माने एकको अनेक देखना, चेतनको जड़ देखना, जहाँ स्थान नहीं है, वहाँ स्थान देखना, जहाँ काल नहीं है वहाँ काल देखना।

सपनेमें क्या होता है? बिना स्थानके स्थान, बिना कालके काल, बिना व्यक्तिके व्यक्ति, बिना अनेकताके अनेकता सपना दिखा देता है।

जहाँ वस्तुका ज्ञान ही न हो, उसका नाम है निद्रा। तो अज्ञानका नाम निद्रा है और भ्रान्तिका नाम स्वप्न है। यह 'गौडपादकाारिका' में, उपनिषद्में आया।

बोले—'नहीं-नहीं, हमने नया नाम निकाला है।' क्या? 'यह जो तुम लोग सो रहे हो न, उसको हमलोग हिलाते हैं। जरा शोरगुल करके जगाते हैं। जगाना हमारा मतलब है।' तो आप लोग देखो—

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत्॥ ३८॥

असलमें नींद है। आपने यह श्रुति सुनी कि नहीं?

उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वं अग्निमिच्छध्वं भारत!

जागो-जागो! बात तो पुरानी है! हाँ, लेकिन पुरानेके नामसे कहेंगे तो बच्चे बोलेंगे कि 'यह बुर्जुआ है।' बोले—'नहीं, पुराना नाम छोड़ दो। मैंने यह शब्द गढ़ा है।' क्या? 'कि आज यह दुनिया सो रही है, उसको हम जगाना चाहते हैं। देखो, हमने तुम्हारी 'बेवकूफी'का नाम नींद रख दिया और अपने व्याख्यानका नाम 'जगाना' रख दिया। देखो, कैसी नई बात सुनाई!'

'नई नहीं है, तुम पुरानीको नई बनानेकी कल्पना करते हो! अभिमान करते हो! यह नींद है, नींद! कहाँ है? '**चिदाभासस्थिता निद्रा**'।

यह चेतनमें नहीं है, चेतन तो जाग्रत है; सदा जाग्रत है। यह सुषुप्तिमें भी जागता है, समाधिमें भी जागता है। यह स्वप्नमें भी जागता है और जाग्रतमें भी जागता है। जो असली चेतन है, वह तो जाग्रत है, लेकिन अन्तःकरणमें जो चिदाभास है, उसकी एक वृत्तिका नाम है 'सुषुप्ति।'

'**विक्षेपावृतिरूपिणी**'—जब वह वृत्ति आवरणरूपमें रहती है, तब उसका नाम होता है 'सुषुप्ति' और जब विक्षेपरूपमें रहती है, तब उसका नाम 'स्वप्न' होता है। यही जीव और जगत्के स्वरूपको ढँककर नयेको पैदा कर देती है। पहलेको ढँक देती है और नयेको पैदा कर देती है।

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।
नहि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः॥ ३९॥

यह तो बाबा, जितनी देरतक मालूम पड़ते हैं, उतनी देरतक ही रहते हैं। जो व्यवहारकालमें बाधित हो जाय और परमार्थकालमें बाधित हो जाय, उसको प्रातिभासिक बोलते हैं। परमार्थज्ञानसे जो बाधित हो जाय, सो भी प्रातिभासिक-प्रतिभास और जो व्यवहारकालमें बाधित हो जाय सो भी प्रतिभास। जैसा व्यवहार होता है, वैसा परमार्थ।

●

प्रवचन ३३

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।
नहि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः॥ ३९॥
प्रातिभासिक जीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम्।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः॥ ४०॥
व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम्।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः॥ ४१॥
पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम्।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना॥ ४२॥
माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरङ्गके।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेप्यनुगता यथा॥ ४३॥

महात्मालोग कहते हैं कि भाई, जाग जाओ—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।

वेदका मन्त्र कहता है कि 'जागो, तुम तो अभी सोये हुए हो। बड़े-बूढ़ोंके पास जाओ और सीखो। अभिमानमें मत रहो कि हम सब समझ लेंगे। उठो, जागो।' तो यह नींद कहाँ रहती है? ब्रह्ममें रहती होगी?

ब्रह्म तो सुषुप्तिमें भी नहीं सोता है। वह तो मुर्देमें भी नहीं सोता है। वह तो समाधिमें भी नहीं सोता है। वह तो बिलकुल जागता रहता है। चिन्मयज्योति-चिज्ज्योति, स्वयंप्रकाश! 'स्वयं' बोलते हैं न! 'स्वयं' केवल सत्ताका ही बोधक है। स्वयं सत् माने 'स्वयंसिद्ध' में केवल सत्ताका बोध होता है। 'प्रकाश' में 'चेतन' का बोध होता है और 'स्वयंप्रिय' में 'आनन्द' का बोध होता है।

स्वयंप्रिय है, इसलिए वैराग्य होगा, स्वयंप्रकाश है इसलिए अन्य जो होगा वह दृश्य होगा और स्वयंसिद्ध है, इसलिए दूसरा सब असत् हो जायगा—असिद्ध हो जायगा।

स्वयंप्रियता दूसरेमें वैराग्य उत्पन्न करेगी, स्वयंप्रकाशता दूसरेको जड़ बना देगी और स्वयंसिद्धता दूसरेको असिद्ध कर देगी। तब यह आत्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप है।

यह नींद कहाँ रहती है? लोग समझते हैं कि ये नींदका नाम लेते हैं। अरे, तुम सोये हुए हो, नींदमें हो! हम तुम्हें झकझोर रहे हैं, जगा रहे हैं। हम सातवें आसमानसे यह सन्देश लेकर आये हैं। खास पैगम्बर तो हम ही हैं।

उत्तिष्ठत, जाग्रत!

नींदमें कौन है? जो किसीसे झगड़ा करता है। वेदमें यह मन्त्र है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

झगड़ा करनेवाला नींदमें है। जिसके मनमें सन्देह है, वह करवट बदल रहा है। जब मनमें यह होता है कि 'एक मैं हूँ', 'एक जगत् है' और 'एक ईश्वर है'; तब वह खड़ा हो गया उठके। जब परमात्माका साक्षात् अनुभव हो गया, तब वह सत्युगमें पहुँच गया।

लड़ाई करनेवाला कलियुगमें है, संशय करनेवाला द्वापरमें है, साधन करनेवाला त्रेतामें है और सिद्धपुरुष सत्युगमें रहता है। उसमें तो कलियुग, द्वापर, त्रेता है ही नहीं। अब देखो, तुम किस युगमें रहते हो?

कलियुगमें माने कलहयुगमें रहते हो तो कलियुगी हो। संशयवादी हो तो द्वापरी हो। साधनयुगमें रहते हो तो त्रेतावासी हो। परमात्मामें स्थित हो गये, तो सत्युगवासी हो।

हमारे बड़े-बूढ़े लोग जिनमें कबीर, नानक, दादू हैं; आप इनके नाम तो जानते ही होंगे। हमारे इन मध्यकालीन सन्तोंका कहना है कि 'एक परब्रह्म परमात्मा परात्पर सत्य है।' वे दूसरे ढंगसे बोलते हैं—'वह जब सकल होता है तब सर्वरूप बनता है और जब सहजभावमें आता है तब वह मनुष्यरूपमें आता है।'

मनुष्य ईश्वरका सर्वापेक्षा श्रेष्ठ प्रकाश है। इसीमें अक्षर है, इसीमें अलख है, इसीमें निरञ्जन है, इसीमें अगम है। ऐसा मजाक करते हैं ये सन्त कि पूछते हैं—

अरे! ईश्वरको तुम क्या ढूँढ़ते हो?' कबीर कहता है—'अगर ईश्वरको तुम देखते हो, तो बोलो, और—'अरे! ईश्वरको नहीं देखते हो तो भी बोलो कि मैं नहीं देखता हूँ।' परन्तु जो न देखा जाता है, और देखा जाता है, उसके बारेमें बोलना क्या?

'नानक' भी ऐसे ही बोलते हैं—

जहाँ बोल तहाँ अक्खर आवा,
जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य जो होई,
जस वो है तस लखै न कोई।

वे कहते हैं कि 'मुर्देको जलाते हैं तब पाप क्यों नहीं लगता? वह भी तो शरीर ही है। जिन्दाको जलाओ तो पाप लगेगा।'

बोले—'अरे भाई मुर्दामें ब्रह्म नहीं है और जिन्दामें ब्रह्म है।'

ब्रह्मका नाम मत लो। ब्रह्म तो मुर्दा-जिन्दा दोनोंमें एकसरीखा है।

बोले—'नहीं, यह जो ब्रह्मका अवताार है न हमारे शरीरमें, जो आँखसे देख रहा है—**'एनेक्षते शृणोति इदं जिघ्रति व्याकरोति च'।**

जो कूटस्थ बैठा हुआ इस दिलमें कानसे सुनता है, आँखसे देखता है नाकसे सूँघता है, त्वचासे छूता है, जीभसे चखता है, जो हाथसे करता है, जो पाँवसे चलता है, जो दिलसे प्यार करता है, जो दिमागसे विचार करता है—यह जो भगवान्‌का अवतार है न; इस शरीरमें यह आत्मा कौन है? यह तो भगवान्‌का नित्य अवतार है।

वे कहते हैं—'चतुर्भुज नहीं, अष्टभुज नहीं, दशभुज नहीं, सहस्रभुज नहीं, ईश्वरका सच्चा अवतार तो यह द्विभुज है। यह दो हाथवाला सच्चा अवतार है।' ऐसे बोलते हैं कबीर, नानक, दादू, चरणदास। अगर इस दो हाथवालेमें ईश्वर नहीं मिलेगा तुम्हें, जो तुम्हारी आँखके सामने है, तो चतुर्भुज-अष्टभुज मिलनेकी उम्मीद मत करो। घरमें आये हुएका, मिले हुएका तो तुम अनादर कर रहे हो। आत्मा परमेश्वरका नित्य अवतार है। जब यह लीला-संवरण करता है, तो मुर्देको जला दो, पाप नहीं लगेगा। जब इसमें बैठ करके लीला कर रहा है, तबतक तो यह परमेश्वरका स्वरूप है।

एनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।

इसीको कूटस्थ बोलते हैं। यह न जागता है न सोता है, एकरस! यह नींद बैठी है आभासमें और यह पहलेकी दुनिया जो जाग्रत अवस्थाकी है, उसको ढँक देती हैं। और, यह सपनेमें नयी दुनिया खड़ी कर देती है। जीव भी नया बना देती है और जगत् भी नया बना देती है।

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।

स्वप्नमें हजारों जीव और हजारों जगत् हैं। जब लड़ाई हो रही थी, तो मैंने देखा—एक दिन हवाईजहाजपर चढ़के मैं 'इटली' गया। वहाँ देखा, दोनों ओरकी सेनाओंमें खूब घमासान लड़ाई हो रही है। पुरानी बात है जब 'जर्मनी'—'इटली' में लड़ाई हो रही थी न, इसी समय सपना देखा था। वैसे तो कभी 'इटली' नहीं गया। किसी युद्धभूमिमें भी नहीं गया, घमासान लड़ाई भी नहीं देखी।

जितनी देरतक वह सपना रहा, उतनी देरतक वह इटली, वह युद्धकाल, वह सेना, वह सेनापति, वह शस्त्रास्त्र सब प्रतीतिकालमें ही रहते हैं, व्यवहारकालमें वे नहीं रहते हैं। इसलिए उनको प्रातिभासिक बोलते हैं।

रस्सीकी सत्ता व्यावहारिक है और सर्पकी सत्ता प्रातिभासिक है। आपलोग डरा मत करो। यह रज्जु-सर्पका इतना ज्यादा विचार हुआ है शास्त्रमें ! किसी भी दर्शनशास्त्रसे एम० ए० पास व्यक्तिको यदि छः महीने लगातार पढ़ाया जाय कि रज्जु-सर्पका क्या रहस्य है, तो उसकी समझमें आना कठिन है। हम बात सीधी बोलते हैं।

साँप है तब दिखता है, साँप नहीं है तब दिखता है, साँप मनमें है तब दिखता है, साँपका होना-न होना अनिर्वचनीय है। आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति—यह कमजोर दिमागवाले जो विचार करनेसे कतराते हैं, उन लोगोंके लिए नहीं है।

जो लोग केवल अज्ञानको ही परमात्मापर आवरण मानते हैं, यह बहुत बड़ी चीज है। यह नहीं कि कोई जड़ दूसरी चीज परमात्मापर आवरण आगयी है। कोई जड़ दूसरी वस्तु परमात्मापर आवरण नहीं आ गयी है।

कोई शैतान आ गया है, कोई जड़ता आगयी है, ऐसा कुछ नहीं है। सचमुच कहीं परिच्छिन्नता आगयी है, ऐसा भी कुछ नहीं है। केवल न समझनेसे ही आत्मा और परमात्माका भेद मालूम पड़ता है। इस बातको समझनेके लिए पृथ्वीके दृष्टान्तसे काम नहीं चलता। मिट्टी और घड़ा, जल और तरङ्ग आगऔर चिङ्गारी, वायु और प्राण, आकाश और घटाकाश—इन दृष्टान्तोंसे काम नहीं चलता। ये सब अन्यविषयक हैं, जड़-विषयक हैं। स्वप्नका दृष्टान्त मानसिक है, इन सबसे विलक्षण है। देखनेवाला भी मानसिक है, देखा जानेवाला भी मानसिक है। इससे भी ऊँचा दृष्टान्त है भ्रमका।

मनःकल्पनाका दृष्टान्त दूसरा होता है और भ्रमका दृष्टान्त दूसरा होता है। और, वैज्ञानिक तत्त्वोंके परिणमनका दृष्टान्त दूसरा होता है। संसारमें जितने तत्त्व-

दृष्टान्त हैं, वैज्ञानिक जितने दृष्टान्त हैं, वे परिणामवादके दृष्टान्त हैं। वे विवर्तवादके दृष्टान्त नहीं हैं। इसकी महिमा बड़ी मजेदार है।

रज्जुका अस्तित्व व्यावहारिक है और उसमें सर्प प्रातिभासिक है। जो देखनेवाला है, उसकी सत्ता पारमार्थिक है। अपने अभावका अनुभव कभी नहीं होगा। रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्प लीन हो जायगा, रज्जु रह जायेगी। परन्तु ऐसा भी समय आवेगा, जब रज्जु मिट्टीमें मिल जायेगी, पञ्चभूतमें मिल जायेगी, क्योंकि उसका उपादान पञ्चभूत है।

परन्तु अपना आपा किसी मिट्टीमें मिलनेवाला नहीं है, यह तो परमात्मा है, अबाधित है, सत्य है, सत् है, ब्रह्म है। ऐसी महाविभूति दूसरी नहीं है।

प्रातिभासिक सत्ताकी पहचान यह है कि वह प्रतीतिकालमें रहती है और प्रतीतिकालके अतिरिक्त-कालमें नहीं रहती है। 'प्रतीति' शब्दका अर्थ होता है, जो उल्टा मालूम पड़े। इति=ज्ञान।

जैसे अध्येति, प्रत्येति—प्रतीप एति माने जो उल्टा बनकर आता है, उसको प्रतीति कहते हैं। रज्जु सर्प बनकर आती है। हमने कह दिया, 'सर्प नहीं है। यह रज्जु है।'

'ठीक है, हमने मान लिया।'

'हमारे कहनेसे तुमने मान तो लिया, लेकिन कहो कि भ्रम मिट गया कि नहीं मिट गया? अभी तो तुम उसको माला मान सकते हो, डण्डा मान सकते हो, उसको भूछिद्र मान सकते हो! जबतक रज्जुका ज्ञान नहीं होगा, तबतक सर्पका भ्रम मिट नहीं सकता।'. 'रज्ज् प्रमा'के बिना 'सर्प-भ्रम'की निवृत्ति नहीं होती है। तो साँप, दरार, डण्डा, फूलकी माला कहाँसे निकलती है?

एक भ्रम मिटेगा, दूसरा भ्रम हो जायेगा। कबतक भ्रम नहीं मिटेगा? जबतक तुम अधिष्ठानको नहीं जानोगे। लेकिन जब अपनेको जान लोगे, बड़ी विचित्र बात है। एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जायेगा। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। वेदान्त माने कविता नहीं होता, कि गा-गाके बोल दो तो वेदान्त हो गया। लच्छेदार भाषाका नाम वेदान्त नहीं होता। युक्तियोंके अम्बारका नाम वेदान्त नहीं होता।

वेदान्त एक ऐसी वस्तु है जो सम्पूर्ण सीमाओंको काट करके स्थित है। कोई सीमा उसमें नहीं है। जो न जाति है, न सम्प्रदाय है, न धर्म है, न ग्रन्थ है, न उपास्य है, न उपासक है। सारी सीमाओंको काट देता है। वेदान्त एक ऐसा आत्मसत्य है, जिसके होनेसे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

प्रातिभासिक जीवके लिए प्रातिभासिक जगत् होता है और प्रातिभासिक जीव उसको सच्चा मानता है। परन्तु व्यावहारिक जीव उसको मिथ्या मानता है। सपनेमें हम कुम्भमेलेमें गङ्गास्नान कर रहे थे। हम तो उसको सच्चा मान रहे थे। हम तो थे 'वृन्दावन' में और कुम्भ लगा था। हमने सपनेमें देखा, लाखों आदमी गङ्गास्नान कर रहे हैं और हम भी उसमें हैं। उस समय तो गङ्गाजी भी सच्ची लगे, वह भीड़ भी सच्ची लगे और जब जाग गये! बाबा!! तो व्यावहारिक जीव!!!

इस मनुष्यशरीरमें जो जीव है, वह व्यावहारिक जीव है और जो वहाँ गङ्गास्नान कर रहा था, वह प्रातिभासिक जीव था। वह प्रातिभासिक जीव स्वप्नके दृश्यको भी सच्चा मानता था और अपनेको भी सच्चा मानता था। लेकिन जब सपनेमेंसे उठे और व्यावहारिक जीवनमें आये, तो वह गङ्गाजी भी झूठी और वह सपनेवाला जीव भी झूठा। वहाँ जो मेला था, वह भी झूठा।

व्यावहारिकजीवो यस्तज्जग द्व्यावहारिकम्।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः॥

व्यावहारिक जीव इस समय देहमें बैठा है। उसका जो जगत् है, वह व्यावहारिक है, क्योंकि इसमें—

पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

अपने कर्मसे मनुष्य दब जाता है। कोई चोरी करे और लोगोंके बीचमें अपनेको साहूकार बतावे तो जबतक जीभमें ताकत रहेगी, तबतक लोगोंको सुनाता रहेगा—'साहूकार'—'साहूकार' और जब बीमार पड़ेगा, जब कमजोरी आवेगी, तब भीतरसे निकलेगा—'मैं चोर', 'मैं चोर', 'मैं चोर'! अपनेको दबा नहीं सकते। कितना भी मनोबल, होवे और जिन्दगीभर अपनेको छिपाके रखो, लेकिन शरीरकी गाँठें ढीली पड़ती हैं, इन्द्रियोंपर अपना काबू नहीं चलता, तब मानना पड़ेगा कि 'मैं चोर हूँ।' व्यावहारिक सत्ता यही है। वह तुम्हारे सिरपर चढ़के बोलेगी।

कर्ता-भोक्ता तुमको बनना पड़ेगा और उसका फल भी तुमको भोगना पड़ेगा। फल क्या है? दुःख है। यह नहीं कि पुलिसने पकड़ा तब फल हुआ और जेलमें गये तब फल हुआ! जो मनमें दुःख होता है, वही तो फल है। यही तो व्यावहारिक जीव है।

जब परमार्थका ज्ञान होता है, तब व्यावहारिक जगत् और व्यावहारिक जीव दोनों बाधित हो जाते हैं। पारमार्थिक जीवका क्या लक्षण है?

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम्।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना॥ ४२॥

पारमार्थिक जीव क्या है? वह एक शरीरमें नहीं है। देखो, आप ऐसे तो बोलते हो न कि 'मैं चलता हूँ', 'मैं हाथसे पकड़ता हूँ' और 'आँखसे देखता हूँ' कानसे सुनता हूँ, मैं ही नाक़से सूँघता हूँ और जीभसे चखता हूँ।' तो ये सब अलग-अलग हैं कि नहीं? हाथ अलग है, पाँव अलग है, आँख अलग है, कान अलग है, नाक अलग है। आप इन्द्रिय अगर होते, तो आपके अन्दर एक ही चीज होती!

जैसे कोई अपने घरमें तरह-तरहके शीशे हों और आनेवाले मेहमानको दिखावे कि 'देखो, हमारे पास यह लाल शीशा है, यह हरा शीशा है, यह पीला शीशा है।' शीशे तो रङ्गीन तरह-तरहके होते हैं, पर दिखानेवाला तो एक है न!

हम एक सेठके घरमें गये। जहाँ जूते रखे जाते हैं न, वहाँ कोई सौ जोड़े जूते रखे थे। मैंने पूछा कि 'भाई, क्या बात है? कोई दुकान है? इसका कोई व्यवहार होता है?'

बोले—'नहीं, ये तो अपने ही हैं।' तो तरह-तरहके जूते पहनके सेठजी निकलते हैं न! कल एकको मैंने देखा, तो हमको भ्रम हुआ कि यह बहुत भक्त होगा। व्यक्ति था कोई! सफेद टीका लगा था सिरपर, बिल्कुल सफेद! मैंने कहा, 'चन्दन लगाया होगा इसने। कोई भक्त होगा।' तुरन्त ही ख्याल आया कि यह साड़ी सफेद है इसलिए टीका सफेद है। हाँ, यह मलयगिरि चन्दनकी सफेदी नहीं है। यह तो साड़ीसे मैच करनेवाली सफेदी है, तिलककी-टीकाकी सफेदी है।

आपके पास इन्द्रियाँ बहुत हैं, औजार बहुत हैं। आप एक हैं, आपके मनमें इच्छाएँ बहुत हैं। आप एक दिनकी सब इच्छाओंको गिन लें, तब मालूम पड़े। ये इच्छाएं करी नहीं जातीं। करनेसे नहीं होती हैं। इनका शास्त्रमें निषेध है। करनेसे नहीं होती हैं।

जैसा शुभ-अशुभ संस्कार मनमें बैठा हुआ है, वैसे उभरता रहता है। जैसे खारे समुद्रमें खारी तरङ्गें उठती हैं और गङ्गाजीके जलमें स्वच्छ निर्मल शीतल अमृतमय तरङ्गें उठती हैं, वैसे तुम्हारे कर्माशयमें जो भरा हुआ है—रागका खजाना है तुम्हारा दिल; द्वेषका खजाना है तुम्हारा दिल लोभका-मोहका खजाना है तुम्हारा दिल! वह उद्गम है। उसमेंसे तरङ्गें निकलती रहती हैं। तो इच्छाएँ संस्कारके अनुसार होती हैं। आप उनके कर्ता नहीं हैं।

आप कभी पापके कर्ता बनते हो, कभी पुण्यके कर्ता बनते हो! आप कौन-से कर्ता हो? आप असलमें कर्ता भी नहीं हो! आप कभी दु:खके भोक्ता बनते हो, कभी सुखके भोक्ता बनते हो। तो आप कैसे भोक्ता हो? असलमें आप भोक्ता भी नहीं हो। दो प्रकारका भोक्तापना—सुखीपना, दु:खीपना आता-जाता रहता है। दो

प्रकारका कर्तापना—पापी, पुण्यात्मा आता-जाता रहता है। हजारों इच्छाएँ आती-जाती रहती हैं। दसों इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं। देहमुर्दा हड्डी-मांस-चामका, यह छूट जाता है। इनके भीतर बैठके देखनेवाले हो तुम।

तुम देखते हो असलमें, आँख नहीं देखती हैं। तुम सुनते हो, कान नहीं सुनते हैं। नींद आती है न? उस समय हमारी किसी इन्द्रियने काम नहीं किया। मन ने भी काम नहीं किया, पाप-पुण्यने भी काम नहीं किया। सुख-दुःख भी नहीं हुआ।

सुख-दुःख नहीं हुआ, यह कौन जानता है? तुम सुषुप्तिको भी जानते हो! अरे, तुम तो साक्षी हो! सुषुप्तिको तुम जानो, सुख-दुःखको तुम जानो, कर्ता-भोक्ताको तुम जानो, इन्द्रियोंको तुम जानो, शरीरको तुम जानो, बाहरकी दुनियाको तुम जानो! यह ईश्वरका अवतार है। यह परमेश्वर ही है। जब लीला-संवरण करके अपने लोकमें जाता है, तब कुछ नहीं दीखता है। वेदान्तमें पारमार्थिक-आत्मा है, वह साक्षी-आत्माको अभिन्नरूपसे ब्रह्म बताता है।

साक्षी=गवाह। जैसे दो आदमी लड़ते हों न, तो उसको देखनेवाला गवाह होता है। सड़कपरसे कितने लोग आते-जाते हैं। स्त्री आती है-जाती है, पुरुष आता है-जाता है, लँगड़ा आता है-जाता है, अन्धा आता है-जाता है, हम उसको देखते हैं। ऐसे ही अपने शरीरमें होता है। जब कोई सड़कपर सो जाता है, तो उसको भी हम जानते हैं। इसी प्रकार इस शरीरमें कोई सो जाता है तो उसको भी हम जानते हैं। ज्ञानमात्र ही अपना स्वरूप है।

यह जो साक्षी है, इसमें देश भी नहीं है, काल भी नहीं है और वस्तु भी नहीं है। इसमें सजातीय-विजातीय-स्वागतभेद कोई नहीं है। भेद और भेदाभाव दोनोंका यह साक्षी है। तो जब एक ही अधिष्ठानमें वस्तु और उसका अभाव दोनों होते हैं, तो अभाव वस्तुको खा जाता है इसलिए जगत् मिथ्या हो जाता है।

'मिथ्या' शब्दका अर्थ यह नहीं है कि आप अपने घरका काम न करें। 'मिथ्या' शब्दका अर्थ है—'यह तत्त्व नहीं है, यह असलियत नहीं है। यह एक व्यवहार है।'

देखो, व्यवहार कैसा होता है? आप अपने बच्चेको लेके किसीसे मिलने जाओ। वह पूछे कि 'यह आपका बेटा है?' आप बोलेंगे, 'आपका ही है महाराज!' आपका यह व्यवहार झूठा है कि नहीं? इसका मतलब यह नहीं है कि बेटा नहीं हुआ।

बोले—'महाराज! हम अपना आत्मा आपको अर्पण करते हैं।' ऐसे हमारे पास आत्मा अर्पण करनेवाले सैंकड़ों आ चुके हैं। अब उनकी याद भी हमको नहीं आती है और उनको भी शायद हमारी याद नहीं आती होगी। जैसे चलने-फिरनेवाले लोग छूटते जाते हैं, वैसे यह शरीर छूटता जाता है। यह मन छूटता जाता है, यह व्यवहार छूटता जाता है। यह असलियत नहीं है।

आरतीमें बोलते हैं न,

'तन-मन-धन सब अर्पण कीजे।'

यह एक मिथ्या व्यवहार है। बोलते हैं होता नहीं है। जैसे बोलते हैं न, 'मिथ्या भाषण करते हैं,;' आप इसका अर्थ समझ लो। इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषण नहीं है; अर्थ यह है कि उस भाषणमें जो अर्थ है, वह सत्य नहीं है। तो भाषण कानसे सुनाई पड़नेपर भी और मनसे समझमें आनेपर भी, जैसे वह भाषण 'मिथ्या' कहा जाता है, वैसे यह जगत् आँखसे देखा जानेपर भी, कानसे सुना जानेपर भी, नाकसे सुँघा जानेपर भी, जीभसे बोला जानेपर भी, जैसे भाषणका व्यवहार है, परन्तु अर्थके मिथ्यात्वके कारण वह मिथ्या है, इसी प्रकार जगत् प्रतीत हो रहा है, परन्तु अबाधितत्वरूप जो सत्यत्व है, यह हमेशा बना रहेगा ऐसा ख्याल है, यह सच्चा है ऐसा जो ख्याल है, यह नहीं।

सच्चा तो वही है, जो देख रहा है। सच्चा दूसरा नहीं है।

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम्।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना॥ ४२॥
माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधमस्तिरङ्गके।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेप्यनुगता यथा॥ ४३॥
साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके॥ ४४॥
लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥ ४५॥

यह वक्ता समुद्रके तटका नहीं है, गङ्गाके तटका है। यह समझा रहा है कि 'जैसे गङ्गाजल मधुर है, गङ्गाजल प्रवाही है, गङ्गाजल शीतल है। अब तरङ्ग उठी, तो तरङ्ग कैसी है? तरङ्ग भी मीठी है, तरङ्ग भी प्रवाही है, तरङ्ग भी शीतल है। अच्छा, तो उसमेंसे एक फेन उठा, एक बुदबुदा उठा। वह कैसा है? वह भी मीठा है, वह भी ठण्डा है, वह भी बहता है।'

बोले कि—'बात क्या हुई? असलमें न फेन मीठा है, न फेन ठण्डा है, न फेन बहता हुआ है. और न तरङ्ग मीठा है, न तरङ्ग ठंडा है, न तरङ्ग बहता हुआ है। तो बात क्या है? असलमें जल ही ठंडा, बहता हुआ और मीठा-मीठा है। उसीका धर्म तरङ्गमें और उसीका धर्म फेनमें मालूम पड़ता है।'

बोले—'आत्मा जो है, वह सच्चिदानन्द है, सच्चिदानन्दका समुद्र है अपना आत्मा।' उसमें यह शरीर एक तरङ्ग है जो व्यावहारिक है। उसमें सपने फेनसरीखे हैं। सपने टूट जाते हैं, शरीर बना रहता है। शरीर टूट जाते हैं, परमात्मा बना रहता है। वही अपना स्वरूप है।

कबीरजी महाराज तो कभी-कभी निराश हो जाते थे। एक बार कबीरसाहब बोले—***केहि-केहि समझावौं, सब जग अन्धा!***

श्रोता तो चिढ़ेंगे। वे बोलेंगे—'हे महाराज! हमारे स्त्री है, पुत्र है, पति है, धन है, मकान है। हमारा यह सोनेका-सा शरीर है। यह कैसी बढ़िया आँख है, कैसे बढ़िया ये दाँत हैं? हमारा प्यारा-प्यारा कैसा दिमाग है? और तुम झटसे हमको अन्धा बोल देते हो? श्रोता थोड़े जिज्ञासु होते हैं, वे मुमुक्षु और वैराग्यवान् होते हैं। इसलिए यह बात सुन लेते हैं।'

यदि हम कम्युनिस्टोंके बीचमें जाके सुनाने लगें,

केहि-केहि समझावौं, सब जग अन्धा।

तो मारने लगेंगे। यह तो उन्हींका थोड़ा-थोड़ा असर सेठोंपर भी रहता है, तो वे भी ऐसे बोलने लगते हैं। वैराग्यका सुनना आसान नहीं है।

हमारे एक मित्र थे, 'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय'से डबल एम०ए० पास थे। हमारी उनकी बड़ी मैत्री थी, बड़े भावुक भक्त थे। पर वैराग्यकी बात पसन्द नहीं थी। बम्बई आनेके पहले मैं वैराग्यकी कथा ज्यादा करता था। यहाँ तो सेठोंने मना कर दिया—'कहीं हमारे बालबच्चे सुन लेंगे और उनके मनमें वैराग्य आ गया, तो हमारा नाश ही हो जायगा। वैराग्यकी कथा मत किया करो।' मैंने कहा—'अच्छा भाई, नहीं करेंगे।'

मैं अपने मित्रको समझाने लगा—'यह जगत् कैसे मिथ्या है।' मैं उस समय पण्डित था। वे बोले—'पण्डितजी! आप जब जगत्को मिथ्या समझा रहे थे, तब मैंने अपने दोनों कानोंमें उँगली डाल ली थी। हमसे सहन नहीं होता है यह जगत्का मिथ्यापन।'

वे बड़े सुन्दर भी थे, बाल बहुत बढ़िया रखते थे, ऊँचे पदपर भी थे, डायरेक्टर थे शिक्षा-संस्थाके। अब उनके दाँत सब टूट गये, बाल सफेद हो गये,

आँखमें बड़ा चश्मा लगाना पड़ता है। सुन्दरताका अभिमान था न! यह मनुष्य अभिमानमें पागल हो जाता है। चमड़ीका यह रंग कितने दिन टिकेगा? बालका यह रंग कितने दिन टिकेगा? ये दाँत कितने दिन टिकेंगे? अरे! ये तो छूटते हुए हैं। यदि तुम्हारी आत्मामें कोई सौन्दर्य नहीं है, यदि तुम्हारे स्वभावमें कोई सौन्दर्य नहीं है, कोई माधुर्य नहीं है; यदि तुम्हारे स्वरूपमें ही कोई सौन्दर्य-माधुर्य नहीं है, तो यह बनावटी दुनिया टिकनेवाली नहीं है। फिर याद कर-करके रोओगे।

एक दिन एक वृद्धा माता आयीं, तो मैंने कहा-'भाई, तुम्हारा शरीर तो वृद्धावस्थामें भी बड़ा स्वस्थ और बड़ा सुन्दर है! बड़ा गठीला है! और अवस्था बड़ी है ७५-८० बरसकी!!'

वह बोली—'महाराज! अब क्या देखते हो? इस शरीरका भी एक दिन था।' अब इसकी व्याख्या मैं कर रहा हूँ—कि 'जिधर मैं देख लेती थी, उधर पुरुष लट्टूकी तरह नाचने लगते थे।'

लोगोंको वैराग्यकी कथा करना इसकी चार कक्षा है। वैराग्यकी नहीं, सत्यकी! 'चार्वाक' का सिद्धान्त कहता है कि—'ब्रह्म नहीं है, ईश्वर नहीं है, चैतन्य नहीं है, केवल जड़ता ही जड़ता है। थोड़ी देरके लिए चेतनता ही पैदा होती है और मिट जाती है। जीव-ईश्वर-ब्रह्म यह स्वप्नवत् है और जड़तत्त्व सच्चा है।'

बौद्ध-सिद्धान्त भी बड़ा मजेदार है। वह कहता है कि—'जीवचैतन्य, ईश्वरचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य ही केवल स्वप्नवत् नहीं हैं, यह जड़ जगत् भी स्वप्नवत् है।' शून्यवादकी दृष्टिसे भी यही सिद्धान्त है और विज्ञानवादकी दृष्टिसे भी यही सिद्धान्त है।

वे कहते हैं कि जीव-ईश्वर-ब्रह्मका बखेड़ा ही स्वप्नवत् भासता हो, सो बात नहीं है, यह जड़ता भी क्षणिक विज्ञान है और यह विज्ञान क्षण-क्षण स्वप्नवत् परिवर्तनशील है और समूची सृष्टिको दिखाता हुआ यह बदल रहा है और यह धारामें बह रहा है।

तीसरा सिद्धान्त कहता है—'दोनों सच्चे हैं। ईश्वर माने चैतन्य भी ठीक है और जड़ भी ठीक है। इसके दो विभाग हो गये। हैं तो पाँच, पर मैं दो ही बताता हूँ।'

एक तो यह कहता है कि—'जड़ता सच्ची है, परन्तु इसमें ईश्वरचैतन्य मुख्य है और जीवचैतन्य गौण है।'

दूसरा मानता है कि—'जड़ता है यह ठीक है, यह सच्चा है, परन्तु जीवचैतन्य ही मुख्य है।'

विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शैवाद्वैत, शाक्ताद्वैत, ये सब कहते हैं कि—'ईश्वरचैतन्य मुख्य है और यह जड़ जगत् गौण है। ईश्वरचैतन्य ही स्वतन्त्र है; जीवचैतन्य परतन्त्र है और विशेषण है। यह जगत् तो ईश्वरका बनाया हुआ है। मुख्य ईश्वर है। ईश्वरकी आराधना-उपासना करनी चाहिए।'

सांख्य-योग कहते हैं—'नहीं, ईश्वरचैतन्य मुख्य नहीं है, आत्मचैतन्य ही मुख्य है।' वे 'त्वं' पदार्थका शुद्ध विवेक करके प्रत्यक्चैतन्यकी श्रेष्ठताको बताते हैं। 'जगत् सत्य है और प्रत्यक्चैतन्य द्रष्टा है, साक्षी है।'

ये विभाग ध्यानमें आये? द्वैतवादी दो कक्षामें विभक्त हो गये—एक जीवचैतन्यकी प्रधानता और एक ईश्वरचैतन्यकी प्रधानता। जड़वस्तुको दोनों मानते हैं, तो इसमें फरक क्या पड़ा? ईश्वरचैतन्यको जो मुख्य मानते हैं, उनके मतमें जड़सत्ताका अवमूल्यन हो गया। अवमूल्यन=कीमत घट गयी।

ईश्वर तो अनादि-अनन्त-एकरस है और जगत्को ईश्वर ही कभी बनाता है, कभी बिगाड़ता है और वही पालता है और उसीके आधारपर है। तो जगत् दो नम्बरका सत्य है और ईश्वर एक नम्बरका सत्य है।

लेकिन सांख्य-योग आदि कहते हैं कि-'नहीं, जगत् भी अनादि-अनन्त है और चैतन्य भी अनादि-अनन्त है।' वे चैतन्यकी सत्ताकी अपेक्षा जगत्की सत्ताको गौण नहीं मानते हैं, बिलकुल सत्य मानते हैं। परन्तु यदि आत्मा जड़से अपना सम्बन्ध काट दे, तो मुक्त हो जाता है।

दूसरी बात—'चार्वाक्'-लोग केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। वैष्णव-शैव-शाक्त आगम-प्रमाणको मुख्य मानते हैं, माने शब्द-प्रमाणको मानते हैं मुख्य। द्वैतवादी चेतन और जड़की सत्ता समान मानते हैं। वे विवेक और विचारको मुख्य मानते हैं और समाधिमें अनुभव कर लेते हैं।

वेदान्ती- जैसे चार्वाक् चेतनसत्ताको नहीं मानता है, और जीव-ईश्वरको स्वप्नवत् मानता है, वैसे वेदान्ती अखण्डचैतन्यको सत्य मानते हैं और जड़को स्वप्नवत् मानते हैं।

जैसे जड़वादियोंमें चार्वाक् जड़ाद्वैतवादी है, वैसे अद्वैतवेदान्त चेतनाद्वैतवादी है। तो जो द्रष्टा-दृश्यका विभाग मानते हैं, वे असलमें द्वैतवादी हैं। उनकी जो असंगता है, वह पहले नहीं होती है, बादमें पैदा होती है। फिर थोड़ी देर रहती है और फिर मिट जाती है।

अद्वैतवेदान्तमें द्वैतकी सत्ता न होनेके कारण जो असंगता है, वह अनादि और अनन्त है। और असंगता भी अबाधित है। माने जिस समय हम अपनेको कर्ता-भोक्ता, देह-इन्द्रियवान्, जन्मने-मरनेवाला समझते हैं, उस समय भी हम वैसे नहीं हैं। वह एक स्वाप्निक प्रतीति है। अज्ञानी भले अपनेको ब्रह्म नहीं जानता, परन्तु वस्तुतः वह ब्रह्म ही है। यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है।

व्यवहारमें हमें जो सत्ता मालूम पड़ती है कि 'यह चीज है, यह चीज चमकती है, इसमें प्रियता है- यह असलमें जो आत्मसत्ता, आत्मप्रकाश और आत्मप्रियता है, वही दुनियाकी सब दीखनेवाली वस्तुओंमें अनुगत है। यह आत्मदेव अपनी ही सत्ताको दूसरेके रूपमें देखते हैं, अपने ही ज्ञानको दूसरेके रूपमें देखते हैं।'

एक विद्वान्की बात—विलायतमें वह बड़ा तार्किक था। उसको यह ख्याल था कि हमारे जैसा तर्क और युक्तिवाला दूसरा कोई नहीं। एक दिन सपनेमें उसने देखा कि एक बड़ा विद्वान् आया। दोनोंमें हुआ शास्त्रार्थ; जो बड़े भारी विद्वान् थे, वे सपनेमें हार गये। सपना टूटा, जगे और वे दुःखी होने लगे कि 'हाय-हाय! आज मैं सपनेमें हार गया।' स्नान किया, भोजन किया, स्वस्थ हुए।

स्वस्थचित्तसे बैठे, तब उनको ख्याल हुआ कि आज सपनेमें मैं जिस विद्वान्से हार गया था, वह तो हमारी मनोवृत्ति ही दूसरा विद्वान् बनकर आयी थी। अपने ही तर्कसे मैं हारा, अपनी ही बुद्धिसे मैं हारा, अपनी ही युक्तिसे मैं हारा। किसी दूसरेसे मैं हारा नहीं। तो हारा कहाँ?

हम दूसरोंको प्रिय समझने लगते हैं, वह असलमें अपनी प्रियताको ही दूसरेके सिरपर डालते हैं। अपनेको मजा आता है, तब दूसरेको प्यारा कहकर ठगते हैं। असलमें दूसरा हमको देख रहा है, सो नहीं; 'दूसरा हमको देख रहा है, ऐसा हम देख रहे हैं।' परन्तु दूसरा हमको देख रहा है—यह भ्रान्ति होती है।

असलमें हम हैं। हमारे अस्तित्वसे ही दूसरेका अस्तित्व भासता है। परन्तु दो नम्बरके अस्तित्वको सच्चा मान लेते हैं, और एक नम्बरका अस्तित्व खो बैठते हैं। दो नम्बरके ज्ञानको सच्चा मान लेते हैं और एक नम्बरका ज्ञान भूल जाते हैं। दो नम्बरकी प्रियताको सच्ची मान लेते हैं और एक नम्बरकी प्रियताको भूल जाते हैं।

अद्वैतवेदान्त यह शिक्षा देता है कि तुम्हारा आत्मा ब्रह्म है माने अद्वितीय है, तुम्हारे सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सब तुम्हीं हो। इसका अर्थ यही है कि सब तुम्हीं हो।

●

प्रवचन ३४

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके॥ ४४॥
लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥ ४५॥
प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि॥ ४६॥

लोगोंके मनमें धर्मकर्मका बहुत संस्कार रहता है न! वे ऐसा समझते हैं कि यज्ञ करते हैं इस लोकमें और उसका फल होता है मरनेके बाद स्वर्गमें। अथवा, उपासना करते हैं यहाँ और उसका फल मिलता है मरनेके बाद वैकुण्ठमें। अथवा, योगाभ्यास करके समाधि लगाते हैं और मुक्ति होती है शरीर छूटनेके बाद।

इस बातका संस्कार मनुष्यके मनमें इतना प्रबल बैठा हुआ होता है कि वह जब वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन करता है, तो उसको ऐसा ही लगता है कि शायद मरनेके बाद वेदान्तका फल मिलेगा। मरनेके बाद ही विदेह-कैवल्य हो सकता है। मरनेके बाद ही स्वर्ग जा सकते हैं। तो वेदान्तकी कुछ सुनते-सुनते और कुछ साधन-अभ्यास करते-करते जब मरेंगे तब तदाकार-वृत्ति होगी; और जब तदाकार-वृत्ति होगी, मरते समय; तब हम परमात्माको प्राप्त करेंगे।

एक संस्कार तो मनुष्यके मनमें यह रहता है, और एक दूसरा बहुत विलक्षण है कि जिन्दगीभर हमारी वृत्ति ब्रह्माकार रहेगी, तब हमको ब्रह्म मिलेगा। यह तो बोझ ही हुआ न! बोझ!! यह हल्कापन नहीं हुआ!

बोले—'नहीं, एक बार द्रष्टा और दृश्यका विवेक कर लें और जिन्दगीभर अखण्ड बने रहें, तब वेदान्तका फल मिलेगा।'

एक बार विद्वानोंकी सभा थी। एक विद्वान्ने कहा—'जैसे यज्ञ करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, वैसे वेदान्तके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे भी अदृष्ट उत्पन्न होगा। जैसे यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है, वैसे मरनेके बाद ब्रह्म मिलेगा।' बात तो वही-की-वही है।

तब दूसरे सन्तने डाँटा—'तुम क्या बोलते हो? यह वर्तमान जीवनमें-से कर्तापन मिटानेके लिए है। यह वर्तमान जीवनमेंसे भोक्तापन मिटानेके लिए है। हम जो अपनेको पापी-पुण्यात्मा, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, आने-जानेवाला, अन्तर्मुख-बहिर्मुख—ऐसा कुछ समझ करके बैठे हैं; यह समझ नहीं है। यह नासमझी है। यह नासमझी मिटानेके लिए वेदान्त होता है।

यदि यह बात समझमें नहीं आती है कि केवल न जाननेसे ही सब अनर्थोंकी प्राप्ति हुई है और केवल जाननेसे ही सब अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। जानना मुख्य है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। नहीं तो '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**'से वेदान्त-दर्शन शुरु ही नहीं होता।

ज्ञानकी इच्छा क्यों? यदि ज्ञानसे सारे दुःख नहीं मिट जाते, तो वेदान्तदर्शन ज्ञानसे ही क्यों प्रारम्भ होता? '**अनावृत्ति शब्दात्**'—यदि ज्ञानसे ही सारे दुःख नहीं मिट जाते, तो वेदान्तदर्शन अन्तिम ज्ञानसे ही क्यों समाप्त होता? वेदान्तका प्रारम्भ और वेदान्तकी समाप्ति दोनों ज्ञानसे है। इसका अर्थ यह है कि जितना पाप-पुण्य है, जितना सुख-दुःख है, ताप है, जितना स्वर्ग-नरकमें आना-जाना है, यह केवल अज्ञानके कारण है, केवल नासमझीके कारण है। तो वेदान्त तो बता देता है हमको, कैसा? लखा देता है—

शं नो मित्रः शं वरुणः।

'निरुक्त' में 'मित्र' शब्दका अर्थ लिखा हुआ है—'दिनका देवता।' दिन हमारे लिए मंगलमय हो। वरुण=रात्रिका देवता। रात्रि हमारे लिए मंगलमय हो। अर्थात् दिन हमारा मैत्री और प्रकाशसे परिपूर्ण हो और रात हमारी रसीली, शान्तिमयी हो।

शं नो भवत्वर्यमा।

दिन और रातके जो व्यवस्थापक देवता हैं—'अर्यमा', जिनकी वजहसे रात और दिनका भेद होता है, वह 'अर्यमा' देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। हमारा समग्र जीवन सुखी हो, यह इसका अर्थ है। मरनेके बादकी नहीं—

चिन्ता करे बलाय हमारी जगतीके जंजालकी।

वाणीका देवता 'इन्द्र'—वाक्पति 'इन्द्र'।

शं नः इन्द्रो बृहस्पतिः।

बृहस्पति=इन्द्र। इन्द्रका विशेषण है 'बृहस्पति'। कर्मका देवता 'इन्द्र' और वाक्पति इन्द्र। जीभसे बोलना भी कर्म है और हाथसे करना भी कर्म है। हम बोलें मंगलमय और हम करें मंगलमय। यह हमारा जीवन है।

शं नो विष्णुः उरुक्रमः।

सब जगह विष्णु है। हम चाहे जहाँ जायँ, जैसे रहें, परमात्मा हमारे साथ ही रहें। हम अच्छी जगह जायँ। हम जहाँ जायँ, वह जगह अच्छी हो जाय। **उरुक्रमः**। मनुष्य जीवनको मंगलमय बनानेके लिए यह वेदान्त है।

एक होता है व्यक्ति-मनुष्य और एक होता है समाज-मनुष्य। समाज मनुष्य है; समाज पुरुष है। उसमें ज्ञानप्रधान ब्राह्मण है, शक्तिप्रधान क्षत्रिय है, वस्तुप्रधान वैश्य है और कर्मप्रधान शूद्र है। समाज है एक 'विराट्-पुरुष'। इसके कल्याणके लिए यह वेदान्त आया है। वेदान्तकी कसौटी है कि आप यहीं सुखी हो जाओ, अभी सुखी हो जाओ। कबीरने कहा कि—

बाहर कहौं तो जगभय लागै, भीतर कहौं तो घूँघट काढ़ै।

मैं ईश्वरको बाहर कहूँ तो वह आवे कैसे? और भीतर कहूँ तो अवगुण्ठनमें आ जाता है। घूँघटमें आगया तो सीमित हो गया, क्योंकि आवरण पड़ जाता है। ब्रह्मको भीतर कहना माने आवरणमें आना है। बाहर कहे तो खुला हो गया। तो कबीर कहते हैं—

ऐसा नहीं तो वैसा लो।
न ऐसा है, न वैसा है, कबीरा कहै अनूठा लो।

परमात्माको बिलकुल अनूठा लो।

दृष्टि-मुष्टि नहीं, प्रगट अगोचर, न पलक अगोचर।

वह न दृष्टिमें है, माने ज्ञानका विषय भी नहीं है; न मुष्टिमें है, माने हाथमें भी नहीं है, कर्मका विषय भी नहीं है। साक्षात्—बिलकुल साक्षात् है, प्रगट है।

बोले—'महाराज! हमें तो फेन ही फेन दिखायी पड़ता है, तरंग-ही-तरंग दिखायी पड़ती है, पानी नहीं दिखायी पड़ता है।'

जिसको फेन दिखता है, उसको बिना पानीके फेन दिखेगा? तरंग दिखती है, पर पानी नहीं दिखता। अरे! तरंग तो पानी ही है। तो यह जो फेन और तरंग दिखती है, वह भी पानी ही है। संसारमें 'अस्ति-भाति-प्रिय' कहीं भी मालूम पड़ता है, वह परमात्मा ही है, वह अपना आत्मा ही है, वह हमसे अभिन्न हैं।

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके॥

बचपनमें हमलोगोंने एक नियम बनाया। नियम यह नहीं कि कितनी माला फेरेंगे और कितनी पूजा करेंगे कि कितना पढ़ेंगे।

'जिससे जो चीज दिखती है, वह उससे अलग नहीं होती'—यह एक बचकानी बात आपको सुनाता हूँ। जैसे, आँखसे हम रूप देखते हैं; तो रूपतन्मात्रासे बनी हुई आँख ही रूपको देखती है। अगर आँखमें रूप नहीं होता, तो आँख रूप नहीं देख सकती।'

'शब्दतन्मात्रासे बना कान ही शब्द सुन सकता है। गन्धतन्मात्रासे बनी नाक ही गन्ध सूँघ सकती है। रसतन्मात्रासे बनी जीभ ही स्वाद लेती है और स्पर्शतन्मात्रासे बनी त्वचा ही स्पर्श ग्रहण करती है।' बोले—'अच्छा, यह नियम है?'

जो देखता है, वह अपनेसे अभिन्नको ही देखता है।

बोले—'हाँ, देख लो। प्रातिभासिक दशामें, स्वप्नमें हम जब किसी चीजको देखते हैं, तो अपने आपको ही स्वप्नके रूपमें देखते हैं। इसी प्रकार जब व्यवहार-दशामें हम कुछ देखते हैं, तो अपने आपको ही व्यवहारके रूपमें देखते हैं।'

सच पूछो तो परमार्थ यह है कि इस साक्षी ब्रह्मके सिवाय माने अपने आपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हम अपने आपको ही देख रहे हैं। भूल यह है कि हम अपने आपको ही पराया समझते हैं। हमारा मन शत्रु है, उसको हम दूसरा समझते हैं। हमारा मन मित्र है, उसको हम दूसरा समझते हैं।

हमारा मन ही पाप, हमारा मन ही पुण्य, हमारा मन ही सुख, हमारा मन ही दुःख और हम ही मनका विक्षेप, हम ही मनकी शान्ति। हमारे सिवाय तो और कुछ है नहीं।

नियम यह हुआ कि आँखसे देखा जानेवाला रूप आँखसे भिन्न नहीं है। शुरूमें ही यह बात चली—यह विवेक दो तरहसे होता है। एक—'इससे मैं अलग हूँ।' यह सुन-पढ़कर लोग इस भूलमें पड़ जाते हैं—'इससे मैं अच्छा हूँ, तो यह भी मुझसे अलग है।'

'द्रष्टा-दृश्य विवेक'में 'सौ तोला पाव रत्ती' जैसे बोलते हैं न; १००% शत-प्रतिशत! कुल-की-कुल भूल यही है कि हम समझते हैं कि घड़ेसे माटी न्यारी है, तो माटीसे भी घड़ा न्यारा है। जैसे घोड़ेसे गधा अलग है, तो गधेसे घोड़ा अलग है। यह नियम जब हम लागू करते है न, तो नहीं होगा। घोड़े और गधेमें जो पंचभूत है, सो न्यारा नहीं है। घोड़ेकी शक्ल न्यारी है और गधेकी शक्ल न्यारी है, परन्तु दोनोंमें जो पंचभूत है. जो सत्ता है. सो न्यारी नहीं है।

बीजसे वृक्ष न्यारा है, वृक्षसे बीज न्यारा है; परन्तु माटीसे दोनों न्यारे नहीं हैं। तो दृश्यसे अलग होकर द्रष्टा दृश्यको देखता है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य न्यारा नहीं होता। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

वैष्णव-सिद्धान्त—'सृष्टिसे ईश्वर निराला है, पर ईश्वरसे सृष्टि निराली नहीं है। कार्यसे कारण निराला है, पर कारणसे कार्य निराला नहीं होता। तो अब देखो—आपको जब प्रातिभासिक सृष्टि दिखती है—क्या? स्वप्न दिखता है तो उसमें भी दोस्त दिखता है, दुश्मन दिखता है। 'दुश्मन' कौन? मन 'दुश्' हो गया तब दुश्मन, दुर्मन। दुष्ट मनका नाम 'दुश्मन' है।

'दोस्त'=जहाँ दो अस्त हो गया, सो दोस्त। दो-पना जहाँ मिट गया, तो 'दोस्त' हो गया। यह मन ही है दोस्त और मन ही है दुश्मन। और तो कोई है ही नहीं। तो स्वप्नकी यह दशा है। ठीक वैसे ही व्यवहारमें है। जैसे सपनेमें अपना आपा है, वैसे ही जाग्रतमें भी अपना आपा है। यह देशका पसारा, कालका प्रवाह और वस्तुओंका परिवर्तन—ये सब ज्ञानके ही अनबदले हुए, किन्तु बदलते हुए दिखते हुए रूप हैं। ज्ञानात्मक अपना आत्मा ही देख रहा है। तो साक्षी है सच्चिदानन्द।

देखो, 'साक्षी सच्चिदानन्द है'—इसको फिर एक बार दुहराके बताते हैं। जिसका जन्म और मरण हम अनुभव न कर सकें, इसका नाम है 'सत्'। तो हम किसका जन्म-मरण अनुभव नहीं कर सकते? अपना। अपनेको जनमते नहीं देख सकते, क्योंकि देखनेवाला तो अनजनमा है। और, अपनेको मरते भी नहीं देख सकते। कोई भी अपनेको पैदा होते और मरते नहीं देख सकता, इसलिए आत्मा सत् है। आत्मा न पैदा होता है न मरता है।

आत्मा कभी जाना नहीं जाता। सबको वही जानता है, इसलिए आत्मा 'चित्' है। आत्मा कभी अप्रिय नहीं होता, इसलिए आत्मा 'आनन्द' है। अपना आत्मा ही सच्चा आनन्द है। अपना आत्मा ही सच्चा ज्ञान है। अपना आत्मा ही अविनाशी सत्ता है। और काल?

काल धाराप्रवाह; मिनटपर मिनट-मिनटपर मिनट काल बदलता जा रहा है। और देश? पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे बदलता जा रहा है। हमारा हाथ चलता है, तो दाहिने है सो बायें हो गया और बायें था सो दाहिने हो गया। ऊपर था सो नीचे हो गया, नीचे था सो ऊपर हो गया। दाहिना-बायाँ बदल रहा है, ऊपर-नीचे बदल रहा है।

अपना आपा एक सरीखा! यह कालसे कटता नहीं; यह देशसे कटता नहीं।

वस्तुओंकी शक्ल-सूरत बदलती हुई है। कैसी है? बिलकुल मनीरामका खेल है। तो जैसा मनका खेल स्वप्नमें, वैसा जाग्रत्‌में।

सच्चिदानन्द! जलका जो स्वाद है, जलका जो रूप है, जलका जो गुण है, वह तरंगमें भी है और फेनमें भी है। फेन है प्रातिभासिक जीव और तरंग है व्यावहारिक जीव। जल पारमार्थिक जीव है।

स्वप्न है प्रातिभासिक, जाग्रत है व्यावहारिक और साक्षी है पारमार्थिक। यह परमार्थरूप साक्षी ही जाग्रत और स्वप्नके रूपमें भासता है। असलमें अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

साधो! सहज समाधि भली!
आँख न मूँदो, कान न रूँधो।

आँख बन्द करनेकी जरूरत नहीं, कान बन्द करनेकी जरूरत नहीं।

जहाँ-जहाँ चलौं सोई परिक्रमा, जो-जो करौं सो सेवा।

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरंगके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥

जाँच करो कि फेन क्या है, तो देखोगे कि तरंग ही है। और, जब तरंगकी जाँच करोगे—समुद्रकी तरंग होगी तो खारी होगी और समुद्रका फेन होगा तो खारा होगा। गंगाजीकी तरंग हो तो मीठी होगी और गंगाजीका फेन हो तो मीठा होगा। फेनमें मिठास किसकी है? पानीकी। तरंगमें मिठास किसकी है? पानीकी। फेन और तरंगमें रूप-रंग किसका है? पानीका। आकार नामकी तो कोई चीज ही नहीं है। इसीको बोलते हैं कि 'यह सृष्टि ब्रह्मात्मक है।' 'यह सृष्टि परमात्मा है।' 'यह सृष्टि भगवान् है।'

वेदका एक ऋषि जोरसे बोलने लगा। उसने कहा—'क्या बोलते हो?' हमारे ऋषियोंने ऐसी-ऐसी बात कह दी है! वे लोगोंकी अकलसे थोड़ा-थोड़ा डरके नहीं बोलते हैं।

''तुम क्या कहते हो? 'ईश्वर क्या होता है? ईश्वर क्या होता है?' तुम ईश्वरको ढूँढ़ रहे हो! हम तुमको ईश्वर दिखा दें?—

अयं मे हस्तो भगवान्!

'ऋग्वेद'का मन्त्र है—'यह मेरा हाथ भगवान् है।' हाथ नहीं, उसका अँगूठा भगवान् है। उसका नाखून भगवान् है।

अयं मे भगवत्तरः।

तुम क्या ढूँढ़ते हो भगवान्को? *शालग्रामो भगवान्। नर्मदेश्वरो भगवान्! स्तम्भो भगवान्!* यह खम्भा भगवान् है। वेदका यह मन्त्र कभी सुना है कि नहीं सुना है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी।

तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो। तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो।

जाते भवत विश्वतो मुखः।

तुम्हीं विश्वके मुख हो।

जीर्णो दंडेन वंचसि।

'बूढ़े बाबा बनकर लठिया टेकते हुए जब तुम सड़कपर चलते हो, तब तुम धोखा देते हो! क्या? कि हो ईश्वर और बूढे बाबा बनकर लठिया टेककर चल रहे हो!' यह वेदका मन्त्र है, यह भावना नहीं है। यह उपासना नहीं है, यह यथार्थका वर्णन है।

इसलिए प्रातिभासिक जीव, जैसे सपनेमें गंगास्नान करता हुआ जो जीव है, वह आत्म-विलास है, इसी प्रकार जाग्रतमें जो वक्ता बना हुआ संन्यासी है, वह भी आत्मविलास है। इसमें जो 'अस्ति-भाति-प्रिय' है, वह आत्माका है।

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानंदाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणी॥

दृष्टान्त ब्रह्मका होना चाहिए। मिट्टी और पानीका दृष्टान्त कार्य-कारणका दृष्टान्त है। लेकिन वहाँ भी कार्य-कारण कल्पित ही है, क्योंकि घड़ा मिट्टीसे जुदा नहीं है। परन्तु ठोसका है।

जल-तरंगका दृष्टान्त कार्य-कारणका दृष्टान्त है, परन्तु द्रवका है।

अग्नि और चिन्गारीका दृष्टान्त खण्ड-खण्डका है। देखो, विलक्षणता है दृष्टान्तमें।

वायुका दृष्टान्त औपाधिक है।

आकाशका दृष्टान्त बिलकुल मिथ्या, परिच्छिन्नका दृष्टान्त है।

स्वप्नका दृष्टान्त मानसिक है।

रज्जु-सर्पका दृष्टान्त बौद्धिक है। यह भ्रमका दृष्टान्त है। इसमें सादृश्य हेतु है। अन्धकार हेतु है, अग्राह्य हेतु है। रज्जुमें सर्पकी ख्याति है। यह 'सत्ख्याति' है कि असत्ख्याति है, सत्-असत् ख्याति है, अन्यथाख्याति है, आत्मख्याति है कि अनिर्वचनीय ख्याति है? यह तो आलम्बन है। भ्रमके नाना-रूपोंको समझ करके

उसे तत्त्वज्ञानसे मिटानेके लिए है। दृष्टान्त सच्चा नहीं होता। दृष्टान्त होता है बुद्धिको सूक्ष्म करके भ्रमके जो विविध रूप हैं, उनको समझना और सत्य जानना।

देखो, मृत्तिकामें घटका जो भ्रम है; है भ्रम ही, परन्तु व्यावहारिक है। स्वप्नमें जो अपना घोड़ा होना है, वह प्रातिभासिक होनेपर भी केवल मनःकल्पना है। रज्जुमें जो सर्पका दर्शन है, वह बुद्धिका भ्रम है। तो अपने स्वरूपमें जो जीवपना है, वह बौद्धिक भ्रम है, अध्यास है। उसको बोलते हैं 'अध्यास'।

संस्कृतमें तो 'ख्यातिवाद'के इतने बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं; बड़े-बड़े वेदान्ताचार्य आजीवन ख्यातियोंका अनुसन्धान करते हैं। ख्याति क्या है? सीपमें चाँदी है, तब दिखती है; नहीं है, फिर भी दिखती है। सीपमें विपर्यय हो गया है, तब चाँदी दिखती है। जबतक सीपका अज्ञान है, तबतक चाँदी है और अज्ञान मिट जानेपर नहीं है।

ब्रह्ममें जो यह जगत् दीख रहा है, वह शुक्ति-रजत समझनेके लिए नहीं है; रज्जु-सर्प समझनेके लिए नहीं है। वह असलमें ब्रह्ममें-आत्मामें यह जगत् कैसे दीखता है, यह समझनेके लिए है।

नैयायिकलोग दूसरी ख्याति मानते हैं; मीमांसकलोग दूसरी ख्याति मानते हैं; सांख्यलोग दूसरी ख्याति मानते हैं; वैज्ञानिक बौद्ध दूसरी ख्याति मानते हैं और शून्यवादी बौद्ध दूसरी ख्याति मानते हैं।

एक चीजमें दूसरी चीज जाहिर होती है, वह कैसे होती है? इसपर इतना सूक्ष्म विचार है कि जब आप इसपर ध्यान देंगे, तो प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वमें जो दृश्यरूप नानात्मक प्रपंच भास रहा है, वह कैसे भास रहा है, यह ज्ञान होगा।

प्रातिभासिकपनेको छोड़ो, व्यवहारमें आ जाओ, क्योंकि तुम मनुष्य हो। मनुष्यमें जो 'अस्ति भाति-प्रिय' है, वह कहाँसे आया? एक बार जरा पीछे हो जाओ। वह साक्षीमें-से आया। साक्षी कैसा? बहते हुए कालसे न्यारा। फैलते हुए और सिकुड़ते हुए देशसे न्यारा और नानाकारमें परिवर्तित होते हुए प्रपंचसे न्यारा; ऐसा न्यारा कि इन सबके अभावका भी अधिष्ठान! जो जिसके अभावका अधिष्ठान होता है, उसमें वह चीज मिथ्या होती है।

इसलिए आत्मब्रह्ममें सत् क्या है? सत् जहाँ दिख रहा है—जिस चीजमें, जिस जगह, जिस समय और जैसा भाव दिख रहा है, उसका अभाव उसी जगह है, उसी समय है, उसी वस्तु- में है और वैसेपनेका अभाव है। तो, जो भी वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह भासती हुई भी मिथ्या है।

इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें यह प्रपंच जो है, असलमें ब्रह्म ही है। जब हम ब्रह्मके रूपको जगत्‌के रूपमें देखते हैं, तब पाप आपके हमारे सिरपर सवार हो जाता है। हमारे साथ पाप लगता है। पाप कब लगता है? जब हम ब्रह्मको माया देखते हैं। कबीर कहते हैं—'जब घाटको अवघट देखते हैं।' घाट तो नहानेके लिए है। बड़ा स्वच्छ जल है, पीओ।

बोले—'अरे, नहीं-नहीं! बड़ा डर है! जो अवघट है उसको घाट देख लिया। जहाँ फिसलन है, जहाँ गिरनेकी जगह है, जहाँ चोरी-चमारी है, वह तो अवघट है! घाटको अवघट और अवघटको घाट।' नतीजा यह हुआ कि जीवनमें पाप-पुण्य, आना-जाना, मरना-जीना, यह सब लग गया।

तल्लये सच्चिदानंदाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि।

न तो तुम प्रातिभासिक जीव हो स्वप्नके ज्ञाता और न तो तुम व्यावहारिक जीव हो प्रपंचके ज्ञाता। तुम साक्षी हो, साक्षी ब्रह्म हो और ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है। यह जो चिदाभास काम कर रहा है, उसको अपने साक्षीसे पृथक् मत रहने दो।

बोधात्पुरा तु चिद्भ्रान्त्या मग्ना भोक्तरि शोचति।
सा भ्रान्तिर्भोक्तृनिष्ठैव तद्विवेकोपि भोक्तृगः॥

जबतक ज्ञान नहीं होता, तबतक कर्ताको ही चेतन समझके उसीमें डूब जाते हैं; भोक्ताको ही चेतन समझके उसीमें डूब जाते हैं। 'हम पापी हैं'; 'हम पुण्यात्मा हैं'; 'बड़ा भारी दुःख है इसमें, बड़ा भारी सुख है इसमें; हम दुःखी हैं, हम सुखी हैं;' 'हम स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाले हैं, हम मरने-जीनेवाले जीव हैं।' 'हम विक्षिप्त हैं और हम समाधिमें आने-जानेवाले हैं।' बड़ा भारी दुःख है।

एक दिन समाधिने कहा—'बेटा विचार, तुम बड़े चंचल हो!' तो विचारने कहा—'तुम हो तो मेरी मैया, किन्तु अन्धी हो! जबतक मैं नहीं बताऊँगा कि समाधिको कहाँ बैठना चाहिए, तबतक तुम बैठोगी कहाँ? पोथीको ही समाधि मान बैठोगी। गड्ढेको ही पलंग मान बैठोगी! माँ, जरा हमें बताने दो।'

समाधि बोली कि 'आओ बेटा, तुम भी बैठो हमारे साथ। जरा शान्त हो जाओ।'

विचार बोला—'हम और तुम जब दोनों एक हो जायेंगे, तब निवर्त्य-निवर्तकभाव नहीं बनेगा; अज्ञानान्धकारको मिटाता है ज्ञान और चंचलताको मिटाती है समाधि। समाधि वासनाको नहीं मिटा सकती। समाधि अज्ञानको नहीं मिटा सकती और विचार विक्षेपको नहीं मिटा सकता। दोनों एक हो जाते हैं, तब उसका नाम हो जाता है—'**स्वयंप्रकाशब्रह्म**'।

ज्ञानात्मक समाधि और समाध्यात्मक ज्ञान। लेकिन मैं समुच्चयकी बात नहीं कर रहा हूँ। दोनों एक साथ नहीं हैं। जो भ्रान्ति है, वह भी भोक्तामें है और भ्रान्तिको निवृत्त करनेवाला जो ज्ञान है, वह भी भोक्तामें है।

यह भ्रान्ति और भ्रान्तिका निवर्तक बोध, दोनों भोग हैं। भ्रान्ति भी आरोपित है और उसका निवर्तक ज्ञान भी आरोपित है। इसीसे वेदान्तशास्त्रने घोषणा की—

चैत्योपरागरूपा मे साक्षिताऽपि न तात्त्विकी।
उपलक्षणमेवेयं निस्तरङ्गचिदम्बुधेः॥

यह तो दृश्यको देखते हैं, इसलिए हमने अपना नाम 'साक्षी' रख लिया है। दृश्यको देखनेकी वजहसे आपने अपना नाम 'साक्षी' रख लिया है। साक्षी और साक्षीके भावसे रहित निस्तरङ्ग जो समुद्र है, उसको लखानेकी यह एक युक्ति है। तत्त्वतः—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

न निरोध है माने समाधि नहीं है, मृत्यु नहीं है, प्रलय नहीं है; क्योंकि कोई चीज पैदा ही नहीं हुई। कोई बन्धन नहीं है, फिर साधना किस बन्धनकी निवृत्तिके लिए होगी? न मुमुक्षु है, न मुक्त है। 'परमार्थ' इसका नाम है।

साधो! सहज समाधि भली!

न कुछ हटाना है, न कुछ सटाना है।

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥
पाया कहै सो बावरा, खोया कहै सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्योंका त्यों भरपूर॥

●

दृग्-दृश्य विवेक



अखण्डानन्द सरस्वती

द्रष्टा-दृश्यकी प्रक्रिया—यह है वेदान्तकी प्रक्रिया। इसको वेदान्तमें प्रक्रिया बोलते हैं। प्रकारको ही प्रक्रिया कहते हैं। अद्वैत-वेदान्तमें मुख्य प्रक्रिया है अध्यारोप और अपवाद। उसके बिना और कुछ है ही नहीं।

जिन लोगोंने सम्प्रदायपूर्वक वेदान्तका अध्ययन नहीं किया है, वे कहीं द्रष्टा-दृश्य देखते हैं तो कहीं कार्य-कारण देखते हैं; कहीं पंचकोश-विवेक देखते हैं तो कहीं अवस्थात्रय देखते हैं। यदि उनको अध्यारोप-अपवादकी प्रणाली नहीं मालूम है, तो किसी प्रक्रियाको ही सच्ची समझके उसमें आसक्त हो जायेंगे। बोलेंगे—'बस-बस, यही वेदान्त है।'

चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, शैव-शाक्त-सौर-गाणपत्य-वैष्णव, मुस्लिम, ईसाई—ये जितने-जितने पृथक्-पृथक् वाद आदि सिद्धान्त हैं, सबसे पहले अलग करके वेदान्तके सिद्धान्तको जानना पड़ता है। जब वेदान्तके सिद्धान्तका ज्ञान हो जाता है, सब अपने अंग हो जाते हैं। किसीसे वैर-विरोध नहीं रहता है। लेकिन जबतक तुम उसे नहीं जानोगे, तबतक तुम भी एक पन्थमें पड़े रहोगे, एक सम्प्रदायमें पड़े रहोगे, एक धोखेमें पड़े रहोगे। धोखा मिटनेवाला नहीं है। यह वेदान्त सब धोखाको मिटा देता है। वेदान्त मान्यता नहीं है, वेदान्त भावना नहीं है, वेदान्तकी कोई मनकी बनाई हुई स्थिति नहीं है। वेदान्त ठीक ऐसा ही है जैसे हमारी आँखके सामने आप दिख रहे हैं। ऐसे ही ब्रह्मका दर्शन होता है। इसीको प्रमाणगम्य बोलते हैं।

लोग समझते हैं—ईश्वर कोई होगा, आत्मा कोई होगा, ब्रह्म कोई होगा और जब वेदान्तका उपदेश सुनते होंगे, तब उसपर विश्वास कर लेते होंगे—'ईश्वर ऐसा है, आत्मा ऐसा है, ब्रह्म ऐसा है।' इन विश्वासी लोगोंको नमस्कार ही करना योग्य है, क्योंकि यह जो वाक्य होता है, वेदान्तके जो वचन हैं, ये विश्वास करानेके लिए नहीं हैं, वस्तुका साक्षात्कार करानेके लिए हैं।

आनन्द कानन प्रेस
ढेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337